प्रमाणकौस्तुभम्

(नास्तिकास्तीकदर्शनेषु वेदसाहित्य-ज्योतिषव्याकरणेषु
पाश्चात्ये विज्ञानेतिहासविधिविषयेषु च
प्रमाणसिद्धान्त-मीमांसा)

सम्पादकः
आचार्य भगवत्शरणशुक्लः

KW

१.५-A/m

प्रो. वशिष्ठ त्रिपाठी



प्रमाणकौस्तुभम्

(नास्तिकास्तीकदर्शनेषु वेदसाहित्य-ज्योतिषव्याकरणेषु
पाश्चात्ये विज्ञानेतिहासविधिविषयेषु च
प्रमाणसिद्धान्त-मीमांसा)

सम्पादकः
आचार्य भगवत्शरणशुक्लः
व्याकरणविभागः
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायः
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयो, वाराणसी।



किशोरविद्यानिकेतनम्
वाराणसी

सम्पादक : आचार्यभगवत्शरणशुक्लः

प्रथम संस्करण : 2018 ई०

ISBN : 978-93-84299-96-5

मूल्य : 600 रुप्यकाणि

प्रकाशक
किशोर-विद्या-निकेतन
बी. 2/236-ए, भदैनी, वाराणसी-221001
दूरभाष - 09415996512, उत्तर-प्रदेश
email kvnpublisher@gmail.com

मुद्रक :
श्रीमहावीर प्रेस
वाराणसी

प्रास्ताविकम्

विश्व की प्रत्येक वस्तु परमाणु से लेकर परमात्मा पर्यन्त प्रमेय (यथार्थज्ञान का विषय) है। प्रमेय का ज्ञान स्वतः विना किसी साधन आदि के द्वारा सम्भव नहीं है। अतः हम जिन प्रमुख साधनों से प्रमेय वस्तु का ज्ञान करते है। उन्हें ही हम प्रमाण शब्द से जानते है। प्रमाण की आवश्यकता न केवल शास्त्रों में अपितु समस्त संसार में है। क्योंकि जागतिक व्यवहार प्रमाण के बिना सम्भव ही नहीं है। इसी प्रमाण शब्द को हम कहीं पर साक्ष्य शब्द से भी व्यवहार करते है। व्यवहार जगत में भी हम किसी बात पर तब तक विश्वास नहीं करते जब तक उसकी सत्यता में कोई प्रमाण हमें नहीं मिलता। यह प्रमाण व्यवहार में विद्यमान कोई भी हो सकता है। प्रायः हम जिसको प्रमाणित करते है। या हमारा कोई शुभचिन्तक उसे प्रमाणित किया होता है उसी पर विश्वास करते है। इस कारण व्यवहार में प्रत्यक्ष एवं शब्द प्रमाण की प्रधानता रहती है। कहीं-कहीं अनुमान से तो कहीं-कहीं उपमान से वस्तु की सत्यता सिद्ध करते है। इसी सामाजिक व्यवहार को ध्यान में रखकर नैयायिकों ने इन चार प्रमाणों को स्वीकार किया। किन्तु बहुत से स्थल ऐसे हैं जहां इनके द्वारा वस्तु प्रमाणित नहीं होती। जैसे संगीत स्वरों की पहचान, शुद्ध रत्न परिक्षण, औषधि का ज्ञान ये सब दृढ़तम अभ्यास से ही ज्ञात होते। अतः इनके ज्ञान हेतु अभ्यास प्रमाण माना गया। इसी प्रकार देवयोनि विशेष के क्रिया कलाप के ज्ञानार्थ अदृष्ट प्रमाण को भर्तृहरि ने स्वीकार किया। इसी प्रकार अनेक आचार्यो ने तत्तद् प्रमेय विषयक ज्ञानार्थ सामान्य प्रमाणों के असामर्थ्य को ध्यान में रखकर अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, प्रत्यभिज्ञा, ऐतिह्य, सम्भव, चेष्टा, ऊहा स्मृति इन प्रमाणों को भी स्वीकार किया है। अनेक दार्शनिकों का इसमें विशिष्ट विचार हुए है। सङ्क्षेप में प्रमाणों का परिचय द्रष्टव्य हैं-

प्रमाणाद्धि प्रमेयसिद्धिः इस सांख्यकारिका के वचन के अनुसार यथा पूर्व में कहा गया है विश्व की सम्पूर्ण वस्तु प्रमेय है और ज्ञान करने के लिए साधन विशेष को प्रमाण शब्द से स्वीकार किया जाता है प्रमीयते यथार्थज्ञानविषयीक्रियते वस्तुजातं येन तत् प्रमाणम् । जिस का ज्ञान चक्षु कर्ण, स्पर्श, जिह्वा, नासिका से करते हैं वे प्रत्यक्षप्रमाण के विषय बनते हैं। जिनका ज्ञान दो के साहचर्य के माध्यम से उस सहचरित एक वस्तु से द्वितीय

का ज्ञान करते है वह अनुमान कहलाता है। अनु प्रत्यक्षानन्तरं हेतुभिः मीयते ज्ञायते अनेन तत् अनुमानम् । जिसका ज्ञान सादृश्य के माध्यम से होता है। उसे उपमान तथा जिसका ज्ञान अपने सत्य धर्मपरायण सच्चरित्र पुरुष के कथन से वेदादि शास्त्रों में उक्त होने से प्रमाण माना जाय उसे आप्तोपदेशत्वे सत्यनाप्तानुच्चरितत्वं शब्दत्वम्। शब्द, आक्षेप प्राप्त ज्ञान को अर्थपत्ति, स्वरमण्यादिज्ञान अभ्यास से, राक्षस पिशाच आदि का विशिष्ट ज्ञान के लिए अदृष्ट को प्रमाणत्वेन स्वीकार किया जाता है। इतिहासज्ञ एतिह्य, वेदान्ती अनुपलब्धि इत्यादि अनेक प्रमाणों की स्थिति मतभेद से मानी जाती है। इस ग्रन्थ में पाश्चात्य, वैज्ञानिक, इतिहास, वेद, साहित्य, ज्योतिष, व्याकरण, विधि (ला), चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, वेदान्त अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, माध्व में प्रमाणों का विशिष्ट रूप से विचार किया गया है। इतना विषय प्रमाणों का एक साथ कहीं भी उपलब्ध नहीं था। हमने अपने विषय के अधिकारी विद्वानों से निवेदन करके इन उत्कृष्ट शोध निबन्धों का संग्रह करके इस ग्रन्थ रत्न का ग्रन्थन किया है। यह ग्रन्थ प्रमाण सम्बन्धी एकत्र सम्पूर्ण सामग्री के ज्ञान हेतु सर्वथा उपादेय है।

मेरे मन में यह विचार आया कि प्रत्येक शास्त्रों में प्रमाणों का पर्याप्त विचार किया गया है। यदि सभी विचारों पर एकत्र चर्चा की जाय तो जिज्ञासुओं का बड़ा उपकार होगा। इसी अभिलाषा से जुलाई 2015 में एक कार्यशाला का आयोजन किया गया। जिसमें विविध विषयों का पर्याप्त मन्थन किया गया। अनेक विषय विशेषज्ञ विद्वानों के व्याख्यान हुए उन्हीं व्याख्यानों का यह संग्रह जिज्ञासु पाठकों के आह्लाद हेतु प्रकाशित किया गया है। सर्वप्रथम इस कार्य में सहयोग करने वाले प्रो. बालशास्त्री जो हमारे सदैव मार्गदर्शक रहें है हम उनके प्रति आभार व्यक्त करता हैं। तथैव हम लोगों के अभिभावक प्रो. जयशंकर लाल त्रिपाठी जी के प्रति आभार प्रकट करते है जो सदैव उचित सलाह देते रहते है। हमारे अनुज प्रो. रमाकान्त पाण्डेय जी का सहयोग अविस्मरणीय रहता है। हम उनके प्रति साधुवाद ज्ञापित करते है। कार्यशाला एवं इस ग्रन्थ के प्रकाशन कार्य में सहयोगी रहे विभागीय शोधच्छात्रों को सस्नेह आशीर्वचन ज्ञापित करते है। इस ग्रन्थ के प्रकाशक पं.संतोष कुमार द्विवेदी एवं उनके प्रकाशन के सभी सदस्यों के प्रति धन्यवाद एवं आशीर्वाद ज्ञापित करते हैं कि अन्होंने बढ़ी धैर्यता से इस ग्रन्थ का प्रकाशन कर सुधी अध्येताओं के समीप इसे पहुचाने का सत्प्रयास किया। अन्त में भगवान् भवानी विश्वनाथ एवं भगवान् श्रीमन्नारायण के प्रति अपनी भक्ति भावना भेंट करते हैं। जिनकी कृपा से यह कार्य सम्पन्न हुआ।

***

भूमिका

सत्तत्त्वस्य निरूपणे ह्यभिमतं संसारतत्त्वस्य च,
यज्ज्ञानेन सुबुध्यते बुधवरैः सर्वे प्रमेयाः सदा।
वेदा वेदपदार्थबोधनिरतान्यङ्गान्युपाङ्गानि च,
ज्ञायन्ते किल बोध्यवस्तुविषया वन्दे प्रमाणं प्रभुम्।।

प्रमाणमिति शब्दं श्रुत्वैव मनसि वार्तैका समायाति यदनेन वस्तुस्वरूपस्य निश्चयो ज्ञानं वा सम्यगभवत्। प्रमाणपदार्थः क इत्यपि तत्र जिज्ञासा सामान्येन भवत्येव। यद्यपि समान्येन प्रमीयते ज्ञायते वस्तुतत्त्वमनेन तत् प्रमाणमिति व्युत्पत्त्या प्रमासाधनं वस्तु किञ्चिदिति ज्ञानं भवति तथापि प्रमीयते यत् तत् प्रमाणमिति व्युत्पत्त्या प्रमेयपदार्थोऽपि ज्ञायते प्रमाणपदेन। अपि च प्रमातीति व्युत्पत्या प्रमातापि गृह्यते। तत्र जिज्ञासोदेति प्रमाणशब्दः करणसाधनः कर्मसाधनो भावसाधन आहोस्वित् किञ्चिदन्यव्युत्पत्तिसिद्धो वा?। न तावत् प्रमाणशब्दो भावसाधनस्तस्य क्रियापदार्थत्वात् तेन प्रत्यक्षादीनामग्रहणात् अथवा प्रमारूपज्ञानवाचको विष्णुवाचकश्च सः। नापि कर्मसाधनस्तेन प्रयेयवस्तुनोग्रहणात् प्रत्यक्षदीनामग्रहणात्। एवमेव न कर्तृसाधनः प्रमाति इति प्रमाणमिति, तेन प्रमातृग्रहणात् प्रत्यक्षादीनामग्रहणात् तस्मात् प्रमाणशब्दः करणसाधनः तेन समेषां प्रत्यक्षादीनां सुग्रहणात्। अत्र प्रपूर्वक मा माने (अदादिगणीयः १०६२), प्रपूर्वक माङ्माने शब्दे च (जुहोत्यादिगणीयः १०८९), प्रपूर्वक माङ् माने (दिवादिगणीयः ११४२) इति धातुभ्यो यदा कर्त्तरि ल्युट् तदा 'कृत्यल्युटो बहुलम्' ३।३।११३।। इत्यनेन ल्युट् प्रत्ययः। अनेनैव कर्मणि चापि ल्युट् प्रत्ययो भवति। भावेऽर्थे 'ल्युट् च'' ३।३।११५।। इत्यनेन ल्युट्प्रत्ययो भवति। व्युत्पत्तिश्चानयोः प्रमाति, प्रमिमीते, प्रमायते इति प्रमाणम् प्रमाता, विष्णुः इत्याद्यर्थाः, प्रमीयते यत् तत् प्रमाणं प्रमेयवस्तुजातम्। प्रमीयते इति भावेऽर्थे प्रत्यये इति प्रमारूपं ज्ञानमर्थः। प्रमीयते सम्यग् ज्ञायते वस्तुतत्वमनेन इति प्रमाणम् प्रत्यक्षादीनि इति ज्ञायन्ते। अमरकोषकारः[२] "प्रमाणं हेतुमर्यादाशास्त्रेयत्ताप्रमातृषु" इत्यनेन प्रमाणशब्दोऽनेकार्थको विद्यते। अनेन कोषग्रन्थेन प्रमाणशब्दस्यात्र प्रत्यक्षादिलाभाय प्रमायाः साधनं प्रमाणमित्यनया व्युत्पत्त्या

१. 'प्रमाणं प्राणनिलयः इत्यनेन प्रमाणशब्दोः नारायणवाचकोऽप्यस्ति विष्णुसहस्रनामस्तोत्रे।
२. अमरकोष, ३/३/५४।।

प्रमाणपदार्थो ज्ञायते। चार्वाकमतानुयायिनः प्रत्यक्षप्रमाणकाः प्रमाणलक्षणं प्रमायाः असाधारणं कारणं प्रमाणमिति सामान्येन स्वीकुर्वन्ति। बौद्धाश्च अविसंवादकं ज्ञानं प्रमाणमित्याहुः-

प्रमाणमविसंवादिज्ञानमर्थक्रियास्थितिः।
अविसंवादनं शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात्।।[१]

जैनाश्च 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्'[२] इति। सांख्याश्च "असन्दिग्धा-विपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा। तत् साधनं प्रमाणम्।" योगशास्त्रे हि "प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि" इति सूत्रस्थभाष्यस्य[३] तत्त्ववैशारद्यां वाचस्पतिः "अनधिगततत्त्वबोधः पौरुषेयो व्यवहारहेतुः प्रमा, तत्करणं प्रमाणम्" इति प्रमाणसामान्यलक्षणं लिखति। न्यायशास्त्रे तावत् कुसुमाञ्जलिटीकायां स्वसमानाधिकरणस्वाव्यवहितपूर्व-वर्त्तिस्वसमानाकारनिश्चयविषयविषयकेतरतत्तद्विशेष्यकतत्प्रकारकानुभवकारणत्वमिति लक्षणं प्रमाणस्य विद्यते।[५] किञ्चान्ये नैयायिकाः यथार्थानुभवः प्रमा तत् करणं प्रमाणम् इति वदन्ति। वैशेषिकाश्चापि यथार्थानुभवः प्रमा तत्करणं प्रमाणमिति तात्पर्यकसिद्धान्तं स्वीयं सूचयन्ति। तत्र "धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्"[६] इति सूत्रेण द्रव्यादयः प्रमेयत्वेन गृहीताः। तेषां तत्वज्ञानमेव प्रमा तस्याः करणं च प्रमाणं भवतीति ज्ञायते। पूर्वमीमांसायां कुमारिलभट्टाः 'अदुष्ट करणजन्यमनुपलब्धाबाधितार्थविषयकं ज्ञानं प्रमा' तत् करणं प्रमाणम्" इति सूचयन्ति-

औत्पत्तिकगिरा दोषः कारणस्य निवार्यते।
अबाधो व्यतिरेकेण स्वतस्तेन प्रमाणता।।
सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा।।[७]

अद्वैतवेदान्तेऽपि वेदान्तपरिभाषायां प्रमालक्षणं लक्षितमस्ति। तद्यथा "अनधिगतार्थ-विषयकं ज्ञानं प्रमा, तत्करणं च प्रमाणं भवति।[८] अनेन प्रमाणेन प्रमाकरणरूपेऽर्थे (हेतोरर्थे) तात्पर्यं विद्यते। प्रायः समेषामपि विचारकाणां सिद्धान्ते प्रमायाः करणमेव प्रमाणं स्वीक्रियते केवलं प्रमास्वरूपविषये एव भेदो विद्यते।

---

१. प्रमाणवार्त्तिकम् १/३
२. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ.७
३. सांख्यतत्त्वकौमुदी का.सं.४
४. योगसूत्र १/७।।
५. न्यायाकोशाद् गृहीतम्।
६. वै.शे.सू. १।१।४।।
७. श्लोकवा. औत्प. श्लोक - १०-११।।
८. प्रथमपरिच्छेदे।

वैयाकरणा अपि प्रमाया: स्वरूपं किञ्चदन्यमेव स्वीकुर्वन्ति। तत्र प्रमाविषये महाभाष्यकार: स्वयमेव तत्स्वरूपं निर्दिशति। तद् यथा- "उपमानानि सामान्यवचनै:" इति सूत्रे लिखति "मानं हि नाम अनिर्ज्ञातज्ञानार्थमुपादीयते, अर्निर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामि इति। तत् समीपे यत्र अत्यन्ताय मिमीते तदुपमानम्" इति। कैयटश्चामुं महाभाष्यग्रन्थं व्याचक्षाणो लिखति- यथा प्रस्थादि। तेन हि साकल्येन मेयं परिच्छिद्यते" इत्याह। नागेशश्च कैयटोक्तिं विशदयन् लिखति "अनिर्ज्ञातस्य साकल्येन ज्ञापकत्वं हि तत्त्वम्। यथा प्रस्थाद्यज्ञातस्य परिमाणरूपार्थस्य साकल्येन ज्ञापकम्, न तथोपमानम्।"[१] इति। अत्र साकल्यशब्द: सकलशब्दात् "चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्"[२] इति वार्त्तिकेन स्वार्थे ष्यञ् प्रत्ययो भवति। साकल्येन इत्यत्र तृतीयाविभक्त्यर्थ: प्रकारता "प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्"[३] इति वार्त्तिकेनात्र तृतीयाविभक्तिरस्ति। 'अनिर्ज्ञातस्य' इत्यत्र षष्ठ्यर्थो विशेष्यत्वम्, तेन अनिर्ज्ञातार्थविशेष्यकं सामान्यविशेषधर्मादिरूपसकल-सम्भावितार्थधर्मप्रकारकं ज्ञानं प्रमा, तत्करणं च प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणं सम्यपद्यते। फलत: सामान्यविशेषधर्मादिरूपसकलसम्भावितधर्मावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितानिर्ज्ञातनिष्ठ-विशेष्यताकज्ञानकरणत्वं प्रमाणत्वमिति निष्कृष्टं प्रमाणलक्षणं शाब्दिकमते सिद्ध्यति। महाभाष्यस्थं 'साकल्येन' इति पदमबधितार्थविषयकत्वं गमयति, अतस्तस्यैवार्थौ सामान्यविशेषधर्मौ भवत:। सामान्यधर्ममात्रग्रहणे विपर्यये संशये वातिव्याप्ति: स्यात्। विशेषधर्मग्रहणे तु तद्बाध: स्यात्। यतो हि विशेषजिज्ञासा सामान्यज्ञानपूर्विकैव भवति। अत एव नागेश: "विशेषजिज्ञासाया: सामान्यज्ञानपूर्विकत्वादित्यन्ये" इत्युक्तवान् पस्पशाह्निके।[४]

लक्षणेऽस्मिन् वार्त्तिककारस्यापि सम्मति:। "लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियम:" इति वार्त्तिके लोकशब्द: लोकात्मकेऽनुमानप्रमाणरूपेऽर्थे कथितो भाष्यकारेण।[५] तथा च लोकप्रमाणेनार्थज्ञानरूपप्रयोजनाय 'निर्ज्ञात' इति शब्दप्रयोग: व्याकरणशास्त्रेण अनिर्ज्ञातस्य तस्य अबोधनात् कथं प्रमाण्यं प्राप्नुयात्? इति जिज्ञासायां कथयति कात्यायन: 'लोकत:' इति। इत्थं लोकतोऽनिर्ज्ञातस्य धर्मस्य साकल्येन निश्चयेन तत्र शास्त्रे प्रामाण्यं सिध्यत्येवात: कात्यायनसम्मतमपीदं प्रमाणलक्षणं भवति। महर्षिपाणिनिंसम्मतमपीदं प्रमाणलक्षणं विद्यते। "लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने १।२।५१॥" इत्यत्र लुपि सति प्रकृतिवद् व्यक्तिवचने भवत: इत्येवं पाणिनिरन्यमतं प्रस्तुत्य तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् १।२।५३ इति सूत्रे प्रत्याख्यातवान् संज्ञानां प्रमाणत्वात् युक्तवद् वचनं न कर्त्तव्यमिति सूत्राशयेन।

---

१. म.भा. २।१।५५, अह्निक ३। अत्रैव प्रदीपोद्यत ग्रन्थौ.।

२. म.भा. ५।१।१२४ इत्यत्र।

३. म.भा. २।३।१८॥ इत्यत्र।

४. गौरित्यत्र क: शब्द: इति भाष्योद्योते।

५. म.भा. १।१।१ इत्यत्र।

एवमेव प्रकृतिप्रत्ययौ यत्र सहार्थौ ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थः प्रधानमिति पूर्वाचार्यवचनं प्रत्याचक्षाणः पाणिनिः प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्याऽन्यप्रमाणत्वात्" १।२।५६।। इति सूत्रं लिखितवान्। प्रधानप्रत्ययार्थवचनं न कर्त्तव्यम् अर्थस्य अन्यप्रमाणसिद्धत्वात्, अर्थात् लोकसिद्धत्वात्। पूर्वोक्तसूत्रद्वये प्रयुक्तः प्रमाणशब्दः पूर्वोक्तविशेषज्ञानरूपप्रमितिकरणरूपार्थमादाय वर्त्ततेऽन्यथा तत्र विहितं प्रत्याख्यानमसङ्गतं स्यात्। एवमेव भर्तृहरिरपि पूर्वोक्तमेव प्रमाणलक्षणं स्वकारिकाभ्यामाह-

अनिर्ज्ञातस्य विज्ञानं येन तन्मानमुच्यते।
प्रस्थादिकेन मेयात्मा साकल्येनाभिधीयते।।
अनिर्ज्ञातं प्रसिद्धेन येन तद्धर्म गम्यते।
साकल्येनापरिज्ञानादुपमानं तदुच्यते।।[1]

अनेन भर्तृहरिग्रन्थेन ज्ञायते यदुक्तभाष्यस्य प्रदीपोद्योतव्याख्यानमेतदाधारेणैव विद्यते। इत्थमुक्तप्रमाणलक्षणं सर्ववैयाकरणसम्मतं तर्कसङ्गतं च विद्यते। यद्यपि घटोऽयं घटोऽयमित्येकाकारमविच्छिन्नं जायमानं प्रत्यक्षात्मकं ज्ञानं धारावाहिकमुच्यते, तत्र द्वितीय तृतीयचतुर्थपञ्चमादिसूत्रेषु निर्ज्ञातविषयमेव तज्ज्ञानमतस्तत्र प्रमात्वं न सिध्यति तथापि एकस्या एव स्थिराया वृतेस्तत्राभ्युपगमेन तेजो रूपस्य चक्षुरिन्द्रियस्य प्रतिक्षणं भिन्नस्य भिन्नस्योत्पादनेन वा तत्र प्रामाण्यं वक्तुं शक्यते। प्रतिपादितश्चायं विषयः "अपादाने पञ्चमी" २।३।२८।। इति सूत्रस्य भाष्ये प्रदीपे उद्योते च।

प्रायः समेऽप्याचार्याः प्रमेयानां ज्ञानं प्रमाणेन कुर्वन्ति यथा सांख्ये 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणद्धिः'[2] इत्युक्तं विद्यते। किन्तु केचन प्रमेयज्ञानाय प्रमाणं नाङ्गीकुर्वन्ति। प्रमाणज्ञानं विनापि पामरादेः स्वकार्यप्रवृत्तौ बाधाभावात्। वस्तुज्ञाने प्रत्यक्षम् अनुमानम्, उपमानम् इत्यादेस्तेषां ज्ञानं नास्ति तथापि ते व्यवहारन्ति चेत् वस्तुमात्रज्ञानं प्रति प्रमाणस्य कारणता विद्यते। तदा प्रमाणज्ञानाभावात् तद् वस्तु ज्ञानं तेषां न स्यात्। अतः वस्तुज्ञाने प्रमाणज्ञानमावश्यकं नास्ति इति वदन्ति। तन्न समीचीनं यथा खाद्यवस्तुज्ञानाभावादपि तस्यादने स्वादु जायत एव भक्षणे सति वस्तुस्वादानुभवात्। तेन ज्ञायते यद् तद्वस्तुस्वादज्ञानं रासनप्रत्यक्षेण भवति। एवमेव पर्वतादौ बह्नयादेरनुमितिः, वने गवयाद्युपमितिः, वेदेन स्वर्गादिज्ञानं तत्तत् प्रत्यक्षादिप्रमाणैरेव भवतीति ज्ञेयम्। एतेन प्रमाणद्धि प्रमेयसिद्धिरिति वचनं सिद्धं भवति।

प्रमात्वस्य स्वतो ग्राह्यत्वं परतो वेति विचार आवश्यकः। यदि ज्ञानगतं प्रमात्वं निश्चित्यैव जनाः कर्मणि निःशङ्काः प्रवर्त्तन्ते। अत्र प्रमाणञ्चानुमानमेव। तद्यथा- निष्कम्पप्रवृत्तिः

---

१. वाक्यपदीये वृत्तिसमुद्देशे ३।१४।३५९-६०

२. सांख्यकारिका-३

प्रमात्वनिश्चयसाध्यत्ववती प्रमात्वव्यतिरेकज्ञानबाध्यत्वादित्यनुमानाकारः। यत्र यदभावज्ञानेन बाध्यत्वं, तत्र तन्निश्चयसाध्यत्वम् इति सामान्यव्याप्तिः। व्यतिरेके च सांशयिकप्रवृत्तिः दृष्टान्तः। तत्रोत्तरमीमांसकाः प्रमात्वं स्वतः एवोत्पद्यते ज्ञायते च वदन्ति। नैयायिका वैशेषिकाश्च परतः इति वदन्ति। तत्र तृतीयस्य संदेहो जायते प्रमात्वे स्वतस्त्वं परतस्तत्वं वा। तत्र स्वतस्त्वं स्वाश्रयज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वम्, परतस्त्वं च स्वाश्रयज्ञानग्राहकसामग्र्यतिरिक्त-ग्राह्यत्वम्। वैयाकरणमते प्रमात्वं स्वत एव गृह्यते। "आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते" इति भर्तृहरिवचनात्[१] ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वं ज्ञायते। एतेषां मते ज्ञानं विषयं प्रकाशयत् स्वयमपि स्वविषयो भवति। एतस्मिन् विषये नागेशभट्टोऽपि लघुमञ्जूषायां तन्निष्ठप्रकारत्वावच्छिन्नतद्वन्निष्ठविषेष्यतानिरुपकत्वरूपां ज्ञानगतां प्रमामङ्गीकुर्वन् तस्याः स्वतो ग्राह्यत्वं साधयति। इदं ज्ञानमप्रमेति रूपेण पश्चात् काले बाधे तु पूर्वज्ञानं भ्रमात्मकं मन्यते। यथा प्रदीपो वस्तु प्रकाशयन् आत्मानमपि प्रकाशयति तथा ज्ञानमपि ज्ञेयपदार्थं प्रकाशयत् आत्मानमपि प्रकाशयति।[२]

प्रमाणविषयकलक्षणप्रयोजनविवेचनान्तरं जिज्ञासोदेति यत् कति प्रमाणानि? इति। तत्र चार्वाकाः प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति वदन्ति।[३] बौद्धाः[४] जैनाश्च[५] प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाणद्वयम्, आधुनिका दार्शनिकाश्चापि[६] प्रमाणद्वयमङ्गीकुर्वन्ति। सांख्याश्च प्रत्यक्षानुमानशब्दाः इति प्रमाणत्रयमामनन्ति।[७] योगदार्शनिकाश्चापि पूर्वोक्तप्रमाणत्रयमङ्गीकुर्वन्ति।[८] वैशेषिका अपि प्रत्यक्षानुमानेति प्रमाणद्वयमिति मन्यन्ते।[९] नैयायिकाश्च प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि इति स्वीकुर्वन्ति।[१०] मीमांसकाः (पूर्वमीमांसकाः) प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दानुपलब्धिरिति प्रमाणसंख्यामङ्गीकुर्वन्ति।[११] तथैव वेदान्त-विद्याविदः समेऽपि तथैवाङ्गीकुर्वन्ति।[१२] ऐतिह्यविदः पौराणिकश्च ऐतिह्यमित्यतिरिक्त-प्रमाणमङ्गीकुर्वन्ति।[१३] केचन च अनुपलब्धिः प्रत्यभिज्ञा,

---

१. वा.प.ब्र.का. ५०
२. सिद्धान्तलघूमञ्जूषा बौद्धार्थप्रकरणे
३. प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति चार्वाकाः न्यायमञ्जरी पू.भा. पृ.२६
४. अभिधर्मकोषः
५. परोक्षापरोक्षात्ममिति प्रमाणमीमांसा १/२/१-२
६. विविधपाश्चात्यदर्शनानि
७. सांख्याकारिका ४
८. योगसूत्र सं. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि १।७।।
९. वैशेषिकदर्शने ९।२।१-१०
१०. न्यायसि.मु.का. ५२
११. प्रकरण पं. पृ.४४
१२. न्यायकोशेप्रमाणशब्दे
१३. न्यायकोशे विवरणमस्ति

सम्भवः इत्यपि प्रमाणत्रयमित्यामनन्ति।[१] भर्तृहरिः प्रत्यक्षमनुमानं शब्दोऽर्थापत्तिरभ्यासोऽदृष्टश्चेति षट् प्रमाणानि अङ्गीकरोति।[२] आहत्य १. प्रत्यक्षं, २. अनुमानम्, ३. उपमानं, ४. शब्दः, ५. अर्थापत्तिः, ६. अभ्यासः, ७. अदृष्टम्, ८. अनुपलब्धिः, ९. प्रत्यभिज्ञा, १०. सम्भवः, ११. ऐतिह्यं, १२. स्मृतिः, १३. ऊहा,[३] १४. चेष्टा[४] इत्येवं चतुर्दश प्रमाणानि विविधा आचार्याः स्वीकुर्वन्ति।

१. प्रत्यक्षम्- तत्र प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति चार्वाकाः स्वीकुर्वन्ति। वस्तुज्ञानाय तत्र पर्वते बह्न्यादौ नानुमानं प्रमाणं वह्निधूमसम्बन्धस्य सिद्धस्यैव तत्र प्रतीतेरङ्गीकारात्। यतो हि अनुमानप्रमाणवादिनः पक्षधर्मताशालि लिङ्गं गमकमिति वदन्ति। न तत् सम्भवम्, यतो हि व्याप्तिरुभयविधोपाधिशून्यः सम्बन्धः, तस्य ज्ञानमेवानुमितौ अङ्गं भवति। तच्च न तावत् प्रत्यक्षप्रमाणेन सम्भवति। तस्य सन्निकृष्टपदार्थगोचर-त्वनियमेन विनष्टयो र्भविष्यतोर्वा बह्निधूमयोरसम्भवेन व्याप्तेरप्यसम्भवदर्शनात्। बाह्येऽर्थे मनसोऽपि बहिरिन्द्रियाधीनत्वेन स्वतन्त्रतया प्रवृत्तौ न मानसं प्रत्यक्षमपि। नाप्यनुमानेन तस्य सम्भवः, तस्यासत्त्वात्, सत्त्वे वा अनवस्थायाः प्रसङ्गात्। धूमादिनिष्ठा व्याप्तिर्येनानुमानेन गृह्यते तद्विषयीभूत-व्याप्तेरनुमानानन्तरेण गृह्यमाणत्वात्। धूमादिदर्शनेन अग्न्यादिज्ञाने प्रवृत्तिस्तु पूर्वं प्रत्यक्षेण ज्ञातोऽग्नि र्धूमश्च, पर्वतादौ धूमे दृष्टेऽग्नेः स्मृति र्भ्रमो वा भवति। अतः तत्र प्रवृत्तिश्च सुतराम् भवति। क्वचित् काकतालीयन्यायेन फलावाप्ति र्भवति अतस्तत्र नानुमानं प्रमाणमिति बोद्ध्यम्। शब्दोऽपि न प्रमाणं स्वतन्त्रेण विषयानुभूतिकृताप्तस्यापि ज्ञानं प्रत्यक्षमूलकमेवेति प्रत्यक्षमेव तत्र सिद्ध्यति। यद्यपि चार्वाकेणापि व्यवहारेऽनुमानस्य शब्दस्य च प्रमाणतास्वीकृतावलोक्यते तथापि प्रत्यक्षप्रमाणमूलकत्वादुभयोर्गौणत्वमेव। मुख्यं प्रमाणं तु प्रत्यक्षमेव सिध्यति। प्रत्यक्षं चान्येषां नैयायिकादीनां मतेन इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यज्ञान-मित्यन्येऽङ्गीकुर्वन्ति। वैयाकरणाश्च इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्या या चित्तवृत्तिः, तत्प्रतिबिम्बितं चैतन्यं वा प्रत्यक्षप्रमा तत् करणं प्रत्यक्षं प्रमाणमिति स्वीकुर्वन्ति।[५] तत्र प्रथममते इन्द्रियं द्वितीयमते प्रत्यक्षं प्रमाणमिति स्वीकुर्वन्ति। तत्र प्रथममते इन्द्रियं द्वितीयमते वृत्तिः प्रत्यक्षप्रमाणं भवति। अन्ये दार्शनिकाः विविधरूपेण प्रत्यक्षस्वरूपं विवेचयन्ति।

२. अनुमानम्- अनुमानप्रमाणं प्रायः समेऽपि दार्शनिकाः स्वीकुर्वन्ति चार्वाकं विहाय। एतस्य विशदविवेचनं न्यायशास्त्रे विद्यते। अत एव तेषां नैयायिकानामानुमानिका

---

१. न्यायकोशे विवरणमस्ति
२. वाक्यपदीप ब्र.का. ३०-३९
३. जैनमते
४. तात्पर्यरत्नटीका श्लोक सं.८-११
५. सिद्धान्तलघुमञ्जुषा बौद्धार्थप्रकरणे, पृ.२९८, ३०४, ३०५

इत्यपि संज्ञा विद्यते। न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यामस्य स्वरूपं चेत्थमुक्तम्-

न्यापारस्तु परामर्शः करणं व्यप्तिधीर्भवेत्।।६६।।
अनुमायां ज्ञायमानं लिङ्गं तु करणं नहि।
अनागतादिलिङ्गेन न स्यादनुमिति स्तदा।।६७।।
व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते।
व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्नसम्बन्ध उदाहृतः।।६८।।
अथवा हेतुमन्निष्ठविरहाप्रतियोगिना।।
साध्येन हेतोरैकाधिकरण्यं व्याप्तिरुच्यते।।६९।।
सिसाधयिषया शून्या सिद्धिर्यत्र न विद्यते।
स पक्षः तत्र वृत्तित्वज्ञानादनुमिति र्भवेत्।।७०।।
अनेकान्तो विरुद्धश्चाप्यसिद्धः प्रतिपक्षितः।
कालात्ययापदिष्टश्च हेत्वाभाषास्तु पञ्चधा।।७१।।
आद्यः साधारणस्तु स्यादसाधारणोऽपरः।
तथैवानुपसंहारी त्रिधाऽनैकान्तिको भवेत्।।७२।।
यः सपक्षे विपक्षे च भवेत् साधारणस्तु सः।
यस्तूभयाद् व्यावृत्तः स चाऽसाधरणो मतः।।७३।। इत्यादि।

अनुमितेः करणमनुमानं कथ्यते। तत्रानुमितौ व्याप्तिज्ञानं करणं, व्यापारः परामर्शः भवति। अनुमाने पक्षः, साध्यं, हेतुः, प्रधानावयवाः। सामान्येन प्रतिज्ञा हेतुः उदाहरणम्, उपनयः, निगमश्चेति पञ्चावयवाः भवन्ति। अनुमानमपि द्विविधम् स्वार्थानुमानं परार्थानुमानं च। तत्र हेतोः दूषकाः हेत्वाभाषाः अनैकान्तिकः, विरुद्धः, असिद्धः, सत्प्रतिपक्षः, बाधितश्च। तत्र अनैकान्तिकः साधारणासाधारणानुसंहारिभेदात् त्रिविधः। एवमेव आश्रयासिद्धस्वरूपासिद्ध-व्याप्यत्वासिद्धभेदात् असिद्धोऽपि त्रिविधः। एवं हेत्वाभासदोषशून्येन हेतुना पक्षे साध्यमनुमीयते। अनुमानविवेचनमपि प्रायः समेषामपि समानमेव तथापि केचन स्वदृष्ट्यैनद् विवेचयन्ति। वैयाकरणनयेऽनुमानविचारस्तु नव्यन्याय-सिद्धान्ततुल्यमिति बोध्यम्।

२. शब्दः-आप्तोपदेशः शब्दः प्रमाणमिति लक्षणमन्येषां नैयायिकप्रभृतीनाम्। केचन च अनाप्तानुपदिष्टः शब्दः प्रमाणमिति निर्दिशन्ति येन वेदानामपौरुषेयत्वात् तत्रापि शब्दप्रमाणत्वमङ्गीक्रियते मीमांसकैरन्यैश्चास्तिकदर्शनिकैः नैयायिकभिन्नैः। शब्दप्रमाणे च पदज्ञानं करणं, व्यापारश्च पदार्थज्ञानं, वृत्तिज्ञानं सहकारिकारणं, फलं च शाब्दबोधरूपं विद्यते। इयमपि शब्दप्रमाणप्रक्रिया नैयायिकतुल्या यद्यपि समेषामपि दार्शनिकानां तथापि किञ्चिद् भिन्नतयापि स्वसिद्धान्तानुसारेण विवेचयन्ति प्रमाणविदः।

---

१. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, ६६-७८

४. उपमानम्- प्रमाणमिदं नैयायिकमीमांसकवेदान्तिप्रभृतयो दार्शनिकाः स्वीकुर्वन्ति। उपमानप्रमाणे च गवादीनां सादृश्यज्ञानं करणं वाक्यार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिः व्यापारः, गवयादिपदानां शक्तिज्ञानं च उपमितेः फलं भवति। वैयाकरणाः प्रमाणमिदं नाङ्गीकुर्वन्ति।

५. अर्थापत्तिः- उपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनमर्थापत्तिरूपप्रमाणस्य लक्षणं भवति। तत् करणं चोपपाद्यज्ञानमिति उपपाद्यज्ञानत्वमिति अर्थापत्तिप्रमाणस्य लक्षणं भवति। यथा पीनोऽयं देवदत्तः दिवा न भुक्ते। अत्र भोजनं विना पीनत्वानुपपादनात् रात्रिभोजनं देवदत्तस्य कल्पते। यस्याभावे कस्यचिदनुपपत्तिः तत्र तदुपपादकम्। यच्चोपपादकेनोपपाद्यते तदुपपाद्यम्। अत्र च पीनत्वमुपपाद्यं रात्रिभोजनं चोपपादकं भवति। वेदान्तपरिभाषायां वैशद्येन प्रमाणमिदं चर्चितं विद्यते।[१]

६. अनुपलब्धिः- केचन वेदान्तिनः[२] प्रमाणमिदं स्वीकुर्वन्ति। ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणत्वमनुपलब्धिप्रमाणलक्षणम्। केचन पूर्वमीमांसका अपि प्रमाणमिदमङ्गीकुर्वन्ति शास्त्रदीपिकायां चैतदुपपादितम्।[३]

७. प्रत्यभिज्ञा- सोऽयं देवदत्त इति ज्ञानं प्रत्यभिज्ञया जायते। प्रत्यभिज्ञात्वं नाम इन्द्रियसहकृतसंस्कारजन्यज्ञानत्वम्।[४] प्रत्यभिज्ञायामुपनीततत्तदादिविषयकत्वरूपमुपनीता भानमानुभाविकम् भवति। प्रतिगता अभिज्ञाम् इति प्रत्यभिज्ञा। अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया इति वार्त्तिकेन समासः। केचन मीमांसकाः प्रभाकरमतानुयायिनः प्रमाणमिदमङ्गीकुर्वन्ति। वस्तुस्तु एतस्य प्रत्यक्षप्रमाणेऽन्तर्भावात् न स्वतन्त्रसत्तास्य प्रमाणस्य।

८. सम्भवः- समुदायेन समुदायिनोऽवगमः सम्भवप्रमेत्युच्यते तस्य करणं सम्भवप्रमाणं भवति। तात्पर्यमिदमस्ति यत् खारीद्रोणादय परिमाणविशेषाः। खार्याख्ये महति परिमाणेदऽल्पपरिमाणभूता द्रोणादयोऽन्तः सम्भवन्ति इत्येवं प्रकारेण यद् ज्ञानं सैव सम्भवप्रमा। अनेन सम्भवप्रमाणेन खारीज्ञानेन यद् द्रोणादिज्ञानं तदेव सम्भवप्रमा, तत् करणं च सम्भवप्रमाणम्।

९. ऐतिह्यम्- इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यम् ऐतिह्यम्।[५] प्रमाणमिदं पौराणिका अङ्गीकुर्वन्ति। अन्ये चानुमाने आन्तर्भावयन्ति।

१०. चेष्टा- तान्त्रिकाः चेष्टायाः प्रमाणत्वमङ्गीकुर्वन्ति। चेष्टाप्रमाणत्वं नामस्वासमवेतस्वातिरिक्तस्पर्शवदन्यप्रयत्नजन्यक्रिया।[६] न्यायभाष्ये चेयं हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थः

---

१. वे. प. अर्थापत्तिप्रकरणे

२. वे. प. अनुपलब्धिप्रकरणे

३. शा. दी. १ पा. सू. अ.५

४. लक्षणावल्याम्।

५. न्यायभाष्य २/२/१॥

६. वैशेषिकोपस्कारः ५/१/१

स्पन्दः चेष्टा कथिता।[१] इयं चेष्टा द्विविधा। कृतसमया, अकृतसमया च। तत्र कृतसमया लिप्यादिवदभिप्रेतं शब्दमेव स्मारयति न किञ्चित् प्रमाणयति इति लिपिरिव सापि न प्रमाणम्। अकृतसमया तु चेष्टा प्रयोजकाभिप्रायं स्मारयन्ती सती प्रयोज्यं प्रवर्त्तयति। इयं चेष्टा तान्त्रिकमते प्रमाणं भवति। नैयायिकप्रभृतयः तां चेष्टां प्रमाणत्वेन नाङ्गीकुर्वन्ति।

११. ऊहः- अन्वययोग्यविभक्त्यादिकल्पनमूहः। यथा पार्वणे सौम्यासः इत्यत्र पार्वणे सौम्यासः इति बहुवचनसमन्वितमपि एकोदिष्टे अनन्वित्वात् सौम्यः इत्येकवचनान्ततया कल्प्यते। अस्यापि अनुमानेऽन्तर्भावात्। स्वतन्त्रतया प्रमाणत्वं नास्ति।

१२. स्मृतिः- लिङ्गदर्शनेच्छानुस्मरणाद्यपेक्षणदात्ममनसोः संयोगविशेषात् पट्वभ्यासादेरप्रत्ययजनिताच्च संस्कारात् दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु विशेषानुस्मरणेच्छाद्वेषहेतुः तदतीतविषया स्मृतिः।[२] इयञ्च यथार्थाऽयथार्थभेदेन द्विविधा प्रमाजन्याआद्या, अप्रमाजन्या च द्वितीया। केचन वेदान्तिनः स्मृतिं प्रमाणरूपेण स्वीकुर्वन्ति।[३] स्मृतिसाधारणं त्वबाधितार्थविषयकज्ञानत्वमिति तस्य लक्षणं वदन्ति। जैनाचार्यहेमचन्द्रोऽपि इमां प्रमाणत्वेन स्वीकरोति।[४] सः "ग्रहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रमाणम्। स्मृतेश्च प्रमाणत्वेनाऽभ्युपगताया गृहीतग्राहित्वमेव सतत्वम्" इति प्रमाणमीमांसायां लिखति।

१३. अभ्यासः- अभ्यासः प्रमाणत्वेन केवलं वैयाकरणैः स्वीक्रियते। भर्तृहरिश्चास्य विचारं ब्रह्मकाण्डे कृतवान्-

परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते।
मणिरुप्यादिविज्ञानं तद्विदां नानुमानिकम्।।[५]

दृढतमविहितप्रयत्नविशेषसंस्कारत्वमभ्यासत्वमिति लक्षणमस्य भवितुमर्हति। मण्यादेः परीक्षणसामर्थ्यम् अभ्यासादेव जायते। न तदभ्यासरहितस्तस्य ज्ञानं कर्तुं प्रभवति अतः अभ्यासप्रमाणं सर्वैः स्वीकरणीयमेव।

१४. अदृष्टप्रमाणम्- इदमपि प्रमाणं वैयाकरणैरेवाङ्गीक्रियते। तत्रापि भर्तृहरिः। तद् यथा-

प्रत्यक्षमनुमानं च व्यतिक्रम्य व्यवस्थितः।
पितृरक्षःपिशाचानां कर्मणा एव सिद्धयः।।[६]

---

१. न्यायभाष्ये १/१/११
२. प्रशस्तपादभाष्ये २
३. प्रमाणपद्धतौ, पृ.४ (न्यायकोशात् प्राप्तम्) वेदान्तपरिभाषायां च।
४. प्रमाणमीमांसा ४/५
५. वा.प.ब्र.का. ३५।।
६. वा.प. ब्र.का. ३६

इदं च प्रमाणं पूर्वयोनिविहितकर्मजन्मादृष्टलब्धयोनिविशेषोचितसामर्थ्यविशेषादृष्टं तपसाद्यर्जितादृष्टमेव च भवति। एतस्य लक्षणं च पूर्वजन्मादिविहिततपोयागप्रभृतिसद-सत्कर्मविशेषजन्यापूर्वविशेषोचितसामर्थ्यविशेषत्वमदृष्टत्वम् इति विद्यते। केचनादृष्ट-प्रमाणं न मत्वा प्रत्यक्षस्य सहकारिकारणं मन्यन्ते तत्र समीचीनं स्वभिन्नत्वे सति स्वाजन्यत्वे सति स्वकर्मकारित्वरूपसहकरिलक्षणस्य तत्रासंघटनात्। अतोऽदृष्टप्रमाणमिदं सर्वैः स्वीकरणीयमेव।

प्रमाणविषयिणी सर्वा चर्चैषा व्याकरणविभागे काशीहिन्दूविश्वविद्यालये समायोजितायां कार्यशालायां संजाता। यत्रानेके विद्वांसः स्वकीयं व्याख्यानं विहितवन्तः। तेषां समेषां विचाराः वैदूष्यपूर्णेषु निबन्धेषु निबद्धाः। तेषां समेषां सङ्ग्रहो विहितो ग्रन्थेऽस्मिन्। ग्रन्थेऽस्मिन् समेषामपि दर्शनानां प्रमाणानां चर्चा त्वस्त्येव सहैव पाश्चात्यदर्शनेषु नास्तिकदर्शनेषु आधुनिकविज्ञाने विधिशास्त्र (ला) विषयेऽपि प्रमाणानां विचारस्य संग्रहोऽत्र विद्यते। वेदेऽपि प्रमाणविषयिणी समागता चर्चा प्रथमं निबद्धास्ति। दर्शनेभ्योऽतिरिक्तं साहित्यशास्त्रे व्याकरणशास्त्रे तन्त्रागमे ज्योतिषशास्त्रे प्रमाणानां यो विचारो वर्त्तते समेषामपि संग्रहो विहितः। विषयाणां सम्यग् विवेचनं तत्र विशेषज्ञविज्ञैर्विहितं विद्यते। समेऽपि निबन्धलेखका विद्वांसः स्वविषयस्य काश्यां स्तम्भरूपाः सन्ति। केचन प्रयागतोऽपि आयाताः विषयविशेषज्ञाः कार्यशालायां तेषामपि निबन्धा अत्र ग्रन्थे निबद्धाः सन्ति। विषयदृष्ट्या प्रामुख्येन पूर्वं प्रमाणस्वरूपचिन्तनं विद्यते तदनन्तरं प्रमाणप्रयोजनं विचारितमस्ति। अनन्तरं चार्वाकबौद्धजैनपरम्परायां प्रमाणानां चर्चा समागता। पश्चात् पाश्चात्यदर्शनेषु आधुनिकविज्ञाने विधिशास्त्रे ('ला' विषय) प्रमाण विचारो वर्तते। पुनः सांख्यदर्शने, योगदर्शने, न्यायशास्त्रे यत्र वैशेषिकमतानामपि चर्चा क्रोडीकृतास्ति, पूर्वमीमांसादर्शने उत्तरमीमांसायां च अद्वैतवेदान्ते, विशिष्टाद्वैतवेदान्ते, माध्ववेदान्ते समागतानां प्रमाणानां सम्यक् विवेचनं विहितमस्ति। पश्चाच्च तन्त्रागमशास्त्रे, साहित्यशास्त्रे, ज्योतिशास्त्रे व्याकरणशास्त्रे च प्रतिपादितानां प्रमाणानां सम्यग् विचारोऽत्र स्थापितो विद्यते। प्रमाणानां सकलशास्त्रदृष्ट्या प्रमाणिकविचारः केवलमत्रैव विद्यते। दृष्टिरपि अस्माकमीदृशी असीत् यत् शोधार्थिनां विशेषजिज्ञासूनां प्रमाणविषयकविचार एकत्रैव प्राप्नुयात्। अनया दृष्ट्या अयं ग्रन्थः विदुषां कृते शोधार्थिनां कृते, विशेषजिज्ञासूनां कृते सन्तोषकरः स्यात् इति धिया मन्येऽस्माकं प्रयासः सफलो भविष्यति इत्याशासे। विषयेऽस्मिन् विदुषां विचारा अपि आमन्त्रिताः सन्ति। नुतनविचारा अस्माकं कृते सुखावहाः ज्ञानवर्द्धकाश्च भवेयुः। अतः सुधियः पाठकाः स्वीयनूतनविचारानवश्यमेवावगमयन्तु इति शम्।

भावत्कः

भगवतशरणशुक्लः

पौष शुक्ल पूर्णिमा, संवत् २०७४

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक	पृ.सं.
प्रास्ताविकम्	——	——
भूमिका	प्रो० भगवत् शरणशुक्लः	
प्रमाणप्रयोजनम्	प्रो. का.ई. मधुसूदनः	१
प्रमाणस्वरूपविमर्शः	प्रो. सच्चिदानन्दमिश्रः	९
वेदे प्रमाणस्वरूपविमर्शः	प्रो० हृदयरञ्जनशर्मा	१७
प्रमाणपरीक्षा	प्रो० गब्बिट आञ्जनेय शास्त्री	२१
प्रमाण-मीमांसा	प्रो० महावीर अग्रवाल	२५
जैनदर्शन में प्रमाण-मीमांसा	प्रो० अशोककुमार जैन	३१
चार्वाकीय प्रमाणमीमांसा : कुछ स्फुट विचार	प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र	४३
बौद्धदर्शने शब्दप्रमाणस्यानुमानेऽन्तर्भावित्वविमर्शः	डॉ० धर्मदत्तचतुर्वेदी	५३
बौद्धदर्शने अनुमानप्रमाणम्	डॉ० वृजकिशोरत्रिपाठी	६२
पाश्चात्य दर्शन में ज्ञान और प्रमाण	प्रो. हरिशंकर उपाध्याय	७०
आधुनिक विज्ञान में प्रमाण	प्रो. अरविन्द कुमार राय	८४
विधि में प्रमाण विमर्श	प्रो० डी० के० शर्मा	९९
प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद की सार्थकता	डॉ० अभिमन्यु सिंह	१०७
सांख्यदर्शने प्रमाणविमर्शः	प्रो० कृष्णकान्तशर्मा	११९
योगदर्शन एवं प्रमाण-विमर्श	डॉ० सुशीम दुबे	१२६
न्यायव्याकरणदर्शनयोः सप्रयोजनप्रमाणविमर्शः	डॉ० गणपतिशुक्लः	१३६
न्यायभिमतप्रत्यक्षस्वरूपविमर्शः	डॉ. विश्वनाथधितालः	१४२
न्यायाभिमतअनुमानप्रमाणविचारः	प्रो० वशिष्ठ त्रिपाठी	१५०
न्यायहेत्वाभासविषये सङ्क्षिप्तो विचारः	आचार्यो गणेश्वरशास्त्री	१५५
न्यायमीमांसाशास्त्रयोः उपमानप्रमाणस्वरूपसमीक्षणम्	प्रो० रामपूजन पाण्डेय	१५९

मीमांसादर्शने प्रत्यक्षप्रमाणम्	प्रो० कमलाकान्त त्रिपाठी	१६४
मीमांसादर्शनेऽनुमानप्रमाणविमर्थः	प्रो. धरणीचराचार्य	१६९
मीमांसा दर्शन में उपमान एवं शब्दप्रमाण	प्रो० सोमनाथ नेने	१७९
मीमांसानयेऽर्थापत्तिप्रमाणम्	प्रो० भगवत् शरणशुक्लः	१९७
मीमांसाशास्त्रे प्रमाणविमर्शः	प्रो० एन०आर० श्रीनिवासन्	२०२
अद्वैतवेदान्ताभिमतप्रत्यक्षस्वरूपविमर्शः	प्रो० रामकिशोर त्रिपाठी	२०५
अद्वैतनयेऽर्थापत्तिप्रमाणस्वरूपविमर्शः	वाचस्पतिः डॉ० दिव्यचेतनब्रह्मचारी	२१९
अद्वैत वेदान्त दर्शन में शब्द प्रमाण विमर्श	प्रो० शङ्कर दयाल द्विवेदी	२२४
अद्वैतवेदान्तेऽनुमानस्वरूपम्	वाचस्पतिः डॉ० दिव्यचेतनब्रह्मचारी	२३५
विशिष्टद्वैतवेदान्ते प्रमाणविचारः	प्रो० एन्०आर० श्रीनिवासन्	२४१
माध्वदर्शन-सम्मत प्रमाणमीमांसा - एक परिचय	प्रो. राजारामशुक्ल	२४३
तन्त्रागमीय प्रमाण-विमर्श	डॉ. शीतलाप्रसादपाण्डेय	२५१
साहित्यशास्त्रे प्रमाणविमर्शः	प्रो० कौशलेन्द्रपाण्डेयः	२५९
ज्योतिषशास्त्रे प्रमाणविमर्शः	प्रो.रामचन्द्र पाण्डेयः	२६४
शाब्दिकनये प्रत्यक्षप्रमाणमीमांसा	डॉ० रमाकान्तपाण्डेयः	२६९
व्याकरणशास्त्रेऽनुमानप्रमाणम्	प्रो. जयशंकरलालत्रिपाठी	२७५
वाक्यपदीयरीत्या प्रमाणविमर्शः	प्रो० भगवत्शरणशुक्लः	२८५
व्याकरणशास्त्रसम्मतप्रमाणानां प्रासङ्गिकता	प्रो० किशोरचन्द्रपाढी	३०४

***

प्रमाणप्रयोजनम्

प्रो. का. ई. मधुसूदनः
शृङ्गेरी

इह खलु संसारे निमग्नानां मानवानामुद्दिधीर्षया परमकारुणिकाः बादरायण-जैमिनिगौतमप्रभृतयो महर्षयः स्वं स्वं दर्शनमाविश्चक्रुः। तत्र तत्र निरुरूपयिषितं प्रमेयजातं प्रमाणतः प्रतिपद्य ग्रन्थेषु निबबन्धुः। प्रमेयतत्त्वावधारणं हि प्रमाण-तत्त्वाधारणाधीनम्। अत एव निःश्रेयसाधिगमहेतुतत्त्वज्ञानविषयाणां परिकीतर्नावसरे प्रमाणमेवादावसूत्रयदक्षपादः। प्रमाणविधेयतत्स्वरूपकार्यादिषु दार्शिनिकाः नितान्तं विवदमानाः दरीदृश्यन्ते। तत्र प्रमाणानां प्रयोजनमधिकृत्य किञ्चिदत्र लिख्यते नान्त दर्शनाभिप्रायसङ्कलनेन यथामति।

नैयायिकमतेन प्रमाणकृत्यविवरणम्

प्रमाणानां प्रयोजनमुपवर्णयता भगवता वात्स्यायनेन न्यायभाष्यकारेणेत्थम-भिहितम्- 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्' इति। अयं भावः-पुरुषाः द्विविधाः-रागादिमन्तः वीतरागाश्चेति। वीतरागाणां प्रवृत्तिः अनिष्टपरिहारार्था एकरूपा। रागादिमत्प्रवृत्तिस्तु इष्टाधिगमार्था अनिष्टपरिहारार्था चेति द्विविधा। इष्टं प्राप्नुवानीति प्रवर्तमानः यदा प्राप्नोति, तदा सा प्रवृत्तिः समर्था। एवमनिष्टं जहानीति प्रवर्तमानस्य अनिष्टहानेऽपि सा तथा। यदा तु विपर्ययः तदा असमर्था। प्रमाणं तावदर्थपरिच्छेदकम्। अर्थपरिच्छेदकत्वसादृश्यात् प्रमाणाभासस्यापि प्रमाणमित्युपचारः। प्रमाता यदा प्रमाणाधीनावधारणः प्रवर्तते तदा तस्य प्रवृत्तिः समर्था भवति। यदा पुनः प्रमाणाभासेनार्थमवधार्य प्रवर्तते तदा असमर्था। प्रमाणं च उपलब्धिनिमित्तम्। प्रमातृप्रमेयाभ्यां प्रमाणं जन्यते। तच्चोपलब्धिसाधनम्। न चैवं सति प्रमातृप्रमेययोरपि प्रमाणत्वापत्तिरुपलब्धिनिमित्तत्वादिति वाच्यम्। साधकतमत्वरूपनिमित्तत्वस्य

विवक्षितत्वेनादोषात्। साधकतमत्वं हि प्रमित्यव्यभिचारित्वम्। तच्च प्रमाणस्यैव, न तु प्रमातृप्रमेययोः। प्रमातरि प्रमेये वा असति प्रमा न भवति, सति तु भवति। न पुनः सति भवत्येवेति नियमः। प्रमाणे तु सति प्रमा भवत्येव। तस्मात् प्रमाणस्यैव साधकतमत्वमिति। सोऽयं प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येयः, प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वात्। यद्यपि सुखदुःखे तद्धेतुश्चेति प्रमाणार्थस्य (प्रमेयस्य) परिसंख्यातत्वेन न आनन्त्यम् इति कथमेवं कथ्यते इति शङ्का उन्मिषति, तथापि अर्थशब्दस्य अत्र प्रयोजनवाचित्वेन प्रमाणप्रयोजनमपि संख्येयमिति विवक्षया सा परिहरणीया। स एवार्थः केषाञ्चित् सुखहेतुर्भवति, केषाञ्चित् दुःखहेतुरिति। तस्मात् अर्थाप्रतिपत्तिद्वारा पुरुषार्थजननं प्रमाणानां फलमिति नैयायिकानां समयः।

किञ्च प्रमाणाभावे कथाप्रवृत्तिः न घटते। तत्त्वनिर्णयाद्यर्थं हि वादिप्रतिवादिनोः कथायां प्रवृत्तिः भवति। प्रमाणतर्काभ्यां साधनोपालम्भयोरकरणे तत्त्वनिर्णयः कथमुत्पत्तुमर्हति। वादिप्रतिवादिभ्यामुपन्यस्तयोः पक्षप्रतिपक्षयोः न्यायात्मकयोरेव कथात्वात्। तदुक्तं न्यायभाष्ये– 'किंसाधनः परमुपालभेत' इति। तत्त्वावधारणपरपराभवौ इच्छद्भ्यां कथकाभ्यां विना समयबन्धं स्वभीष्टसाधानासम्भवात् समयबन्धस्य च 'प्रमाणेन तर्केण च वादिना व्यवहर्तव्यम्। प्रतिवादिनाऽपि तत्तन्निग्रहस्थानं प्रदर्शनीयम्' इत्यादिरूपस्य तत्त्वनिर्णयजयपराजयतर्कप्रमाणतत्तन्निग्रहस्थानादीनां सद्भावाभ्युपगमे एवोपपत्तेः तत्सद्भावः एष्टव्य इति भावः।

मीमांसकानामाशयः

सर्वं ज्ञानं यथार्थमेवेत्यातिष्ठमानाः प्राभाकरमीमांसकाः अनुभूतिः प्रमा इति लक्षयन्ति, स्मृतिव्यतिरिक्तस्य व्यार्तनीयस्याभावात्। भ्रमत्वेन इतराभ्युपेतस्य शुक्त्यादौ 'इदं रजतमि'त्यादिज्ञानस्य रजतादिस्मृतिशुक्त्यादिपुरोवर्त्तिग्रहणोभयात्मकत्वेन याथार्थ्यानपायात्। प्रमाणफलभावश्चेत्थमभिहितः प्रकरणपञ्चिकायाम्–

मानत्वे संविदो बाह्यं हानादानादिकं फलम्।
ज्ञानस्य तु फलं सैव व्यवहारोपयोगिनी।। इति।

विवृतश्चैतत्– संवित् स्वयम्प्रकाशा तस्याः मानत्वे सति हानोपादानादिव्यवहारः फलं स्यात्। यदि प्रमितिः प्रमाणमिति प्रमाशब्दात् भावे ल्युटि व्यवह्रियते, तदा संविदेव प्रमाणम्। तस्याश्च व्यवहारानुगुणस्वभावत्वात् हानोपादानोपेक्षाः फलम्। यदि च प्रमीयते अनेनेति प्रमाणमिति करणल्युडन्तोऽयं शब्दः तर्हि आत्ममनःसन्निकर्षादयः प्रमाणपदग्राह्याः। संविदेव तु बाह्यव्यवहारोपयोगिनी सती फलम्।

आपेक्षिकं च करणं मन इन्द्रियमेव वा।

तदर्थसन्निकर्षो वा मानञ्चेत् पूर्वकं फलम्।। इति च कथितम्।

यदा तु साधकतमं करणमिति तमप्– प्रत्ययस्यातिशयार्थाकत्वात् अतिशयस्य च बाह्यापेक्षत्वात् आलोकाद्यपेक्षमिन्द्रियमेव प्रमाणम्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, इन्द्रियमनः सन्निकर्षो वा, तदापि संविदेव फलम्। साधनानां संविदर्थमेव प्रवृत्तेः इति। एवञ्च प्रमाणफलाभावे अनियमः प्राभाकरेष्टः इत्यवसीद्यते। तत्र च गमकं प्रत्यक्षसूत्रगतं भाष्यवाक्यमेव 'बुद्धि र्वा जन्म वा सन्निकर्षो वेति नैषां कस्यचिदवधारणार्थमेतत्सूत्रम्' इति। उक्तेषु इन्द्रियादिषु मध्ये पूर्वपूर्वस्य प्रमाणत्वे उत्तरोत्तरस्य फलत्वमिति भावः। आहुश्च कुमारिलभट्टपादाः–

प्रमाणफलभावस्तु यथेष्टं परिकल्प्यताम्।

यद्वेन्द्रियं प्रमाणं स्यात् तस्य वार्थेन सङ्गतिः।

मनसो वेन्द्रियैर्योग आत्मना सर्व एव वा।।

तदा ज्ञानं फलं तत्र व्यापाराच्च प्रमाणता।

व्यापारो न यदा तेषां तदा नोत्पद्यते फलम्।। इति। (प्र.सू.श्लो.५९)

अर्थज्ञाने फले आत्ममनःसंयोगाद्यानन्तार्थविवक्षया प्रमाणम्। ज्ञानस्य प्रमाणत्वे च पूर्वमालोचनाज्ञानं विशेषणज्ञानं च प्रमाणम्।

सौत्रान्तिकमते प्रमाणफलाभावः, तन्निरासश्च

सौत्रान्तिकास्तु विषयैकत्वलिप्सया प्रमाणादभिन्नं फलम्। एकमेव ज्ञानं द्विरूपम्, स्वसंवित्त्या विषयाकारेण च। तत्र स्वसंवित्तिः फलम्, विषयाकारश्च प्रमाणम्। तदुक्तम्–

विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते।

स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपो ह्यर्थनिश्चयः।। इति।

स्वयमनाकारस्य ज्ञानस्य न विषयाकारः स्वाभाविकः किन्तु बाह्येन नीलाद्यर्थेन ज्ञाने आधीयते। बाह्यार्थस्तु प्रमेयम् इति मन्यन्ते।

तदयुक्तम्– ज्ञानं न स्वरूपानुदभवसमर्थम्, किन्तु इदं नीलमिति बहिर्विषयानुभव-समर्थमेव, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। किञ्च न विषयाकारः प्रमाणम्, प्रमाणाभावात्। अर्थेन ज्ञाने आधीयमानः विषयाकारः इत्यपि न सत्, प्रमाणतदधीनज्ञानवैचित्र्यानुपपत्तेः। यदि चायं विषयाकारः विषये स्वीक्रियते, तर्हि तस्मिन् प्रमाणे भिन्नार्थत्वमवर्जनीयम्।

तदुक्तं कुमारिलभट्टैः-

स्वसंवित्तिफलत्वं तु तन्निषेधात् न युज्यते।
प्रमाणे विषयाकारे भिन्नार्थत्वान्न युज्यते।। (प्र.सू.श्लो.७९)

योगाचारास्तु स्वभावत स्वच्छज्ञानमनादिवासनावशात् नीलाद्याकारमात्मानमात्मनैव गृह्णाति। अस्य च स्वाकारः प्रमाणम्, विषयाकारः प्रमेयः, स्वसंवित्तिः फलम्। यदुक्तम्-

यदाभासं प्रमेयं तत्प्रमाणं फलते पुनः।
ग्राहकाकारसंवित्त्योस्त्रयं नातः पृथक् कृतम्।। इति वदन्ति।

तदप्ययुक्तम्- यतः योऽयं स्वाकारः प्रमाणत्वेन कल्पितः सोऽपि स्वसंवित्तेरतिरिक्तः न प्रतीयते। स्वसंवित्तिरेव हि ज्ञानस्याकारः। किञ्चायं स्वाकारः परिच्छिन्नः (ज्ञातः) सन् प्रमाणमुत अपरिच्छिन्नः सन् इति विकल्प्यते। तत्राद्यः कल्पः नावकल्पते, स्वेनैव स्वस्य परिच्छेदासम्भवेन विषयाकारस्य प्रमेयत्वानुपपत्तेः। यदि आकारान्तरमङ्गीकृत्य तेन परिच्छिन्नस्य प्रमाणत्वमिष्यते, तर्हि तादृशाकारान्तरे प्रमाणं वक्तव्यम्। तस्य स्वीकारेऽपि च तस्याप्याकारान्तरं कल्पनीयम्, अपरिच्छिन्नस्य तस्य परिच्छेदकत्वायोगात्, तस्यापि च तथेत्यनवस्था अपरिहार्या। नापि द्वितीयः कल्पः अपरिच्छिन्नस्य सत्ताया एवाप्रमाणिकत्वेन तत्प्रमाणत्वस्य दूरनिरस्तत्वात्। यदि च स्वाकारोऽपलप्यते तदा तदधीनसिद्धिकस्य विषयाकारस्याप्यसिद्धिरेव।

खण्डनकारमतानुवादः

खण्डनग्रन्थे सर्वनिर्वचनखण्डनव्यसनिना तत्प्रणेत्रा प्रमाणाद्यभ्युपगमस्य कथाङ्गत्वं चिखण्डयिषितम्। तदत्रानूद्यते- कथकयोः प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमः कस्य हेतोः? किं तदनभ्युपगमे वादिप्रतिवादिभ्यां तदभ्युपगमसाहित्यनियतस्य वाग्व्यवहारस्य प्रवर्तयितुमशक्यत्वात्? उत तद्व्यवहारं प्रति तस्य हेतुत्वात्? उत लोकव्यवहारसिद्धत्वात्? तदनभ्युपगमस्य तत्त्वनिर्णयविजयफलातिप्रसञ्जकत्वाद्वा? न तावत् प्रथमः, तमन्तरेण तत्तीर्थकरैः तदनुसारभिश्च व्यवहारस्य प्रवर्त्यमानत्वात्। अन्यथा तन्निरासप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। न च साधनादूषणक्षमः व्यवहारः प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमसाहित्यनियतः इति न तमन्तरेण तत्क्षमोपपत्तिरिति वाच्यम्। साधनबाधन- क्षमत्वे सद्वचनाभासलक्षणयोगित्वस्यैव प्रयोजकत्वात्, माध्यमिकादिवाग्व्यवहारे व्यभिचारेण प्रमाणदिसत्ताभ्युपगमसाहित्यप्रयोजनकत्वात्। सत्त्वाद्यभ्युपगमे सत्यपि आभासे तदक्षमस्य सर्वसम्मतत्वात्। सत्त्वानभ्युपगममात्रेणाप्यतद्वाक्ये आभासत्वस्वीकारे

सत्ताभ्युपगमेन भवद्व्यवहार एवाभासः इति वैपरीत्यमपि सुवचम्। सत्ताभ्युपगमेऽपि असिद्धविरुद्धादेराभासत्वस्य दर्शनात्।

न च प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमाभावे धर्मिणः व्यवहारस्यैवासिद्धौ तस्य कथमाभासत्वसाधनम्? कथं वा सद्वचनाभासलक्षणप्रयोगित्वादिरूपप्रयोजकावधारणेन दूषणदूष्यादिव्यवस्थापनम्? सर्वेषां स्थापनबाधनानां प्रमाणाधीनत्वाविशेषात् इति शङ्कताम्। यतः न वयं ब्रूमः न सन्ति प्रमाणादीनि इति स्वीकृत्य कथा प्रवर्तनीया इति, किन्तु सन्ति न सन्ति वा प्रमाणादीनि इत्यस्यां चिन्तायामुदासीनैः यथा तानि स्वीकृत्य भवता व्यवह्रियते तथा व्यवहारिभिरेव कथा प्रवर्त्यतामिति। उक्तञ्च इष्टसिद्धिकारैः- 'सत्यं प्रसिद्धिरस्ति, अत एव व्यवहरामः, किन्तु नास्याः मूलं पश्यामः इति। अन्यथा न सन्ति प्रमाणादीनि इति मतमस्माकमारोप्य यदिदं दूषणमुक्तं भवता तदपि दुर्वचं स्यात्।

नापि द्वितीयः- सत्ताभ्युपगममन्तरेणापि प्रमाणादीनां व्यवहारहेतुत्वस्य माध्यमिकादिषु दर्शनात्। न च व्यवहारहेतुत्वादेव प्रमाणादीनां सत्त्वम्, सत्त्वे तदभ्युपगमः, असतः अभ्युपगमायोगादिति वाच्यम्। अस्यापि अर्थस्य कयापि नियमस्थित्या प्रवर्तितां कथां विना साधयितुमशक्यत्वात्। तस्मात् सत्ताभ्युपगमात् पूर्वं कथाप्रवृत्तिः सिद्धा। न च साऽपि नियमस्थितिसत्ताभ्युपगमगर्भा इति वाच्यम्। समयबन्धमात्रेण समीहितसिद्धेः। स च 'प्रमाणतर्काभ्यां व्यवहर्तव्यम् , परस्परं प्रतिज्ञाहान्याद्यन्यतमनिग्रहस्थानं प्रदर्शनीयं तद्व्युत्पादने तद्वतो भङ्गः व्यवहर्तव्यः, अन्यथा तद्व्युत्पादनासमर्थस्य अभग्नस्तु जेता इति व्यवहर्तव्यः, प्रामाणिकतया प्रतीतः पक्षः तत्त्वमिति व्यवहर्तव्यः इत्येवमादिरूपः। तत्र च नास्ति सत्ताभ्युपगमप्रसङ्गः। स च वादिभ्यां द्वाभ्यामपि स्वेच्छयैव ग्राह्यः। व्यवहारनियम-मात्रेणैव अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कथा प्रवृत्तितत्फलोपपत्तौ अतादृशनिरर्थकसत्ताभ्युपगम-स्यान्याय्यत्वात्।

नापि तृतीयः- लोकव्यवहार इति किं प्रामाणिकव्यवहारो विवक्षितः, उत पामरादिसाधारणव्यवहारः? नाद्यः- तस्य विचारप्रवृत्तिमन्तरेण दुर्निरूपतया तदर्थमेव पूर्ववत् नियमस्य गवेषणात्। न द्वितीयः, निर्मूलव्यवहारस्य आश्रयणे शरीरात्मत्वा-दीनामपि स्वीकर्तव्यत्वापत्तेः। न च पश्चात्तनबाधात् तत्परित्यागः इति वाच्यम्। तर्हि प्रमाणादिसत्तायाः अपि सामान्यतः विशेषतश्चास्मदुक्ताभिः युक्तिभिः बाध्यमानायाः परित्यागौचित्यात्।

नापि चतुर्थः, फलातिप्रसञ्जकत्वस्य मां प्रतीव त्वां प्रत्यपि तुल्यापादानत्वात्। प्रमाणादिसत्तामभ्युपगच्छता त्वया यादृशो व्यवहारनियमोऽवलम्ब्यते प्रमाणादिसत्ता-सत्त्वानुसरणोदासीनेन मयापि तादृशस्यैवावलम्बनात्। यथा च भोजनादिव्यापारेष्वपि सत्तामनिच्छतां माध्यमिकादीनां तत्फलनियमः, तथा अत्रापि इति। तस्मात् न कथाप्रवृत्तौ प्रमाणसत्ताभ्युपगमः प्रयोजकः इति।

खण्डनकारमतखण्डनम्

श्रीउत्तमूर् वीरराघवाचार्यैः खण्डनग्रन्थं खण्डयित्वा प्रमाणसत्ताभ्युपगमस्य आवश्यकत्वं सयुक्तिकं व्यवस्थापितम्। तदेवम्- यत्तावत् भणितम्- चार्वाक-माध्यमिकादिभिः प्रमाणसत्तामनभ्युपगच्छद्भिरपि व्यवहारस्य क्रियमाणत्वात् न व्यवहारः प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमसाहित्यनियतः इति- तदयुक्तम्- अनधीतवेदस्य यागादावनधिकारवद् अनुमानप्रमाणानङ्गीकर्तुश्चार्वाकस्य अनुमानरूपन्यायप्रयोगात्मिकायां कथायामनधिकारात्। किञ्च प्रथमविकल्पार्थः कः? प्रमाणसत्ताभ्युपगमसाहित्यनियतस्य व्यवहारस्यान्यथा प्रवर्तयितुमशक्यत्वादिति वा, उत तादृशसत्ताभ्युपगमस्य व्यवहारव्यापकत्वादिति, उत तदभ्युपगमं विना प्रवर्तयितुमशक्यत्वादित्येव? नाद्यः, साहित्यपदस्य व्यावर्त्याभावेन निष्प्रयोजनत्वात्। न द्वितीयः प्रवर्तयितुमाशक्य-त्वादित्यधिकलेखनस्य व्यर्थत्वात्। नापि तृतीयः, अभ्युपगमस्य व्यतिरेकमुखेन व्यवहारकारणत्वोक्तेः द्वितीयविकल्पाविशेषप्रसङ्गात्। अभ्युपगमव्यवहारयोः व्याप्यव्यापाकभावखण्डनेनैव कार्यकारणभावस्यापि खण्डितत्वेन द्वितीयविकल्पानुत्थिति प्रसङ्गात्। एवं प्रतिज्ञाहेत्वादिन्यायप्रयोगरूपव्यवहारे पक्षसाध्यहेत्वादीनां सत्तानङ्गीकारे आश्रयासिद्धादयो दोषाः दुर्वाराः। प्रमाणादिसत्त्वासत्त्वविचारे औदासीन्यमपि कथकानां दुर्वचम्। पक्षे हेत्वादेः, हेतौ साध्यव्याप्त्यादेश्च सत्तास्वीकारे औदासीन्याभावात्। तदस्वीकारे हेतोराभासत्वापत्तेः। प्रमाणादिकमङ्गीकृत्य कथा प्रवर्तनीया, उतान्यथाऽपीति विचाररूपायां कथायां तु लोके विवेकिनामप्रवृत्तिरेव। प्रवर्तमानस्य स्वाभीष्टसाधनाय हेतूपादानस्य प्रमाणस्वीकारित्वस्यावर्जनीयत्वात्। न्याये आगमः, प्रतिज्ञा, हेतुरनुमानम्, उदाहरणं, प्रत्यक्षम्, उपनयः, उपमानमिति सर्वेषां प्रमाणानां समवायस्य न्यायभाष्ये प्रदर्शितत्वात्।

अत एव द्वितीयविकल्पनिरासोऽप्ययुक्तः 'तत्त्वावधारणं वा परपराभवं वा अभिलषद्भ्यां कथकाभ्यां यावता विना तदभिलषितं न पर्यवस्यति तावदनुरोद्धव्यम्। स च समयबन्धरूपः' इति वदता खण्डनकारेण तत्त्वनिर्णयजयपराजय-

तर्कप्रमाणनिग्रहस्थानादीनां सत्त्वमभ्युपगतमेव सत्त्वशब्दप्रयोगमन्तरेण। उक्तं हि स्वयम्– व्यावहारिकसत्त्वानङ्गीकारे सर्वं दुष्करमिति। पारमार्थिकसत्तातिरिक्ता च व्यावहारिकसत्ता दुर्वचा। यदा व्यवहारकालेऽपि सा बाध्यते, तत्कालवृत्त्य-भावप्रतियोगित्वेन गृह्यते, तर्हि नास्त्येव इति बाधिते सत्ता दुरुपपादा। किञ्च प्रमाणादीनां व्यवहारहेतुत्वं माध्यमिकादिष्वपि भवतीति प्रदर्शयता भवता हेतुत्वेन तत्सत्ताऽभ्युपेतैव। वादिप्रतिवादिभ्यां 'विवादे सति कथा प्रवर्तनीया' इति यथा अभ्युपेतम्, तथा 'प्रमाणतर्कसत्त्वे एव तत्त्वनिर्णयः' इत्यपि अभ्युपेयमेव। व्यवहारनियमस्य प्रमाणादिसत्तागर्भतयैव लोकसिद्धत्वात् 'व्यवहारनियमः इष्यते, प्रमाणादिसत्ता तु नेष्यते' इति वक्तुं न शक्यते। तस्मात् प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमः सिद्धः।

नापि तृतीयविकल्पखण्डनं युक्तम्। तृतीयो हि कल्पः लोकव्यवहारसिद्धत्वादिति च विकल्प्यते खण्डनकारेण प्रामाणिकलोकसिद्धत्वाद्वा पामरलोकसिद्धत्वाद्वा इति। तत्र प्रथमपक्षे प्रामाणिकव्यवहारसिद्धत्वं विचारमन्तरेण दुर्निरूपमिदं यदुक्तम्, तन्न-तत्तत्सिद्धान्तग्रन्थाध्ययनेन व्यवहारनियमे प्रागेव व्युत्पन्नानां तेषां यथाकाले तद्विचारानपेक्षणात्। किञ्च प्रामाणिकलोकव्यवहार एवानुसर्त्तव्यः इत्यत्र विवादाभावात् अयमंशः प्रामाणिकव्यवहारसिद्धो वा न वेति शङ्कैव क्वचित्तु भवितुमर्हति प्रामाणिकव्यवहाराभावे को दोषः इति चेत्, तत्र वक्तव्यं पामरव्यवहार-रूपविकल्पदूषणसन्दर्भे खण्डनकारेणैवोक्तम्। एवं द्वितीयकल्पे (पामरलोकसिद्धत्व-कल्पे) शरीरात्मत्वादेरपि परिग्रहापत्तिरिति यद्दूषणमभिहितम् तत्रोच्यते– वादिनः क्वचित् शरीरात्मतापक्षस्थापनोद्योगे तस्य परिग्रहः स्यादेव। न हि पामरानुभव इत्येव सर्वं प्रत्यक्षमपलपितुमुचितम्, तृप्त्यर्थभोजनादेरपि पामरपरिगृहीततया निषेधप्रसङ्गात्। यदि अबाधितलोकव्यवहारसिद्धमादर्तव्यमित्युच्यते तर्हि प्रमाणादीनां पाश्चात्यबाधविरहात् सत्ता अभ्युपगन्तव्यैव। वर्तमानबाधाभावेऽपि देशान्तरे कालान्तरे वा बाधो न भविष्यति इति कथं निश्चितमिति चेत्, देशान्तरकालान्तरसद्भावनिश्चयाभावे बाधो भविष्यतीति न वक्तुं शक्यम्। उपनिषद्भिः बाधप्रदर्शनात् प्रमाणदीनां बाध्यत्वम् इत्यपि न, उपनिषदां प्रामाण्ये सर्वप्रमाणसत्ताऽनभ्युपगमायोगात्। शब्दप्रत्यक्ष-व्युत्पत्तिग्रहततदौपयिकानुमानयोग्यतादिपरिशीलनसापेक्षतया शब्दप्रामाण्यस्यैव प्रत्यक्षानुमानप्रामाण्यस्थापकत्वाच्च। उपनिषदामप्रामाण्ये तन्मूलस्य बाध्यत्वस्यैव बाध्यत्वात्। बाधाभावात्तु प्रमाणादिसत्ता स्वीकर्तव्यैव। बाधकप्रमाणानुपलम्भादेव बाधाभावः निश्चितः। न च प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमं प्रति अबाध्यत्वं प्रयोजकम्। अबाध्यत्वं प्रति विचारः प्रयोजकः, विचारश्च कथया इति प्रमाणसत्त्वाभ्युपगमं

विनापि कथाप्रवृत्तिः सम्भवतीति वाच्यम्। कथायाः प्रमाणादिगर्भतया प्रमाणाद्यनभ्युपगमे कथाप्रवर्तनायोगात्। प्रमाणाद्यभ्युपगमस्यैव प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमत्वात्।

नापि चतुर्थकल्पखण्डनं सत्। प्रमाणादिसत्ताऽनभ्युपगमे कथाफलातिप्रसङ्गो न भवति, सत्ताऽभ्युपगन्त्रेव व्यवहारानियमस्य तदनभ्युपगन्त्रापि अवलम्बनादिति तत्खण्डनस्यायुक्तत्वात्। वह्निसाधकस्य धूमरूपप्रमाणस्य ह्रदे असद्भावेऽपि ह्रदो वह्निमान् धूमादिति पर्वतो वह्निमान् धूमादितिव्यवहारतुल्यं व्यवहारे क्रियमाणे कथाफलातिप्रसङ्गस्य दुष्परिहरत्वात्। अनाभासहेतुना व्यवहार एव चेत्, तर्हि पक्षे हेतुरूपप्रमाणसत्त्वमिष्टमेवेत्यायातम्।

किञ्च सत्त्वस्यानुभूयमानत्वादेव तस्य पारिमार्थिकत्वव्यावृत्तये व्यावहारिकत्व-विशेषणदानम्। यदि च वस्तुनः बाध्यत्वम्, तत् त्रैकालिकाभावप्रतियोगित्वमेवेति सत्त्वप्रसक्तेरेवाभावात् कुत्र व्यावहारिकत्वं विशेषणं स्यात्। तस्मात् आभासाना-माभासतया अनाभासानामनाभासतया च सत्ता सिद्ध्यत्येव।

यदुक्तम् खण्डनकारेण-व्यवहारं प्रति सत्ताज्ञानमेव कारणम्, न सत्ता। ज्ञानं च भ्रमात्मकमविद्यमानस्यापि मरुमरीचिकादौ भवत् न वस्तुसाधकम्। वादिप्रतिवाद्यादिगतं ज्ञानं च कालान्तरे देशान्तरे पुरुषान्तरेऽप्यबाधितमिति तावत् निश्चेतुमशक्यम्। तदातनबाधाभावमात्रेण सद्व्यवहारः क्रियते। तावता सत्तेयं व्यावहारिकसत्तैव भवति, न पारमार्थिकी इति, तदप्ययुक्तम्, एवं संशयशीलस्यानुमानप्रामाण्यस्याप्यसिद्धिप्रसङ्गात्। न चेष्टापत्तिः, शाब्दबोधस्य अनुमानाधीनत्वेन शब्दप्रामाण्यस्यापि विलयप्रसङ्गात्। पूर्वोत्तरमीमांसाधिकरणानां सर्वेषां तर्कानुमानदूषकाणाम् अश्रद्धेयत्वापातात्। नानातर्कपरिकर्मितनिजग्रन्थस्याप्यसामञ्जस्यापत्तेः। बाधशङ्कया व्याप्त्यादिनिश्चयासम्भवे अनुमानदौस्थ्ये सर्वप्रमाणभङ्गात्। तस्मात् यथानुभवं प्रमाणादिसत्त्वमवश्यास्थेयम्।

सर्वथा सदुपायानां वादमार्गः प्रवर्तते।
अधिकारोऽनुपायत्वात् न वादे शून्यवादिनः।।

(श्लोक वा.निरालम्बनवादे १२/१२८) इति।

वार्तिककृद्भिः भट्टकुमारिलैरभिहितमप्यत्रानुसन्धेयम्। व्यावहारिकं सत्त्वमिति, सांवृतिकं सत्त्वमिति च असत्त्वपर्यायमिति निरूपणं तु निबन्धगौरवभयान्न क्रियते। प्रमाणादिसत्तानभ्युपगमे सुतरां वस्त्वसिद्धिरिति तत्सत्ताऽभ्युपगमः सर्वेषामनिवार्यः इति।

***

प्रमाणस्वरूपविमर्शः

सच्चिदानन्द मिश्रः
आचार्य धर्म एवं दर्शन विभाग, कला संकाय,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

अस्मिन् निबन्धे किं तावत् प्रमाणानां स्वरूपमिति प्राथमिकं प्रश्नमाधारीकृत्य मया विचारः क्रियते। तत्र सन्ति विविधविप्रतिपत्तयः विदुषाम् – केचन तावद् दार्शनिकाः प्रमाप्रमाणयोर्मध्ये किचिदन्तरं न स्वीकुर्वन्ति। परन्तु प्रमाकरणं प्रमाणमिति नैयायिका अस्य प्रश्नस्योत्तरं ब्रुवते। तथा च तन्मते प्रमाणस्वरूपनिर्धारणं विना प्रमाणस्वरूपनिर्धारणं न हि कथञ्चनापि सम्भवति। अस्मात् कारणात् किं यावत् प्रमाया स्वरूपम् ? प्रश्नोऽयं किं तावत् प्रमात्वमितिरूपमावहति। तत्र सन्ति वहुधा विप्रतिपत्तयः। एके तावत् प्रमात्वस्य अनुभूतित्वस्वरूपतां स्वीकुर्वन्ति, केचन यथार्थानुभवत्वम्, अपरे अविसंवादकत्वम्; केचन सम्यक्परिच्छेदरूपत्वम् , अन्ये त्वगृहीतग्राहित्वं तदिति ब्रुवते। गंगेशेन तावत् तत्त्वचिन्तामणौ प्रायशः विंशतिविकल्पाः समुपस्थाप्य सिद्धान्तपक्षः प्रस्तुतः। अस्मिन्नालेखे मया केवलं प्रमुखाः पक्षाः समुपस्थाप्यन्ते, निबन्धस्याकारं मनसि निधाय बहवः पक्षा ये सम्यक् प्रसिद्धाः, चर्चिताः वा न सन्ति मया परित्यक्ताः।

इदं तावत् प्रथमतया पृच्छामः नैयायिकास्तावत् वैशेषिकवत् सप्तानां पदार्थानां सत्तां स्वीकुर्वन्तो दरीदृश्यन्ते। प्रोक्तं हि "एते च पदार्था वैशेषिके प्रसिद्धा नैयायिकानामप्यविरुद्धा" इति। तर्हि किमिदं प्रमात्वम् ? कस्मिंस्तावत् पदार्थे प्रमात्वमन्तर्भवति? न तावद् द्रव्ये, प्रमात्वं गुणवत् क्रियावद्वेति प्रतीत्यभावात्। न तावत् गुणेऽन्तर्भवितुमर्हति द्रव्यासमवेतत्वात्, गुणत्वे द्रव्यसमवेतत्वस्यावश्यकत्वात्। प्रमात्वं हि ज्ञानात्मकगुणे विद्यमानं भवति कथं हि गुणरूपतां भजेत? प्रसिद्ध हि तावदिदमाभाणक गुणे गुणानङ्गीकारादिति। न हि तावत् प्रमात्वं कर्मण्यप्यन्तर्भवितुमर्हति गतिरूपताविरहादुत्क्षेपणादिष्वनन्तर्भाव्यत्वात्। समवायविशेषाभावेषु प्रमात्वस्यान्तर्भावस्य प्रश्न एव नैव समुदितो भवति।

प्रमात्वं न जातिः

इदं तु स्यात् प्रमात्वं तावज्ज्ञानमात्रवृत्तिर्जातिः। प्रमात्वं हि ज्ञानत्वव्यापको

ज्ञानसामान्यवृत्तिर्धर्म इत्यस्य पक्षस्याशयो भवितुमर्हति। तथाहि प्रमात्वं ज्ञानत्वव्यापिका ज्ञानमात्रवृत्तिः जातिः। सर्वमपि ज्ञानं प्रमात्मकं भवति न किंचिदपि ज्ञानं भवति एतादृशं यत्र प्रमात्वं न भवेत् । प्रमात्वस्य सर्वस्मिन्नपि ज्ञाने विद्यमानत्वात् । अप्रमात्मकं ज्ञानमपि, भ्रमात्मकं ज्ञानमपि अंशतः प्रमात्मकमेव भवति। प्रसिद्धमेव धर्मिणि सर्वमभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः। परन्तु नैतदपि स्वीकर्तुं शक्यम् । यदि हि प्रमात्वं जातिः स्यात् तर्हि योग्यव्यक्तिवृत्तितया प्रमात्वं प्रत्यक्षेण ग्राह्यमेव भवेत्। तथाहि ज्ञानं तावदात्मवृत्तिः मानसप्रतीतिसिद्धो गुणः। न्यायनये नियमस्तावदयं स्वीकृतो विद्यते येनेन्द्रियेण या व्यक्तिर्गृह्यते तद्गता जातिस्तदभावश्च तेनैवेन्द्रियेण गृह्यते। ज्ञानं हि मानसप्रत्यक्षयोग्यं भवति, सति चैवं ज्ञानवृत्तिप्रमात्वजातेरपि मानसप्रत्यक्षता प्रसक्ता भवति। तथा च ज्ञाने ज्ञाते सति न कदाचिदपि इदं ज्ञानं प्रमा वाऽप्रमा वेति संशयः सम्भवति, ज्ञाने ज्ञाते तद्गतायाः प्रमात्वजातेरपि प्रत्यक्षतया ज्ञाततया प्रमात्वसंशयायोगात्। द्वितीयापि समस्या विद्यतेऽस्मिन् पक्षे, वस्तुतस्तु प्रमात्वं न प्रत्यक्षं किन्तु सर्वदैवानुमेयम् । यदि च प्रमात्वं जातिः स्यात्तर्हि साक्षात्त्वादिना तस्य साङ्कर्यं गले पतति। यतो हि प्रमात्वं परित्यज्य साक्षात्त्वं साक्षात्कारिणि भ्रमेऽपि विद्यते, प्रमात्वं च साक्षात्त्वाभावाधिकरणे अनुमितिरूपायां प्रमायामपि विद्यमानमस्ति। द्वयोश्च एकस्यां साक्षात्कारिप्रमायां विद्यमानत्वात् सांकर्यं स्यादेव। परस्परात्यन्ताभावसमानाधिरणधर्मयोरेकत्र समावेशः संकर इति हि सुस्पष्टं सांकर्यलक्षणम् । नैयायिकास्तावत् सांकर्यस्य जातिबाधकत्वं स्वीकुर्वन्ति। अतः प्रमात्वं नैव जातिर्भवितुमर्हति।[1] खण्डनखण्डनखाद्यकृता श्रीहर्षेणापि प्रमात्वस्य जातित्वमस्मादेव कारणान्निरस्तम्।[2] अपरापि समस्या जागर्ति यदि प्रमात्वं जातिः स्यात् तर्हि जातेर्व्याप्यवृत्ति-त्वनियमादप्रमायां धर्म्यंशे प्रमात्वं न स्यात्।[3] परन्तु अप्रमाया धर्म्यंशे प्रमात्वं तु स्वीकर्तव्यमेव इदमि इदन्त्वस्यासंदिग्धत्वात् , अबाधितत्वाच्च। 'अनया रीत्या इदं सुस्पष्टं यत् प्रमात्वं नैव जातिः नैव वा अखण्डोपाधिः। किन्तु खण्डोपाधिर्भवितुमर्हति। अतएव तद्दिशा विविच्यते।

प्रमात्वं नागृहीतग्राहित्वम्

एके तावद् ब्रुवते-प्रमात्वं अगृहीतग्राहित्वम् । बौद्धास्तावत् सर्वथैव प्रमात्वस्य अगृहीतग्राहित्वरूपतां व्यवस्थापयितुं समर्थाः। तेषां मते प्रत्यक्षेण यः विषयो गृह्यते सः सर्वथा नवीन एव, स्वलक्षणस्य अत्यन्तव्यावृत्तत्वात् । अनुमानेन यः विषयो गृह्यते सोऽपि नवीन एव। सविकल्पकस्य तु तैः प्रमात्वमेव न स्वीक्रियते, तद्धि निर्विकल्पकपृष्ठभावी गृहीतग्राहित्वात् कथं प्रमाणतां भजेत। अत एव तन्मते केवलं निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमेव प्रमाणतया स्वीकृतं न तु सविकल्पकम्। तस्य कल्पनाधारिततया गृहीतग्राहितया च अप्रमात्वात्। अनुमानस्य तु कल्पनाधारितत्वेऽपि अगृहीतग्राहितया भवति तावत् प्रामाण्यम्। मीमांसकास्तावत् सविकल्पकस्यापि प्रत्यक्षस्य प्रमात्वं स्वीकुर्वन्ति। अतएव यदि तेषां मते केवलमगृहीतग्राहित्वमेव प्रमात्वं भवतीति मतं स्वीकृतं स्यात् तर्हि भ्रमात्मकस्यापि ज्ञानस्य प्रमात्वं स्यात्। अतएव ते हि न

केवलं अगृहीतग्राहित्वं प्रमात्वं न स्वीकुर्वन्ति। ते हि तत्र यथार्थपदमपि तत्त्वार्थपदं वा योजयन्ति। तथा च तन्मते अगृहीततत्त्वार्थज्ञानं प्रमेति प्रमाया लक्षणं भवति।[४] अज्ञातपदेन अगृहीतग्राहित्वमेव अत्र लब्धं भवति। अज्ञातपदोपादानस्य प्रयोजनं तु तैरेवं प्रतिपाद्यते–यदि हि प्रमालक्षणे अज्ञातपदं न दीयेत तर्हि स्मृतेः प्रमात्वं प्रसक्तं भवति, अनुवादस्यापि च प्रमात्वं प्रसक्त भवति द्वयोः प्रमात्वं न स्यादिति मनसि निधाय अज्ञातपदं लक्षणे दत्तम्।[५] परन्तु न तावन्नैयायिका इदं लक्षणं स्वीकुर्वन्ति अस्य लक्षणस्य धारावाहिकबुद्धावव्याप्तत्वात्।[६] भवति हि धारावाहिनी बुद्धिः अयं घटः, अयं घटः इति। पूर्वापरभाविबुद्धीनां विषयाणां तु समानत्वं विद्यते कथं हि प्रथमस्य प्रमात्वमपरेषामप्रमात्वं स्वीकर्तव्यम् । वस्तुतस्तु निष्कम्पप्रवृत्त्यंगं प्रमात्वं हि विचारणीयं विद्यते। नैतत् प्रमात्वं निष्कम्पप्रवृत्त्यंगं भवति। यथा हि प्राथमिकेन ज्ञानेन निष्कम्पा प्रवृत्तिर्जायते तथैव हि द्वितीयादिना ज्ञानेन प्रथमज्ञानसमानविषयकेणापि निष्कम्पैव प्रवृत्तिर्जायते। यदि प्रथमस्य प्रमात्वं तर्हि तत्समानविषयकाणां द्वितीयादिज्ञानानामपि प्रमात्वं स्वीकर्तव्यमेव। अतएव हि मीमांसका अपि धारावाहिकस्थले पूर्वापरभाविनीनां बुद्धीनां प्रमात्वं स्वीकर्तुं प्रयतमानाः दृश्यन्ते। तैस्तावदेषः पन्था आश्रियते धारावाहिकबुद्धिस्थले परवर्तिभिर्बुद्धिरपि अज्ञातविषया एव गृह्यन्ते यतो हि तासां बुद्धीनां विषया केवलं घटघटत्वादयो न भवन्ति किन्तु अयमयमिति रीत्या अनवगतः कालांशः परभाविभिर्ज्ञानैर्गृह्यते। तथा च धारावाहिकस्थले सर्वासामपि बुद्धीनामनवगतग्राहित्वं सुष्ठु प्रतिपादितं भवति।[७] परन्तु न नैयायिका इदं स्वीकुर्वन्ति तेषां भवत्ययमाक्षेपो यत् सः कालांशः क्षणादिरूपः अतीन्द्रियत्वात् प्रत्यक्षीकर्तुं नैव शक्यते।[८] मीमांसकाः क्षणानामपीन्द्रियवेद्यत्वं व्यवस्थापयितुं प्रयतन्ते। परन्तु नैतत् समुचितं प्रतिभाति। यतो हि शतपत्रभेदनकाले नास्माभिः क्षणभेदोऽवगम्यते, अतः क्षणानामतीन्द्रियत्वमेव स्वीकर्तव्यम्।

प्रमात्वं नानुभूतित्वम्

प्राभाकराः मीमांसकाः अयथार्थं ज्ञानं नास्त्येवेति प्रमालक्षणे यथार्थपदं नैव देयमेवेति वदन्ति। किन्तु स्मृतिस्तैरपि व्यावर्त्या इष्यते। अतएव अनुभूतिः प्रमेति तेषां मतं भवति। अनुभूतित्वं हि प्रमात्वम् । तच्चानुभूतित्वं प्रमालक्षणं न भवितुमर्हति इति खण्डनखण्डखाद्ये श्रीहर्षः प्रस्तौति। श्रीहर्षस्यायमाशयो विद्यते यत् अनुभूतित्वं नैव शक्यते निर्वक्तुमिति तन्न प्रमात्वस्वरूपं भवितुमर्हति।[९] नैयायिकास्तु निर्वचनार्हत्वं स्वीकुर्वन्ति, तच्चानुभूतित्वं स्मृत्यन्यज्ञानत्वरूपेण निर्वक्तुं शक्यम् । परन्तु नैयायिका अस्मिन् पक्षे दोषान्तरं पश्यन्ति। वस्तुतः प्रमाऽप्रमाविषये यदा प्रश्नो भवति तदा कीदृशं प्रमात्वं प्रश्नस्य विषयो विद्यते यादृशं निष्कम्पप्रवृत्तेः कारणं तादृशं प्रमात्वं किमिति प्रश्नो विद्यते। परन्तु अनुभूतित्वरूपं प्रमात्वं न निष्कम्पप्रवृत्तेः कारणं भवति, अनुभूतौ संजातायामपि निष्कम्पप्रवृत्तेरभावात्। अतएव किमप्यन्यत् तादृशं प्रमात्वं विद्यते यत् निष्कम्पप्रवृत्तेः कारणं भवतीति स्वीकर्तव्यम्। किं तत् प्रमात्वमिति प्रश्नस्तावदसमाहित एव भवति।

प्रमात्वं न तत्त्वानुभूतित्वम्

तत्त्वानुभूतिः प्रमेति केषाञ्चन दार्शनिकानां मतं विद्यते। शिवादित्यमिश्रेण तावत् सप्तपदार्थीनाम्नि ग्रन्थे "तत्त्वानुभवः प्रमा" इति प्रमालक्षणं प्रस्तावितं विद्यते। खण्डनखण्डखाद्ये श्रीहर्षः पक्षमिमं खण्डयति यत् तत्त्वस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् नेदं लक्षणं साधु।[१०] गंगेशोऽपि मतमिदं खण्डयति परन्तु तस्य दृष्टिरन्या विद्यते। सः नैवं वदति यत् तत्त्वं निर्वक्तुं नैव शक्यम्। परन्तु सः वदति यत् सर्वास्वपि प्रतीतिषु तत्त्वस्यैव भानं भवतीति लक्षणमिदमव्यावर्तकं भविष्यति। प्रमालक्षणस्य प्रयोजनमिदं विद्यते यत् प्रमाऽप्रमातो व्यावर्त्या भवेत् तेन लक्षणेन, परन्तु नैव प्रमाऽप्रमातो व्यावर्तयितुं शक्या लक्षणेनानेन। यथा प्रमायां तत्त्वस्य वस्तुनो भान भवति तथैव सर्वास्वपि अप्रमाव्यक्तिष्वपि वस्तुन एव भानं भवति। न कुत्रचिदप्यवस्तुनो भानं भवतीति तत्त्वानुभूतिः प्रमेत लक्षणं व्यर्थविशेषणघटितत्वात् अप्रमातः प्रमाया व्यावृत्तिं कर्तुमसमर्थत्वात् नैव सम्यक्तामावहति। यदि हि कथचिदेतत् स्वीक्रियते यत् भ्रान्तौ न केवलस्य वस्तुनो भानं भवति तदानीमप्येतत् स्वीकर्तव्यमेव यत् भ्रमे न सर्वथाऽसतो भानं भवति, किन्तु सदुपरागेणैवासतो भानं सम्भवति। तदानीमपि तत्त्वानुभूतित्वं प्रमात्वं नैव भवितुमर्हति, भ्रमात् प्रमायाः व्यावृत्तिं कर्तुमसमर्थत्वात् ।[११] न्यायनये तत्त्वपदार्थो वस्तुपर्यायः। वस्तु निर्वक्तुं नैव शक्यमिति न। सर्वमपि वस्तु निर्वक्तुं शक्यमेव। अतो न खण्डनखण्डखाद्योक्तो दोषः सम्भवति।

प्रमात्वं न यथार्थानुभवत्वम्

केचन तावत् यथार्थानुभवत्वं प्रमात्वमिति मतं स्वीकुर्वन्ति। प्राचीननैयायिकैरपि कैश्चिदिदं मतं प्रस्तावितं विद्यते। परन्तु नैतदपि साधुतामञ्चति। मतमिदं खण्डनखण्डखाद्ये श्रीहर्षो द्विधा विकल्प्य दूषयति–यथार्थत्वं तावद्द्विधा भवितुमर्हति। तत् तत्त्वविषयत्वं वा स्यात् अर्थसदृशत्वं वा स्यात्। उभयथापि इदं निर्वचनं दोषयुक्तमेव। तत्त्वविषयकत्वं यदि यथार्थत्व तर्हि तस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् नैतल्लक्षणं साधु। यदि हि अर्थसदृशत्वं यथार्थत्वं तर्हि व्यभिचारिणोऽपि ज्ञानस्यार्थसदृशत्वं प्रमेयत्वादिना रूपेण स्यादेव। तथा च व्यभिचारिणोऽपि ज्ञानस्य प्रमात्वं प्रसक्तं भवति।[१२] गंगेशोऽप्यनयैव रीत्या प्रमात्वस्येदं लक्षणं खण्डयति। तथाहि यथाशब्दार्थो भवति सादृश्यम् । तथाह्येवं लक्षणे विहिते लक्षणस्यास्याभिप्रायो भविष्यति यत् अर्थसदृशं ज्ञानं प्रमा। परन्तु ज्ञाने कीदृशं स्यादर्थस्य सादृश्यम् ? यदि हि घटत्वादिना अर्थस्य सादृश्यं ज्ञानेऽपेक्षितं स्यात्तर्हि तादृशं सादृश्यं तु कस्मिंश्चिदपि ज्ञाने घटादिपदार्थस्य नास्त्येव। यदि तु येन केनचिद्रूपेण सादृश्यमपेक्षितं स्यात् तर्हि तादृशं तु सादृश्यं भ्रमात्मकेऽपि ज्ञाने विद्यतेऽर्थस्य। अस्मात् कारणादिदमपि लक्षणं नैव साधुतां भजते।[१३]

प्रमात्वं नाबाधितानुभवत्वम्

अद्वैतवेदान्तिनस्तावदेवं वदन्ति–अबाधितानुभवत्वं प्रमात्वम् । गंगेशस्तावन्नेदमपि स्वीकरोति।

यतो हि लक्षणेऽस्मिन् तावदात्माश्रयो दोषो गले पतति। यतो हि किं नामं तावदबाधितत्वमिति परिष्करणीयं भविष्यति। तद्धि विपरीतप्रमाप्रतिबध्यत्वं विपरीतप्रमानिवर्त्यत्वं वा स्यात्। उभयथापि प्रमालक्षणे प्रमापदस्यान्तर्भूततया लक्षणमिदमात्माश्रयदोषग्रस्तं सन्न साधुतां भजते।[१४] परकाले तावदद्वैतिभिर्वेदान्तिभिर्लक्षणमिदं किमपि परिष्कृतम् । यथा वेदान्तपरिभाषायां लक्षणेऽस्मिन् अनधिगतपदं योज्यते। तच्च लक्षणं तन्मतानुसारेण स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वं भवति। स्मृतिस्तु नियमतोऽधिगतविषयिणी भवति। नियमतोऽधिगतविषयिण्याः स्मृतेः प्रमात्वं मा भूदिति अनधिगतपदं तत्र विशेषणतया प्रदत्तम्। परन्तु धारावाहिकबुद्धावव्याप्तिः कथं वारणीयेति तत्रापि प्रश्नः समुदेत्येव। व्यवहारे भाट्टनयोऽद्वैतिनां सम्मतः, अस्मात् कारणात् भाट्टमीमांसकोप-दर्शितां रीतिमाधारीकृत्य तेऽपि वदन्ति यत् नीरूपस्यापि कालस्येन्द्रियवेद्यतया धारावाहिकबुद्धेः पूर्वपूर्वज्ञानाविषयीभूततत्तत्क्षणविषयीकरणान्न तत्रापि अनधिगतविषयकत्वस्य सम्भवान्न काचना व्याप्तिः सम्भवति।[१५] धर्मराजाध्वरीन्द्रस्तावन्मार्गान्तरमप्याविष्करोति–तदनुसारं धारावाहिक-बुद्धिस्थले अयं घटः, अयं घट इत्यादिरीत्या वस्तुतो न बुद्धिभेदो भवति, किन्तु अन्तःकरणवृत्तेः स्वविरोधिवृत्त्युत्पत्तिपर्यन्तं स्थायित्वस्वीकारात् यावत् घटस्फुरणं तावत् कालं घटाकाराकारिताऽन्तःकरणवृत्तिरेकैव, अद्वैतवेदान्तमते हि सैवान्तःकरणवृत्तिर्ज्ञानपदवाच्या भवति। तथा च धारावाहिकस्थले यावत् कालं घटस्फुरणं भवति तावत् कालं वस्तुत एकमेव ज्ञानं विद्यते, नैवास्ति किंचिज्ज्ञानान्तरम्। अतो धारावाहिकस्थले जायमानायां बुद्धौ नाव्याप्तिसम्भावना।[१६] परन्तु न्यायसिद्धान्तानुसारं तु नैव ज्ञानस्य कतिपयक्षणस्थायित्वं कल्पयितुं शक्यम् । तन्मतानुसारं आत्मयोग्यविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिविशेषगुणनाश्यत्वनियमो विद्यते।

प्रमात्वं नाविसंवादकत्वम्

बौद्धास्तावत् अविसंवादकत्वं प्रमात्वमिति वदन्ति। परन्तु ते तावदेतत् प्रष्टव्याः— किं तावदिदं अविसंवादकत्वम्? अविसंवादकत्वं हि संवाद्यनुभवत्वं वा स्यात् समर्थप्रवृत्तिजनकानुभवत्वं वा स्यात्? उभयथाप्येतादृशं प्रमात्वं नैव सम्यक् स्वीकर्तुं शक्यम्। यतो हि यदि इदमविसंवादकत्वं संवाद्यनुभवत्वं स्यात् , तर्हि तदपि तावत् विश्लेषणीयम्। तद्धि ज्ञानान्तरेण तथोल्लिख्यमानत्वरूपमेव भवेत् । बौद्धास्तावदेवं वदन्ति यत् वस्तुमात्रस्य क्षणिकतया यस्य प्रथमेन ज्ञानेन ग्रहणं जातं न तस्यैव द्वितीयेन ज्ञानेन ग्रहणं सम्भवति। अतएव सर्वापि प्रत्यभिज्ञा लूनपुनर्जातकेशेषु दीपकलिकायां सैवेयममिति बुद्धिवद् भवन्ती सर्वथैवाप्रमात्मिकैव भवति। न कदाचिदपि प्रत्यभिज्ञा प्रमाणपदवीमधिरोहति। प्राथमिकेन ज्ञानेन यादृशोऽनुभवः संजातस्तादृश एवानुभवो द्वितीयेन पश्चात्कालभाविनानुभवेन यदि भवति, तर्हि प्रमात्वाभिमानं जायते। वयं ब्रूमो यत् तज्ज्ञानं प्रमेति। यदा तु न तथा भवति तदा तज्ज्ञानमप्रमेति वयं ब्रूमः। गंगेशो वदति यत् भ्रमस्थलेऽपि खलु भवितुमर्हत्येवम्। सन्ति तावत् संवादिभ्रमस्य बहून्युदाहरणानि। तेषूदाहरणेषु लक्षणमिदमतिव्याप्तमेवेति नैव स्वीर्तव्यम्। यदि हि समर्थप्रवृत्तिजनकानुभवत्वं प्रमात्वमिति हि प्रमात्वस्य लक्षणं स्यात्तर्हि नैतदपि

साधुतामंचति। यतो हि सन्ति तावद्बहून्युदाहरणान्युपेक्षात्मिकायाः प्रमायाः। तासु समर्थप्रवृत्तिजनकानुभवत्वं न कथंचिदपि संगतं भवितुमर्हति। उपेक्षात्मिकातः प्रमातस्तु प्रवृत्तिर्नैव भवति। तर्हि कथं समर्थप्रवृत्तिजनकानुभवत्वं तत्र संगतं भवेत् ।[१७] इदमत्रावधेयम्—गंगेशेन पक्षद्वयमिदं बौद्धपक्षरूपेण वस्तुतो नैवोत्थापितम्। परन्तु न हि कस्यचिदन्यस्येदं मतं भवितुमर्हतीति मे मतिः। अस्मिन् द्वितीये बौद्धपक्षे दोषान्तरमपि विद्यते, यतो हि भवन्ति विविधानि ज्ञानानि भूतभविष्यद्विषयकाणि। तेषु ज्ञानेषु कथंकारं समर्थप्रवृत्तिजनकानुभवत्वात्मकं प्रमात्वलक्षणं संगतं भवेत् । पुनश्च स्मृतेरपि कथंचन अर्थक्रियाकारित्वात् प्रमात्वं स्यात् ।[१८] अस्मात् कारणान्नेदं बौद्धमतमपि साधु।

प्रमात्वं न सम्यक्परिच्छित्तित्वम्

एके तावद् ब्रुवते–सम्यक् परिच्छित्तिः प्रमा। श्रीमता उदयनाचार्येण न्यायकुसुमांजलौ लक्षणमिदमनया रीत्या प्रस्तुतम् – "मितिः सम्यक परिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमाणता"। एतन्मतानुसारं सम्यक् परिच्छेदस्य प्रमात्वं स्वीकर्तव्यम्। तच्च खण्डनखण्डखाद्ये पूर्वोक्तदोषगणग्रासात् खण्डितम्। तथाहि कीदृशमिदं सम्यक्त्वम् ? तद्धि तत्त्वविषयत्वं वा स्यात् याथार्थ्यं वा स्यात्। उभयथापि लक्षणमिदं दोषयुक्तम्। पक्षद्वयेऽपि दोषाः प्रदर्शिता उपरिष्टात्।[१९] मतमिदं गंगेशेन नैवोपस्थापितमपि। तत्र सम्भवत इदमेव कारणं स्याद्यत् श्रीहर्षेणास्मिन् लक्षणे ये दोषाः प्रस्ताविताः ते सर्वेऽपि गंगेशेनाप्यनुमताः सन्ति।

प्रमात्वं तद्वति तत्प्रकारकानुभवत्वम्

एवं प्रस्तुतेष्वेतेषु पक्षेषु सर्वेष्वपि दोषान् समीक्ष्य गंगेशः स्वयं सिद्धान्तरूपेण प्रमात्वस्वरूपमेवं प्रस्तौति—यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवः प्रमा, तद्वति तत्प्रकारकानुभवो वा। इदमत्रायाति यत्र यद् विद्यमानमस्ति यदि तत्र विशेष्ये तदेव विशेषणतया भासते, प्रकारतया भासते तर्हि सोऽनुभवः प्रमेति निश्चेयम्। तथाहि घटे घटत्वं विद्यते, यदि इदन्त्वेन तमेव घटमुल्लिख्य अयं घट इत्यनुभवो जायते तदा सोऽनुभवः प्रमेति निश्चेयम्। रजते रजतत्वं विद्यते यदि हि तदेव रजतमिदन्त्वेन विशेष्यीकृत्य रजत्वं विशेषणतया, प्रकारतया भासते तर्हि तज्ज्ञानं प्रमेति व्यपदेशमर्हति। परन्तु यदि यस्यां शुक्तौ रजतत्वं नास्ति, सा शुक्तिर्यदि विशेष्यतया इदन्त्वेन ज्ञायते, तत्र च रजतत्वं प्रकारतया यदि भासमानं तर्हि तज्ज्ञानं नैव प्रमापदभाग् भवितुमर्हति। तस्य इदं रजतम् इति ज्ञानस्य भ्रान्तित्वमेव, अप्रमात्वमेव। अतएव तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽप्रमेति गंगेशस्याभिमतम्। इदमेव च वस्तुतोऽनुभवस्य यथार्थत्वम्। अतएव यथार्थानुभवः प्रमेति लक्षणमपि सम्यक्। परन्तु तद् यथार्थत्वमनयैव पारिभाषिक्या रीत्या व्याख्येयम् , तद्वति तत्प्रकारकत्वं हि ज्ञानस्य यथार्थत्वम् । नैव किंचिदपरं सादृश्यमर्थस्य ज्ञाने विद्यते।

परन्तु अत्रायं प्रश्नः समुदेति। नैयायिकास्तावत् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यायाः प्रत्यक्षप्रमायाः द्वैविध्यं ब्रुवते निर्विकल्पक–सविकल्पकभेदेन। परन्तु यथा निर्विकल्पकस्य विवरणं क्रियते

तथा निर्विकल्पके नैव प्रकारताख्या विषयता भवति, न वा संसर्गताख्या नैव वा विशेष्यताख्या। अतएव प्रोच्यते यत् निर्विकल्पके प्रकारतादित्रिविधविषयतातिरिक्ता तुरीयैव विषयता भवति। सति चैवं निर्विकल्पके प्रत्यक्षे प्रमायाः लक्षणं नैव समन्वितं भविष्यति, निर्विकल्पकस्य निष्प्रकारकत्वात् तन्निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं तद्वति तत्प्रकारकं विद्यत इति वक्तुमशक्यत्वात् । लक्षणमिदं निर्विकल्पकेऽव्याप्तम् । अत्र गंगेशो वदति यत् निर्विकल्पकं तु प्रमाऽप्रमाबहिर्भूतं व्यवहारानं गत्वात्। निर्विकल्पके हि तावत् नैव प्रमायाः लक्षणं संघटते न वा अप्रमायाः, द्वयोरपि तत्प्रकारकत्वघटितत्वात्, निर्विकल्पकस्य निष्प्रकारकत्वात्। इदं हि लक्षणं व्यवहारांगभूतायाः प्रमायाः लक्षणम् । निर्विकल्पकं व्यवहारांगभूतम्। अतएव यद्येतल्लक्षणं तत्र न घटते तर्हि न तेन काचित् क्षतिः। शब्दप्रयोगरूपः सर्वोपि व्यवहारः प्रवृत्तिनिमित्तमाधारीकृत्य भवति। विना प्रवृत्तिनिमित्तं नैव कश्चनापि शब्दप्रयोगः कर्तुं शक्यः। सर्वस्यापि शब्दस्य किमपि प्रवृत्तिनिमित्तं भवति तच्च प्रकारतयैव भासते। हानोपादानरूपस्य व्यवहारस्यापि कारणं सविकल्पकं ज्ञानमेव भवति, यतो हि यमर्थं विशेष्यीकृत्य जातेन यत्प्रकारकेण ज्ञानेन पूर्वं ज्ञात्रा सुखमुपलब्धं तत्प्रकारकज्ञानविशेष्यीभूतमुपादातुं ज्ञाता प्रवर्तते। तथैव च यमर्थं विशेष्यीकृत्य जातेन यत्प्रकारकेण ज्ञानेन पूर्वं ज्ञात्रा दुःखमुपलब्धं तत्प्रकारकज्ञानविशेष्यीभूतं हातुं ज्ञाता प्रवर्तते, तस्माद् ज्ञाता निवर्तते। अतएव निश्चितमेव यत् केवलेन सविकल्पकेनैव ज्ञानेन अस्माकं सर्वेऽपि व्यवहाराः प्रवर्तन्त इति। तदेव ज्ञानं व्यवहाराङ्गम्। निर्विकल्पकं तु नैव व्यवहाराङ्गम्। तत्तु वस्तुतः अतीन्द्रियं भवति, न तावत् प्रत्यक्षगोचरम्। अतएव निष्कम्पप्रवृत्त्यंगप्रमायाः लक्षणं यदि निर्विकल्पके प्रत्यक्षे न संघटते तर्हि तेन न काचिदपि क्षतिः। परन्तु सर्वमपि सविकल्पकं कथञ्चन निर्विकल्पकाश्रितमेव भवतीति तस्यासंग्रहोऽपि वस्तुतो न दोषाय। तद्धि निर्विकल्पकं सविकल्पकार्थं विषयमुपस्थापयति। तत एव च सविकल्पकं जायते।

सन्दर्भाः-

१. अथ किं तत् प्रामाण्यम्। न तावज्जातिः। योग्यव्यक्तिवृत्तित्वेन प्रत्यक्षत्वे प्रमात्वसंशयानुपपत्तेः, प्रमात्वस्यानुमेयत्वाच्च। साक्षात्त्वादिना संकरापत्तेश्च। पृ. ४०८-०९, तत्त्वचिन्तामणिः प्रत्यक्षखण्डः रुचिदत्तमिश्रकृप्रकाश, रामकृष्णाध्वरिकृतृन्याय-शिखामणिव्यायुतः, सम्पादकः एन एस रामानुजताताचार्यः, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम् तिरुपतिः १९७३

२. जातिसंकरमिच्छतश्च प्रमात्वलक्षणजात्यसम्बन्धात् प्रमेति दुर्लक्षणम् अस्याज्ञातस्य तद् व्यवहारजनकत्वे प्रमायामप्रमाभ्रमसंशयौ न स्याताम् । पृ. २४५-४६ खण्डन-खण्डनखाद्यम्, विद्यासागरप्रणीतफक्किकाविभजन, योगीन्द्रानन्दप्रणीतखण्डन-पंजिकाहिन्दीव्याख्यायुतम् , चौखम्बाविद्याभवनम् , वाराणसी-१९९२

३. किं चैवमप्रमाया अंशे प्रमात्वं न स्यात् , जातेर्व्याप्यवृत्तितानियमात् । पृ. ४१४, तत्त्वचिन्तामणिः, प्रत्यक्षखण्डः।

४. प्रमा चाज्ञाततत्त्वार्थज्ञानमेवात्र भिद्यते। पृ. २, नारायणप्रणीतः मानमेयोदयः, सी कुन्हन राजा तथा एस एस सूर्यनारायणशास्त्रिप्रणीताङ्गलव्याख्यायुतः, अड्यारपुस्तकालयः, अड्यारः, मद्रासः १९७५

५. अज्ञातपदेन ज्ञातविषययोः स्मृत्यनुवादयोर्निरासः। तत्रैव

६. नापि यथार्थागृहीतग्राहित्वं लोकसिद्धं प्रमात्वम् धारावाहिकबुद्ध्यव्याप्तेः। पृ. ४१६, तत्त्वचिन्तामणिः, प्रत्यक्षखण्डः।

७. तत्राप्ययमयमिति उत्तरोत्तरेषां कालांशानामज्ञातानामवगमाद् उत्तरे क्षणे घटादिसद्भावस्य च पूर्वज्ञानेनानधिगतत्वात् ।पृ. ३, मानमेयोदयः

८. क्षणानामतीन्द्रियत्वात् पृ. ४१७, तत्त्वचिन्तामणिः, प्रत्यक्षखण्डः।

९. द्रष्टव्यम् –खण्डनखण्डखाद्यम् , पृ. १३३–१७९

१०. तत्त्वशब्दार्थस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् । खण्डनखण्डखाद्यम् , पृ. १२७

११. नापि तत्त्वानुभवत्वम् अवस्तुनोऽभानात् । भाने वा भ्रमसाधारण्यात् । पृ. ४२०, तत्त्वचिन्तामणिः, प्रत्यक्षखण्डः।

१२. यथार्थानुभवः प्रमेत्यलक्षणम् । यथार्थानुभवत्वं हि तत्त्वविषयकत्वं वा? अर्थसदृशत्वं वा स्यात् ? नाद्यः, पूर्वमेव निरस्तत्वात् । नापि द्वितीयः व्यभिचारिणोऽपि प्रमेयत्वादिना अर्थसादृश्येन प्रमात्वापातात्। खण्डनखण्डखाद्यम् , पृ. २१६

१३. नापि यथार्थानुभवत्वम् ज्ञाने घटत्वादिना यथाशब्दार्थसादृश्याभावात् । सादृश्यमात्रस्य तु भ्रमेऽपि गतत्वात् । तत्त्वचिन्तामणिः, प्रत्यक्षखण्डः, पृ. ४१९

१४. नापि अबाधितानुभवत्वम् बाधस्य विपरीतप्रमात्वात् । तत्रैव, पृ. ४१९

१५. नीरूपस्यापि कालस्येन्द्रियवेद्यत्वाभ्युपगमेन धारावाहिकबुद्धेरपि पूर्वपूर्वज्ञाना-विषयतत्तत्क्षणविशेषविषयकत्वेन न तत्राव्याप्तिः। वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेदः

१६. तथा च तत्प्रतिफलितचैतन्यरूपं घटादिज्ञानमपि तावत्कालीनमेकमेवेति नाव्याप्ति-शंकापि। तत्रैव

१७. नापि संवाद्यनुभवतवम् , ज्ञानान्तरेण तथोल्लिख्यमानत्वस्य संवादित्वस्य भ्रमसाधारण-त्वात्। नापि समर्थप्रवृत्तिजनकानुभवत्वम् , उपेक्षाप्रमायाव्याप्तेः। तत्वचिन्तामणिः, प्रत्यक्षखण्डः, पृ. ४२०

१८. तत्र भूतभविष्यद्विषयस्यानुमानस्य अर्थक्रियाकारित्वाभावाद् अप्रामाण्यं स्यात्। स्मृतेश्च क्वचिदर्थक्रियाकारित्वात् प्रामाण्यं स्यादिति। मानमेयोदयः, पृ. ८

१९. सम्यक् परिच्छेदः प्रमेत्यपि न युक्तम् । न खलु सम्यक्त्वं तत्त्वविषयतया, याथार्थ्यं वा सम्भवति, उक्तदोषात्। खण्डनखण्डखाद्यम्, पृ. २२४

***

वेदे प्रमाणस्वरूपविमर्शः

प्रो० हृदयरञ्जनशर्मा
पूर्व अध्यक्षः वेदविभागः,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः

मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिरूपो वेद; सर्वेषामपि ज्ञानविज्ञानगतानां विषयाणां मानप्रतिमानरूपो मौलिकः प्रकाशस्तम्भ एवेति सुविज्ञातमेव। एतेषु ज्ञानविज्ञानगतेषु विषयेषु प्रमाणपरं स्वरूपमपि अत्र विशेषेण उपलभ्यते। अस्मिन् प्रमाणनिदर्शनपरे उपक्रमे तैत्तिरीयारण्यकस्य प्रसिद्धिगतमेकम् उद्धरणम् एवं हि श्रूयते। यथा–

स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानश्चतुष्टयम् ।
एतैरादित्यमण्डलं सर्वैरेव विधास्यते।।[१]

अर्थात् स्मृतिः–प्रत्यक्षम् – ऐतिह्यम् – अनुमानश्चेति नामकानि चत्वारि प्रमाणानि विद्यन्ते, एभिः सर्वैरेव प्रमाणैः आदित्यमण्डलं प्रमीयत इति।

उपर्युक्ते उद्धरणे यानि प्रमाणानि परिगणितानि तेषामुपरि सायणाचार्याणां भाष्यरीतिरेवं विद्यते– "स्मृतिरनुमेयश्रुतिमूलं मन्वादिशास्त्रम्। प्रत्यक्षं सर्वपुरुषाणां श्रोत्रेणग्राह्यं वेदवाक्यञ्च। ऐतिह्यम् इतिहासपुराणमहाभारतब्राह्मणादिकम्। अनुमानः शिष्टाचारः। तेन हि मूलभूतं श्रुतिस्मृतिलक्षणं प्रमाणमनुमीयते। तदेतत् स्मृत्यादिचतुष्टयम् अवगतिकारणभूतं प्रमाणम् । एतैः स्मृत्यादिभिः सर्वैरेव प्रमाणैरादित्यमण्डलं विधास्यते प्रमीयते। यादृशमिदं मण्डलं भवति यथा च प्रवतते यथा वा मन्वन्तरादिभेदभिन्नं कालं प्रवर्तयति यथा चोदकसृष्ट्यादिना विश्वमुत्पादयति तत्सर्वं स्मृत्यादिप्रमाणसिद्धम् । हे अबिष्टके त्वं तथाविधमण्डलस्वरूपाऽसीति स्तुतिः" (सायणभाष्यम्)।

अत्र च प्रकरणदिशा विचार्यमाणे सति प्रस्तुतं स्मृत्यादिरूपमुद्धरणम् आरुणकेतुनामाग्निके समृद्धे सावित्रचयनयागे अबिष्टकास्तुतिप्रसङ्गे विनियुक्तं भवतीति विज्ञायते।

पुनश्च अस्य विषयस्य ग्रन्थदिशा, सूक्ष्मैच्छिकया च विवेचने क्रियमाणे सति स्मृत्यादिप्रमाणानां किमपि अभिनवमेव, द्विविधपरं, स्वरूपं विभावितं जायत इति विज्ञायते।

एतदनुसारेण स्मृतिरूपं प्रमाणं हि द्विविधं निदर्श्यते, एकम् श्रुतर्षिभिः वेदार्थानुभवजन्यं, द्वितीयञ्च वेदार्थानुवादकं मन्वादिमुनिप्रणीतं वाक्यादिरूपमिति। तत्र च तैत्तिरीयारण्यकग्रन्थादिगतं श्रुतिरूपं स्मृतिः स्मृत इत्यादिपदानुबद्धम् उद्धरणजातं श्रुतर्षिभिः वेदार्थानुभवजन्यं हि स्मृतिप्रमाणस्य उदाहरणमिति विज्ञायताम्। यथा–

(१) "स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यम्" इति प्रथमम्।

(२) "सूर्यो मरीचिमादत्ते। सर्वस्माद् भुवनादधि।
तस्याः पाकविशेषेण। स्मृतं कालविशेषणम्।।[२]" इति द्वितीयम्।

(३) "सारागवस्त्रैर्जरदक्षः। वसन्तो वसुभिः सह।
संवत्सरस्य सवितुः। प्रैषकृत् प्रथमः स्मृतः।।[३]" इति तृतीयञ्चेति।

अर्थात् जगदादौ सूर्यः मरीचिनामकं रश्मिं भूतजातस्योपरिसर्वभूतजातस्य कल्याणार्थं स्थापयति। तस्याः मरीचेः पदार्थपरिपाकतारतम्येन कालाऽवयवविशेषणं स्वरूपं स्मृतमनुभूतं भवति। तथा च सारागवस्त्रैः रक्तपीतादिवर्णविशिष्टैः पुष्पफलादिरूपैः वस्त्रैः वास्तुरूपवसुदेवैश्च सहितः जरदक्षः जरे जले च दक्षः कुशलः सन् वसन्तर्तुः संवत्सररूपस्य देवस्य आज्ञायां प्रथमभूतो विराजते, ऋषिभिः स्मर्यत अनुभूयत इति तात्पर्यार्थः।

एवमेव प्रत्यक्षप्रमाणमपि मुख्यतया द्विविधमिति विज्ञायते। तत्र प्रथमं तु इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं नामरूपात्मकं स्थूलपदार्थपरमिति प्रसिद्धमेव। एतस्य उदाहरणजातमेवं निदर्शितम्। यथा–

(१) शुक्लकृष्णे संवत्सरस्य। दक्षिणवामयोः पार्श्वयोः।
तस्यैषा भवति इति। तथा च–
शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यत्। विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि।
विश्वाहि माया अवसि स्वधावः। भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्त्विति।।[४]

अर्थात् व्यावहारिकरूपस्य मुख्यस्य संवत्सरस्य कालस्य दक्षिणवामपार्श्वसम्बद्धे शुक्लकृष्णवर्णरूपे अहोरात्रे विद्येते। उपर्युक्तार्थस्य विस्तरेण प्रतिपादिका काचिद् ऋगपि एवं वदति– हे जगतः पोषक। संवत्सर! तब श्वेतवर्णकम् अहराख्यं वस्तु, यजनीयं रात्रिरूपं वस्तु च पृथगेव स्तः। द्युलोकरूपेण त्वमनयोः प्रवर्तयिता सन् पक्षमासादिकल्पितकालं पालयसे। प्रवृत्ते कर्मणि च तव फलप्रदानं समीचीनमस्त्विति। पुनश्च– "प्रत्यक्षेण प्रियं विद्यात्। एतद् वै संवत्सरस्य प्रियतमं रूपम्"।[५] इत्यपि इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यस्य अपरमुदाहरणमिति। अर्थात् लोकसिद्धेन (इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्येन) प्रत्यक्षेण हि (प्रमाणेन) सर्वो जन्तुः (प्रकृतिसिद्धं) प्रियतममेव रूपम् (आकृतिजातं) जानाति (पश्यति)। वस्तुतः शास्त्रदृष्टिरहितानां कृते संवत्सरस्य क्षणमुहूर्तदिवसपक्षाद्यात्मकं काल्पनिकं वस्तुजातमेव प्रियतमं भवति न तु पारमार्थिकं वस्तुतत्त्वमिति। एवं लोकप्रसिद्धं प्रत्यक्षप्रमाणस्य अन्यतरं स्वरूपं विविच्य ऋषिकल्पयोगिभिर्ध्यानगम्यस्य, आनुश्रविकरूपस्य शब्दप्रमाणपरस्य च प्रत्यक्षस्य

स्वरूपमेवमुद्भाव्यते, यथा–

अपश्यमहमेतान् सप्तसूर्यानिति। पञ्चकर्णो वात्स्यायनः।
सप्तकर्णश्च प्लाक्षिः। आनुश्रविक एव नौ कश्यप इति।।[६]

अर्थात् पञ्चकर्णनामकः कश्चित् वत्सस्य पुत्रो महर्षिः एतान् आरोगादीन् सप्तसूर्यान् प्रत्यक्षेणैव अहमपश्यम् इत्युवाच। तथा च सप्तकर्णनामकः कश्चित् प्लक्षस्य पुत्रो महर्षिरपि तानहमपश्यमित्युवाच। परन्तु अष्टमाभिधः कश्यपाख्यः सूर्यः तयोः कृते आनुश्रविक एवेति शास्त्रनिरुक्तिः। अत्र आनुश्रविको नाम गुरूपदेशमनुश्रूयत इत्यनुश्रवो वेदः तत्रैव अवगत आनुश्रविक इत्यर्थः। सायणाचार्योऽपि प्रत्यक्षमित्यस्य व्याख्याक्रमे "सर्वपुरुषाणां श्रोत्रेण ग्राह्यं वेदवाक्यमिति" उपपाद्य तस्य वेदरूपशब्दप्रमाणपरतामेव साधितवानिति।

एवमेय उपर्युक्तप्रमाणानां संख्यास्वरूपनिर्देशके उद्धरणे तृतीयस्थानगतम् ऐतिह्यमिति प्रमाणं यदुच्यते, तत्र सायणाचार्येण भाष्यं कुर्वता ऐतिह्यपदस्यार्थः इतिहासपुराण–महाभारतब्राह्मणादिकमिति कृतः। एतदुपोद्बलकेषु ब्राह्मणादिग्रन्थगतेषु श्रुतिवाक्येषु एतिह्यार्थपरयोः पुराणेतिहासपदयोरेव सङ्गतिरवाप्यते। यथा– ऋचोऽध्यगीषत ताः पय आहुतयो देवानामभवन् यद् यजूंषि घृताहुतयो यत्सामानि सोमाहुतयो यदथर्वाङ्गिरसो मध्वाहुतयो यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथानाराशंसीर्मेदाहुतयो देवानामभवन् इति।[७] सायणाचार्यः अस्मिन् स्थले पुराणेतिहासपदयोः लोकप्रसिद्धं, वेदप्रसिद्धिगतञ्चार्थं विकल्पेन ब्रवीति। यथा इतिहासो नाम महाभारतदयः, "देवासुराः संयत्ता आसन्" इत्यात्मकानि श्रुतिगतानि वाक्यानि वेति। एवमेव पुराणानि ब्रह्मकूर्मादीनि, "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किंचन मिषद्" इति वा।

गोपथब्राह्मणे पुराणेतिहासयोः स्वरूपं ब्रह्मणः सकाशात् केषाञ्चन ऋग्वेदादिभिन्नानां पञ्चवेदानां निर्गमनप्रकरणविधौ एवं श्रुतं भवति, "स पञ्च वेदान् निरभिमत सर्पवेदं, पिशाचवेदं, असुरवेदम् , इतिहासवेदं, पुराणवेदञ्चेति"।[८] तत्र च सर्पवेदे सर्पणशीलानां लोकानां स्वरूपाभिधायकानि ब्रह्मणानि, पिशाचवेदे पिशमवयमञ्चतीति व्युत्पत्या शरीरगता अवयवव्यापिका विद्या, असुरवेदे असवःप्राणा इति व्युत्पत्या प्राणवती विद्या, इतिहासवेदे "इति ह पारम्पर्योपदेश आस्ते अस्मिन्" इति व्युत्पत्या महापुरुषाणां वृत्तान्तविद्या पुराणवेदे च "पुरानीयते" इति व्युत्पत्या प्राचीनानां पुरुषाणां कारणानां वा वृत्तान्तविद्या चेति ब्राह्मणभाष्ये भाष्यकारस्य क्षेमदासत्रिवेदिनो निरुक्तव्याकरणसम्मतो व्याख्याविमर्शः संगच्छते।

एवमेव प्रथमोद्धरणगते "अनुमान" इत्याख्यस्य प्रमाणस्य स्वरूपाख्यानक्रमे सायणाचार्यः "अनुमानो अर्थात् शिष्टाचार इति निरूपयति। एतद् अनुमानाख्यमपि चतुर्थं प्रमाणं द्विविधमेव। लोके आप्तपुरुषरूपैः शिष्टजनैर्हि यदाचर्यते स शिष्टाचारः। साक्षात्कृत–धर्मब्रह्मतत्त्वपरैः महर्षिभिश्च तत्त्वज्ञानाय यदुपदिश्यते अनुचर्यते च सोऽपि कश्चन अपूर्वः शिष्टाचार इति।

एतावता वेदगतानां प्रमाणानां स्वरूपं संक्षेपेण निदर्श्यते। पुनश्च एतेषां प्रमाणानां व्यष्टिरूपो व्यवहारः सृष्टेः आकल्पात् कल्पान्तरूपो यो व्यवहारकालः तत्रैव एषां प्रवृत्तिः, न तु पारमार्थिक समष्टिभावे इति शास्त्रमतिः।[९]

संदर्भः

१. तैत्तिरीयारण्यकम् - १.२.१
२. तैत्तिरीयारण्यकम् - १.२.१
३. तैत्तिरीयारण्यकम् - १.२.४ (१)
४. तैत्तिरीयारण्यकम् - १.२.१
५. तैत्तिरीयारण्यकम् - १.२.४
६. तैत्तिरीयारण्यकम् - १.७.२-३
७. बृहदारण्यकोपनिषद् २.४.१०
८. गोपथब्राह्मणम् - १.१०
९. तैत्तिरीयारण्यकम् - १.२.४

***

प्रमाणपरीक्षा

प्रो० गब्बिट आञ्जनेय शास्त्री
वेदविभागः, वैदिकदर्शनविभागः,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी

प्रमाजनकानि प्रमाणानि। प्रमा च यथार्थज्ञानं ज्ञानं च सर्वव्यवहारहेतुः तच्च द्विविधं स्मृतिरनुभवश्च। यथार्थस्मृतिः यद्यपि प्रमा तथाऽपि तज्जनकत्वेन अनुभवानां न पृथक् प्रामाण्यम्।

प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दानुभवानाम् कृते करणत्वेन सिद्धानां इन्द्रिय-अनुमान-उपमान्-शब्दानाम् एव करणत्वेन प्रमाणत्वाङ्गीकारात्। प्रमीयन्ते एतैः पदार्थाः इति प्रमाणानि। प्रमाणैः अर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यात् एतानि प्रमाणानि अर्थवन्ति भवन्ति। एतैश्च प्रमीयमाणाः तावत् प्रमेयाः आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गाः। प्रमाणैः विना न अर्थप्रतिपत्तिः, अर्थप्रतिपत्तिं विना तदर्थग्रहणे तदर्थपरित्यागे तदुपेक्षायां वा प्रवृत्तौ सामर्थ्यं न भवति। प्रमाणैः प्रमाता तं तमर्थं उपलभ्य उपेक्षते अभीप्सति जिहासति वा। ईप्सा-जिहासाप्रयुक्तस्य ज्ञातुः समीहैव प्रवृत्तिः। समीहमानः तमर्थम् अभीप्सन् जिहासन् वा तं तमर्थम् आप्नोति जहाति वा। प्रमाणार्थाः अपरिसंख्येयाः प्राणिभेदस्य अपरिसंख्येयत्वात्। अर्थः तावत् सुखं सुखहेतुः दुःखं दुःखहेतुश्च एवं यदा प्रमाणानि सार्थकानि। तैः अर्थमुपलभमानः प्रमाता प्रमाणजन्यप्रमाविषयाः पदार्थाः प्रमा च सार्थकतामुपयान्ति। अत एव उक्तम्- चतसृषु च एवं विधासु प्रमाणप्रमातृप्रमेयमितिषु अर्थतत्वं परिसमाप्यते इति भाष्ये।

अत्र तत्त्वं नाम सतश्च सद्भावः असतश्च असद्भावः। सत् सदिति गृह्यमाणं यदाभूतमविपरीतं तत्त्वम् एवम् असत् असदिति गृह्यमाणं यदाभूतं तत्त्वं यथा सत् पदार्थस्य ज्ञानं प्रमाणेन भवति तथैव असतोऽपि यथा दर्शकेन दीपेन दृश्ये गृह्यमाणे तदिव यन्नगृह्यते तन्नास्ति। यद्यभविष्यत व्यज्ञास्यत विज्ञानाभावान् नास्तीति एवं सतः प्रकाशकं प्रमाणम् असदपि प्रकाशयति इति अभावज्ञानेऽपि योग्यानुपलब्धिसहकृतमिन्द्रियमेव कारणमिति सूचितम् भगवता वात्सायनेन न्यायभाष्ये।

अर्थापत्तेः पृथक्प्रामाणत्वनिरासः

अर्थापत्तिं केचन पृथक्प्रमाणं मन्यन्ते तथाहि यत्र देवदत्तस्य शतवर्षजीवित्वं ज्योतिषशास्त्रात् अवगतं जीविनः गृहासत्वं च प्रत्यक्षात् अवगतं तत्र शतवर्षजीविनः देवदत्तस्य गृहाऽसत्वं बहिः सत्त्वं विना अनुपपन्नमिति देवदत्तस्य बहिः सत्त्वं कल्प्यते। इति अर्थापत्ति प्रमाणम् उररीकुर्वन्ति। उपपाद्यज्ञानेन उपपादकज्ञानम् अर्थापत्तिः इति वेदान्तपरिभाषायां उपपाद्यज्ञानत्वेन तज्जन्यज्ञानत्वं फलीभूत अर्थापत्ति लक्षणमिति वेदान्तशिखामणौ।

उपपादकज्ञानं फलम् येन विना यदनुपपन्नं तत् तेन उपपाद्यम्। यस्याऽभावे यस्य अनुपपत्तिः तत् तत्र उपपादकं यथा पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्तेइत्यत्र रात्रि भोजनेन विना दिवा अभुञ्जानस्य देवदत्तस्य पीनत्वम् अनुपपन्नमिति उपन्नेन पीनत्वेन रात्रि भोजनं कल्प्यते। रात्रिभोजनकल्पनारूपायां प्रतिमौ अर्थस्य आपत्तिः कल्पना षष्ठी इति षष्ठीसमासेन अर्थापत्ति शब्दः वर्तते। एवं कल्पना करण पीनत्वादि ज्ञाने अर्थस्य आपत्तिः कल्पना यस्मात् इति बहुव्रीहि समासेन च फलकरणयोः उभयोः अर्थापत्ता पदप्रयोगः। इयम् अर्थापत्तिः दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिरिति द्विविधा। तत्र दृष्टार्थापत्तिः यथा इदं रजतमिति परावर्तिनी प्रतिपन्न रजतस्य नेदं रजतमिति अधिष्ठान शुक्तिसाक्षात्कार अनन्तरं तत्रैव निषिद्धमानत्व रजतस्य सत्यत्वे अनुपपन्न इति तस्य (रजतस्य) सद्भिन्नत्वं सत्यत्वात्यन्ताभाववत्वं मिथ्यात्वं कल्पयतीति।

श्रुतार्थापत्तिः यथा श्रूयमाण वाक्यस्य स्वार्थानुपपत्तिमुखेन अर्थान्तरकल्पनम्। यथा तरति शोकं अत्मवित् इत्यत्र श्रुतस्यशोकशब्दवाच्यबन्धजातस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वान्वयानुपपत्त्या (ज्ञाननिवर्त्यत्वोत्पत्या) बन्धस्य मिथ्यात्वं कल्प्यते यथा वा पूर्वोक्त शतवर्षी देवदत्तः गेहे नेति वाक्यश्रवणानन्तरं जीविनो गृहासत्वं बहिः सत्वं कल्पयतीति अपि श्रुतार्थापत्तावेव अन्तर्भवति।

श्रुतार्थापत्तिश्च द्विविधा (१) अभिधानानुपपत्ति (२) अभिहितानुपपत्तिश्च अभिधानानुपपत्ति यत्र वाक्यैकदेशे अन्वयानुपपत्त्या अन्वयाभिधानोपयोगि पदान्तरं कल्प्यते तत्र अभिधान अनुपपत्तिः यथा वा विश्वजिता यजेत्यत्र स्वर्गकामपदाध्याहारः। सः स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रति अतिविष्टित्वात् इत्यत्र सूत्रे चतुर्थाऽध्याये स्वर्गपदाध्याहारस्य साधितत्वात् इति शिखामणौ रामकृष्ण अध्वरिः।

अभिहितानुपपत्तिस्तु यत्र वाक्यावगतः अर्थः अनुपन्नत्वेन ज्ञातः सः अर्थान्तरं कल्पयति तत्र यथा स्वर्गकामः ज्योतिष्टोमेन यजेतेत्यत्र स्वर्गसाधनत्वस्य क्षणिक (आशुतरविनाशि) ज्योतिष्टोमयागगततया अवगतस्य कालान्तराभावि स्वर्गसाधनस्य अनुपपत्या मध्यवर्ति अपूर्वं कल्प्यते।

इय उभयविधाऽपि अर्थापत्तिः नाऽनुमाने अन्तर्भवति इति वेदान्तिनः। अनेनेदं कल्पयामि इति अनुव्यवसाय भेदेऽपि अनुमान अनन्तर्भाव कारणमिति ते मन्यन्ते।

पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्वात् इत्यत्रापि पृथिव्यां विद्यमानं गन्धवत्वम्, इतरभेदं विना अनुपपन्नं इति अनुपपत्ति प्रतिसन्धानात् पृथिवीतरभेदः कल्प्यते इति वदन्ति।

अस्मादिषु नैयायिकैः अर्थापत्तिस्तु नैवेह प्रमाणान्तरमिष्यते। व्यत्यिरेकव्याप्तिबुध्या चरितार्था हि सा यतः। इत्येव निगद्यते। तथाहि यत्र जीवित्वस्य बहिः सत्वं गृहासत्वम् अन्यतर व्याप्यत्वं गृहीतम्। तत्र अन्यतर सिद्धौ जायमानायां गृहसत्व बाधात् बहिः सत्वं अनुमितौ भासते। एवं पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्तेइत्यादौ पीनत्वस्य भोजनव्याप्यत्व अवगमात्। भोजनसिद्धौ दिवा भोजनबाधे देवदत्तः रात्रिभोजनवान् इति अनुमितिः भवति।

यथा हेत्वाभाससामान्यलक्षणे प्रकृतपक्षक प्रकृतसाध्यकप्रकृतहेतुक अनुमितिप्रतिबन्धक यथार्थज्ञानविषयत्वमित्यस्मिन् अनुमितौ प्रकृतहेतुकत्व अनिवेशे पर्वतो वह्निमान् महानसीयवह्नीतर वह्न्यभाववत् पर्वतकालीन धूमात् इत्यत्र प्रकृतपक्षसाधक अनुमितिः पर्वतो वह्निमान् इत्यपि भवति। तत्र महानसीयवह्न्यभाववत्पर्वतरूपबाधस्य पर्वतो वह्निमान् इत्यनुमिति अप्रतिबन्धकत्वात् अव्याप्तिः परं अनुमितौ प्रकृतहेतुकत्व निवेशे एतादृश परामर्श इतरबाधसहकृत निश्चयोत्तर जायमाना अनुमितिः पर्वतो महानसीय वह्निमान् इत्येव भवति। तत्र च वह्न्यभाववत् पर्वत इति बाधनिश्चय प्रतिबध्यत्वमस्तीति लक्षणसम्बन्धः इति इतरनिश्चयबाधसहकृतात् परामर्शात् वह्निविषयक महानसीयत्व भानवत् देवदत्तः रात्रि भोजनत्वान् दिवा अभुञ्जानत्वे सति पीनत्व वत्वात् इत्यनुमान संरचना। एवमेव मयूरः पर्वतेतरस्मिन् न नृत्यति च इत्यनेनाऽपि मयूरः पर्वते नृत्यतीति ज्ञानं मयूरनृत्यं पर्वताधिकरणकं पर्वतेतर अनधिकरणत्वे सति साधिकरणत्वात् पर्वतत्ववत् इत्यादि इतरबाधनिश्चयसहकृता परामर्शात् साधनीयमिति अनुमाने एव अर्थापत्तेरन्तर्भावः।

अनुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वनिरासः

उक्तं च न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यां अभाव प्रत्यक्षे योग्यानुपलब्धिः कारणं तथाहि भूतलादौ घटादि ज्ञाने जाते घटाभावादिकं न ज्ञायते। तेन अभावोपलम्भे प्रतियोगि उपलम्भाभावः कारणम्। तत्र योग्यताऽपेक्षिता सा च प्रतियोगिसत्वप्रसञ्जनप्रसञ्जित प्रतियोगिकत्वरूपा तदर्थश्च प्रतियोगिनः घटादेः सत्व प्रसक्त्या प्रसञ्जितः उपलम्भरूपः प्रतियोगि यस्य यः अभावप्रत्यक्षे हेतुः। तथाहि यत्र आलोकसंयोगादिकं वर्तते। तत्र यदि अत्र घटः स्यात् तर्हि उपलभ्यते उपलब्धभावात् स नास्तीति घटाभावादेः प्रत्यक्षं इन्द्रियेण भवति। तदेवं अन्धकारे नापादयितुं शक्यते। अत एव अन्धकारे घटाभावस्य न चाक्षुषत्वम्। घटस्यापि न चाक्षुषत्वं स्पार्शनं तु घटस्य तदभावस्य च भवितुमर्हतीति कल्पयितुं शक्यते। अत एव नैयायिकानां मते नाऽनुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वं किन्तु अनुपब्धिसहकृत इन्द्रियेणैव अभावज्ञानं भवतीति सम्मतम्। विशेषणतया तद्वत् अभावानां ग्रहो भवेत्। उक्तं च कारिकावल्यां अपि यदि स्यात् उपलभ्येत एवं यत्र प्रसज्यते।

अभावप्रत्यक्षे समवायप्रत्यक्षे च इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतया च हेतुः वैशेषिकाणां मते

समवायः न प्रत्यक्षः सम्बन्ध प्रत्यक्षे यावदाश्रय प्रत्यक्षस्य हेतुत्वात्। अत्र यद्यपि विशेषणता भिन्नभिन्ना भूतलादौ घटाभावः संयुक्त विशेषणतया गृह्यते चक्षुः संयुक्तं भूतलं तत्र घटाभाव विशेषणमिति हेतोः।

अभाव प्रत्यक्षस्य आनुभाविकत्वात् अनुपलब्धिरपि न प्रमाणान्तरम्। किञ्च अनुपलम्भस्य अज्ञातस्य हेतुत्वे ज्ञानाकरणकत्वात् प्रत्यक्षत्वम्। ज्ञातस्य हेतुत्वे तत्रापि अनुपलम्भान्तरस्य अपेक्षेति अनवस्था। चेष्टाऽपि न प्रमाणान्तरं तस्याः सङ्केतग्राहकशब्दस्मारकत्वेन लिप्यादिसमशील त्वात् शब्दे एव अन्तर्भावः। यत्र च चेष्टा स्थले व्याप्तयादिग्रहः आनुभविकः मन्यते तत्र अनुमानिमिति मन्तव्यम्।

शते पञ्चाशत् न्यायेन सम्भवोऽपि कैश्चित् यः गृह्यते सोऽपि अनुमाने एव अन्तर्भवति इति न चतुरधिकानि प्रमाणानि। नाऽपि चतुर्न्यूनानि। तथाहि 'शब्दोपमानयोर्नैव पृथक् प्रामाण्यमिष्यते। अनुमान गतार्थत्वात् इति वैशेषिकं मतम्।' तन्न सम्यक् विना व्याप्तिबोधं शाब्दादि बोधतः।

अस्तु तत्तथा वैशेषिकाणां मते प्रत्यक्षमनुमानञ्च प्रमाणम्। शब्दोपमानयोः अनुमानविधयैव प्रामाण्यं तदेतन्न युक्तम्। व्याप्तिज्ञानं विनाऽपि शाब्दबोधोपमित्योः अनुभवसिद्धत्वात्। यदि प्रत्यक्षस्य एकस्यैव प्रमाणत्वं नास्तिकदीां तदा दृष्टान्तमनभ्युपगच्छन् नास्तिकः किं साधनः परमुपालभेत देशान्तरगते अदृष्टे च पुत्रदारादौ नास्तीति नास्तिकेन वक्तव्यं भवति न देशान्तरगत इति च न्यायकुसुमाञ्जलौ उदयनाचार्यः। एवं चत्वारि प्रमाणानि न्यायोक्तानि न्यायस्य प्रमाणास्त्रत्वं दृढयन्ति। तथा च प्रत्यक्षानुमान उपमानशब्दाः प्रमाणानि इति सूत्रं गौतमस्य इति संक्षेपः।

***

प्रमाण-मीमांसा

प्रो० महावीर अग्रवाल,
कुलपति,
उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार

भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों में तत्त्व मीमांसा के साथ प्रमाण-मीमांसा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कहीं मुख्य रूप से इसका विवेचन है तो कहीं गौण रूप से। भारतीय दर्शन के न्याय वैशेषिक बौद्ध तथा जैन सम्प्रदायों में इनका विशेष विवेचन प्राप्त होता है। न्याय दर्शन को तो प्रमाण शास्त्र ही कहा गया है।

"प्रमाणैरर्थ परीक्षणं न्यायः" (वा. भा. १-१-१)

यद्यपि सभी दर्शनों का उद्देश्य तत्त्व विवेचन के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करना है तो भी तत्त्व विवेचन प्रमाणों के बिना सम्भव नहीं है-

इह खलु निखिल लोक विमोक्षमुख्योपायं मननोपायमात्मनस्तत्त्वज्ञानमामनन्ति।
(न्यायसिद्धान्त मञ्जरी)

इसलिए प्रमाण का स्वंरूप उसके भेद, उन भेदों का स्वरूप उनके साधन तथा उनका प्रमाण्य आदि निश्चित किये बिना तत्त्व मीमांसा की दृष्टि से तत्त्व-ज्ञान के साधन के रूप में उनका उपयोग नहीं किया जा सकता है, इसलिए महर्षि वात्स्यायनय ने प्रमाण के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहा है-

"प्रमाण के द्वारा अर्थ प्रतिपादन के पश्चात् प्रवृत्ति अर्थवत् अर्थात् प्रयोजन युक्त होती है।" (वा. भा. १-१-१)

प्रमाण के द्वारा अर्थ का निश्चय होने पर ही अनुकूल के ग्रहण और प्रतिकूल के त्याग की प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति प्रमाण और प्रमाणभास दोनों से उत्पन्न हो सकती है, किन्तु जब व्यक्ति प्रमाण से अर्थ को जानकर उसके विषय में प्रवृत्त होता है तब उसकी प्रवृत्ति समर्थ कहलाती है, प्रमाणाभास के द्वारा अर्थ का बोध करके जब प्रवृत्त होता है तब उसकी प्रवृत्ति असमर्थ कहलाती है। तात्पर्य यह है कि जब भी व्यक्ति किसी विषय में प्रवृत्त होता है वह प्रमाण के द्वारा अर्थ निश्चय करके ही प्रवृत्त होता है, अतः प्रमाण का प्रयोजन विवादातीत है।

प्रमाणों की संख्या, उनके स्वरूप, उनके क्षेत्र आदि के सम्बन्ध में सभी दार्शनिक सम्प्रदाय एकमत नहीं है। प्रमाणों के विषय में मत-भेद होना या उनकी प्रक्रिया के सम्बन्ध में मत वैभिन्य होना स्वाभाविक ही है। प्रत्येक दर्शन की तत्त्व मीमांसा का स्वरूप भिन्न होने से उसके साधक के रूप में प्रयुक्त होने वाले प्रमाणों के सम्बन्ध में मतभेद होना उचित ही है।

प्रमाण शब्द प्र पूर्वक मा धातु से करण वाच्य में ल्युट् प्रत्यय से सिद्ध होता है। प्र पूर्वक मा धातु का अर्थ (प्रकृष्ट ज्ञान)। अर्थात् यथार्थानुभव प्र पूर्वक मा धातु से प्रकृष्ट ज्ञान का ग्रहण होने से प्रमाण शब्द के प्रकृष्ट अनुभूति में (करण) का बोध होता है।

तर्कभाषा- प्रमाकरणं प्रमाणम् । यथार्थानुभवः प्रमा

यथार्थ इति अयथार्थानां स्मृत्यादीनां निरासः। साधकतमं करणम्

प्रकृष्टानुभूति का एक मात्र प्रत्यक्ष ही करण है, ऐसा भौतिकवादी चार्वाक मानता है। वैशेषिक तथा बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान को भी प्रमाण मानते हैं। गौतमीय सांख्य योग नैयायिक उपमान और शब्द को भी प्रमाणों में सम्मिलित करते हैं। प्राभाकर मीमांसक इन चार प्रमाणों के अतिरिक्त अर्थापत्ति को भी स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। भाट्ट मीमांसक तथा वेदान्ती अनुपलब्धि को मिलाकर कुछ ही प्रमाण स्वीकार करते हैं। दर्शन मीमांसा-

प्रत्यक्षमात्रं चार्वाकाः बौद्धा वैशेषिका द्वयम्
सांख्या योगास्त्रयं चैव न्याये चैव चतुष्टयम्।
पञ्च प्राभाकरा आहुस्तथा वेदान्तिनश्च षट्
पौराणिकास्तथा चाष्टौ प्रमाणान्यत्र मन्वते।।

प्रत्यक्ष- (Perception)

न्याय दर्शन में ज्ञान का स्वरूप प्रकाशमय माना गया है। जिस प्रकार दीपक किसी वस्तु को प्रदीप्त करता है उसी प्रकार ज्ञान भी वस्तु को प्रकाशित करता है। न्याय दर्शन में सही ज्ञान को प्रमा कहा गया है। प्रमाण यथार्थ ज्ञान के साधन को कहा जाता है, ज्ञान प्राप्त करने वाला प्रमाता तथा ज्ञान के विषय को प्रमेय कहा जाता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान सन्देह रहित है। यह यथार्थ और निश्चित होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान को किसी अन्य ज्ञान द्वारा प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं होती है। प्रत्यक्ष को अन्य प्रमाणों का प्रमाण कहा जाता है। सभी ज्ञान-अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति इत्यादि किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष पर आश्रित है। प्रत्यक्ष के बिना इन प्रमाणों से ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः प्रत्यक्ष ही इन प्रमाणों को सार्थकता प्रदान करता है। प्रत्यक्ष स्वतन्त्र और निरपेक्ष प्रमाण है।

प्रत्यक्ष शब्द दो शब्दों के सम्मिश्रण से बना है। प्रति + अक्ष प्रति का अर्थ होता है

सामने और अक्ष का अर्थ होता है 'आंख'। प्रत्यक्ष का अर्थ हुआ, जो आंख के सामने हो। यह प्रत्यक्ष का संकीर्ण प्रयोग है। प्रत्यक्ष का अर्थ केवल आंख से देखकर प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही नहीं कहा जाता है, अपितु अन्य इन्द्रियों से जैसे कान, नाक, त्वचा, जिससे जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह भी प्रत्यक्ष ही कहलाता है। अतः प्रत्यक्ष का अभिप्राय है, वह ज्ञान जो ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होता है।

तर्कभाषा में प्रत्यक्ष की परिभाषा–

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्
साक्षात्कारि प्रमाकरणं प्रत्यक्षम्"।

साक्षात् कारिणी प्रमा के करण को प्रत्यक्ष कहते हैं।

साक्षात्कारिणी च प्रमा सैवोच्यते या इन्द्रियजा।
सा च द्विधा सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्।
तस्याः करणं त्रिविधम् कदाचिद् इन्द्रियं,
कदाचित् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः कदाचिद् ज्ञानम्।
'नामजात्यादि योजना हीनं निर्विकल्पकम्'
नाम जात्यादि सहितं सविकल्पकम्।

सामान्यतः हमारे सभी व्यवहार में आने वाले ज्ञान सविकल्पक ही होते हैं।

इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष – छः प्रकार का है–

संयोग	–	नेत्र + घट
संयुक्त समवाय	–	नेत्र + घटरूप
संयुक्त समवेत समवाय	–	नेत्र + घटरूपत्व
समवाय	–	श्रोत्र + शब्द
समवेत समवाय	–	श्रोत्र + शब्दत्व
विशेषण विशेष्य भाव	–	नेत्र + घटाभाव

चाक्षुष प्रत्यक्ष का वैज्ञानिक प्रकार–

चक्षु शरीर देश में होती है और घटादि अर्थ और शरीर से अलग भिन्न देश में होते हैं। ऐसी दशा में उन दोनों में सम्बन्ध कैसे होता है। न तो अर्थ उठकर चक्षु के पास आता है और न चक्षु चलकर घटादि अर्थ के पास दीखती है। तब उनका संयोग कैसे होता है। इस विषय में आधुनिक प्रकाश विज्ञान का सिद्धान्त यह है कि प्रकाश की जो किरणें पदार्थ पर पड़ती हैं। और देखने वाले की कनीनिका के भीतर से जाकर 'रेटिना' नामक केन्द्र पर पदार्थ का प्रतिबिम्ब उत्पन्न करती हैं। इसी से पदार्थ का दर्शन होता है।

प्रत्यक्ष के दो भेद हैं– १. लौकिक प्रत्यक्ष २. अलौकिक प्रत्यक्ष

जब इन्द्रिय का वस्तु के साथ साधारण सम्पर्क होता है तब उस प्रत्यक्ष को लौकिक

प्रत्यक्ष कहते हैं। इसके दो भेद–

१. बाह्य प्रत्यक्ष

२. मानस प्रत्यक्ष

जब बाह्य इन्द्रियों का वस्तु के साथ सम्पर्क होता है, तब उस सम्पर्क से जो प्रत्यक्ष होता है उसे बाह्य प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रियों का विषयों के साथ जो असाधारण सम्बन्ध होता है उसे अलौकिक प्रत्यक्ष कहा जाता है।

इसके तीन भेद हैं– १. सामान्य लक्षण २. ज्ञान लक्षण ३. योगज

१. सामान्य लक्षण– जिस प्रत्यक्ष से जाति का प्रत्यक्ष होता है उस प्रत्यक्ष को सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष कहते हैं। जैसे राम श्याम आदि से मानव और गाय, घोड़ा हाथी से पशु।

२. ज्ञान लक्षण– मानव अपनी इन्द्रियों के द्वारा अनेक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है। प्रत्येक इन्द्रिय का भिन्न-भिन्न विषय है। आंख से रूप, श्रोत्र से शब्द...। सामान्यतः एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय के विषय का बोध संभव नहीं माना जाता है। आंख से शब्द, गन्ध, स्पर्श का ज्ञान संभव नहीं है। ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष अलौकिक प्रत्यक्ष का वह भेद है जिसके द्वारा इन्द्रिय अपने विषय से भिन्न विषय का ज्ञान भी ग्रहण करती है। रसगुल्ले को देखते ही मुंह पानी से भर जाता है। बाघ को देखते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। गर्मी के दिन में आग को देखते ही गर्मी का अनुभव होने लगता है। जाड़े के दिन में बर्फ को देखते ही सिहरन होने लगती है।

चिकनाहट या कड़ेपन की अनुभूति त्वचा को द्वारा होती है, आंख से चिकनाहट का ज्ञान नहीं होता। परन्तु ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष में आंख से घास को देखकर चिकनाहट का अनुभव होने लगता है। रसगुल्ले के मीठापन का ज्ञान रसना द्वारा ही संभव है। परन्तु ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष में रसगुल्लों को देखकर ही इसके मीठापन का ज्ञान हो जाता है।

न्याय दर्शन में कहा जाता है कि अतीत में दो गुणों को सदा एक साथ प्रत्यक्ष करते रहने से इसमें साहचर्य स्थापित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप एक विषय का अनुभव होते ही दूसरे विषय का अनुभव होने लगता है। यह ज्ञान पहले के प्राप्त ज्ञान पर आधारित रहने के कारण ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष कहा जाता है।

३. योगज लक्षण– साधारणतया इन्द्रियों की शक्ति सीमित है। हम दूर एवं सूक्ष्म विषयों को नहीं देख पाते हैं। दूर की आवाज को नहीं सुन पाते हैं। दूर में रखे हुए विषयों को न हम चख सकते हैं और न छूं सकते हैं। परन्तु कुछ असाधारण व्यक्तिंयों में योगज ज्ञान पाया जाता है। ये असाधारण मानव योगज ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष कर लेते हैं।

प्रत्यक्ष के पश्चात् दूसरा प्रमुख प्रमाण है– अनुमान।

अनुमान शब्द 'अनु' उपसर्ग पूर्वक 'मा' धातु से निष्पन्न है। 'अनु' पश्चात् अर्थ का

बोधक है और पश्चात् शब्द नियमतः प्रतियोगी साकाङ्क्ष है। 'मान' शब्द ज्ञान का परिचायक है। दो ज्ञात सत्यों के द्वारा किसी अज्ञात सत्य का ज्ञान करना ही अनुमान है। जैसे 'यत्र धूमस्तत्र बह्निः' यह हमें ज्ञात है। इस ज्ञान के साथ जब पर्वत पर अविच्छिन्नमूल धूम को हम देखते हैं, तो हमें तत्काल बोध हो जाता है कि पर्वत पर वह्नि भी है। सामान्यतः सभी दार्शनिकों ने 'अनुमितिकरणमनुमानम्' यह लक्षण माना है।

महर्षि कणाद के अनुसार– कार्य, कारण, संयोगी, विरोधी एवं समवायी आदि लिपियों को देखकर, जो तत्सम्बन्धी लिपियों का ज्ञान होता है, उसको लिपि अर्थात् अनुमान कहते हैं–

अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लिपिकम्। (वै.सू. ३.२.१)

लिपि का ज्ञान प्रसिद्धिपूर्वक होता है। प्रसिद्धि को ही व्याप्ति कहते हैं। जिसके साथ जिसकी प्रसिद्धि होती है, वह उसका लिपि कहलाता है और लिपिज्ञान व्याप्तिज्ञानाधीन होने के कारण, अनुमिति प्रमा का साधक होता है।

'तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्-पूर्वच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टञ्च।' (न्यायसूत्र १.१.५)

यह परिभाषा कुछ अस्पष्ट प्रतीत होती है, क्योंकि यह जिज्ञासा सर्वदा बनी रहती है कि किसके 'पूर्व' होने वाले को 'तत्पूर्वक' कहा जाय। समाधान करते हुए वात्स्यायन ने 'तत्' पद की व्याख्या इस प्रकार की है– 'तत्' शब्द से लिपि–लिपि दर्शन एवं लिपि दर्शन दोनों अभिप्रेत हैं। लिपियों के साथ लिपि का ग्रहण हो जाने के पश्चात् लिपि दर्शन से व्याप्ति का स्मरण होता है, व्याप्ति स्मरण के पश्चात् होने वाले लिपि ज्ञान से परोक्ष अर्थ का जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहते हैं। –न्यायभाष्य पृ.१४२–१४६

आगे चलकर प्रसिद्ध नैय्यायिक तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने अनुमान का लक्षण दिया– 'लिपिपरामर्शोऽनुमानम्'

अनुमान के सम्बन्ध में जितना व्यापक एवं सूक्ष्म चिन्तन नैयायिकों ने किया है, वह भारतीय मेधा–बुद्धि का चरमोत्कर्ष है।

भट्ट मीमांसकों एवं प्रभाकर मीमांसकों के साथ–साथ सांख्य, योग, वेदान्त आदि में भी अनुमान पर गहन विचार किया गया है, क्योंकि प्रत्यक्ष की सीमा में आने वाला ज्ञान बहुत सीमित है, जबकि अनुमान का फलक बहुत विस्तृत है। अनुमान के भेद, हेतु, व्याप्ति, हेत्वाभास आदि के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों ने विशद विवेचना की है। विस्तारभय से यहां इसका विवेचन संभव नहीं है।

जो प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा बोध्य नहीं है, उसकी प्रमा के लिये आचार्यों ने शब्द (आप्तोपदेश), उपमान, अर्थापत्ति, संभव, अभाव, ऐतिहय आदि अन्य प्रमाणों की परिकल्पना की है।

इन प्रमाणों द्वारा आन्तरिक एवं बाह्य संसार का सम्यक प्रकार से बोध होता है।

'आत्मानं विद्धि' का यही सोपान है। जब मानव को 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मै देह नहीं मैं शुद्ध,बुद्ध, मुक्तस्वभाव आत्मा हूँ.... इस सत्य का बोध हो जाता है तब संसार के त्रिविध (समस्त) दुःख दूर हो जाते हैं–

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'

यही बोद्धव्य है, यही प्राप्तव्य है, यही गन्तव्य है, यही ध्येय है, इसी के लिये जिज्ञासु को प्रयत्नों की पराकाष्ठा करनी चाहिये।

***

जैनदर्शन में प्रमाण-मीमांसा

प्रो० अशोककुमार जैन
विभागाध्यक्ष, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सामान्य रूप से प्रमाण का लक्षण है- सम्यग्ज्ञान। जो ज्ञान सम्यक् अथवा समीचीन होता है वह प्रमाण कहलाता है। आगमिक परम्परा में ज्ञान को सम्यक् तथा मिथ्या मानने का आधार दार्शनिक परम्परा से भिन्न है। आगमिक परम्परा में सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है और मिथ्यादर्शन युक्त ज्ञान मिथ्याज्ञान है। मिथ्यादृष्टि का ज्ञान व्यवहार में सत्य होने पर भी आगम की दृष्टि में मिथ्या है परन्तु दार्शनिक परम्परा में ज्ञान के द्वारा प्रतिभासित विषय का अव्यभिचारी होना ही प्रमाणता की कसौटी है। यदि ज्ञान के द्वारा प्रतिभासित पदार्थ उसी रूप में मिल जाता है जिस रूप में ज्ञान ने उसे जाना था तो अविसंवादी होने से वह ज्ञान प्रमाण है और इससे भिन्न ज्ञान अप्रमाण है। जो ज्ञान सम्यक् निर्णायक है वही यथार्थ है। इसमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय का सर्वथा अभाव होता है। जो ज्ञान संशय, विपर्यय आदि से रहित नहीं है वह अयथार्थ है। जो ज्ञान यथार्थ है वही प्रमाण है।

प्रमाण का लक्षण साधारणतः यह किया जाता है- प्रमायाः करणं प्रमाणम्। प्रमा का करण ही प्रमाण है। प्रमा का लक्षण है- तद्वति तत्प्रकारानुभवः प्रमा। जो वस्तु जैसी है उसको वैसा ही जानना प्रमा है।

प्रमाण शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है- 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्' अर्थात् जिसके द्वारा कुछ पदार्थों की प्रमिति (ज्ञान) होती है उसे प्रमाण कहते हैं। कुछ दार्शनिकों ने इसी व्युत्पत्ति का आश्रय लेकर प्रमा करणं अर्थात् साधकतम कारण (साधकतम कारणं करणम्) को प्रमाण कहा है। वस्तु के यथार्थ ज्ञान को प्रमा या प्रमिति कहते हैं और उस प्रमा की उत्पत्ति में जो विशिष्ट कारण होता है वही प्रमाण है। प्रमाण के इस सामान्य लक्षण में विवाद न होने पर भी दार्शनिकों में प्रमा के करण के विषय में विवाद है। बौद्ध परम्परा में सारूप्य और योग्यता को करण माना गया है और अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण स्वीकारा गया है। सांख्य इन्द्रियवृत्ति को, नैयायिक-वैशेषिक इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को, मीमांसक इन्द्रिय को तथा

प्राभाकर ज्ञातृव्यापार को प्रमा का करण मानते हैं किन्तु जैन दार्शनिक ज्ञान को ही प्रमा का करण मानते हैं क्योंकि जानने रूप क्रिया अथवा अज्ञाननिवृत्तिरूप क्रिया का साधकतम कारण चेतन ज्ञान ही हो सकता है, अचेतन सन्निकर्षादि नहीं। सन्निकर्ष योग्यता आदि अर्थ का परिज्ञान करने के लिए सहायक अवश्य हो सकते हैं किन्तु ज्ञान ही सबसे अधिक सन्निकट है और वही ज्ञान और ज्ञेय के मध्य सम्बन्ध संस्थापित करता है। अतः प्रमा का करण ज्ञान हो सकता है योग्यता–सन्निकर्ष नहीं।

प्रमाणस्वरूप– आचार्य गृद्धपिच्छ अपरनाम उमास्वामी का तत्त्वार्थसूत्र जैनदर्शन का प्रमुख सूत्रग्रन्थ है। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्ज्ञान के भेदों को बतलाकर 'तत्प्रमाणे' सूत्र द्वारा सम्यग्ज्ञान में प्रमाणता का उल्लेख किया है तथा 'प्रमाणनयैरधिगमः'इस सूत्र द्वारा प्रमाण और नय को जीवादि तत्त्वों के अधिगम का उपाय बतलाया है। सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्र ने प्रमाण का दार्शनिक लक्षण प्रस्तुत किया है। उन्होंने आप्तमीमांसा में तत्त्वज्ञान को प्रमाण बतलाकर उसके अक्रमभावी और क्रमभावी ये दो भेद किये हैं तथा तत्त्वज्ञान को स्याद्वादनयसंस्कृत का ही है।[१] उन्होंने ही स्व और पर के अवभासक ज्ञान को प्रमाण बतलाया है।[२] इसके अनन्तर आचार्य सिद्धसेन ने प्रमाण के लक्षण में 'वाधविवर्जित' पद जोड़कर स्वपरावभासक तथा बाध विवर्जित ज्ञान को प्रमाण माना है।[३] तदनन्तर अकलङ्कदेव ने इस लक्षण में अविसंवादी और अनधिगतार्थग्राही इन दो नये पदों का समावेश करके अवभासक के स्थान पर व्यवसायात्मक पद का प्रयोग किया है।[४] इसके बाद आचार्य विद्यानन्द ने पहले सम्यग्ज्ञान को प्रमाण का लक्षण निरूपित कर पुनः उसे स्वार्थ व्यवसायात्मक सिद्ध किया है। उन्होंने प्रमाण के लक्षण में अनधिगत या अपूर्व विशेषण नहीं दिया है क्योंकि उनके अनुसार ज्ञान चाहे गृहीत अर्थ को जाने या अगृहीत को वह स्वार्थव्यवसायात्मक होने से ही प्रमाण है।[६]

इसके बाद आचार्य माणिक्यनन्दि ने प्रमाण के लक्षण में अपूर्व विशेषण का समावेश करके स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्यक ज्ञान को प्रमाण कहा है[७] किन्तु उत्तरकालवर्ती आचार्यों ने प्रमाण का लक्षण करते समय सम्यग्ज्ञान अथवा सम्यक् अर्थनिर्णय को ही प्रमाण बतलाया है।[८]

इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित प्रमाण के विभिन्न लक्षणों से यही फलित होता है कि प्रमाण को अविसंवादी या सम्यक् होना चाहिए। इस सम्यक् विशेषण में ही अन्य सब विशेषण अन्तर्भूत तो जाते है। प्रमाण के विषय में विशेष बात यही है कि ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है, अज्ञान रूप सन्निकर्षादि नहीं। ज्ञान का स्वसंवेदी होना भी आवश्यक है क्योंकि स्व को नहीं जानने वाला ज्ञान पर को भी नहीं जान सकता है। इसी प्रकार प्रमाण को व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) भी होना चाहिए क्योंकि जो ज्ञान अनिश्चयात्मक है वह प्रमाण कैसे हो सकता है।

आचार्यों ने प्रमाण के लक्षण में जो विशेषण प्रयुक्त किये हैं उनमें अनेक कारण हैं। ज्ञान को स्वपरप्रकाशी बतलाया गया है। मीमांसक ज्ञान को स्वप्रकाशित नहीं मानते हैं उनकी दृष्टि में ज्ञान अर्थज्ञानानुमेय है। हम अर्थ को जानते हैं इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थ को जानने वाला ज्ञान है। अर्थ के परिज्ञान से ही ज्ञान का परिज्ञान हो जाता है, यह परोक्ष ज्ञानवाद है।[९] सांख्यदर्शन में प्रकृति पर्यायात्मक ज्ञान को अचेतन माना गया है। इसके अनुसार ज्ञान प्रकृति की पर्याय है, इसलिए वह अचेतन है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन में ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्य माना गया है। उनके अनुसार ज्ञान का प्रत्यक्ष एकात्मसमवायी दूसरे ज्ञान से होता है। ईश्वरीय ज्ञान के अतिरिक्त इतर सभी ज्ञान पर प्रकाशित हैं, प्रमेय हैं। इसलिए जैनाचार्यों ने प्रमाण के लक्षण में स्व आभासि शब्द जोड़कर इन मान्यताओं का निराकरण किया है। जैनदर्शन में ज्ञान स्वप्रकाशी है। उसका स्वरूप ज्ञान ही है। वह ईश्वरीय ज्ञान और जड़ प्रकृति का पर्याय भी नहीं है। अपितु आत्मा का मौलिक गुण है।[१०] ज्ञान आत्मस्वरूप है आत्मा से अभिन्न है।

बौद्ध परम्परा में ज्ञान को ही परमार्थ सत् माना गया है, बाह्य पदार्थ को नहीं। इस मत के निराकरण के लिए 'पर आभासि' पद का प्रयोग किया है इससे यह सिद्ध है कि ज्ञान के अतिरिक्त पदार्थों की सत्ता प्रकाश की तरह स्पष्ट है। जैनमतानुसार ज्ञान की भाँति बाह्य पदार्थों की पारमार्थिक सत्ता है।

प्रमाण के भेद– जैनदर्शन में प्रमाण के दो भेद हैं–प्रत्यक्ष और परोक्ष। मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानों का प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में विभाजन आगमिक परम्परा में पहले से ही रहा है। प्रथम दो ज्ञान परोक्ष और शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष कहे गये हैं। स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध का अन्तर्भाव मतिज्ञान में ही किया गया है। आगम में प्रत्यक्षता और परोक्षता का आधार भी दार्शनिक परम्परा से भिन्न है। आगमिक परम्परा में इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्ममात्र की अपेक्षा से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। 'अक्षं प्रतिगतं प्रत्यक्षम्' इस व्युत्पत्ति में अक्ष का अर्थ आत्मा लिया गया है।[१२] और जिस ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रिय, मन और प्रकाश आदि बाह्य साधनों की अपेक्षा होती है वह ज्ञान परोक्ष माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्द[१३] के प्रवचनसार में प्रत्यक्ष और परोक्ष की यही परिभाषा दी है किन्तु दार्शनिक परम्परा के अनुसार इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होने वाले मतिज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मान लिया गया है अतः परसापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित कर लेने से प्रत्यक्ष की परिभाषा में भी परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

प्रत्यक्ष का लक्षण– अकलङ्कदेव ने लघीयस्त्रय में विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष[१४] कहा है और न्यायविनिश्चय में स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।[१५] जिस ज्ञान में किसी अन्य ज्ञान के द्वारा व्यवधान न हो वह विशद कहलाता है और इससे भिन्न ज्ञान को अविशद कहते हैं। इस

प्रकार दार्शनिक परम्परा के अनुसार विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष और अविशद ज्ञान को परोक्ष माना गया है।

प्रत्यक्ष के भेद- प्रत्यक्ष के दो भेद हैं- मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। मुख्य प्रत्यक्ष के दो भेद हैं- सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष/त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण पदार्थों को युगपत् जानने वाला केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष कहलाता है। तथा नियत पदार्थों की कतिपय पर्यायों को पूर्ण रूप से जानने वाले अवधि ज्ञान और मनः पर्यय को विकल प्रत्यक्षकहते हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं- इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा मनसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये मतिज्ञान के चारों भेद सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

परोक्ष के भेद- स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं।[१६] इनमें से स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क इन तीन प्रमाणों को अन्य दार्शनिकों ने नहीं माना है। नैयायिकों और मीमांसकों ने प्रत्यभिज्ञान के स्थान में उपमान को प्रमाण माना है किन्तु व्याप्ति ग्राहक तर्क को तो किसी ने भी प्रमाण नहीं माना है। जैन दार्शनिकों ने युक्तिपूर्वक यह सिद्ध किया है कि तर्क के बिना अन्य किसी भी प्रमाण के व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता है।

विभिन्न दार्शनिकों ने प्रमाण की संख्या भिन्न-भिन्न मानी है।[१७] चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। बौद्ध और वैशेषिक दो प्रमाण मानते हैं प्रत्यक्ष और अनुमान। सांख्य तीन प्रमाण मानते हैं प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। नैयायिक उपमान सहित चार, प्राभाकर अर्थापत्ति सहित पाँच और भाट्ट अभाव सहित छः प्रमाण मानते हैं किन्तु जैन न्याय में उपमान का प्रत्यभिज्ञान में, अर्थापत्ति का अनुमान में और अभाव का प्रत्यक्ष आदि में अन्तर्भाव करके प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाणकी द्वित्व संख्या का समर्थन किया गया है।

अविशद ज्ञान को परोक्ष कहा जाता है।[१८] परोक्ष प्रत्यक्ष से विपरीत है। इसमें वैशद्य स्पष्टता का पूर्णरूपेण अभाव है। यह ज्ञान अपनी उत्पत्ति में अन्य ज्ञानों की अपेक्षा नहीं रखता है। सभी दार्शनिकों ने परोक्ष के पाँच भेदों का उल्लेख किया है पर 'प्रमाण निर्णय' में दो भेद किये गये हैं- अनुमान और आगम।[१९] अनुमान के भी दो भेद किये गये हैं- गौण और मुख्य। गौण अनुमान तीन प्रकार का है:* स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और तर्क।

स्मृति- संस्कार के उद्‌बुद्ध होने पर उत्पन्न होने वाला पहले जाने हुए पदार्थ को जानने वाला 'वह' इस आकार वाला ज्ञान स्मरण है।[२०] अतीत के अनुमान संस्कार के जागरण से उत्पन्न ज्ञान स्मरण या स्मृति कहलाता है।

जैनदर्शन के अतिरिक्त इतर प्राच्य दर्शनों ने स्मृति को प्रमाण की कोटि में नहीं माना है।

उनका तर्क है कि स्मृति का विषय अतीत का अर्थ है और वह तो नष्ट हो चुका है उसका ज्ञान वर्तमान काल में कैसे प्रमाण हो सकता है। जिस ज्ञान का वर्तमान में कोई सम्बन्ध नहीं और कोई आधार नहीं, वह किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है। विषय के अभाव में ज्ञान की उत्पत्ति असंभव है। इस प्रकार के उनके तर्क हैं। उनका उत्तर है कि जो यथार्थ है ज्ञान के प्रमाण का आधार उसकी वास्तविकता है अर्थात् यथार्थता है। वस्तु की वर्तमानता उसका आधार नहीं है। यदि ज्ञान वस्तु की वास्तविकता का ग्राहक है तो वह प्रमाण है। ज्ञान इसलिए प्रमाण माना गया है कि वह यथार्थता को ग्रहण करता है। वर्तमान, अतीत और अनागत इन तीनों कालों में उसकी यथार्थता बनी रहती है अतः वह प्रमाण है।

प्रत्यभिज्ञान- प्रत्यक्ष और स्मरण से उत्पन्न होने वाला तिर्यक् सामान्य अथवा ऊर्ध्वता सामान्य को जानने वाला जोड़ रूप ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। जैसे 'यह वही देवदत्त है या वही जिनदत्', 'गवय गौ के समान होता है, भैंस गाय से विलक्षण होती है यह इससे दूर है। जितना भी संकलनात्मक अर्थात् जोड़रूप ज्ञान होता है, वह सब प्रत्यभिज्ञान की कोटि में आता है।[२१] अपने समक्ष देवदत्त को देखकर अतीत में देखे हुए देवदत्त का स्मरण आने से यह प्रतीति हो जाती है कि यह वही देवदूत है। इस ज्ञान के होने में प्रत्यक्ष और स्मरण दोनों हेतु होते हैं। यह ज्ञान पूर्व देखे हुए देवदत्त में और वर्तमान में सामने उपस्थित देवदत्त में और विद्यमान एकत्व को विषय करता है। अतः इसको एकत्व प्रत्यभिज्ञान' कहा जाता है।

किसी व्यक्ति ने गवय नामक पशु देखा। देखते ही उसे पहले देखी हुई गौ का स्मरण हो आया। उसके पश्चात् "गौ के समान यह गवय है" ऐसी प्रतीत हुई यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान का प्रयोग है।

३. तर्क- उपलम्भ और अनुपलम्भ से उत्पन्न होने वाला तीन काल सम्बन्धी व्याप्ति को जानने वाला यह इसके होने पर ही होता है" इत्यादि आकार वाला ज्ञान तर्क है। इसे ऊह भी कहते हैं।[२२]

नैयायिक दर्शन में तर्क को प्रमाण का अनुग्राहक सहायक माना गया है। बौद्ध दर्शन में इसे प्रमाण के अन्तर्गत नहीं लिया गया है।

तर्क और अनुमान- यदि हम तर्क को प्रमाण स्वीकार नहीं करेंगे तो अनुमान की भी प्रमाणता स्वतः समाप्त हो जायेगी क्योंकि तर्क और अनुमान की आधारशिला एक है। तर्क व्यापक है और अनुमान उसका एकदेशीय प्रयोग है। धुएँ के साथ अग्नि का विनिश्चय करना तर्क का कार्य है। और उस नियम के आधार पर अग्नि का बोध करना अनुमान का कार्य है। तर्क से धुएँ के साथ अग्नि की व्याप्ति है या व्याप्ति जानी जाती है किन्तु "इस पर्वत में अग्नि है" यह अनुमान के बिना नहीं जाना जा सकता। इस पर्वत में अग्नि है। यह अनुमान का साध्य है और तर्क का साध्य मात्र अग्नि "धर्म" है। अग्निमान् पर्वतः' यह अनुमान का

साध्य होता है। व्याप्ति ज्ञान में तर्क की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है और जब तक तर्क से व्याप्ति न हो जाय तब तक अनुमान की प्रवृत्ति सर्वथा असम्भव है। वस्तुतः अनुमान स्वयं तर्क पर प्रतिष्ठित है।

तर्क के लक्षण में उपलम्भ, अनुपलम्भ और व्याप्ति शब्द का उल्लेख हुआ है। अमुक वस्तु के होने पर ही अमुक वस्तु का होना उपलम्भ कहलाता है। एक के अभाव में किसी अन्य वस्तु का न होना या न पाया जाना अनुपलम्भ कहलाता है। जैसे अग्नि के होने पर धूम का होना आदि। साध्य और साधन के अविनाभाव को व्याप्ति कहते हैं।

अनुमान- साधन से साध्य का ज्ञान अनुमान प्रमाण है।[२३] साधन को लिङ्ग और साध्य को लिङ्गी भी कहा जाता है। लिङ्ग और लिङ्गी के बीच अविनाभाव सम्बन्ध होना चाहिए इसीलिए अकलङ्क ने साधन का लक्षण साध्याविनाभाव...... किया है।[२४] अन्यथानुपपत्ति भी उसका लक्षण दिया जाता है। साधन इस प्रकार का होना चाहिए जो साध्य के अविनाभावी रूप से निश्चित ही नहीं अपितु सुनिश्चित हो। साध्य के अभाव में साधन की अनुपपत्ति होनी चाहिए। जो साध्य के अभाव में नहीं रहता तो वही सच्चा साधन कहा जाता है। अनुमान प्रमाण को दो भागों में विभक्त किया जाता है।[२५]

(क) स्वार्थानुमान- हेतु का प्रत्यक्ष होने पर तथा अविनाभाव सम्बन्ध का स्मरण होने पर साध्य का जो ज्ञान होता है उसको स्वार्थानुमान कहते हैं।[२६]

साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले सुनिश्चित साधन से साध्य का ज्ञान होना स्वार्थानुमान है।[२७]

हेतु का ग्रहण होने से तथा व्याप्ति का स्मरण होने से साध्य का ज्ञान होना स्वार्थानुमान है।

कार्य दो प्रकार के होते हैं। १. सहभावी २. क्रमभावी। रूप और रस सहभावी हैं। रूप को देखकर रस का अनुमान करना अथवा रस को निहार कर रूप का अनुमान करना सहभावी अविनाभाव है। एक के होने पर दूसरे का होना क्रमभावी है। जैसे कृतिका नक्षत्र के उदय होने के पश्चात् शकट का उदय होना क्रमभावी अविनाभाव है। कार्य और कारण का जो सम्बन्ध है वह भी क्रमभाव की कोटि में आता है। साधन दर्शन से साध्य का अनुमान व्यक्ति स्वयमेव कर लेता है। इस प्रकार अपने लिये किये गये अनुमानको स्वार्थानुमान कहा जाता है।

साधन साध्य के बिना निश्चित रूप से न होना- यह एक लक्षण जिसमें पाया जाय वह हेतु अर्थात् साधन है।[२८] साधन के पाँच प्रकार हैं- स्वभाव, कारण, कार्य, एकार्थसमवायी और विरोधी।[२९]

जहाँ वस्तु का स्वभाव ही साधन बनता हो, वह स्वभाव साधन कहलाता है। उष्ण स्वभाव होने से आग जलती है, यह स्वभाव साधन का उदाहरण है।

आकाश में जब उमड़-घुमड़कर घटायें छा जाती है जिसे देखकर वर्षा का अनुमान करना, यह कारण के कार्य का अनुमान है।

किसी कार्य विशेष को देखकर उसके कारण का अनुमान करना कार्य-साधन है। कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जिसका कोई न कोई कारण न हो कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति कदापि सम्भव नहीं। जल से छलछलाती नदी को देखकर यह ज्ञात करना कि कहीं पर अत्यधिक वर्षा हुई है, यह कार्य से कारण का अनुमान है।

एक अर्थ में दो अथवा उससे अधिक कार्यों का एक साथ रहना एकार्थसमवाय है। एक फल में रूप और गन्ध साथ-साथ विद्यमान हैं। रूप दर्शन से गन्ध का अनुमान करना या गन्ध को देखकर रूप का अनुमान करना, यह एकार्थ समवाय का उदाहरण है। रूप और गन्ध में न कार्य कारणभाव सम्बन्ध परिलक्षित होता है और न रूप एवं गन्ध का एक स्वभाव है।

विरोधी भाव से उसके अभाव का अनुमान करना विरोधी साधन है। आग व ठंड में परस्पर विरोध दृष्टिगोचर होता है एतदर्थ एक के होने पर दूसरी कदापि संभव नहीं है।

परार्थानुमान- साधन और साध्य के अविनाभाव सम्बन्ध के कथन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान परार्थानुमान कहा जाता है।[३०] स्वार्थानुमान स्वतः उत्पन्न होता है किन्तु परार्थानुमान ठीक इसके विपरीत है। परार्थानुमान स्वयं ज्ञानात्मक है परन्तु उसको प्रकाशित करने वाले वचन को भी उपचार के परार्थानुमान कहा जाता है।[३१]

परार्थानुमान के अवयवों के सम्बन्ध में दार्शनिकों में अनेक मत हैं-

सांख्यदर्शन	-	पक्ष, हेतु और उदाहरण
मीमांसादर्शन	-	पक्ष, हेतु, उदाहरण और उपनय
न्याय दर्शन	-	पक्ष, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन

जैन दर्शन में दो से लेकर दस अवयवों के प्रयोग का समर्थन किया गया है। दस अवयवों के दो प्रयोग बताये गये हैं। तीव्र बुद्धि वालों को समझाने के लिये सिर्फ दो अवयव पर्याप्त हैं- पक्ष और हेतु और मन्द बुद्धि को समझाने के लिये पाँच अवयवों का निरूपण हुआ है- पक्ष, हेतु, दृष्टान्त उपनय और निगमन।

पक्ष- पक्ष का अपरनाम है प्रतिज्ञा। साध्य का निर्देश करना प्रतिज्ञा है।[३२] हम जिस बात को सिद्ध करने के लिये तत्पर होते हैं उसका प्रथम निर्देशन प्रतिज्ञा है। इससे साध्य का परिज्ञान होता है। इस पर्वत में अग्नि है यह प्रतिज्ञा का प्रयोग है।

हेतु- साधनत्व को अभिव्यक्त करने वाला वचन हेतु कहलाता है[३३] क्योंकि इसमें धूम है' यह हेतु प्रयोग है। अग्नि के होने पर ही धूम हो सकता है क्योंकि अग्नि के अभाव में धूम सर्वथा असम्भव है। हेतु को साधन व लिङ्ग भी कहते हैं।

हेतु के दो भेद हैं- उपलब्धि और अनुपलब्धि।[३४] ये दोनों प्रकार विधि और निषेध के

साधक हैं। सत् अंश को विधि कहते हैं, असत् अंश को प्रतिषेध कहते हैं।[३५] प्रत्येक वस्तु में सत्त्व और असत्त्व ये दोनों धर्म विद्यमान हैं। अतः सत्त्व वस्तु का एक अंश धर्म है और असत्त्व भी एक अंश है। ये दोनों सर्वथा पृथक्-पृथक् पदार्थ नहीं है। वैशेषिक दर्शन में सत्त्व सामान्य और अभाव अलग-अलग पदार्थ माने गये हैं। किन्तु जैन दर्शन ने उनकी मान्यता का परोक्ष रूप में निरसन किया है।

प्रतिषेध- प्रतिषेध चार प्रकार का है- प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव।[३६]

उपलब्धि हेतु के दो भेद हैं- अविरुद्धोपलब्धि और विरुद्धोपलब्धि। साध्य से अविरुद्ध हेतु की उपलब्धि अवरुिद्धोपलब्धि और साध्य से विरुद्ध हेतु की उपलब्धि विरुद्धोपलब्धि है।[३७]

अविरुद्ध उपलब्धि के ६ भेद हैं[३८]-

१. अविरुद्ध व्याप्य उपलब्धि	–	शब्द परिणामी है।
२. अविरुद्ध कार्योपलब्धि	–	इस पर्वत पर अग्नि है।
३. अविरुद्ध कारणोपलब्धि	–	वर्षा होगी।
४. अविरुद्ध पूर्वचर उपलब्धि	–	एक मुहूर्त के बाद पुष्य नक्षत्र का उदय होगा।
५. अविरुद्ध उत्तर चर उपलब्धि	–	एक मुहूर्त्त पहले पूर्वा फाल्गुनी का उदय हुआ था।
६. अविरुद्ध सहचर उपलब्धि	–	इस आम में रूप विशेष है।

विरुद्धोपलब्धि सात प्रकार की है-

१. स्वभाव विरुद्ध उपलब्धि	:	सर्वथा एकान्त नहीं है।
२. विरुद्ध व्याप्य उपलब्धि	:	इस पुरुष का तत्त्व में विनिश्चय नहीं है।
३. विरुद्ध कर्म उपलब्धि	:	इस व्यक्ति का क्रोध शान्त प्रशान्त नहीं है।
४. विरुद्ध कारण उपलब्धि	:	यह साधु मिथ्या वचन नहीं बोलता।
५. अविरुद्ध पूर्वचर उपलब्धि	:	एक मुहूर्त्त के पश्चात् पुष्य नक्षत्र उदय होगा।
६. विरुद्ध उत्तरचर उपलब्धि	:	एक मुहुर्त्त के पूर्व मृगशिरा का उदय नहीं हुआ था।
७. विरुद्ध सहचर उपलब्धि	:	इसे मिथ्याज्ञान नहीं है।

प्रतिषेध से अविरुद्ध होने के कारण जो हेतु है उसका निषेध सिद्ध करना अविरुद्धानुपलब्धि है। इसके सात भेद हैं[३९]-

१.	अविरुद्ध स्वभाव अनुपलब्धि :	यहाँ घट नहीं है।
२.	अविरुद्ध व्यापक अनुपलब्धि :	यहाँ पनस (कटहल) नहीं है।
३.	अविरुद्ध कार्य अनुपलब्धि :	यहाँ अप्रतिहत शक्ति वाला बीज नहीं है।
४.	अविरुद्ध कारण अनुपलब्धि :	इस व्यक्ति में प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्तिक्य भाव नहीं हैं।
५.	अविरुद्ध पूर्वचर अनुपलब्धि :	एक मुहूर्त्त के बाद स्वाति नक्षत्र का उदय नहीं होगा।
६.	अविरुद्ध उत्तरचर अनुपलब्धि :	एक मुहुर्त्त के पहले पूर्वाभाद्रपदा का उदय नहीं हुआ था।
७.	अविरुद्ध सहचर अनुपलब्धि :	इस पुरुष में सम्यग्ज्ञान नहीं है।

विधि को सिद्ध करने वाली विरुद्धा उपलब्धि पाँच प्रकार की है।[४०]

१.	विरुद्ध कार्यानुपलब्धि :	इस प्राणी में रोग का अतिशय है।
२.	विरुद्ध कारणानुपलब्धि :	यह व्यक्ति कष्ट में फँसा हुआ है।
३.	विरुद्ध स्वभावानुपलब्धि :	वस्तु समूह अनेकान्त रूप है।
४.	विरुद्ध व्यापकानुपलब्धि :	यहाँ छाया है।
५.	विरुद्ध सहचरानुपलब्धि :	इस व्यक्ति में मिथ्या ज्ञान है।

उदाहरण- अविनाभाव बताने के स्थान को दृष्टान्त कहते हैं।[४१] साधन अर्थात् हेतु का सम्यक् प्रकार से परिबोध कराने के लिए उदाहरण का प्रयोग करना दृष्टान्त है।[४२] यह दो प्रकार का है साधर्ग्य दृष्टान्त और वैधर्म्य दृष्टान्त।

जहाँ हेतु के होने पर साध्य का होना बताया जाय वह साधर्म्य दृष्टान्त है। जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोईघर। यह साधर्म्य दृष्टान्त है।[४३]

जहाँ साध्य के अभाव में हेतु का अवश्य अभाव दिखाया जाता है वह वैधर्म्य दृष्टान्त है। जहाँ-जहाँ अग्नि का अभाव होता है, वहाँ वहाँ धूम का अभाव होता है जैसे तालाब। यह वैधर्म्य दृष्टान्त है।[४४]

उपनय- धर्मी-पक्ष में हेतु ना उपसंहार करना 'दोहराना' उपनय है।[४५]

जहाँ साध्य रहता है उसको धर्मी कहा जाता है। पहले हेतु का प्रयोग करके पक्ष में हेतु का सद्भाव दिखाया जाता है तत्पश्चात् व्याप्ति और उदाहरण बोलने के पश्चात् पुनः कहा जाता है। "इस पर्वत में अग्नि है।" यहाँ अग्नि साध्य है और पर्वत धर्मी है। हेतु का धर्मी में उपसंहार करना जैसे इस पर्वत में भी धूम है यही पक्ष में हेतु का दोहराना है और यही उपनय कहलाता है।

निगमन- साध्य का पक्ष में दोहराना निगमन है।[४६] पक्ष में साध्य का होना सर्वप्रथम

बताया गया था। उसको उपसंहार के रूप में पुनः दोहराना निगमन है जैसे इसीलिए यहाँ अग्नि है' यह अन्तिम निर्णय है। साध्य का यह दोहराना निगमन है।

पाँच अवयव वाल परार्थानुमान इस प्रकार है–

१. पक्ष – पर्वत में अग्नि है।

२. हेतु – क्योंकि पर्वत में धूम है।

३. दृष्टान्त – जहाँ–जहाँ धूम होता है, वहाँ–वहाँ अग्नि होती है जैसे रसोईघर।

४. उपनय – इस पर्वत में भी धूम है।

५. निगमन – इसीलिए इस पर्वत में अग्नि है।

आगम– आगम ज्ञान विज्ञान का अनुपम एवं अक्षय भण्डार है। आगम साहित्य में आचार और विचार का समन्वय है।

'आगम' शब्द आङ् उपसर्ग और गम् धातु से निष्पन्न हुआ है। आ उपसर्ग का अर्थ है– आसमन्तात् अर्थात् पूर्णता और गम् धातु का अर्थ है– गति अर्थात् गमन, ज्ञान और प्राप्ति।

जैनाचार्यों ने आगम की अनेक परिभाषायें की हैं। जो तत्त्व आचार परम्परा से वासित होकर आता है वह आगम है।[४७] जिससे पदार्थ का यथार्थ ज्ञान हो वह आगम है।[४८] आप्त वचन के होने वाले पदार्थ के ज्ञान को आगम कहते हैं। उपचार से आप्त का वचन भी आगक कहलाता है।[४९]

आप्त कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जो कहीं जाने वाली वस्तु का स्वरूप सम्यक्रूपेण जानता है और वैसा हो कहता तो वह आप्त है।[५०]

जिन्होंने राग द्वेष को जीत लिया है वे जिन तीर्थङ्कर सर्वज्ञ भगवान आप्त हैं और उनका उपदेश एवं बाकी ही आगम है।

जिस पुरुष में अज्ञान और कषाय का सर्वथा अभाव हो जिसे वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो और अपने ज्ञान के अनुसार ही प्रवचन करता तो उसका कथन पूर्णरूपेण यथार्थ होता है। ऐसे पुरुष को आप्त कहते हैं। वे तीर्थङ्कर केवल अर्थ रूप में उपदेश देते हैं और गणधर उसे सूत्रबद्ध करते हैं।[५२] गणधर तो केवल द्वाशांगी की रचना करते हैं और अंग बाह्य रूप मे प्रसिद्ध आगमों की रचना स्थविर करते हैं।[५३]

आप्त के दो भेद हैं लेकिन आप्त और लोकोत्तर आप्त।[५४] तीर्थङ्कर आदि लोकोत्तर आप्त कहलाते हैं। उनके वचन तीनों कालों में अप्रामाणिक नहीं हो सकते। लोक व्यवहार में माता-पिता आदि लौकिक आप्त है जो न तत्त्व को यथावस्थित जानते हैं और न यथावस्थित निरुपण प्ररूपण ही कर सकते हैं।

***

संदर्भः

१. तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्।। आप्त मीमांसा का० १०१
२. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिविलक्षणम्। स्वयम्भूस्तोत्र श्लोक ६३
३. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्। न्यायावतार श्लोक।
४. (क) प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्। अष्टशती।
(ख) व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्। लघीयस्त्रय का० ६०
५. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं। स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात्। प्रमाण परीक्षा पृ०।
६. गृहीतमगृहीतं वा यदि स्वार्थं व्यवस्यति।
तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्।। तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक १/१०/७८
७. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् – परीक्षामुख १/१।
८. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् – न्यायदीपिका, पृ० ३।
९. मीमांसा श्लोक वार्तिक १८४-१८७।
१०. स्याद्वादमञ्जरी कारिका १५।
११. णाणे पुण णियमं आया- भगवतीसूत्र १२.१. ४६८
१२. अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा- सर्वार्थसिद्धि १/१२।
१३. जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं त्ति भणिदमत्थेसु।
जं केवलेण णाणं हवदि तु जीवेण पच्चक्खं।। प्रवचनसार गाथा ५८
१४. प्रत्यक्षं विशदं ज्ञान मुख्यसंव्यवहारतः। लघीयस्त्रय कारिका ३
१५. प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा – न्यायविनिश्चय श्लोक ३।
१६. प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञान तर्कानुमानागमभेदम्। परीक्षामुख ३/२
१७. जैमिनेः षट् प्रमाणानि चत्वारि न्यायवादिनः।
सांख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिक बौद्धयोः।।
१८. (क) अविशदः परोक्षम् – प्रमाण मीमांसा १.२.१।
(ख) अस्पष्टं परोक्षम् – जैनतर्कभाषा, प्रमाणपरिच्छेद, पृ० २५।
१९. प्रमाणनिर्णय, पृ० ३३१।
२०. (क) अत्र संस्कारप्रबोधसम्भूतं अनूभतार्थ विषयं तदित्याकारं वेदनं स्मरणम्।
(ख) वासनोद्बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः प्रमाणमीमांसा १.२.३।
(ग) संस्कारोद्बोध निबन्धना तदित्याकारा स्मृतिरिति–परीक्षामुख ३.३
(घ) अनुभवमात्र जन्यं ज्ञानं स्मरणम्। जैनतर्कभाषा, प्रमाण परिच्छेद, पृ० २५।
२१. दर्शनस्मरणकारणकं सङ्क लनं प्रत्यभिज्ञानम्। तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि।।
परीक्षामुख ३.५
२२. उपलम्भानुपलम्भ निमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः प्रमाणमीमांसा १.२.५।
२३. साधनात् साधविज्ञानमनुमानम् – प्रमाणमीमांसा १.२.७।
२४. लिङ्गात् साध्याविनाभावाभिविबोधैकलक्षणं अनुमानम् – लघीयस्त्रय
२५. तद्द्विविधं स्वार्थं परार्थं च – जैन तर्कभाषा प्रमाणपरिच्छेद।
२६. हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्। प्रमाणनय, प्रथमपरिच्छेद

२७. स्वार्थ स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैक लक्षणात साधनात् साध्यज्ञानम्।
प्रमाणमीमांसा १.२.९

२८. निश्चितान्यथानुपत्येक लक्षणो हेतुः। प्रमाणनयतत्त्वालोक ३.११।

२९. स्वभावः कारणं कार्यमेकार्थसमवायि विरोधि चेति पञ्चधा साधनम्। प्रमाणमीमांसा १.२.१२

३०. यथोक्तसाधनाभिधानजः परार्थम्। प्रमाणमीमांसा २.१.१।

३१. पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्। प्रमाण नयतत्त्वालोक ३.२३।

३२. साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा। प्रमाण मीमांसा २.११।

३३. साधनत्वाभिव्यञ्जक विभक्तायन्तं साधनवचनं हेतुः। प्रमाणमीमांसा २.१२।

३४. उक्तलक्षणो हेतुर्द्विप्रकारः उपलब्धि अनुपलब्धिभ्यां भिद्यमानत्वति।

३५. विधिः सदंशः। प्रतिषेधेधाऽसदंशः। प्रमाणनय ३.५६, ५७।

३६. स चतुर्धा -प्रागभावः, प्रध्वंसाभाव इतरेतरभावोऽत्यन्ताभावश्च

३७. प्रमाणनयतत्त्वालोक ३.६७

३८. वही ३. ६८, ६९

३९. प्रमाणनयतत्त्वालोक ३.९४-९५।

४०. वही, ३.१०३.१०४।

४१. प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरास्पदं दृष्टान्तः प्रमाण नय ३.४३।

४२. दृष्टान्त वचनमुदाहरणम् प्रमाणमीमांसा २.१३

४३. प्रमाणनयतत्त्वालोक ३.४६

४४. वही, ३.४८

४५. हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहरणमुपनयः प्रमाणनयतत्त्वालोक ३.४९

४६. साध्यधर्मस्य पुनर्निर्गमनम् वही ३.५

४७. आगच्छत्याचार्यपरम्परया वासनोद्धारेणेत्यागमः। सिद्धसेन गणीकृत भाष्यानुसारिणी टी.१८७

४८. आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुद्धयन्ते अनेनेत्यागमः। रत्नाकरावतारिका वृत्ति

४९. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः। उपचारादाप्तवचनं च। प्रमाणन ४.१, २

५०. अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्तः

५१. नन्दीसूत्र ४०-४१, बृहत्कल्पभाष्य गाथा ८८

५२. अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथन्ति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तई।। आवश्यक निर्युक्ति गाथा १९२

५३. विशेषावश्यकभाष्य, गा० ५५०, बृहत्कल्पभाष्य गा० १४४

५४. स च द्वेधा- लौकिको लोकोत्तरश्च - प्रमाणनय ४.६



चार्वाकीय प्रमाणमीमांसा : कुछ स्फुट विचार

प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र
आचार्य धर्म एवं दर्शन विभाग, कला संकाय,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

चार्वाक दर्शन भारतीय दर्शन परम्परा का एक विशिष्ट दर्शन है। इस दर्शन की विशिष्टता इसके अनूठे चिन्तन में निहित है। अनेक बार तो इसके अनूठेपन के कारण ही इस दर्शन को भारतीय परम्परा के अन्य दर्शनों से विजातीय गोत्र का मान लेने का प्रश्न भी उठ खड़ा होता है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। भारतीय दर्शन का समग्र चित्र इस दर्शन के बिना अधूरा रह जायेगा तथा इस दर्शन के विना भारतीय दर्शन में अपूरणीय न्यूनता आ जायेगी। यह एकमात्र ऐसा दर्शन है जो पश्चिम दर्शनों की समनन्तर भावभूमि पर अवस्थित होता है। अन्यथा अन्य भारतीय दर्शन तो खुद को एक विलक्षण आधारभूमि पर प्रतिष्ठापित करते हैं। परन्तु इस दर्शन को भारतीय दार्शनिक परम्परा में उतना सम्मान नहीं प्राप्त हुआ जिसका यह दर्शन अधिकारी है। अनेक बार इस दर्शन को वैतण्डिककथैवासौ न पुनः कश्चिदागमः, यह केवल वैतंडिक कथा है कोई दर्शन नहीं, कहते हुए महत्त्वहीन बताने की कोशिश भी की गयी है। परन्तु इस दर्शन के महत्त्व को इतनी आसानी से झुठलाया नहीं जा सकता।

इस दर्शन को लोकायत नाम से भी जाना जाता है। लोकायत नाम के पीछे दो प्रकार की भावना हो सकती है, एक तो यह कि यह लोक परम्परा में अत्यन्त प्रचलित और स्वीकृत रहा। अथवा सामान्य लोग सामान्यतः इसी विचारधारा के होते हैं। इसमें प्रथम भावना इस दर्शन की सहज स्वीकार्यता को बतलाती हुई हो सकती हैं, परन्तु द्वितीय भावना इसको महत्त्वहीन बताने का ही प्रयास करती प्रतीत होती है कि यह वस्तुतः दार्शनिक अवधारणा नहीं है, सामान्यतः लोगों की प्रवृत्ति इसी विचारधारा से प्रवृत्त होने की है। यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि जहाँ भारतीय दर्शन के अन्य समस्त सम्प्रदाय परलोक विषयक चिन्तन को अपने दार्शनिक चिन्तन में उतारे बिना अपने दर्शन का समग्र चित्र प्रस्तावित नहीं कर पाते, वही यह दर्शन अपनी समग्रता में इहलौकिक है।

इस दर्शन को परलोकविषयक अवधारणा की कोई आवश्यकता नहीं। विरोधी दार्शनिकों के आरोप हुआ करते हैं कि यह दर्शन तार्किक तथा नैतिक अवधारणाओं से सम्बन्धित विभिन्न दार्शनिक प्रश्नों का सन्तोषजनक समाधान दे पाने में सक्षम नहीं है। इस कारण यह दर्शन स्वीकार्य नहीं हो सकता। परन्तु हमारी दृष्टि में यह दर्शन न केवल तार्किक अपितु नैतिक अवधारणाओं से सम्बद्ध दार्शनिक प्रश्नों का भी समाधान सुसंगत रीति से करने में सक्षम है। बिना किसी भी परलोकविषयक अवधारणा के समस्त दार्शनिक प्रश्नों का सन्तोषजनक समाधान प्रस्तुत करने में यह दर्शन सक्षम है। प्रस्तुत आलेख में चार्वाक दर्शनानुसारी प्रमाण की अवधारणा का विवेचन करना हमार उद्देश्य है। हम यहाँ पर यह देखने की कोशिश करेंगे कि प्रमाण विषयक चार्वाक की क्या दृष्टि है? यह दृष्टि किस सीमा तक तार्किक रूप से संरक्षित की जा सकती है? इस पर किसी अन्य आलेख में विचार करेंगे।

जयन्त भट्ट ने यद्यपि इस दर्शन को वैतंडिक कथा कहकर खारिज करने की बात कही है, परन्तु विचित्र यह है कि उन्होंने स्वयं इस चार्वाक दर्शन को तार्किक प्रस्थानों में परिगणित किया। छह तार्किक प्रस्थानों में से इस दर्शन को भी एक माना।[१] वे चार्वाक की आलोचना करते हुए कहते हैं कि– "चार्वाकास्तु वराकाः प्रतिक्षेप्तव्या एवेति क्वक्षुद्रतर्कस्य तदीयस्येह गणनावकाशः।"[२] परन्तु जयन्त भट्ट द्वारा चार्वाक की इस प्रकार की अलोचना से भी इस दर्शन का महत्त्व तो परिज्ञात होता है। यह सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि यह दर्शन एक अलग तरह का तार्किक प्रस्थान है। वैतंडिक कथा कहकर खारिज करने की बात सिर्फ इस कारण है क्योंकि इस दर्शन में किसी कर्तव्य का कोई उपदेश नहीं किया जाता है।[३] इसी प्रकार कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आन्वीक्षिकी के प्रभेदों में सांख्य, योग तथा लोकायत की गणना की गयी है।[४] बहुतेरे स्थलों पर चार्वाक दर्शन के लिए आन्वीक्षिकी शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। यह इस बात का संकेत है कि चार्वाक दर्शन एक व्यवस्थित दर्शन के रूप में प्राचीन काल में स्वीकार्य था। दर्शन होने के लिए उस वैचारिक धारा की प्रमाणमीमांसा, तत्त्वमीमांसा तथा नैतिक दृष्टि के साथ-साथ उस दर्शन की एक व्यवस्थित तर्कपद्धति भी होना चाहिए। चार्वाक दर्शन के परिप्रेक्ष्य में यह सारी ही शर्तें पूरी की जाती हैं। चार्वाक दर्शन के लिए आन्वीक्षिकी शब्द के प्रयोग से यह भी पता चलता है कि किसी न किसी रूप में अनुमान को यह दर्शन अवश्य महत्त्व प्रदान करता है क्योंकि यदि अनुमान को यह दर्शन महत्त्व नहीं देगा तो इसको आन्वीक्षिकी शब्द से अभिहित ही नहीं किया जा सकता था। आन्वीक्षिकी शब्द की जैसी व्युत्पत्ति न्यायभाष्य में वात्स्यायन के द्वारा प्रतिपादित की गयी है उसको पूरा का पूरा चार्वाक दर्शन के ऊपर नहीं लागू किया जा सकता है। आन्वीक्षिकी शब्द का अर्थ होता है– "ईक्षितस्य अनु पश्चात् ईक्षणम् अन्वीक्षा तया प्रवर्तमानं शास्त्रम् आन्वीक्षिकी

न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्।" यहाँ पर वात्स्यायन के इस व्याख्या को न्यायशास्त्रीय समग्र सम्मति देने के लिए अपनी ओर से कुछ अन्य सन्दर्भ भी जोड़ दिये हैं। ईक्षित का सामान्य अर्थ हुआ करता है प्रत्यक्ष से प्राप्त या ज्ञात। परन्तु न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने इसको थोड़ा विस्तार देते हुए ईक्षितका अर्थ किसी प्रत्यक्ष तथा आगम से प्राप्त या ज्ञात। इस प्रकार यह आन्वीक्षिकी की परिभाषा इस प्रकार से बन जाती है।

"प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अनु पश्चात् ईक्षणम् अन्वीक्षा तया प्रवर्तमानं शास्त्रम् आन्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्।"[५] इसके पीछे कारण यह था कि वात्स्यायन न्यायशास्त्र यानी आन्वीक्षिकी को प्रत्यक्ष तथा आगम दोनों से ही सुसंगत बनाना चाहते थे। इसी कारण न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष तथा अनुमान के साथ-साथ शब्द यानी आगम को भी प्रमाण मानने का पक्ष रखा गया है। चार्वाक दर्शन की इस प्रकार की कोई भी मजबूरी नहीं है। वह आन्वीक्षिकी शब्द का सीधा-सीधा अर्थ रख सकता है यानी कि ईक्षितस्य प्रत्यक्षेण ज्ञातस्य अनु पश्चात् ईक्षणम् अन्वीक्षा, तया प्रवर्तमानं शास्त्रम् आन्वीक्षिकी। चार्वाक के सामने आगम को भी प्रमाण मानने की कोई अनिवार्यता नहीं है। यह दर्शन केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानकर चल सकता है, अथवा दूसरे शब्दों में कहा जाये तो केवल प्रत्यक्ष पर बल देकर चल सकता है। केवल प्रत्यक्ष पर आधारित दर्शन का प्रस्ताव कर सकता है। इस दर्शन के द्वारा यही कार्य किया भी गया है। विविध दार्शनिक ग्रन्थों में प्रमाणविषयक चार प्रश्नों को उत्थापन मिलता है- प्रमाण का लक्षण क्या है? या दूसरे शब्दों में प्रमाण का स्वरूप क्या है? प्रमाण की संख्या कितनी है? प्रमाण का फल क्या है? तथा प्रमाण का विषय क्या है? हम बहुधा प्राथमिक प्रश्न के रूप में इसी प्रश्न पर विचार करते हैं कि चावार्क कौन से प्रमाण मानता है? यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि चार्वाक के अनुसार कितने प्रमाण स्वीकृत हैं। अन्य जो तीन प्रश्न है, उन प्रश्नों पर हम चर्चा भी नहीं करते। उनको हम अविचारित ही छोड़ देते हैं। चार्वाक द्वारा किसी भी प्रमाण को स्वीकृति न देने का भी पक्ष हो सकता है। जयन्त भट्ट न्यायमंजरी में चार्वाकधूर्त का एक पक्ष प्रस्तावित करते हैं, जिसके अनुसार प्रमाण की संख्या का कोई नियम नहीं किया जा सकता।[६] इसकी व्याख्या करते हुए चक्रधर अपनी ग्रन्थिभंग व्याख्या में चार्वाकधूर्त शब्द से उद्भट का उल्लेख किया गया है, ऐसा प्रस्ताव करते हैं।[७] अगर हम जयराशि भट्ट के तत्त्वोपप्लवसिंह को चार्वाकदर्शनानुसारी ग्रन्थ मान लें, जिसकी सम्भावना से समग्रतया निषेध कर पाना सम्भव नहीं दिखता, तो चार्वाक दर्शन का यह भी पक्ष सम्भाव्य है कि परमार्थतः कोई भी प्रमाण नहीं हैं। इसकी सम्भावना अधिक है कि तत्त्वोपप्लवसिंह चार्वाक सम्प्रदाय का ग्रन्थ नहीं हो, इस कारण किसी भी प्रमाण को न मानने का पक्ष चार्वाक का नहीं प्रतीत होता। परन्तु इस सम्भावना का समग्रता में निरास कर पाना सम्भव नहीं है। यह चार्वाक का एक वैतण्डिक स्वरूप होगा।

परन्तु यदि चार्वाक अपने पक्ष का व्यवसिति तरीके से प्रतिपादन करना चाहे तो उसे प्रमाण की कौन सी परिभाषा स्वीकार्य होगी? उसी परिभाषा के अनुसार प्रमाणों की संख्या का भी निर्धारण करना होगा। सामान्यतया प्रमाण का अर्थ सत्य ज्ञान देने वाला या सत्य ज्ञान का साधन ही समझा जाता है। प्रमाण शब्द का अर्थ समझते समय हम सामान्यतः उसके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को ही ध्यान में रखते हुए इस शब्द का अर्थ निकालते हैं। तदनुसार प्रमाकरणं प्रमाणं के परिप्रेक्ष्य में प्रमात्मक यानी यथार्थ अनुभव या यथार्थ ज्ञान का साधन असाधारण कारण ही प्रमाण समझा जाता है।

यदि इसी प्रमाण की परिभाषा को ध्यान में रखते हुए हम विचार करें तो ज्ञात होता है कि यह प्रमाण की परिभाषा प्रमा की परिभाषा पर आधारित है। प्रमा का क्या अर्थ लिया जाये? प्रमा शब्द के अर्थ के विषय में दार्शनिक परस्पर विवाद करते हैं। उनमें से कौन सा प्रमा का लक्षण चार्वाक को स्वीकार्य हो सकता है? कुछ दार्शनिक अबाधित ज्ञान को प्रमा कहते हैं। कुछ अन्य यथार्थ अनुभव को प्रमा कहते हैं। कुछ के अनुसार अज्ञातार्थविषयक ज्ञान ही प्रमा कहलाता है। अनुभूतिमात्र को प्रमा मानने का भी पक्ष मीमांसकों के सम्प्रदायविशेष का है। इनमें से चार्वाक को प्रमा की कौन सी परिभाषा स्वीकार्य हो सकती है? निश्चय ही अनुभूतिमात्र को प्रमा मनाने का पक्ष चार्वाक का नहीं हो सकता क्योंकि इस परिस्थिति में अनुमान को प्रमाण न मानने की प्रसिद्धि नहीं हो सकती थी। अज्ञातार्थविषयक ज्ञान को प्रमा मनाने का पक्ष कदाचित् सम्भव है। यदि यह पक्ष हो तो अनुमान के द्वारा भी कदाचित् अज्ञातांर्थविषयक ज्ञान तो होता ही है, कारण अनुमान को भी प्रमाण मानना अनिवार्य हो जायेगा। परन्तु अनुमान को प्रमाण न मानने की जो प्रसिद्धि चार्वाक दर्शन के अनुसार है, उसके आलोक में प्रमा की कोई ऐसी परिभाषा ही मान्य नहीं होनी चाहिए जिसके अनुसार अनुमान को प्रमाण मानने का पक्ष भी सम्भव हो तथा अनुमान को प्रमाण न मानने का पक्ष भी। अतः यथार्थ अनुभव को प्रमा मनाने का ही पक्ष चार्वाक का होना चाहिए। सामान्यतया यह सुप्रसिद्ध है कि चार्वाक केवल एक प्रमाण प्रत्यक्ष को ही स्वीकार करता है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कोई अन्य प्रमाण चार्वाक दर्शन में स्वीकार्य नहीं है। चार्वाक दर्शन की इस अवधारणा की अन्य दार्शनिकों ने जितनी आलोचना की है, उतनी किसी अन्य अवधारणा की आलोचना नहीं की है। सचमुच में यह आवधारणा अपने आपमें बहुत सारे अन्तर्विरोधों से युक्त दिखती हैं। यदि प्रत्यक्ष से अतिरिक्त कोई अन्य प्रमाण नहीं है तो किसी प्रकार से चार्वाक अपने दर्शन को प्रस्तावित कर सकेगा? किस प्रकार से अपने किसी भी दार्शनिक निष्कर्ष पर पहुँचेगा? कैसे अपने प्रतिपक्षी से वाद-विवाद कर सकेगा? इस कारण यह बहुत ही सन्दिग्ध लगता है कि कोई दार्शनिक किस प्रकार से इतनी विचित्र बात कह सकता है? विविध ग्रन्थों में चार्वाक की इस मान्यता की आलोचना में यही बात उठायी जाती है कि

यदि अनुमान को प्रमाण न माना जाये तो प्रत्यक्ष का भी प्रामाण्य सम्भव नहीं होगा। गंगेश स्वयं अनुमिति प्रकरण को समाप्त करते हुए अनुमान के प्रामाण्य पर विचार करने के क्रम में यह पक्ष उपस्थापित करते हैं। "अनुमानस्याप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्याप्यप्रामाण्यात् प्रामाण्यस्यानुमेयत्वात्।"[6] इसी प्रकार यह भी प्रश्न उठाया जाता है कि प्रत्यक्ष को प्रमाण न मानने वाले व्यक्ति की लौकिक जीवनयात्रा भी सम्यक् रीति से चल नहीं सकेगी। इस कारण चार्वाक का प्रमाण के विषय में क्या दृष्टिकोण रहा है? यह विचारणीय है। हमारी समस्या यह भी है कि हमारे पास कोई भी ऐसे ग्रन्थ नहीं है जो साक्षात् चार्वाक दर्शन के आचार्यों के द्वारा लिखे हुए हों, जिसके आधार पर हम चार्वाक दर्शन की अवधारणाओं को विना किसी सन्देह के समझ सकें। चार्वाक दर्शन को समझने के लिए हमें चार्वाक दर्शन के उन विरोधियों के ऊपर ही निर्भर रहना पड़ता है, जिनका प्रमुख उद्देश्य चार्वाक के मत का खंडन करना रहा। इस कारण चार्वाक दर्शन के प्रमाणविषक अवधारणा को पुनः संरचित करने की चुनौती अधिक कठिन हो जाती है।

अज्ञातार्थविषयक ज्ञान को प्रमा मानने पर अनुमान को भी प्रमाण मानने की आवश्यकता होगी क्योंकि अनुमान के द्वारा भी बहुधा हमें नवीन ज्ञान की प्राप्ति होती है। परन्तु यदि इस परिभाषा में नवीन ज्ञान का तात्पर्य नवीन निश्चयात्मक ज्ञान से हो तो पुनः यह प्रश्न वहीं आ खड़ा होगा क्योंकि फिर हम अनुमान को प्रमाण माने बिना भी रह सकते हैं। अबाधित ज्ञान को प्रमा मानने का पक्ष चार्वाक के लिए सम्भवतया स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि यदि हम अबाधितज्ञान का परिभाषित करना चाहें तो यह मुश्किल होगा। इस कारण चार्वाक द्वारा यथार्थ अनुभव को प्रमा मानने का पक्ष ही अधिक संगत ज्ञान पड़ता है। अब यदि यथार्थ अनुभव को प्रमा माना जाये तो इस यथार्थता का निर्धारण किस प्रकार होगा। निष्पक्ष विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि नैयायिक की तरह परतः प्रामाण्य को स्वीकार करना चार्वाक के लिए भी अपरिहार्य होगा। यह भी ध्येय है कि विभिन्न आलोचकों के द्वारा न्याय परम्परा की आलोचना इस आधार पर भी की है जैसे कि वे पारम्परिक धर्म दृष्टि के विरोधी हों। अनेक स्थलों में तर्ककुशलों से दूर रहने की बात कही गयी है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रायशः चार्वाक के सिद्धान्त किसी न किसी रूप में न्यायदर्शन की अनेक मान्यताओं के साथ सुसंगत रहे होंगे। यथार्थ अनुभव वही है जब वस्तु जैसी है वैसा ही ज्ञान हो। इस परिभाषा के आलोक में दो प्रमाणों की सम्भावना से बिल्कुल ही इनकार करना सम्भव नहीं है। परिस्थितियाँ हो सकती हैं कि हमें प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाण से भी यथार्थ अनुभव प्राप्त हो। द्वितीयतः प्रमाणों को उद्देश्य प्रयोजन या फल हित प्राप्ति तथा अहित परिहार ही हैं। इस विषय में किसी भी प्रकार का कोई संदेह नहीं हो सकता। अन्य दर्शनों से किसी मतभेद की भी सम्भावना नहीं है क्योंकि यह तो हर किसी को स्वीकार्य होगा। परन्तु चार्वाक के

अनुसार प्रत्यक्ष का स्वरूप भी क्या होगा? यह बहुत कुछ संदेह के ही दायरे में है। चार्वाक के द्वारा प्रत्यक्ष की कोई परिभाषा तो प्रस्तावित की नहीं गयी है। इस प्रत्यक्ष के विषय में भी बहुत सारे प्रश्न उठ खड़े होंगे, प्रत्यक्ष के द्वारा हम अपने सुख दुःख ज्ञान आदि को भी जानते हैं। यदि प्रत्यक्ष का दायरा केवल बाह्य इन्द्रियों तक ही सीमित रखा जाये, तो सुख दुख ज्ञान आदि को भी जानना सम्भव नहीं होगा। जबकि यह कोई भी चार्वाक मतानुयायी नहीं स्वीकार करेगा कि हम सुख दुख ज्ञान आदि को प्रत्यक्ष से नहीं जानते हैं। इस कारण चार्वाक के द्वारा कौन से प्रमाण स्वीकार्य हैं यह सुस्पष्ट तौर पर समझना कठिन होगा। प्रमाण विषयक तीसरे प्रश्न पर विचार करें तो यही प्रतीत होता है कि चार्वाक के अनुसार प्रमाण का विषय यह आनुभाविक जगत् ही है। इससे अधिक किसी ज्ञानविषय को नहीं स्वीकार नहीं किया जा सकता। चार्वाक का मान्य पक्ष प्रायशः इसी रूप में प्रस्तावित किया जाता है कि उसके द्वारा केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण के रूप में स्वीकार्य है। अनेक आचार्यों के द्वारा चार्वाक की आलोचना इसी आधार पर की गयी है कि वे केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण के रूप में मान्यता देते हैं। परन्तु यदि केवल प्रत्यक्ष को ही केवल प्रमाण माना जाये तो चार्वाक के द्वारा जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, जिसके अनुसार केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार ही तत्त्व हैं। चेतना की उत्पत्ति इन भूतों के पारस्परिक संयोग से हुआ करती है। ये सारी अवधारणाएँ किस प्रकार इन्द्रियानुभवात्मक प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध हो सकती हैं? इस कारण चार्वाक की स्थिति बहुत ही कठिन दिखायी देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि चार्वाक की दार्शनिक प्रस्थिति का उपस्थापन व्यवस्थित तरीके से नहीं किया जा सकता, यदि चार्वाक के नाम से प्रसिद्ध अवधारणाएँ ठीक उसी रूप में ली जाये। इस कारण मुझे चार्वाक की दार्शनिक अन्तर्दृष्टि की पुनर्व्याख्या करने की आवश्यकता महसूस होती है। यह हमारे लिए सौभाग्य की बात है कि अनेक ग्रन्थों में हमारे सुप्रसिद्ध दार्शनिकों के द्वारा चार्वाक की आलोचना करते हुए कुछ एक बिन्दु छोड़े गये हैं, जिनके आधार पर हम चार्वाक की प्रमाणमीमांसा की पुनर्रचना कर सकते हैं। चार्वाक की एक अवधारणा यह हो सकती है कि केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। अनुमान का प्रामाण्य प्रत्यक्ष पर आश्रित होने के कारण है। उसका स्वतन्त्र प्रामाण्य नहीं है। अनुमान की प्रत्यक्ष पर निर्भरता से इनकार तो नहीं किया जा सकता। नैयायिक भी प्रत्यक्ष को अनुमान का उपजीव्य मानते हैं। केवल इतना ही नहीं प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्ति के लिए, अपने सत्तालाभ के लिए तथा अपने सत्यापन दोनों के लिए ही प्रत्यक्ष पर निर्भर होता है। इस कारण अनुमान का प्रामाण्य उस अर्थ में नहीं हो सकता जिस अर्थ में प्रत्यक्ष का प्रामाण्य हुआ करता है। इस प्रसंग में बृहस्पति का सूत्र ध्यातव्य है– प्रमाणस्यागौणत्वादनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभः। इस सूत्र को जयन्त भट्ट ने अपने ग्रन्थ न्यायमंजरी में विस्तार से व्याख्यायित

कियाा है।[१] परन्तु जयन्त भट्ट की इस सूत्र पर की गयी व्याख्या पर न्यायसिद्धान्तों का पर्याप्त प्रभाव दिखायी देता है। इस कारण इस सूत्र पर की गयी जयन्त भट्ट की व्याख्या चार्वाक दर्शन के साथ न्याय करती हुई नहीं प्रतीत होती। प्रदीप पी. गोखले "Lokeyata carvaka A Philsophical Inquiry" नामक अपने ग्रन्थ में इसका संकेत देते हैं। इस विषय पर विद्वान् लेखक ने दो अध्यायों में पर्याप्त विस्तार से चर्चा की है। अनेक अंशों में गोखले की बातों से सहमत होते हुए भी इस सूत्र की व्याख्या को कुछ अन्य रीति से समझने का आशय चार्वाक का रहा होगा, ऐसा मुझे लगता है। गौण शब्द का प्रयोग लाक्षणिक के लिए किया जाता है। परन्तु हर एक लाक्षणिक के लिए गौण शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। जहाँ पर लक्षणा सादृश्य के आधार होती है, उसी स्थल में गौण शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे गौर्बाहीकः इस स्थल में बाहीकदेशवासी व्यक्ति के लिए गौ शब्द का प्रयोग किया जाता है जो कि वस्तुतः गौ नहीं है। अंगों में गौशब्द का प्रयोग किया जा रहा है। परन्तु गौ शब्द के ये दोनों ही अर्थ नहीं होते। गौ शब्द का अर्थ तो केवल पशुविशेष ही होता है न कि बाहीकदेशवासी। पशुविशेष गौ शब्द का मुख्यार्थ है और बाहीकदेशवासी गौशब्द का लाक्षणिक अर्थ है। बाहीकदेशवासी के उस पशुविशेष से सदृश होने के कारण उसमें गौ शब्द का प्रयोग किया जाता है। प्रमाण शब्द का भी उसी प्रकार केवल एक ही मुख्य अर्थ हो सकता है। जो भी प्रमाण शब्द के मुख्य अर्थ से अभिहित हो सकेगा, उसी को वस्तुतः प्रमाण मानना संगत होगा इस परिस्थिति में हमें निश्चय ही यह मानना होगा कि प्रत्यक्ष जिस अर्थ में प्रमाण है उस अर्थ में अनुमान का प्रामाण्य नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष के स्थल में जिस प्रकार से निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त होता है, उस प्रकार से निश्चयात्मक ज्ञान अनुमान के स्थल में प्राप्त नहीं होता। इस कारण यदि हम प्रत्यक्ष के साथ साथ अनुमान को भी प्रमाण मानना चाहते हैं तो अनुमान का प्रमाण्य प्रत्यक्ष के प्रामाण्य का समान योगक्षेम नहीं होगा। प्रमा प्रत्यक्षपरक होता है, इस बात को नैयायिक भी मानते ही हैं। वात्स्यायन प्रमाणसम्प्लव पर विचार करते हुए सुस्पष्ट मत देते हैं कि यह प्रमा प्रत्यक्षपरा होती है क्योंकि जिज्ञासित अर्थ को आप्तोपदेश से जानता हुआ भी व्यक्ति अनुमान के आधार पर भी जानना चाहता है, अनुमान के द्वारा ज्ञात अर्थ को भी प्रत्यक्ष के द्वारा जानना चाहता है। परन्तु प्रत्यक्ष के द्वारा वस्तु के ज्ञात हो जाने पर जिज्ञासा निवृत हो जाती है। पुनः किसी प्रमाण से जानने की इच्छा नहीं शेष रहती। वात्स्यायन का यह वक्तव्य चार्वाक की दृष्टि का कुछ स्पष्टीकरण दे सकता है। जिज्ञासा सन्दिग्ध अर्थ के विषय में ही होती है। असन्दिग्ध अर्थ के विषय में जिज्ञासा नहीं होती। इसी कारण तो संशय को विचार पूर्वांग माना जाता है। इस कारण जब वात्स्यायन प्रत्यक्ष के द्वारा जिज्ञासा की निवृत्ति की बात कर रहे होते हैं, तो यह प्रतीत होता है कि वे यह बताना चाह रहे हैं कि सभी प्रमाणों में तुल्यबलत्व नहीं है। प्रत्यक्ष अन्य प्रमाणों की

अपेक्षा अधिक बलशाली है। यदि इस बात को स्वीकर कर लिया जाये तो यह मानना पड़ेगा कि प्रत्यक्ष ही प्रमुख प्रमाण है तथा अन्य प्रमाण उस अर्थ में प्रमाण नहीं हैं। चार्वाक के उपर्युक्त सूत्र को इस अभिप्राय के आलोक में समझा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि चार्वाक दर्शन के अनुयायियों में किसी दार्शनिक का पक्ष और सम्भवतः सबसे अधिक प्रभावशाली पक्ष यह रहा होगा कि वस्तुतः प्रमाण तो केवल प्रत्यक्ष ही है क्योंकि केवल प्रत्यक्ष से ही निश्चयात्मक ज्ञान कराया जाता है। इस वक्तव्य के आलोक में न केवल अनुमान के लिए अवसर रहता है अपितु शब्द के लिए भी अवसर रहता है। अनुमान तथा शब्द का भी प्रामाण्य माना जा सकता है परन्तु ठीक उसी अर्थ में नहीं जिस अर्थ में प्रत्यक्ष का प्रामाण्य स्वीकार किया जा रहा है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अनुमान तथा शब्द के द्वारा भी विभिन्न परिस्थितियों में नवीन और अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराया जाना सम्भव है, परन्तु केवल इसी आधार उनको प्रमाण मानना उचित नहीं होगा क्योंकि उनके द्वारा जो अर्थ ज्ञात होता है वह सम्भावना मात्र है। अलग-अलग अर्थों में हम प्रमाण शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते। प्रमाण की कोई एक परिभाषा होनी चाहिए जो सभी प्रमाणों पर लागू हो। यदि ऐसा नहीं होता तो अनुमान यदि का प्रामाण्य हम नहीं स्वीकार कर सकते हैं। परन्तु प्रमाण की कोई ऐसी सामान्य परिभाषा नहीं हो सकती जो कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों पर ही समान रूप से लागू हो। चार्वाक के इस सम्प्रदाय को ही विरोधियों ने प्रमुखता से अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाया। परन्तु विचित्रता यह है कि चार्वाक के इस सम्प्रदाय को ही अन्य अनेक दर्शनों में प्रच्छन्न समर्थक भी प्राप्त हुए। वैयाकरणों ने भी चार्वाक की इस अवधारणा को बहुत ही प्रमुखता के साथ अपनाया। भर्तृहरि के वाक्यपदीय में[१२] अनुमान के खंडन के लिए जो युक्तियाँ प्रस्तावित की गयी हैं, वे सारी की सारी युक्तियाँ चार्वाक दर्शन के पक्ष से भी प्रस्तावित की जा सकती है। अद्वैतवेदान्त में[१३] भी अनुमान के खण्डनार्थ उनमें से अनेक युक्तियों का प्रदर्शन किया गया है। निश्चय ही इन दार्शनिक सम्प्रदायों का उद्देश्य अनुमान के खंडन में यह रहा कि पारलौकिक विषयों की सिद्धि के लिए हम अनुमान पर निर्भर नहीं हो सकते। न्याय परम्परा इस विषय में परलोक आदि की सिद्धि के लिए अनुमान पर अपनी निर्भरता प्रस्तावित करती है। इस बात का विरोध करने में चार्वाक, वैयाकरण तथा वेदान्ती एक समान रूप से साथ आ जाते हैं।

एक अन्य अवधारणा का जिक्र जयन्त भट्ट और शान्तरक्षित ने किया है जिसके अनुसार चार्वाक के कुछ सम्प्रदाय ऐसे भी रहे हैं जो अनुमान को भी प्रमाण मानते हैं। जयन्त इन दार्शनिकों को सुनिश्चित तथा सुशिक्षित्तर कहते हुए सम्बोधित करते हैं। कुछ एक धूर्त चार्वाकों का जिक्र भी जयन्त भट्ट ने किया है। पुरंदर का जिक्र शान्तरक्षित ने अपने तत्त्वसंग्रह में किया है, जिसके अनुसार यह ज्ञात होता है कि कम से कम चार्वाक

के कुछ एक ऐसे सम्प्रदाय अवश्य रहे हैं जिनके अनुसार केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण नहीं माना जाता अपितु अनुमान को भी प्रमाण माना जाता है। जयन्त भट्ट दो प्रकार से अनुमानों का विभाग करते हैं उत्पन्नप्रतीतिक तथा उत्पाद्यप्रतीतिक। इनमें से उत्पन्नप्रतीतिक अनुमान तो सुशिक्षिततर चार्वाक को स्वीकार्य है परन्तु उत्पाद्यप्रतीतिक अनुमान चार्वाक को स्वीकार्य नहीं है। धूमादि के द्वारा अग्नि आदि का अनुमान उत्पन्नप्रतीतिक अनुमान है अतः इसका प्रामाण्य तो सभी को ही स्वीकार करना आवश्यक होता है। परन्तु आत्मा, ईश्वर, सर्वज्ञ, परलोक आदि विषयक अनुमान उत्पाद्यप्रतीतिक अनुमान हैं। इन अनुमानों का प्रामाण्य तत्त्वदर्शी लोग नहीं स्वीकार करते हैं।[१४]

कुछ इसी से मिलती जुलती बात कमलशील ने शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह की पंजिका नामक व्याख्या में कही है। जहाँ पर कमलशील कहता है कि लोकप्रसिद्ध अनुमान तो चार्वाकों को भी इष्ट ही है। परन्तु जो अनुमान लौकिक मार्ग का अतिक्रमण करके किया जाता है, उसके प्रामाण्य का हम खंडन करते हैं।[१५] इस प्रकार हम यह देख सकते हैं कि चार्वाक का एकमात्र मत यही नहीं है कि केवल प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। अपितु इससे अतिरिक्त भी कुछ एक अन्य मत हैं जिसके अनुसार अनुमान को भी प्रमाण मानने का पक्ष बन सकता है। इस रूप में यदि चार्वाक दर्शन को देखा जाये, तो यह निश्चित ही अधिक व्यवस्थित तथा तार्किक प्रस्थान के रूप में हमारे समाने उभर कर आता है।

अपने लिए हमारे ज्ञान के साधन के रूप में प्रत्यक्ष की आवश्यकता का निषेध किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। हमारे समस्त दैनिकव्यापार प्रत्यक्ष के आधार पर ही सामान्यतः प्रारम्भ होते हैं। अब अनुमान के बिना हमारा काम चल सकता है या नहीं यह विचारणीय है। अनुमान को प्रमाण मानने का आग्रह रखने वाले आचार्य इस बात पर बल देते हैं कि यदि अनुमान को प्रमाण न माना जाये तो हमारी जीवनयात्रा का निर्वाह कर पाना अशक्य हो जायेगा। हम बहुत सारे ऐसे कार्य करते हैं। बिना निश्चय के भी हमारी बहुत सारी प्रवृत्तियाँ होती हैं। वस्तुतः प्रमाण और प्रमा का उद्देश्य या फल हमारी प्रवृत्ति ही तो होती है। यदि हमारे ज्ञान का विषय हमारा अभीष्ट है तो हम उसकी प्राप्ति के लिए प्रवृत्त होते हैं। और यदि हमारे ज्ञान का विषय हमारे लिए हेय है तो हम उसके त्याग में प्रवृत्त होते हैं या दूसरे शब्दों में उससे निवृत्त हो जाते हैं। इसके लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है इसको तो स्वीकार करना पड़ेगा। परन्तु इसके लिए निश्चयात्मक ज्ञान की आवश्यकता होती है यह आग्रह कहीं से भी युक्तिसंगत नहीं दिखता। यह अवश्य है कि किसी ऐसे कार्य में जो बहुत अधिक वित्तव्यय या प्रयास से साध्य हो हम तभी प्रवृत्त होते हैं जब हमें निश्चय हो कि ऐसा ही है। इस कारण सामान्य दैनिक व्यापार संशयात्मक ज्ञान से भी सम्भव हैं। उसके लिए निश्चय का होना अनिवार्य नहीं है। इस कारण चार्वाक की दोनों ही व्याख्याएँ संगत हो सकती हैं। यद्यपि इनके व्यवस्थित

प्रतिपादन के लिए हमें व्यवस्थित चिन्तन के माध्यम से चार्वाक की प्रमाणमीमांसा की पुनर्रचना करने की कोशिश करनी होगी।

***

संदर्भः

१. न्यायमञ्जरी, पृ.९

२. न्यायमञ्जरी, पृ.९

३. न हिं लोकायते किञ्चित् कर्तव्यमुपदेक्ष्यते।
वैतंडिकथैवासौ न पुनः कश्चिदागमः।। न्यायमञ्जरी, पृ.३८८

४. सांख्यं योगो लोकायतं चैत्यान्वीक्षिकी। अर्थशास्त्र १.२.१

५. न्यायभाष्य १.१.१

६. चार्वाकधूर्तस्तु अथातास्तत्त्वं व्याख्यास्यामः इति प्रतिज्ञाय प्रमाणप्रमेयसंख्यालक्षणनियमाशक्यकरणीयत्वमेव तत्त्वं व्याख्यातवान्। न्यायमञ्जरी, पृ.१००

७. चार्वाकधूर्तस्त्विति। उद्भटः। ग्रन्थिभंग व्याख्या, पृ.१००

८. तत्त्वचिन्तामणि अनुमितिप्रकरण।

९. पृ.१७७

१०. पृ.५०

११. सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा। जिज्ञासितं अर्थ आप्तोपदेशात्प्रतिपद्यमानो लिङ्गदर्शनेनापि बुभुत्सते, लिङ्गदर्शनानुमितं च प्रत्यक्षतो दिदृक्षते, उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्तते। न्यायभाष्य १.१.३

१२. वाक्यपदीय प्रथम कांड

१३. तर्काप्रतिष्ठानात् सूत्र

१४. सुशिक्षितराः प्राहु द्विविधमनुमानम्,
किञ्चिदुत्पन्नप्रतीति किञ्चिदुत्पाद्यप्रतीति।
तत्र धूमानुमानादेः प्रामाण्यं केन नेष्यते।
अतो हि साध्यं बुध्यन्ते तार्किकैक्षता अपि।।
यत्वात्मेश्वरसर्वज्ञपरलोकादिगोचरम्।।
अनुमान न तस्येष्टं प्रामाण्यं तत्वदर्शिभिः।। न्यायमञ्जरी, पृ.१८४

१५. पुरन्दरस्त्वाह लोकप्रसिद्धमनुमानं चार्वाकैरपीष्यत एव। यतु कैश्चित् लौकिकं मार्गमतिक्रम्यानुमानमुच्यते, तन्निषिध्यते। तत्त्वसंग्रह कारिका १४८१ पर पंजिका व्याख्या।

***

बौद्धदर्शने शब्दप्रमाणस्यानुमानेऽन्तर्भावित्वविमर्शः

डॉ० धर्मदत्तचतुर्वेदी

संस्कृतविभागाध्यक्षः

के. ति. अ. वि. वि., सारनाथ, वाराणसी

प्रायेण सर्वाणि दर्शनानि निजतात्त्विकचिन्तनेन लोकाभ्युदयनिःश्रेयसाधकानि विलोक्यन्ते। तत्र बौद्धदर्शनं महाकरुणामूलकं जागतिकदुःखमुन्मूलयितुं मोहरागद्वेषाद्यावृत्तं मानवचित्तं निजतत्त्वमीमांसया दमयते। मानवचित्तमद्य विकृतमनियन्त्रितं छलनीतिप्रपञ्चसंवलितं च दृश्यते। तस्मादेव न केवलं भारतमपि तु समग्रमहद्राष्ट्राणि हिंसाकलहोपद्रवयुतानि दृश्यन्ते। रागक्लेशादिभिरावृतसन्तप्तमेव मानवचित्तम्। तत्राथार्थाप्रामाणिकज्ञानस्य हेतुत्वं वेदितव्यम्। यावत् पदार्थो धर्मो वा कश्चित् शास्त्ररीत्या न वेद्यतेतावदज्ञतया मानवो मदमत्तजगवद् विहरन् दूषणाचारे रमते। परिणामतः विश्वमिदं महदशान्तिमाप्नुवज्जायते। अयथार्थज्ञाननिवर्तकत्वं हि प्रमाणशास्त्राणाम्। प्रमाणशास्त्रज्ञानमन्तरेण प्रमेयवेद्यता यथायथं न सम्भाव्यते। प्रमाणशास्त्रोपेक्षया जागतिकसमस्यासंघर्षो सुतरां वर्धतेतराम्। तस्मादत्र व्याकरणविभागेन हिन्दूविश्वविद्यालये समायोज्यमानप्रमाणविषयककार्यशाला नितरां जागतिककल्याणविधायिका तर्कयुक्तिसङ्गतज्ञान-प्रवाहिका भ्रान्तिविपर्यासनिवारिका च सेत्यस्यत्येव विषयप्रवर्तक आचार्यस्तदर्थं नूनमभिनन्दनीयः श्लाघनीयश्च प्रतिभाति।

बौद्धदर्शने तर्कप्रमाणादिशास्त्रजन्यतया दर्शनान्तरे नैकतर्कप्रमाणादिशास्त्राणि जनिमलभन्त। बौद्धदर्शने दिङ्नागतः पूर्वं नागार्जुनः प्रमाणानि परीक्षमाणस्तेषां निःस्वभावतां प्रत्यपादीत् । 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' इति सांख्यसिद्धान्तः नागार्जुनेन विग्रहव्यावर्तन्यां वैदल्यसूत्रे चैवं खण्डितो येनाग्रे प्रमाणमीमांसाद्वाराण्येव पिहितानि। नागार्जुनमते प्रमाणभूमिका लोकव्यवहारमिता न सा परमार्थसद्रूपा। दिङ्नागस्य प्रमाणसिद्धान्तविवेचनया एतावान् कश्चिन्महान् डिण्डिमघोषो विहितो येन दर्शनान्तरेषु प्रमाणमीमांसा वैपुल्यं वैशद्यं चाप्नोत्। बौद्धदर्शने वैयाकरणानां सांख्यन्यायजैनमीमांसादीनां च प्रतिष्ठितं शब्दप्रमाणं दुःस्थितिमाप्नोत्।

भगवान् बुद्धः प्रमाणवादी प्रमाणभूतो वाऽस्त्येवेति दिङ्नागः निजे प्रमाणसमुच्चये यथा–

प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने।
कुतर्कसम्भ्रान्तजनानुकम्पया प्रमाणसिद्धिर्विधिवद् विधीयते।।[१]

अत्र प्रमाणभूतः बुद्धः नमस्कृतः। प्रमाणसिद्ध्यै तेन प्रमाणसमुच्चय इति ग्रन्थो व्यधीयत। प्रमाणसमुच्चयो दिङ्नागस्योत्कृष्टा सर्वाधिकप्रशस्तरचना मध्यकालिकन्यायशास्त्रं प्रमाणविद्यां वा सम्यग् व्यमर्शयत् । मीमांसाजैनन्यायादिषु न्यायविद्याविकासो ग्रन्थमिममाश्रयते। प्रमाणसमुच्चयरचनयैव उद्योतकरेण न्यायवार्तिकं कुमारिलभट्टेन च श्लोकवार्तिकं शास्त्रं प्राणीयत तन्मतनिरासाय। प्रमाणसमुच्चयमाश्रित्यैव शङ्करस्वामिना दिङ्नागशिष्येण बौद्धन्यायप्रवेशशास्त्रं व्यरचि। ततः ईश्वरसेनशिष्येण धर्मकीर्तिना प्रमाणसमुच्चयमाश्रित्य नैका रचना व्यधीयन्त। परं कष्टकरमेतद्यत् प्रमाणसमुच्चयः मूलतः संस्कृते सर्वाङ्गरूपेण नोपलभ्यते भोटभाषानुवादतश्चाद्यापि संस्कृतरूपान्तरणं न समपादि न च केनापि बौद्धाचार्येणाद्यावधि कार्यमिदं विहितम् । धर्मकीर्तिः दक्षिणभारतीयः नालन्दायां वसुबन्धुशिष्यधर्मपालतः दीक्षां प्राप्नोत् । कुमारिलभट्टसमकालिकः धर्मकीतिर्मन्यते। धर्मकीर्तेः प्रमाणवार्तिकं शास्त्रं प्रमाणसमुच्चयस्य व्याख्यायकं लभ्यते। अत्र प्रमाणप्रत्यक्षस्वार्थानुमानपरार्थानामख्याश्चत्वारः परिच्छेदा अनुष्टुप्पद्यबद्धास्तत्र च मनोरथनन्दिकृता विवृतिर्ग्रन्थहृदयोद्घाटिका राजते। प्रमाणवार्तिके नैकाष्टीकास्तत्र प्रज्ञाकारगुप्तस्य श्र१६,२००) षोडशसहस्राणि शतद्वयमितानि पद्यानि गद्यानि च प्रमाणवार्तिकालङ्कारे सन्ति। प्रमाणविनिश्चयनामकोऽपरोऽपि ग्रन्थः धर्मकीर्तेः परं संस्कृते· नोपलभ्यते। धर्मकीर्तेः न्यायबिन्दुरचना तीव्रमतिभ्यः, प्रमाणविनिश्चयः मध्यममतिभ्यः प्रमाणवार्तिकं च मन्दमतिभ्य इति बुस्तोनविचारः। न्यायबिन्दौ धर्मोत्तरटीका प्रशस्ता ग्रन्थग्रन्थिमुद्घाटयति।

बुद्धेन स्वयमेवोक्त नाहमाप्तपुरुषः न च प्रामाणिकानि मम वचांसि यथा–

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्।।

(तत्त्वसङ्ग्रहे पञ्जिकायामुद्धृतम्)

एतेन बुद्ध आत्मानं परीक्षणार्थं प्रस्तौति। बुद्धेनैव धर्महेतवः प्रतिपादिताः यथा–

ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत्।
तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः।।

सर्वे पदार्था अभिधेयाः प्रमेयाश्च हेतुत उत्पन्नास्तद्धेतूनां प्रवक्ता तथागतः। हेतूनां चापि निरोधवादी बुद्ध इति हेतुफलवादसिद्धान्तः कारणकार्यसिद्धान्त एव प्रतीत्यसमुत्पादसिद्धान्तः। प्रतीत्यसमुत्पादो हि यथा– नागार्जुनस्य मध्यमकशास्त्रे–

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्।।
यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम्।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्।।[२]

प्रमाणस्वरूपं शब्दविमर्शश्च–

न्यायबिन्दौ धर्मकीर्तिः प्रथमं न्यायसूत्रमुपन्यसति यथा–सम्यग्ज्ञानपूर्विका पुरुषार्थसिद्धिरिति तद् व्युत्पाद्यते[3] यस्य कस्यापि पुरुषार्थस्य सिद्धिः सम्यग्ज्ञानेनैव जायते। सम्यग्ज्ञानं पूर्वं कारणं यस्याः सा सम्यग्ज्ञानपूर्विका। पुरुषस्यार्थः पुरुषार्थः, अर्थते काम्यते हेयोऽर्थः उपादेयो वा, हेयोऽर्थः हातुमिष्यते, उपादातुमिष्यते चोपादेयः, न हेयोपादेयाभ्यामन्योऽर्थः कश्चित्। अनुपादेयत्वात् उपेक्षणीयो हेय एव। हेतुनिबन्धना सिद्धिरुत्पद्यते। अर्थक्रियासमर्थवस्तुबोधकं सम्यग्ज्ञानं, यद्वस्तु मृग्यते तदेव साक्षात्क्रियते तदेव च प्राप्यते। अर्थप्रदर्शकं ज्ञानमेवार्थप्रापकं जायते। अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। इयमेव पुरुषार्थसिद्धिः। संशयविपर्ययादयो हि सम्यग्ज्ञानप्रतिपक्षाः। सम्यग्ज्ञानस्य प्राप्त्यै मिथ्याज्ञानं परिहार्यम्। यथोक्तं प्रमाणवार्तिके–

प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः।
अविसंवादनं शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात्।।[4]

अविसंवादकं ज्ञानं प्रमाणम्

लोके पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयन् संवादक उच्यते तद्वज्ज्ञानमपि स्वयं प्रदर्शितमर्थं प्रापयत् संवादकमुच्यते। वस्तुतः ज्ञानं कमप्यर्थमुत्पाद्य तं न प्रापयति अपि तु वस्तुनि पुरुषं प्रवर्तयति वस्तु च प्रापयति। किमपि विज्ञानं पुरुषं हठात् प्रवर्तयितुं नार्हति तस्मादर्थाधिगतिरेव प्रमाणफलम्। अधिगते अर्थे प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः। अर्थाधिगमात् समाप्तः प्रमाणव्यापारः। अतः अधिगतविषयं ज्ञानं प्रमाणम्। विसंवादः=वञ्चनम् तद्योगाद् विसंवादि, न तथाऽदः अविसंवादि। अविसंवादनमुक्तमित्यर्थः। उपदर्शितस्यार्थस्य क्रियायाः स्थितिः प्रमाणयोग्यता। ननु शब्दाद् गन्धरस्पर्शान् चित्ररूपं च पश्यतः ज्ञानस्य परमार्थक्रियाज्ञानं नास्ति इति तत् प्रमाणं न स्यात् शब्दजनिते ज्ञानेऽपि प्रामाण्यम्। शब्दाद् गन्धादिविषयेऽपि अभिप्रायस्य=अभिप्रेतार्थक्रियाया निवेदानात्=प्रतिपादनता् प्रामाण्यम्।

अज्ञातार्थप्रकाशकं ज्ञानं प्रमाणम्–

धर्मकीर्तिः प्रमाणवार्त्तिके 'प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहनिवर्तनम्' इति वचनेन स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति मीमांसकमतं निरस्यति। मीमांसकमते स्वतो हि प्रामाण्यस्याभिव्यक्तिर्वक्तव्या न तूत्पत्तिः। प्रामाण्यं व्यवहारेण अर्थक्रियाज्ञानेन जायते। सांव्यावहारिकमिदं प्रमाणम्। प्रमाणशास्त्रं मोहनिवर्तकं, प्रमाणेन मोहो निवर्त्यत इति धर्मकीर्तिमतम्। अविसंवादनमुक्त्वा अज्ञातार्थप्रकाशकं ज्ञानं प्रमाणम् इति अज्ञातार्थस्य प्रकाशः ज्ञानं तत् प्रमाणम्। अर्थग्रहणेन द्विचन्द्रादिज्ञानस्य निरासः। अज्ञातस्वलक्षणविषयं यज्ज्ञानं तत्प्रमाणम्।

भगवति प्रामाण्यम्–

आर्यसत्यचतुष्टयाभिधायको भगवान् बुद्धः। आर्यसत्यानि अविसंवादीनि। तस्माद् भगवतो

बुद्धस्यापि प्रामाण्यं स्वीकार्यम्। परञ्च न नित्यो बुद्धस्तस्मात् प्रमाणस्यापि न नित्यत्वम्।

यथोक्तं तद्वत् प्रमाणं भगवान् अभूतविनिवृत्तये वस्तुतः अर्थक्रियाकारिणः सतो गते ज्ञानस्य प्रामाण्यान्नास्ति नित्यं प्रमाणम् ।

कारुणिकत्वादपि भगवान् प्रमाणम्–

प्रमाणस्य किं साधनमित्यपेक्षायामुच्यते 'साधनं करुणाभ्यासात् सा बुद्धेर्देहसंश्रयात्' (प्रमाणवार्तिकम् - १-३६) दुःखस्य दुःखहेतोश्च समुद्धरणकामता करुणा। सा भगवतः प्रामाण्यस्य साधनम्। सा करुणा जायतेऽभ्यासात्। कल्याणमित्रसंसर्गादनुशयदर्शनाच्च कश्चिन्महासत्त्वः कृपायामुत्पन्नस्पृहः निरन्तरानेकजन्मपरम्पराभ्यासेन आत्मीभूतकृपया प्रेर्यमाणः सर्वसत्त्वानां दुःखहानाय मार्गभावनया निरोधप्रापणाय च देशनां कर्तुकामः चतुरार्यसत्यानि साक्षात्करोति तस्मात् भगवति साधनं कृपा प्रामाण्यस्य।

शास्तृत्वात् भगवान् प्रमाणम्–

दयावान् बोधिसत्त्वः परदुःखं शमयितुकामो दुःखहानार्थमात्मनं उपायेषु दुःखशमनोपायेषु युज्यते। परोक्ष उपेयः दुःखप्रशमः तद्धेतुश्च मार्गो यस्य, तस्य तदाख्यानं दुष्करं प्रतिभति। उपायाभ्यास एव शासनं मतं तादर्थ्यात् ।

सुगतत्वाद् भगवान् प्रमाणम् –

सर्वज्ञः सुगतो बुद्ध इति अमरकोशोक्तिः। हेतोः समुदयस्य प्रहाणं निरोधः सुगतत्वम् । सुशब्दस्य त्रिविधोऽर्थः - प्रशस्तता सुरूपवत् अपुनरावृत्तिः सुनष्टज्वरवत् निःशेषता च सुपूर्णघटवत् । तत्र प्रशस्तो भगवान् ज्ञातवान् सुगतः दुःखान्तं शस्तं सुगतत्वम्।

तायित्वाद् भगवान् प्रमाणम् –

दुःखहेतुनिवर्तकत्वेन स्वयं दृष्टस्य मार्गस्योक्तिः देशना=तायः सत्वान् तायते बुद्धः तद् योगात् तायित्वं स च विफलतया अनृतं न वक्ति। आत्मसुखाभिलाषी कश्चित् असत्यं वदति अज्ञानात् वा। तायो हि चतुःसत्यप्रकाशनं तद् योगात् तायी प्रमाणं भगवान्।

संवादकत्वाद् भगवान् प्रमाणम् –

भगवतः संवादतकत्वं प्रामाण्यं तस्य भगवतः उपदेशतः प्रमाणस्य तत्वं लक्षणं तत् सिद्धयर्थं भगवद्देशनायाः प्रमाणविनिश्चयः नीलसमङ्गी पुरुषो नीलं जानाति इति कथयता भगवता प्रत्यक्षं दर्शितम् अनुमानं नोक्तं परं परार्थानुमानरूपस्य निर्देशः कृत एव भगवता।

अर्थस्य शब्देन सह वैयाकरणवत् न वाच्यवाचकभावोऽपि तु बौद्धानां मते शब्दस्य वाच्यवस्तुना सह न तादात्म्यलक्षणः, न च तदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धः।[५] शब्देन सह नार्थस्य कश्चिद् यथार्थसम्बन्धः तस्मान्न शब्दतोऽर्थबोधः। शब्दानां बाह्यार्थेन सह अविनाभावो नास्ति।

शब्दस्तु वक्तुरभिप्रायसूचकः–

नान्तरीयकताऽभावाच्छब्दानां वस्तुभिस्सह।
नार्थसिद्धिततस्ते हि वक्त्रभिप्रायसूचकाः।।[६]

शब्दा हि वक्तुरभिप्रायस्य विवक्षायास्ते सूचका भवन्ति तदन्वयव्यतिरेकानु–विधायित्वात्। विवक्षाया न याथार्थ्यं येन परम्परया तत्संवादो जायताम् अज्ञानाच्चापि विवक्षा सम्भाव्यते।

धर्मकीर्तिः प्रमाणवार्तिकस्य प्रमाणसिद्धिप्रकरणे शब्दस्यार्थप्रतिबन्धाभावान्न प्रामाण्यं स्यात् इष्यते च अनुमानत्वात् ? इत्याह–

वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते।
प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबन्धनम्।।[७]

वक्तुर्व्यापारः विवक्षा, तस्य योऽर्थः विषयः समारोपितबाह्यरूपो ज्ञानाकारः विवक्षात्मिकायां बुद्धौ प्रकाशते तत्र शब्दस्य प्रामाण्यं लिङ्गत्वम् । एतेन शब्दस्य लिङ्गत्वं स्वीकृतं न चार्थस्य परं न स्वतन्त्रप्रमाणतया शब्दमान्यता। उच्चारिताद् शब्दात् विवक्षितार्थप्रतिभासी विकल्पः अनुमीयते तत्कार्यत्वात् तच्छब्दस्य, न पुनरर्थतत्त्वनिबन्धनम्, तत्प्रतिबन्धाभावात् ।

बौद्धमते प्रमाणसंख्या–

बौद्धमते प्रमाणस्य द्वैविध्यम् । यथा–न्यायबिन्दौ धर्मकीर्तिराह–द्विविधं सम्यग्ज्ञानम् , किं तत् ? प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति। बौद्धदर्शने प्रत्यक्षानुमानान्तरं नान्यत् किमपि। तत्त्वसङ्ग्रहे शान्तरक्षितेन प्रमाणसंख्याविप्रतिपत्तिनिराकरणं यथा–

ननु शब्दोपमानादिप्रमाणान्तरसम्भवात्।
निर्दिष्टं लक्षणं कस्मात् द्वयोरेव प्रमाणयोः।।
उच्यते न द्वयादन्यत् प्रमाणमुपपद्यते।
प्रमाणलक्षणायोगात् योगे चान्तर्गमादिह।।[८]

तस्मात् शान्तरक्षितमतेऽपि प्रत्यक्षानुमानद्वयात् न किमप्यन्यत् स्वीकृतं प्रमाणम्। नान्यस्याविसंवादित्वम् सति चात्रैवान्तर्भावात् पृथङ् नोच्यते प्रमाणान्तरम् । प्रमेयस्य द्वैविध्यम्– स्वलक्षणं, सामान्यलक्षणं च। स्वलक्षणं प्रत्यक्षविषयः तदेव परमार्थसत् , सामान्यञ्चानुमानविषयः। स्वम् असाधारणं लक्षणं तत्वं स्वलक्षणम् हि यस्य वस्तुनः निकटेऽनिकटे च ज्ञानप्रतिभासः तत् स्वलक्षणम्। यानि दूरतः अस्फुटानि तान्येव समीपतः स्फुटानि। तानि स्वलक्षणानि तदेव स्वलक्षणं परमार्थसत् । परमोऽर्थः अकृत्रिममनारोपितं रूपम् , तेनास्ति इति परमार्थसत्। प्रत्यक्षविषयभूतवस्तुन एव अर्थक्रियाप्राप्तिः। दृश्यतः अर्थक्रियाप्राप्तिः न च विकल्पतः। अग्नेः यत् सामान्यं रूपं तत्समस्ताग्निषु साधारणतया तिष्ठति सामान्यं न भेदकारकं, ज्ञानाकारे स्फुटास्फुटयोर्भेदो न जायतेऽनुमाने यथा प्रत्यक्षे जायते। तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलमिति

न्यायबिन्दुः। अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्। ज्ञानस्य अर्थेन सह सादृश्यम्। यथा नीलादुत्पद्यमानं नीलसदृशम्। तच्च सारूप्यं सादृश्यम् आकार इत्याभास इत्यपि व्यपदिश्यते।

शब्दप्रमाणस्यास्वीकार्यत्वं तस्य चानुमानेऽन्तर्भावित्वम् –

अन्येषामन्तर्भावः प्रामाण्ये कथमित्याह शान्तरक्षितः–

> शब्दज्ञानात् परोक्षार्थज्ञानं शाब्दं परे जगुः।
> तच्चाकर्तृकतो वाक्याद् यद् वा प्रत्ययितोदितात्।।
> इदं च किल नाध्यक्षं परोक्षविषयत्वतः।
> नानुमानं च घटते तल्लक्षणवियोगतः।।[९]

शबरस्वामिनो मते शब्दज्ञानाद् असन्निकृष्टेऽर्थज्ञानं शाब्दम्[१०]। शब्दस्वलक्षणग्रहणादुत्तरकालं ज्ञानं तच्छब्दादागतमिति कृत्वा शाब्दप्रमाणम्। तद् द्विविधम् – अपौरुषेयजनितं प्रत्ययितपुरुषवाक्यजं च। एतद्धि प्रत्यक्षाद् भिन्नं परोक्षविषयत्वात् नाप्यनुमानम् त्रैरूप्याभावात्। त्रिरूपं हि पक्षे लिङ्गस्य अनुमेये सत्त्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षे असत्त्वम्। अनुमेयोऽत्र जिज्ञासितविशेषो धर्मी, साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः, न सपक्षः असपक्षः। त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिङ्गानि, कानि तानि– अनुपलब्धिः, स्वभावः कार्यं चेति। इदं प्रमाणं शाब्दं न प्रत्यक्षमनुमानञ्चापि न तत्रानुमानलक्षणवियोगात। साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी, अनुमेय इष्यते, न केवलः, नापि धर्ममात्रम् ।यावत् तद् द्धर्मित्वेन धर्मिविषयं लिङ्गं नावधार्यते न तावदमुमानस्य प्रवृत्तिः सम्भवति यावत् पक्षधर्मत्वावधारणा न भवति न तावदनुमानम्। यथा शान्तरक्षितः–

> धर्मी धर्मविशिष्टो हि लिङ्गीत्येतत् सुनिश्चितम्।
> न तावदनुमानं च यावत् तद् विषयं न तत्।।[११]

शब्दप्रमाणं तावदमुमानं न जायेत यावत् त्रिरूपं तस्य विषयभूतं नोपयाति। योऽत्र धर्मी स एव शब्दस्याभिधेयः धर्मे अनिश्चिते तद्धर्मितायाः का स्थिति? यथा–

> यश्चात्र कल्प्यते धर्मी प्रमेयोऽस्य स एव च।
> न चानवधृते तस्मिंस्तद्धर्मत्वावधारणा।।[१२]

बौद्धमते शब्दस्य वक्तुरधीनत्वात् वृक्षादिवद् धर्मिणः धर्मशब्दो नास्ति तस्मादेव शब्दस्यान्वयः न प्रमेयेण। विद्यमानस्यैव अन्वेतृवम् न चाविद्यमानस्य। शब्दस्तु वक्तुर्मनसि तिष्ठति तस्य सत्तैव नास्ति। तस्मादेव प्रमेयार्थेन सह अन्वयो नोपपद्यते शब्दस्य। यथा धूमेरग्नेरस्तित्वं न तथा शब्दे अर्थस्य। यत्र यादृशः शब्दस्तत्र तादृशोऽर्थ एव न निश्चितः। यथा–

> यत्र धूमोऽस्ति तत्राग्नेरस्तित्वेनान्वयः स्फुटम्।
> न त्वेवं यत्र शब्दोऽस्ति तत्रार्थोऽस्तीति निश्चितम्।।[१३]

शब्दाक्रान्तक्षेत्रे न दृश्यतेऽर्थोपस्थितिः। यस्मिन् काले यः शब्दस्तस्मिन् काले देशे च नार्थस्तत्र। यथा कमलशीलेनोक्तम्[१४] "पिण्डखर्जूरादिशब्दोऽन्यत्र पाटलिपुत्रादौ श्रूयते न च तत्र देशे पिण्डखर्जूरादिरस्ति। तथा नैव शब्दकालेऽर्थोऽवश्यं सम्भवति। दिलीपमहासम्मतादिशब्दाः वर्तमानस्तदर्थस्तु भूतो भविष्यश्चेति" कुतोऽर्थैः शब्दस्यान्वेतृत्वम्–

न तावत् तत्र देशेऽसौ न तत्काले च गम्यते।
भवेन्नित्यविभुत्वाच्च सर्वशब्देषु तत् समम्।।

(तत्त्वसङ्ग्रहः का. १४९५)

शान्तरक्षितः शब्दस्याननुमानत्वं प्रतिपादयति त्रैरूप्यरहितत्वात्। यादृशो धूमादिलिङ्गजस्यानुमानस्य विषयो धर्मविशिष्टो धर्मी तेन तादृशा विषयेण वर्जनात् शब्दस्य नानुमानत्वम्।

तत्त्वसङ्ग्रहे शबरादिमीमांसकाभिमतशब्दलक्षणं खण्डितम्। तच्चाकर्तृकतो वाक्यात् इति मीमांसोक्तशब्दलक्षणे कमलशीलमतेन अकर्तृकस्य हि वाक्यस्य सम्भवो नास्ति व्यापिनः क्षणभङ्गस्य साधितत्वात्। सत्यपि वा सम्भवे न तस्यार्तवत्वं सम्भवति। अतोऽकर्तृकात् वचनात् परोक्षोऽर्थोऽयं ज्ञातः। तस्मादसम्भवि प्रमाणलक्षणम्।

आप्तोपदेशः शब्दः, आप्तश्च यथार्थवक्ता इति नैयायिकमतं मीमांसकमतञ्चापि विमृष्टं बौद्धमते। आप्तविषये मीमांसकमतं बौद्धमतमनुसरदवलोक्यते। शब्दः श्रूयते श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते अर्थस्तु चक्षुरादिना। शब्दगुणकमाकाशमिति तर्कसङ्ग्रहोक्तिरपि तथा। मीमांसकैः क्षीणदोषपुरुषानभ्युपगमादाप्तो नाङ्गीकृत एव कुतस्तस्याप्तस्य वचनं प्रामाण्यं भजताम् न क्षमं द्वितीयलक्षणं प्रत्ययितोदितादिति। यथोक्तं तत्त्वसङ्ग्रहकारेण–

आप्तानङ्गीकृतेरेव द्वितीयमपि न क्षमम्।
शाब्दलक्षणमिष्टो वा सोऽयमित्यविनिश्चितः।।

अन्यदोषगुणनिश्चये न प्रमाणं किञ्चित् तेषामतीन्द्रियत्वात् कायवाग्व्यवहाराश्चान्यथापि बुद्धिपूर्वं क्रियन्ते चेति कुतस्तस्य वचनस्य प्रामाण्यम्।

क्वचिद् यस्य पुरुषस्याक्षीणदोषस्यापि सतो वाक्याद् बाहुल्येन सम्प्रत्ययो दृष्टः स अस्माभिः प्रत्ययितः आप्त इष्टो यः क्षीणदोषः तस्मात् तस्य प्रत्ययितस्य वाक्यं गृह्यते शाब्दलक्षणे तेनासम्भविता न सम्भवति। एतदपि असम्यग्, न हि एकत्र अविसंवादमात्रोपलम्भात् सर्वत्र तथा भावनियमो युक्तः व्यभिचारस्य सम्भाव्यमानत्वाद्। आप्तपुरुषाणां वचनानि चाविसंवादीनि सामान्यतोऽनुमानान्तर्गतान्येव। आप्तवादाविसंवादसामान्यादनुमानतेति प्रमाणवार्तिके प्रतिपादितम्।

वक्तुरभिप्रायः विवक्षा वा समस्तवचनैरनुमीयते यथा–

वचोभ्यो निखिलेभ्योऽपि विवक्षैषाऽनुभूयते।
प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां तद् हेतुः सा हि निश्चितता।।

(तत्त्वसङ्ग्रहः का. १५१४)

वाणीहेतुभूता विवक्षा। तस्मात् शब्दप्रमाणस्य अनुमानेऽन्तर्भावः। निखिलेभ्योऽपि इति पदेन पौरुषेयत्वेनापि चाभिमतेभ्यः। सा विवक्षा वचनात् प्रतीयते न तु वाच्यतया। कमलशीलस्य मते–शब्दैः यदि कस्यचित् श्रोतुः वक्तृविवक्षा न ज्ञायते न तदा शब्दलिङ्गस्य दोषः प्रमातुरेव दोषोऽयम् – ये पुनस्तासु गीर्षु विशेषं नावधारयन्ति तेषामयं दोषः न तु लिङ्गस्य। (तत्त्वसङ्ग्रहे प. का. १५१७, पृ. ५४१)

एवं विवक्षां प्रति शब्दस्य प्रामाण्यं तथापि कोऽत्र धर्मी, किं साध्यं वा सम्बन्धः सिद्धः येन त्रैरूप्यसद्भावेनानुमानेऽन्तर्भावात् न प्रमाणान्तरत्वं स्यादित्याह–

विवक्षायां च गम्यायां विस्पष्टैव त्रिरूपता।
पुंसि धर्मिणि सा साध्या कार्येण वचसा यतः।। (तत्त्वसङ्ग्रह का. १५२०)

अन्ततः शान्तरक्षितेन शब्दस्य प्रमाणता न्यषेधि–शब्दानामिष्यते तत्र नैवास्माभिः प्रमाणता।

वैशेषिकदर्शनेऽपि शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः तत्र वैशेषिकमते समानविधित्वात् शब्दस्यानुमानेऽन्तर्भावः।[१५]

दिङ्नागमते धर्मकीर्तिमते च शब्दो नापौरुषेयोऽपि तु पौरुषेय एव।शब्दैः विवक्षानुमानं संकेतापेक्षम्। शब्दः बाह्यार्थे न सङ्केत्यते, असंकेतितोऽर्थः शब्देन ग्रहीतुं न शक्यते। शब्दस्य संकेतग्रहणं पुरुषाश्रितमेव यथा प्रमाणवार्तिके–अर्थज्ञापनहेतुर्हि पुरुषाश्रयः।[१६]

तस्माद् बौद्धदर्शने शब्दो बाह्यार्थस्य नाभिधायकः, बाह्यार्थेन सह तदुत्पत्तिप्रतिबन्धाभावात्। शब्दा अन्यापोहेन वक्तुरभिप्रायमनुमिन्वन्ति। बौद्धाः स्वलक्षणेऽपि संकेतग्रहणं न मन्यन्ते यथा–

शब्दाः संकेतितं प्राहुर्व्यवहाराय स स्मृतः।
तदा स्वलक्षणे नास्ति संकेतस्तेन तत्र न।।[१७]

शब्दो विकल्पजः विकल्पोऽपि शब्दजः परस्परं कार्यकारणबद्धः शब्दः स्वलक्षणाख्यप्रत्यक्षस्पर्शे न समर्थः। न हि शब्दोऽर्थादुत्पद्यते, अर्थाभावेऽपि शब्दर्शनात् तस्मान्न तदुत्पत्तिसम्बन्धस्तत्र। यथा दाहशब्दे श्रुते दग्धता ज्वलनं वा नानुभूयते तस्मान्नार्थस्य शब्दतः सम्बन्धः कश्चित् यथा वाक्यपदीये–

अन्यथैवाग्निसम्बन्धाद् दाहं दग्धोऽभिमन्यते।
अन्यथा दाहशब्देन दाहाद्यर्थः प्रतीयते।।[१८]

पद्यमिदं बौद्धमतं पुष्णाति। बौद्धमते अपोहवादसिद्धान्तः प्रतिष्ठते। अन्यापोहेन शब्दविषयो जायते। यो बुद्धौ अर्थप्रतिबिम्बत्वेन भासते। शब्दतः अर्थो बुद्धौ चोत्पद्यते। यः विकल्पान्तरार्थानपोहति। वैयाकरणानां शब्दब्रह्मवादोऽपि निराकृतः शान्तरक्षितेन शब्दार्थपरीक्षायां तत्र शब्दवादोऽपि च खण्डितः कमलशीलः वाक्यपदीयमतं अनादिनिधनं ब्रह्मेति कारिका खण्डयतीति शब्दब्रह्मपरीक्षानिरूपणमत्र विस्तरभयेन न विधीयते।

सन्दर्भग्रन्थाः–

१. प्र. समु. १-१
२. माध्यमिकारिका- १-१
३. न्यायबिन्दुः - १-१
४. प्रमाणवार्तिकम् - १-३
५. न हि वाच्यैर्वस्तुभिः सह कश्चित् तादात्म्यलक्षणः - तत्त्वसङ्ग्रहः का. १५१२, पृ. ५३८
६. प्रमाणवार्तिकम् - ३-२१४
७. प्रमाणवार्तिकम् - १-४
८. तत्त्वसङ्ग्रहः का. १४८६-८७
९. तत्त्वसङ्ग्रहः का. १४८८-८९
१०. मी. द. शा. भा. - १-१-५
११. तत्त्वसङ्ग्रहः का. १४९४
१२. तत्त्वसङ् ग्रहः का. १४९१
१३. तत्त्वसङ् ग्रहः का. १५९४
१४. पञ्जिकाटीका - तत्त्वसङ्ग्रहस्य का. १४९५
१५. प्रशस्तपादभाष्यम् , अनुमानप्रकरणम् पृ. १७३
१६. प्रमाणवार्तिकम् - ३-२२७
१७. प्रमाणवार्तिकम् - ३-९२
१८. वा. प. काण्ड़ं - श्लो. ४१८



बौद्धदर्शने अनुमानप्रमाणम्

डॉ० वृजकिशोरत्रिपाठी
एसोसिएट प्रोफेसर संस्कृते
लालतासिंहराजकीयमहिलास्नातकोत्तर-
महाविद्यालयः अदलहट्टम्, मीरजापुरम्, उ०प्र०

निरञ्जनं निष्प्रतिभं निरीहम्,
निराश्रयं कारणमद्वितीयम्।
नित्यं ध्रुवं निर्विषयस्वरूपम्,
निरन्तरं राममहं भजामि।।
अशेषवेदात्मकमादिदेवम्,
अजं हरिं राममनन्तमूर्तिम्।
अपारसंवित्सुखमेकरूपम्,
नमामि रामं तमसः परस्तात्।।

अत्रभवन्तो विदाङ्कुर्वन्तुतमाम्, ये तथागतानुयायिनो विद्वांसो दार्शनिकाः 'बौद्धदार्शनिका', इति पदभाजस्तेषामादिगुरव एवं समुद्घोषयन्ति–

तापाच्छेदाच्च निकषात्सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्।।

अनेनेदमायाति यत्तथागतेन श्रुतिरिव अलौकिकवचनानामावश्यकत्वेन प्रामाण्याभ्युपगतेरुन्मोचिताः स्वानुयायिनः। अस्मादेव बौद्धा आरम्भादेव युक्तिमाश्रित्यैव स्वबुद्ध्या स्वाभिमतसाधने प्रयतन्ते। बौद्धिकीमाध्यात्मिकीञ्च श्रुतिमूलां दृष्टिमवलम्ब्य सत्यान्वेषणे संलग्ना विद्वांसो दरीदृश्यन्त बहुकालादस्माकं देशे। मतवैभिन्न्यात् स्वमतस्थापनपूर्वकं परमतदूषणोद्भावनाय प्रचलितायां कथायां ज्ञानस्य प्रामाण्ये, प्रमाणसंख्यायां, तल्लक्षणादिषु च प्रश्नाः समुत्पादिता विद्वद्भिरितीदमेव प्रमाणविद्याया आरम्भः।

बौद्धेषु न्यायस्य विकासः पिटककालादेव समावर्तत[1]। भोटभाषायामनूदितेषु बौद्धसंस्कृतग्रन्थेषु पर्याप्तमिदं प्रमाणं यद्बौद्धष्वपि न्यायविद्यायाः विकासः आस्तिकदर्शनानां न्यायवैशेषिकादीनां समकालमेव समजनि। त्रिपिटकादिग्रन्थेषु परमतखण्डनायाश्रिता वादविधिरेव प्रमाणशास्त्रात्मना विकसितेति वादविधेः प्रत्यक्षलक्षणस्य दिङ्नागकृतया आलोचनया ज्ञायते। त्रिपिटकादिग्रन्थेषु निबद्धानां तथागतस्य शिक्षानामुपरि स्थापितोऽयं बौद्धन्यायः नागार्जुनासंगव-सुबन्धुभिः पोषितः दिङ्नागकाले सफलतामुपगतः। दिङ्नागकृतप्रमाणसमुच्चयः न केवलं बौद्धदर्शनस्यापितु समग्रस्यापि भारतीयदर्शनस्यादिमो ग्रन्थ इत्यत्र नास्ति मनागपि संशीतिलेशः।

बौद्धानां प्रमाणमीमांसा विशेषतः दिङ्नागधर्मकीर्तिसम्प्रदायस्येयं स्वदार्शनिकाभ्युपग-मादितरदर्शनेभ्यो भिन्नतामावहति। सम्प्रदायोऽयमनात्मवादेन सह क्षणभंगवादस्य, अद्रव्यवादस्य, अस्थिरवादस्य, अर्थक्रियाकारित्ववादस्य, विज्ञानवादस्य च पक्षमाश्रयते। अत्र हि, ज्ञानस्य वस्तुतन्त्रतां तिरस्कृत्य तस्य स्वतन्त्रता समुपाश्रिता। व्यावहारिकसातत्यश्चानादिवासनया सेत्स्यतीति नास्ति कापि हानिः। सामान्यतः प्रमाणमीमांसायां प्रमेये वस्तुसत्तावादिना भवितव्यमिति सर्वेषां दार्शनिकानां स्थितिः। बौद्धानान्तु विशेषोऽयं यत्ते प्रमेयानां वस्तुसत्तामनभ्युपगम्यापि प्रमाणव्यावस्थापनं कुर्वन्ति। व्यवस्थेयं विशुद्धा ज्ञानस्य समस्या। बाह्यप्रमेयसत्तावादस्तु तस्योत्कर्षस्य बाधकः। प्रमाणासंप्लववादिनो बौद्धा प्रमेयद्वयात्प्रमाणद्वयं स्वीकुर्वन्ति। तदनुरूपं तल्लक्षणमपि निर्धारयन्ति।

प्रमाणम्–

प्रोपसर्गपूर्वकान्मा माने धातोः करणाधिकरणयो[2]श्चेति पाणिनीयेन सूत्रेण ल्युटि प्रत्यये सति प्रमाणमितिशब्दस्य सिद्धिर्भवति। प्रोपसर्गकमाधातोरर्थः प्रकृष्टं ज्ञानं यथार्थानुभवो वेति। तेन च प्रमाणशब्देन प्रकृष्टानुभूतेः करणस्यार्थोऽवबुध्यते। नहि इन्द्रियसन्निकर्षादिस्तत् स्वरूपतो भिन्नत्वात्, किन्तु ज्ञानमेव। प्रमाणकार्यं ह्यज्ञाननिवृत्तिः तच्च ज्ञानेनैव नेतरणेन्द्रियसन्निकर्षादिना। यथाऽन्धकारापसारणं प्रकाशेनैव नाप्रकाशेन घटादिना। प्रमाण- विषयाकारार्थनिश्चयमथ च स्वसंवित्तिः प्रमाणफलं वदता दिङ्नागेन तदेवोक्तम् –

स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपो ह्यर्थनिश्चयः।
विषयाभासतैवास्य प्रमाणं तेन मीयते।।[3]

अर्थात् बौद्धानाम्मते ज्ञानमेव प्रमाणं तदेव च फलम्। ज्ञानस्यार्थेन यत् सारूप्यं तदेव प्रमाणमर्थप्रतीतिस्तु फलम्।

प्रमाणस्य लक्षणद्वयं धर्मकीर्तिकृतप्रमाणवार्तिके समुपलभ्यते। तथाहि प्रमाणमवि-संवादिज्ञानमज्ञातार्थप्रकाशो[4]वेति। तत्रादिमो व्यावहारिकप्रमाणलक्षणमपरन्तु पारमार्थिकस्येति प्रज्ञाकरः। यथोक्तं तेन– "तत्र पारमार्थिकप्रमाणलक्षणमेतत् पूर्वं तु सांव्यावहारिकस्य।"[5] न चैतदभ्युपेयते धर्मोत्तरादिना, तेन हि 'अज्ञातार्थप्रकाशो वे'ति लक्षणमनधिगतविषयं प्रमाणमिति

अर्थे स्वीकृत्य, व्यावहारिकप्रमाणलक्षण एव अर्थादविसंवादकं ज्ञानं प्रमाणम् इत्यस्य विवेचन एव स्वीक्रियते।[6] मनोरथनन्दिना तु अज्ञातार्थप्रकाशमथ चाविसंवादकत्वमित्युभयमपि परस्परमपेक्ष्य लक्षणमभ्युपेयते।[7]

तत्राविसंवादिज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। यद्धि ज्ञानं स्वबोधितं वस्तु प्रापयेत तत्प्रमाणम्। ज्ञानस्यार्थप्रापकत्वन्नाम प्रवर्तकत्वमिति। प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव।[8] तच्चार्थाधिगतिरेव सैव च फलं प्रमाणस्य। तेनाविसंवादिता प्रमाणनिकषः। तस्याश्चार्थक्रियाकारिता। सा च ज्ञेयस्वरूपावबोधमात्रमितीयमेव प्रमायाः प्रवर्तना प्रापकता वा। तस्मात्प्रवृत्तिविषयोपदर्शकं ज्ञानं प्रमाणमभ्युपेयते बौद्धैः। अविसंवादो हि विसंवादाद्विविक्तं ज्ञानम्। विसंवादो हि विपर्ययः मिथ्याप्रत्ययः। स च द्विविधः– विषयविपर्ययः ज्ञानविपर्ययश्च। अत्र प्रमाणलक्षणे विषय-गतविपर्ययत्वमेवोरीक्रियते। न तु ज्ञानविपर्यय एव तस्य ज्ञानस्वरूपानभ्युपगतेः अन्यथा प्रमाणपरीक्षाया वैयर्थ्यापत्तिः। तस्मादेवार्थक्रियास्थित्या ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्थिरीक्रियते।

प्रमाणभेदः–

'मानाधीना मेयसिद्धिः' प्रमेयनिर्धारणं प्रमाणाधीनमिति यावत्। स्वीक्रियत इदं दार्शनिकप्रस्थानेषु परन्तु बौद्धदर्शने प्रमेयैः प्रमाणानां निर्धारणात् 'मेयाधीना मानसिद्धिरि'त्यपि स्वीक्रियते। अर्थक्रियासामर्थ्यासामर्थ्याभ्यां, सादृश्यासादृश्याभ्यां वा, शब्दस्य विषयाविषयत्वाभ्यां वा, विषयद्वैविध्यं स्वीक्रियते बौद्धैः। तच्च स्वलक्षणं सामान्यलक्षणञ्च। प्रमाणप्रमेयदौस्थ्यापत्तेः प्रतिप्रमाणमनिवार्यानापत्तेश्च प्रमाणासंप्लववादिभिः बौद्धैः प्रमेयद्वैविध्यात्प्रमाणद्वैविध्यं स्वीक्रियते। स्वलक्षणग्राहकं प्रत्यक्षं, सामान्यलक्षणग्राहकञ्चानुमानम्। प्रमाणं हि निश्चितप्रमेयमेव गृह्णाति, न ह्येकस्य प्रमेयस्य ग्राहकं प्रमाणान्यनेकानि भवन्ति। प्रमाणद्वयस्वीकारात् बौद्धैः परोक्षज्ञानानि यावन्ति तानि अनुमानान्तर्गतानि सन्ति।

अनुमानस्य प्रामाण्यम् –

यदि प्रत्यक्षानुमानयोः प्रवृत्तिविषयोपदर्शनं समानं तदा तयोर्न भेदः स्यात्। तदवश्यमेवानयोर्विषयभेद उपवर्णनीय इति। अतएवाह धर्मोत्तरः, "यत्किञ्चिदर्थस्य साक्षात्कारि ज्ञानं तत् प्रत्यक्षमुच्यते।" तस्मात् 'तत्र योऽर्थो दृष्टत्वेन ज्ञातः सः प्रत्यक्षेण विषयीक्रियते। यस्मात् यस्मिन्नर्थे प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वव्यापारो विकल्पेनानुगम्यते तस्य प्रदर्शकं प्रत्यक्षम्, तस्माद् दृष्टतया ज्ञातः प्रत्यक्षदर्शितः। अनुमानन्तु लिङ्गदर्शनान्निश्चिन्वत् प्रवृत्तिविषयं दर्शयति। तथा च प्रत्यक्षं प्रतिभासमानं नियतमर्थं दर्शयति। अनुमानञ्च लिङ्गसम्बद्धं नियतमर्थं दर्शयति। अत एते नियतस्यार्थस्य प्रदर्शके। तेन ते प्रमाणे। नान्यद्विज्ञानम्। यथार्थाविनाभावित्वादर्थं प्रापयत् प्रत्यक्षं प्रमाणम्, तद्वदर्थाविनाभावित्वाद् अनुमानमपि परिच्छिन्नमर्थं प्रापयत् प्रमाणमिति।

ननूक्तं सामान्यविषयकमनुमानमिति तस्य च सामान्यस्यार्थक्रियाकारित्वविरहात् अर्थक्रियाकारिवस्तुप्रापकविरहवदनुमानं कथं प्रमाणमिति चेदुच्यते– सामान्यविषयकमप्यनु-

मानंमभिप्रेतार्थसम्पादकत्वात्प्रमाणम्। क्वचिद्विपरीतज्ञानमपि अभिप्रेतार्थप्रापकं भवति। भ्रान्तत्वाविशेषेऽपि अनुमानमेव प्रमाणं नेतरद् भ्रमज्ञानं यथोक्तमाचार्येण–

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियाम्प्रति।।[१]

तस्मात् सामान्यविषयकमनुमानं भ्रमोऽपि अर्थक्रियाकारिणः स्वलक्षणस्य प्रापकमिति प्रमाणम् । नान्ये भ्रमा अतादृशाः प्रमाणम्।

तस्य विषयः– किञ्च, बौद्धन्याये ज्ञानमेव प्रमाणं तदेव च फलम् । ज्ञानस्यार्थसारूप्यं प्रमाणमर्थप्रतीतिः फलम् । तत्प्रमाणस्वरूपमस्ति सारूप्यम् ।तच्च प्रत्यक्षानुमानयोः समानम्। प्रमाणस्य हि विषयविभागो द्विविधः– ग्राह्यो यदाकारं ज्ञानं उत्पद्यते, अध्यवसेयो यत्प्राप्यते। प्रत्यक्षस्य ग्राह्यो विषयः स्वलक्षणम्, अध्यवसेयो सामान्यम् । अनुमानस्य ग्राह्यो विषयः सामान्यम्, अध्यवसेयः स्वलक्षणम् । तदनुसारं प्रत्यक्षम् अर्थक्रियासमर्थं प्रतिभासमानं ग्राह्यं स्वलक्षणं सामान्यत्वेन प्रापयत्प्रमाणम् । अनुमानन्तु ग्राह्यविषयं सामान्यं प्रवृत्तिविषयस्वलक्षणरूपेण प्रापयत्प्रमाणं भवति। अनेनेदमायाति, प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यं ग्राह्यविषयद्वारा अनुमानस्य च प्रामाण्यमध्यवसेयविषयद्वारा प्रयोज्यं भवति।

एवञ्च, ग्राह्यं यत्सामान्यं तदभिन्नत्वेन प्रापणीयं स्वलक्षणम् अनुमानस्यापि विषयः। तस्मादर्थक्रियासमर्थं वस्तु विषयीकरणात् अनुमानमपि प्रमाणम् ।

अनुमानलक्षणम् –

बौद्धन्याये अनुमानप्रमाणलक्षणं दुरारूढमस्ति। वसुबन्धुना वादविधौ उक्तम् – 'प्रत्यक्षावशिष्टविषयम्प्रत्याश्वस्तमनुमानमि'ति।

न्यायवार्तिके समुद्धृतं 'नान्तरीयकोपदर्शनं तद्विदोऽनुमानमि'त्यनुमानलक्षणं वसुबन्धोरित्यभ्युपगन्तुं शक्यते। नान्तरीयकत्वन्नाम साध्यहेत्वोरविनाभावः सम्बन्धः। यं विना यो हि नावस्थातुं शक्यते तयोर्नान्तरीयकत्वं यथा वह्निं विना धूमः। तस्मात्तयोर्नान्तरीयकत्वम्। यो हि धूमे वह्नेर्नान्तरीयकत्वं जानाति स एव धूमेन वह्निमनुमातुं शक्नोति। एवञ्चाग्नेर्ज्ञानं तेनाविनाभावसम्बन्धेन जन्यं यो हि धूमं तत्कारणेन वह्निना सम्बध्नाति।

वार्तिककारेण धर्मकीर्तिना दिङ्नागस्यानुमानलक्षणमुद्धृतम् – 'अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये सद्भावो नास्तिताऽसती'ति। अस्यायमर्थः अनुमेये अथ च तत्तुल्ये अर्थात्सजातीये यस्यास्तित्वं अपि च तद्भिन्ने यस्य विरहः तदनुमानंमिति। अनुमानस्येदं लक्षणं हेतोस्त्रिरूपतायामाश्रितम्।

आचार्येणधर्मकीर्तिना प्रमाणवार्तिके अनुमानलक्षणं कृतम्–

या च सम्बन्धिनो धर्माद् भूतधर्मिणि जायते।[११]
सानुमानं परोक्षाणामेकान्तेनैव साधनम्।।

टीकाकृता मनोरथनन्दिना च तत्रैवोक्तम्– 'या च सम्बन्धिनो धर्मादन्वयव्यतिरेकतो लिङ्गात् तदाश्रये धर्मिणि जायते परोक्षार्थप्रतीतिः सानुमानम्; त्रिरूपलिङ्गप्रभवत्वात्। तदेवानुमानं परोक्षाणामेकान्तेनैव साधनम्, प्रत्यक्षस्य तत्रावृत्तेः। यथा धूमेन स्वाश्रये पर्वतादौ परोक्षस्याग्नेरनुमानं कार्यते।

प्रमाणभूतासु परोक्षार्थप्रतिपत्तिसु अर्थस्य तात्पर्यम् अर्थक्रियासमर्थः स्वलक्षणभूतः अर्थः, न तु अर्थक्रियायामसमर्थः सामान्यभूतः अर्थः। तस्मादेव अर्थक्रियासमर्थस्य स्वलक्षण-स्याध्यवसेयत्वेन ग्राहकम् अनुमानं प्रमाणम्।

भेदः–

न्यायविन्दौ ह्युक्तम् – [११]अनुमानं द्विधा।। स्वार्थं परार्थं च। अत्र भेदकारणमपि विवृण्वन्नाह– 'परार्थानुमानं शब्दात्मकं, स्वार्थानुमानं तु ज्ञानात्मकम्। तयोरत्यन्तभेदात् नैकं लक्षणमस्ति। ततस्तयोः प्रतिनियतं लक्षणमाख्यातुं प्रकारभेद उच्यत इति।

अनुमानस्य अङ्गानि–

बौद्धानां सिद्धान्ते सर्वा अपि परोक्षार्थप्रतिपत्तयः अनुमानान्तर्गताः। यतो हि, कापि स्वतन्त्रा प्रतिपत्तिः स्वविषयासम्बन्धा न प्रमाणम् तस्माद्धर्मिणा सम्बद्धा प्रतिपत्तिरनुमितिरेव। या पक्षधर्मेण, तदंशेन च व्याप्तेन त्रिरूपेण हेतुना जायते। तथा हि–

पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः।[१२]
अविनाभावनियमाद् हेत्वाभासास्ततो परे।। इति।

यो हि पक्षे धर्मधर्मिसमुदाये अनुमेये आश्रितः स्यात् तदेकदेशेन साध्येन च व्याप्तः सो हि हेतुः। एतादृशस्यैव हेतोः साध्येन 'व्याप्ये सति व्यापकस्यावश्यम्भावरूपा, व्याप्यस्य च व्यापक एव सति भावरूपा' अन्वयव्यतिरेकात्मिका व्याप्तिर्भवति। स च हेतुस्त्रिविधो भवति, कार्यस्वभावानुपलब्धिभेदात्। अयं त्रिविध एव हेतुः अविनाभावेन सम्बन्धेन, साध्येन सह नियतो भवति। एतस्मात्त्रिविधाद्धेतोर्भिन्नो हेतुत्वेनोपात्त हेतुर्न हेतुः किन्तु हेत्वाभासः।

हेतुः– अनुमानजनकस्य हेतोस्त्रीण्यावश्यकानि अङ्गानि स्युः। तत्र प्रथमः पक्षधर्मःस्यात्, तदंशेन (साध्येन) व्याप्तो भवेत्, स्वभादिषु त्रिष्वेवान्तर्भूतो भवेत्। त्रिष्वन्तर्भूता एव साध्येनाविनाभूता भवन्ति इति हेतोः।

पक्षधर्मता– त्रिविधोऽयं हेतुस्त्रिरूप एव स्वसाध्यं साधयितुं क्षमते, नान्यरूपः। तानि च रूपाणि, पक्षसत्त्वं, सपक्षसत्त्वं विपक्षाद् व्यावृत्तत्वञ्च अन्यथा हेत्वाभासः स्यात्।

न हि हेतोर्व्याप्तिग्रहणमात्रेण साध्यसिद्धिर्यावत् पक्षधर्मता न स्यात्तदभावे हेतुः क्वानुमानं साधयेत। तस्माद् पक्षधर्मता आवश्यकमङ्गमनुमानस्य। लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव पक्षधर्मता। परोक्षार्थस्य नान्तरीयकत्वेन रूपेण निश्चायनमेव हेतोः परोक्षार्थप्रतिपादनव्यापारः। अतएव

अन्वयः, व्यतिरेकः पक्षधर्मत्वनिश्चयश्च लिङ्गव्यापारः। अत्र एवकाराभावे पक्षैकदेशे सिद्धानां हेत्वाभासानां 'चेतनास्तरवः स्वापात्' इत्यत्रत्यानां निरासः। सत्त्वपश्चादेवकारेणासाधरणधर्मानां, 'शब्दो नित्यः श्रावणत्वाद्' इत्यत्रत्यानां हेत्वाभासानां निरासः।

सपक्षसत्त्वम्–हेतोर्यथा पक्षसत्त्वमावश्यकन्तथा सपक्षसत्त्वमपीति ज्ञातव्यम्। सपक्षसत्त्वन्नाम सपक्ष एव सत्त्वन्तेन विरुद्धहेत्वाभासनिरासः। एवकारेणानैकान्तिक–हेत्वाभासनिरासः। सपक्ष एव सत्त्वनिश्चयः इति निश्चयेन सन्दिग्धान्वयानैकान्तिकाः यथा– 'सः सर्वज्ञः वक्तृत्वादि'त्यादौ वक्तृत्वं सपक्षे सन्दिग्धमिति तस्य निरासः।

विपक्षासत्त्वम्– असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितमिति विपक्षासत्त्वम्। असत्त्वेन विरुद्धहेत्वाभासस्य, एवकारेण साधारणानैकान्तिकहेत्वाभासस्य च निरासः। यथा– शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकः अनित्यत्वात्' अत्र ह्यनित्यत्वं विपक्ष एकदेशे आकाशादौ नास्तीति, ततो नियमेनास्य निरासः। निश्चितपदेन संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिको हेत्वाभासो यथा 'असर्वज्ञोऽयं वक्तृत्वादि'त्यत्र विपक्षाद् सर्वज्ञात् संदिग्धव्यावृत्तिकोऽयं हेतुस्तस्य निरासः।

अन्वयो व्यतिरेको वा नियमवान् एव प्रयोक्तव्य नान्यथेति दर्शयितुं सपक्षसत्त्वविपक्षा–सत्वयोर्द्वयोरुपादानं कृतमन्यथैकनापरस्य गम्यत्वादेकमेवोपादीयेत।

व्याप्तिः– नान्तरीयकत्वाख्योऽयंमविनाभावरूपः सम्बन्धो यो हि व्याप्तिपदेनाभिधीयते, तस्य ग्राहकन्न सहचारदर्शनमेवाथवा व्यभिचारादर्शनं किन्तु तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां व्याप्तिर्गृह्यते। हेतौ व्याप्तिग्रहः कार्यकारणभावेन तादात्म्येन वा भवति। सहचारदर्शनं व्यभिचारादर्शनं वा व्यभिचारिणापि संभवति। तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावे हेतोः साध्याविनाभावित्वं कथं सिध्येत। अर्थात् यत्र उत्पाद्योत्पादकभावरूपः सम्बन्धः स्वभावो नास्ति। तत्र अवश्यम्भावरूपा व्याप्तिरपि नास्ति। यदि धूमोऽग्निं व्यभिचरेत् तदा हेतुमत्तामपि विलंघयेत तेन चाकाशादिवन्नित्योऽसन्वा शशविषाणादिवद् भवेत्। स्वभावेऽपि अविनाभावो भवति अन्यथा यस्य यो हि स्वभावस्तस्याभावे व्यभिचारे स्वयंम्भावस्याप्यभावो भवेत्।

स्वभावेनाविनाभावो यथा 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्' अत्र कृतकत्वानित्यत्वयोस्तादात्म्येन व्यापकाभावे व्याप्याभावः स्वयमेव सिध्यति। स्वभावहेतुकस्थले परमार्थतः साध्यहेत्वोरभेदेऽपि व्यवहारे आरोपितं भेदमादाय सिद्धसाधनदोषमार्जनं क्रियते। बौद्धानामनुमानप्रमाणे यद्यपि हेतवः त्रिविधाः, कार्यस्वभावानुपलब्धिभेदात्तथापि स्वभावप्रतिबद्धो हि हेतुर्गमकः। स्वभावप्रतिबद्धता च द्विविधा–साध्येन हेतोः वास्तविकेन तादात्म्येन, साध्याद्धेतोरुत्पत्त्या वा। तस्मादनुपलब्धिरपि हेतुः स्वभावान्तर्गतः एतदेवोक्तमाचार्येण–

> कार्यकारणभावाद् वा स्वभावाद् वा नियामकात्।
> अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न तु दर्शनात्।।[१३]

व्याप्तिभेदः– व्याप्यव्यापकधर्मभेदेन व्याप्तिर्द्विविधा इति अर्चटः। व्यापकस्य तत्रभाव

एव व्यापकस्य व्याप्तिर्व्याप्यस्य तत्रैवभाव इति व्याप्यस्य व्याप्तिः। इम एवान्वयव्यतिरेकात्मिके व्याप्ती। इमे च साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रदर्श्येते। एकेनापि उभयगम्यत्वान्ननुमान उभयोः प्रयोगावश्यकतेति बौद्धाः।

अन्तर्व्याप्तिः बहिर्व्याप्तिश्चेति प्राकरान्तरेणापि सा द्विविधा। सर्वपक्षस्थले साध्यसाधनयोर्ग्रह्यमाणा पक्ष एव व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः। पक्षसपक्षयोः ग्रह्यमाणा तु बहिर्व्याप्तिरिति।

हेतुभेदः– साध्यस्य विधिनिषेधरूपत्वादिद्वविधो हेतुर्विधिनिषेधरूपः। आद्यः कार्यस्वभावभेदेन द्विविधः। अपरश्चानुपलब्धिरिति त्रिविधो हेतुः।[१४]

स्वभावहेतुः– साधनधर्ममात्रान्वयिनि[१५] साध्यधर्मे स्वभावो हेतुः। अपरापरव्यावृत्तिभेदेन धर्मभेदे सत्यपि वस्तुतः लिङ्गस्वभाव एव। अत्रोदाहरणं यथा– घटादयो भावाः क्षणिकाः सत्वात् मेघमालावत् प्रदीपवद् वा।

कार्यहेतुः– अर्थान्तरे[१६] गम्ये कार्यहेतुः, अव्यभिचारात्। कार्यकारणभावनिबन्धनस्तयो–रन्वयव्यतिरेकस्स च प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामितिगम्यते। यथा– पर्वतो वह्निमान् धूमात्।

अनुपलब्धिहेतुः– दर्शनान्तरमिव नहि प्रमाणान्तरमनुपलब्धिर्बौद्धदर्शने किन्तु अनुमानान्तर्गता। नह्यनुपलब्धिर्ज्ञानाभावमात्रमपितु तस्यार्थो कस्यचिद् भावः। यथोक्तमाचार्येण धर्मकीर्तिना सत्यपि प्रत्यक्षस्य समग्रसामग्रीकत्वे अप्रत्यक्षस्य वस्तुनः एकज्ञानसंसर्गिवस्तुदर्शनेन दृश्यानुपलब्धिर्भवति तेन चाभावव्यवहारः अभावस्य तस्य प्रत्यक्षसिद्धात्। यथा– 'न प्रदेशविशेषे क्वचिद् घटः उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः। उपलब्धिलक्षणप्राप्तिरुपलम्भ–प्रत्ययसाकल्यं स्वभावविशेषश्च। यः स्वभावः सत्वस्वन्येषूपलम्भप्रत्ययेषु सन् प्रत्यक्ष एव भवति स स्वभावविशेषः।[१७]

इयमनेकप्रकाराऽपि मूलतः त्रिविधा। स्वपराभ्यामभावो द्विविधः। पराभावोऽपि कार्यव्याप्ययोरभावेन द्विविध इति त्रिविधा अनुपलब्धिः (१) स्वभावानुपलब्धिः (२) कारणानुपलब्धिः (३) व्यापकानुपलब्धिश्च। तत्र स्वभावानुपलब्धिरुदाहृता। यत्र सत्यपि कार्ये दर्शनायोग्ये तस्य अभावसिद्धिः कारणानुपलब्धेर्यथा– 'नात्र धूमो वह्न्यभावात्। सति च दर्शनयोग्ये दृश्यानुनुपलब्धिरेव। एवमेव सत्यपि व्याप्ये तस्य दृश्यत्वेनानर्हे तस्याभावः व्यापकानुपलब्धेः सिध्यति। यथा– नात्र शिंशपा वृक्षाभावात्। अन्यथा तु दृश्यानुपलब्धेरेवेति।

कारणव्यापकानुपलब्ध्योः स्वभावानुपलब्ध्या कारणव्यापकयोरभावः सिध्यति। ततः कार्यव्याप्ययोरभाव आभ्यमिति ज्ञेयम्।

हेत्वाभासः– बौद्धमते पक्षसत्त्वादित्रिगमकतौपयिकरूपो हेतुः निर्दुष्टो हेतुः। तदितरो हेतुत्वेन प्रयुक्तोऽपि साध्यसाधनेऽक्षमो हेतुवद् आभासितः हेत्वाभासः न हेतुः। गमकतौपयिकरूपत्रयेण हेत्वाभासोऽपि त्रिविधः– असिद्धविरुद्धानैकान्तिकभेदात्। असिद्धो

यथा— एकस्य रूपस्य धर्मिसम्बन्धस्यासिद्धौ संदेहे वाऽसिद्धो हेत्वाभासः। यथा— अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात् । एकस्य रूपस्यासपक्षेऽसत्त्वस्यासिद्धौ अनेकान्तिको यथा— शब्दोऽनियः प्रमेयत्वात्। द्वयोरूपयोर्विपर्ययसिद्धौ विरुद्धः। यथा— कृतकत्वं नित्यत्वे साध्ये सति।

। इतिशम् ।

सन्दर्भग्रन्थाः—

१. Early Buddhist Theory of Knowladge. by K. N. Jayatilaka.
२. पा० सू० ३/३/११७
३. प्रमाणसमुच्चयः १/९
४. प्र० वा० १/३ एवं ७
५. प्र० वा० भा०, पृ० ३०
६. धर्मो० प्र० पृ० १९
७. मनो० प्र० वा० टीका, पृ० ०७
८. धर्मोत्तर प्र० प्र० १९
९. प्र० वा० प्रत्यक्षपरि० कारिकां ५७
१०. प्रमाणवार्तिकम् – प्र० परि० का० ६२।
११. न्यायबिन्दु द्वि० स्वार्था० १ एवं २
१२. प्रमाणवार्तिकम् स्वा० का० ०१ एवं हेतुवि० हेतोः सामान्यनिरूपणे धर्मकीर्तेः कारिकेयम् ।
१३. प्र० वा० ३/३
१४. हे० वि० प्र० पृ० १४०
१५. हेतुवि० पृ० ३५८
१६. हे० प्र० पृ० – ७२३
१७. हे० वि० पृ० ७७२
१८. न्याय० वि० २/१२, १३,१४

***

पाश्चात्य दर्शन में ज्ञान और प्रमाण

प्रो. हरिशंकर उपाध्याय
दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अंग्रेजी का 'नोलेज' (Knowledge) शब्द भारतीय, दर्शन में प्रयुक्त 'ज्ञान' की अपेक्षा अधिक संकीर्ण अर्थ में प्रयुक्त होता है। भारतीय दर्शन में 'ज्ञान' संज्ञा के पूर्व 'सत्य' और 'असत्य' दोनों विशेषणों का प्रयोग किया जाता रहा है। यहाँ सत्य ज्ञान को 'प्रमा' और 'असत्य ज्ञान' को अप्रमा की कोटि में रखते हैं। इसके विपरीत पाश्चात्य दार्शनिक 'नोलेज' का प्रयोग 'सत्य ज्ञान', अर्थात 'प्रमा' के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। नोलेज की इस प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए जी. ई मूर ने 'नॉलेज प्रापर' (Knowledge Proper) शब्दावली का प्रयोग किया है।[१] 'नॉलेज प्रापर' भारतीय दार्शनिकों के द्वारा प्रयुक्त 'प्रमा' के समान है। हमारे कुछ विश्वास सत्य और कुछ विश्वास असत्य हो सकते हैं। किन्तु नॉलेज कभी असत्य (False) नहीं हो सकता है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा के अन्तर्गत प्रमा की सिद्धि के लिए प्रमाणों को अपरिहार्य माना गया है। इसी प्रकार पाश्चात्य दर्शन में भी 'नॉलेज' (Knowledge) की परिभाषा एव सिद्धि के लिए प्रमाणीकरण (Justification), सत्यापन (Verification), मिथ्यापन (Falsification) आदि संप्रत्ययों का विश्लेषण एवं परीक्षण किया जाता रहा है। पाश्चात्य दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन में प्रयुक्त 'प्रमा' के अर्थ में 'नॉलेज' शब्द का प्रयोग किया है। वे 'ज्ञान' (Knowledge) संज्ञा के पूर्व 'असत्य' विशेषण का प्रयोग नहीं करते हैं क्योंकि असत्य ज्ञान एक आत्म-व्याघाती संप्रत्यय है। वस्तुतः नालेज अर्थात् प्रमा के स्वरूप में ही सत्यता अन्तर्निहित है। अतः किसी भी नॉलेज को असत्य नहीं कहा जाता है। इस दृष्टि 'नालेज' एवं विश्वास (Belief) में स्पष्ट विभेद किया जाता है। विश्वास एक प्रतिज्ञप्तिमूलक अभिवृत्ति है। विश्वासों को सत्य अथवा असत्य कहा जा सकता है, क्योंकि हमारे कुछ विश्वास सत्य और कुछ विश्वास असत्य हो सकते हैं। आधुनिक युग में ज्ञान की सबसे प्रचलित परिभाषा है– ज्ञान एक न्यायोचित (प्रमाणीकृत) सत्य विश्वास है (Knowledge

is a justified true belief)।[२] इस दृष्टि से नॉलेज या प्रमा की व्याख्या के लिए तीन संप्रत्ययों पर विचार किया गया है।

१. सत्य (Truth)
२. विश्वास (Belief)
३. साक्ष्य या प्रमाण (Evidence)

इससे स्पष्ट है कि ज्ञान का प्रथम कारक विश्वास है। किन्तु ज्ञान को विश्वास कहने में आपत्ति की जाती है क्योंकि विश्वास सत्य या असत्य हो सकता है। इसके विपरीत ज्ञान सर्वथा सत्य है। अतः ज्ञान विश्वास से भिन्न है। 'जानना' विश्वास करने की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक होता है। सत्य विश्वास को ज्ञान में परिणत करने के लिए निर्णायक प्रमाण (साक्ष्य) की आवश्यकता होती है। किन्तु प्रत्येक सत्य विश्वास ज्ञान नहीं हो सकता है। वही विश्वास ज्ञान हो सकता है जो परामर्शात्मक या प्रतिज्ञप्तिमूलक (Propostional) हो। इस दृष्टि से गिलवर्ट राइल ने 'कैसे जानना' या क्रियात्मक ज्ञान (Knowing how) और 'क्या जानना' या 'वह' (तद्) का ज्ञान (Knowing that) में भेद किया है। यद्यपि राइल ने ज्ञान के पूर्वोक्त इन दोनों रूपों का उल्लेख किया है, परन्तु प्रतिज्ञप्तिमूलक ज्ञान ही सार्थक दार्शनिक परिचर्या का विषय हो सकता है। वास्तव में 'वह या क्या' का ज्ञान अर्थात् प्रतिज्ञप्तिमूलक ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है।[३] ई. एल गेटियर, ए माइनाँग, रसल आदि ने ज्ञान की परम्परागत रूप प्रचलित परिभाषा को त्रुटिपूर्ण माना वे ऐसे दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं जो सत्य एवं प्रमाणित विश्वास होते हुए भी ज्ञान नहीं है। गेटियर ने परम्परागत परिभाषा के विरुद्ध दो दृष्टान्त दिये हैं, किन्तु अनावश्यक विस्तार से बचने के लिए यहाँ पर उसकी चर्चा नहीं की जा रही है।[४] इसी प्रकार रसल ने एक घड़ी का उदाहरण दिया है। कोई व्यक्ति घड़ी को उस क्षण देखता है जब वास्तव में वही समय है, जिसे घड़ी की सुइयाँ दिखा रही हैं। यद्यपि घड़ी बन्द है, तथापि वह सोचता है कि घड़ी चल रही है। यहाँ विश्वास के प्रमाणित और सत्य होने पर भी इसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता है।[५] इस बिन्दु पर यह कहा जा सकता है कि साक्ष्य दोषपूर्ण है। इसे निर्णायक साक्ष्य नहीं कहा जा सकता है। साक्ष्य या प्रमाण का अपराजेय होना (Indefeasibility of Evidence) ज्ञान के लिए आपरिहार्य है।[६] आर. एम. चीजहोम (R. M. Chisholm) ने ज्ञान के लिए साक्ष्य के निर्दोष रूप से प्रमाणित होने (Non-Defectively Evident) की आवश्यकता पर बल दिया है।[७] इससे स्पष्ट है कि प्रमा के लिए प्रमाण का निर्णायक, निर्दोष और अपराजेय होना अनिवार्य है। किन्तु समस्या यह है कि कभी-कभी प्रमा और प्रमाण एक दूसरे से पृथक होते है। कभी-कभी सत्य और प्रमाण का सम्बन्ध सांयोगिक होता है। प्रश्न उठता है कि साक्ष्य और सत्य कथन के सांयोगिक सम्बन्ध को आन्तरिक और अनिवार्य सम्बन्ध में कैसे रूपान्तरित किया जाय? प्रमा और प्रमाण में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए ए. आई गोल्डमैन एवं मार्शल

स्वेन ने 'करणात्मक सिद्धान्त' (Causal Theory) की एवं राबर्टनोजिक ने सोपाधिक सिद्धान्त (Conditional Theory) का प्रतिपादन किया है।[८] किन्तु समस्या के मूल में यह है कि सत्य विश्वासों के साथ-साथ असत्य विश्वासों का भी प्रमाणीकरण हो जाता है। निर्णायक साक्ष्य (प्रमाण) का मानक या निष्कर्ष कैसे स्थापित जाय? ये सिद्धान्त प्रमा और प्रमाण के सम्बन्ध में 'आन्तरिक' रूप में स्थापित नहीं कर पाते हैं।

कुछ दार्शनिक 'ज्ञान' शब्द के अर्थ विश्लेषण में अधिक रुचि रखते हैं। उनके अनुसार ज्ञानमीमांसा के लिए यह आश्यक नहीं है कि ज्ञान एवं प्रमाण के विषय में किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाय। आप कैसे जानते हैं? यह प्रश्न ज्ञानमीमांसा की अपेक्षा मनोविज्ञान से अधिक सम्बन्धित है। विटगेस्टाइन के कुछ अनुयायियों के अनुसार ज्ञानमीमांसा के लिए किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करना आवश्यक नहीं है। अतः ज्ञानमीमांसा के लिए ज्ञान की अनिवार्य एवं पर्याप्त शर्तो (निर्णायक साक्ष्यों) की व्याख्या करना अनिवार्य नहीं है। ज्ञान के विविध उदाहरणों में केवल पारिवारिक समरूपता (Family Resemblance) पायी जाती है। अतः यह आवश्यक नहीं है कि ज्ञान (प्रमा) के सम्बन्ध में वांछित शर्तो (विश्वास, सत्य और प्रमाण) की व्याख्या की जाय।[९] किन्तु कीथ लेहरर ने विट् गेन्स्टाइन के अनुयायियों के उक्त मत को भ्रामक कहा है। कीथ लेहरर के अनुसार ज्ञान का प्रयोग करने, अर्थात् प्रमा (Knowledge) का सम्यक निरूपण एवं मूल्यांकन करने के लिए ज्ञान की अनिवार्य एवं पर्याप्त शर्तो का विवेचन करना आवश्यक है। इनमें से ज्ञान की प्रमुख शर्तो में से प्रमाणमीमांसा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

ये तीनों शर्तें प्रतिज्ञप्ति मूलक ज्ञान (Propositional Knowledge) के संदर्भ में अधिक तर्कसंगत है। हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि किसी प्रतिज्ञप्ति को जानना, परन्तु उसका असत्य हो जाना वदतोव्याघाती माना गया है। इससे सिद्ध होता है कि किसी प्रतिज्ञप्ति को जानने के एक अंश के रूप में उस प्रतिज्ञप्ति की सत्यता भी सम्मिलित है। इसके विपरीत किसी प्रतिज्ञप्ति में विश्वास करना और उसका असत्य होना संभव है। किन्तु किसी प्रतिज्ञप्ति का सत्य होना उसके ज्ञान के लिए पर्याप्त नहीं है। प्रमा के लिए आवश्यक है कि प्रतिज्ञप्ति सत्य होने के साथ-साथ विश्वसनीय भी है। यह कहना कि मैं अमुक प्रतिज्ञप्ति को जानता हूँ, परन्तु मै उसमें विश्वास नहीं करता हूँ, असंगत प्रतीत होता है। किन्तु ए. डी. वूजले कोलिन रडफोर्ड, ई. जे. लेमन और डेविड एन्नीस जैसे कुछ दार्शनिक ज्ञान के ऐसे दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं जहाँ अनुमान से प्राप्त ज्ञान के प्रति विश्वास करना अनिवार्य नहीं है। मान लीजिए कि किसी व्यक्ति के द्वारा ब्रिटिश इतिहास की जानकारी से इनकार करने पर भी वह व्यक्ति कुछ प्रश्नों का सही उत्तर देने में सफल हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि उसे कुछ ज्ञान है, परन्तु उसे यह विश्वास नहीं है कि वह जानता है।[१०] लेहर के अनुसार जो दार्शनिक ज्ञान के लिए विश्वास को आवश्यक नहीं मानते हैं वे किसी कथन के संयोगवश

अथवा अस्पष्ट स्मृति के आधार पर सत्य हो जाने मात्र को ज्ञान (प्रमा) समझने की भूल करते हैं।[11] अतः विश्वास उत्पन्न करना भी ज्ञान (प्रमा) की एक प्रमुख विशेषता है।

ज्ञान और सत्य विश्वास एवं सत्य मत में क्या अन्तर है? 'वास्तव मे जानने वाले ज्ञाता' और 'विश्वास करने वाले या अटकलबाजी करने वाले व्यक्ति' में क्या अन्तर होता है? यहाँ पर कहा जा सकता है कि ज्ञाता समुचित प्रमाणपूर्वक जानने का दावा किया है, जबकि विश्वासकर्ता के पास समुचित प्रमाणों या कोई प्रमाण नहीं होता है। यदि ज्ञान का सम्बन्ध प्रमाण से है तो प्रमाणों के विषय में कुछ प्रश्न उठते हैं। हमारे पास किसी घटना विशेष के सम्बन्ध में पर्याप्त साक्ष्य है अथवा नहीं, इसे कैसे निर्धारित किया जाय? इसके अतिरिक्त प्रमाण के स्वरूप, प्रकार आदि से सम्बन्धित प्रश्न विचारणीय हैं। ज्ञान का स्रोत क्या है? उसका स्वरूप बौद्धिक सम्बन्धित है अथवा अनुभविक है? अथवा ज्ञान, बुद्धि और अनुभव दोनों से सम्बन्धित है? इत्यादि प्रश्न और इनसे सम्बन्धित समस्याएं प्रमाणमीमांसा के अन्तर्गत विचारणीय हो जातीहै। ज्ञान के स्रोत के रूप में अनुभव (Sense-experience) बुद्धि (Reason), शब्द प्राण या आप्तवचन (Authority) एवं प्रज्ञा चाहे जिसे स्वीकार किया जाय, प्रत्येक स्रोत अपने आप में अपूर्ण एवं अपर्याप्त होता है। आप्तवचन (Authority) की विश्वसनीयता एवं प्रमाणिकता केवल उसके क्षेत्र विशेष में ही हो सकती है। अन्तः प्रज्ञा (Intuition) को ज्ञान स्रोत के रूप में न माना जाय तो नैतिक मूल्यों के ज्ञान का दावा करना कठिन होगा। उल्लेखनीय है कि जान लॉक ने ज्ञान के प्रामाण्य (वैधता) की अपेक्षा ज्ञान के उद्भव एवं स्रोत (Genesis of Knowledge) पर अधिक बल दिया। किन्तु काण्ट ने ज्ञान के प्रामाण्य अर्थात् वैधता (Validity of Knowledge) पर विशेष बल दिया। यदि किसी दार्शनिक की प्रमाणमीमांसा निर्दोष नहीं हो तो उसके द्वारा प्रतिपादित तत्वमीमांसा भी निर्दोष नहीं हो सकती है। जैसे- लॉक की मनोवैज्ञानिक ज्ञानमीमांसा के दोषपूर्ण होने से अनुभववाद का पर्यवसान संशयवाद में हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि पाश्चात्य दर्शन में प्रमामीमांसा 'ज्ञान के स्वरूप' के निरूपण करने के लिए मेरूदण्ड है।

ज्ञान (प्रमा) की तीसरी शर्त प्रमाण है। ज्ञाता के पास ज्ञेय प्रतिज्ञप्ति में विश्वास करने के लिए प्रमाण होना चाहिए। किन्तु किसी कथन में विश्वास करने के लिए प्रमाण की भिन्न-भिन्न मात्राएं हो सकती हैं। कुछ प्रमाण (Evidence) किसी प्रतिज्ञप्ति के प्रमाणीकरण की गारन्टी तो देते हैं, परन्तु उसकी सत्यता की गारन्टी नहीं देते हैं। ऐसे प्रमाणों को 'तार्किक हेतु' (Logical Reason) की कोटि में रखा गया है। किन्तु प्रमा की सिद्धि के लिए केवल तार्किक हेतु पर्याप्त नहीं हो सकते हैं। वस्तुत; तार्किक हेतु केवल प्रथम दृष्ट्या साक्ष्य या प्रमाण (Evidence) मात्र है जो प्रमाणीकरण या किसी कथन में विश्वास करने के औचित्य को तर्कतः सिद्ध करते हैं, परन्तु उसके सत्य होने की गारन्टी नहीं प्रदान करते हैं। प्रमा की सिद्धि के लिए निर्णायक साक्ष्य (Conclusive Evidence) की आवश्यकता

होती है। निर्णायक साक्ष्य (प्रमाण) प्रमाणीकरण के साथ-साथ किसी कथन की सत्यता को भी सुनिश्चित करते हैं।

यहाँ पर समस्या यह है कि निर्णायक साक्ष्य का प्रतिमान या मानक क्या है? किस साक्ष्य को निर्णायक माना जाय? जो साक्ष्य या प्रमाण आज निर्णायक हैं हो सकता है कि भविष्य में वह निर्णायक न सिद्ध हो सके। इस संदर्भ में गेटियर, रसल, ए. माइनांग आदि ने साक्ष्य के औचित्य का विवेचन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन किया है।

ज्ञान का घनिष्ट सम्बन्ध भाषा से हैं क्योंकि ज्ञान संप्रत्यात्मक होता है और कोई भी संप्रत्यय शब्दों के अभाव में अभिव्यक्त नहीं हो सकता है समस्त ज्ञान, भाषा के द्वारा प्रकाशित होता है।[१२] उल्लेखनीय है कि संप्रत्ययों की संरचना, अमूर्तीकरण और नामकरण की शक्ति मनुष्य की विचारशीलता पर आधारित होती है। जिस प्रकार विचारशील होना मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण (Differentiaum) है, उसी प्रकार मनुष्य के द्वारा प्रयुक्त भाषा भी उसे अन्य प्राणियों से भिन्न करती है। पशु मनुष्य की भाषा सीखने और उसका प्रयोग करने में अक्षम होता है। प्रमाणमीमांसा (ज्ञानमीमांसा) के अन्तर्गत हमारा लक्ष्य केवल मानव-ज्ञान का निरूपण करना होता है। अलौकिक अनुभूतियाँ, दैवी प्रकाशना अथवा धार्मिक अनुभूतियों को भाषा, सम्प्रत्ययों एवं तर्कबुद्धि के पाश में आबद्ध नहीं किये जा सकता हैं। वे भाषा एवं तर्क से परे हैं। अतः वे ज्ञानमीमांसा में विचारणीय नहीं है। समसामयिक पाश्चात्य दर्शन में ज्ञानमीमांसा को 'वैज्ञानिक ज्ञान' से सम्बन्धित करने का प्रयास किया गया है। तार्किक भाववादियों के मत की व्याख्या करते हुए रसेल ने उसे इस प्रकार व्यक्त किया है– "**जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया जाय उसे वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त होना चाहिए। जो विज्ञान की खोज से परे हैं, उसे मनुष्य नहीं जान सकता है।**"[१३] इससे स्पषट है कि पाश्चात्य दर्शन में भाषाबद्ध मानव-ज्ञान ही ज्ञानमीमांसा के विश्लेषण, विवेचन और मूल्यांकन का विषय है।

प्रश्न यह उठता है कि किन साधनों (स्रोतों) एवं प्रमाणों के आधार पर प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता को जाना जा सकता है? ज्ञान के साधनों में इन्द्रिय प्रत्यक्ष (Sense-experience) ज्ञान का प्राथमिक स्रोत माना जाता है, इस पर कोई विवाद नहीं है। किन्तु इन्द्रियानुभव भी सदैव प्रामाणिक नहीं होता है क्योंकि इन्द्रियाँ कभी-कभी धोखा देती है। हमारे प्रत्यक्ष अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ एवं विभ्रमों (Hallucinations) से दूषित हो जाते हैं। किन्तु जिन इन्द्रियों से हमें भ्रम होता है, उन्हीं इन्द्रियों के माध्यम से भ्रम दूर भी हो जाता है। इन्द्रियानुभव अपने आप में न सत्य होता है और न असत्य होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष केवल घटित होता है। हमारे निर्णय ही दोषग्रस्त होते हैं। भ्रम का अन्त होने पर हम अपने निर्णय को ही गलत पाते हैं। यह सत्य है कि हमारे प्रत्यक्षमूलक निर्णयों का आधार अनुभव है, परन्तु इन निर्णयों में संवेदनों के अतिरिक्त बुद्धि के व्यापार भी निहित होते हैं। केवल

इन्द्रियानुभव (संवेदना मात्र) को 'ज्ञान' नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः ज्ञान संप्रत्यात्मक (Conceptual) और निर्णयात्मक (परामर्शात्मक) होता है।

बाह्य जगत के ज्ञान के लिए पंचज्ञानेन्द्रियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार की मानसिक अवस्थाओं जैसे– विश्वास करना, संशय करना, इत्यादि मानसिक क्रियाओं का ज्ञान आन्तरिक स्वसंवेदनों के द्वारा होता है। इन अनुभूतियों की प्रामाणिकता का आधार केवल ज्ञाता का निजी अनुभव ही हो सकता है। जैसे– 'मेरे दाँत में दर्द है', इसकी प्रामाणिकता का एक मात्र आधार 'मेरे दाँत की पीड़ा' का अनुभव है। किन्तु कुछ अन्य प्रकार की अनुभूतियाँ तथा मानसिक क्रियाएं इससे भिन्न होती हैं। जैसे– मैं अनुभव करता हूँ कि आगामी परीक्षा में आप सफल होंगें' यहाँ पर यह पूँछा जा सकता है कि आप किस आधार पर ऐसा अनुभव करते है? आपके पास इस पर विश्वास करने का क्या प्रमाण है? इसी प्रकार अन्य लोगों की मानसिक अवस्थाओं, मनोवृत्तियों (जैसे दूसरों के सुख-दुःख, आशा-निराशा इत्यादि) के ज्ञान की प्रामाणिकता का निर्धारण कैसे किया जाय? इत्यादि प्रश्नों का समाधान केवल इन्द्रिय प्रत्यक्ष के आधार पर नहीं किया जा सकता है। यहाँ पर अन्य मनस के ज्ञान की समस्या विचारणीय हो जाती है। अपनी निजी अनुभूतियों के अतिरिक्त अन्य लोगों की सुख-दुःख, हर्ष-विवाद, आशा-निराशा आदि मनोवृत्तियों के ज्ञान के लिए भी साक्ष्य की आवश्यकता होती है। इसके लिए प्रत्यक्ष की सीमा का अतिक्रमण करना होगा। अतः ज्ञान के स्रोत एवं साधन के रूप में प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता, अपूर्ण, संकुचित एवं अपर्याप्त है।

ज्ञान का दूसरा प्राथमिक साधन तर्कबुद्धि (Reason) है। प्लेटो से लेकर डेकार्ट, लाइबनित्ज, काण्ट एवं हेगल पर्यन्त पाश्चात्य दार्शनिकों ने बुद्धि को ज्ञान का प्रामाणिक एवं अनिवार्य स्रोत माना है। बुद्धि ही प्रत्येक मानव-ज्ञान की तार्किक प्रागपेक्षा है। यहाँ तक कि प्रत्यक्ष भी बुद्धि के व्यापारों एवं कोटियों से संपृक्त होता है। हमारा समस्त अनुभव बौद्धिक तर्कप्रक्रिया के द्वारा संचालित होता है। अनुमान की दो प्रमुख पद्धतियों के अन्तर्गत निगमनात्मक तर्क पद्धति (Deductive Method) और आगमनात्मक तर्कपद्धति (Inductive Method) महत्वपूर्ण है। गणित और आकारिक तर्कशास्त्र के क्षेत्र में अधिकांश ज्ञान निगमनात्मक पद्धति पर आधारित होता है। इसके विपरीत प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में आगमनात्मक पद्धति का सहारा लिया जाता है। अतः आगमनात्मक पद्धति को वैज्ञानिक पद्धति भी कहा जाता है। फ्रांसिस बेकन को आधुनिक आगमनात्मक तर्कशास्त्र का जन्मदाता कहा जाता है। बेकन के अनुसार– दार्शनिकों का कार्य मकड़ियों और चीटियों के समान नहीं, बल्कि मधुमक्खियों के समान होना चाहिए। जिस प्रकार मधुमक्खियाँ अनेक पुष्पों के रस को संकलित करके उसे शहद के रूप में परिणत करती हैं, उसी प्रकार दार्शनिकों को निरीक्षण और परीक्षण के द्वारा विशिष्ट तथ्यों को संग्रहीत करके उनमें निहित सामान्य नियमों

की खोज करना चाहिए। इस पद्धति में आगमन की अनुभवमूलक प्रणाली के साथ-साथ निगमन की बौद्धिक प्रणाली का समावेश है।

किन्तु आधुनिक युग में ह्यूम ने आगमन की समस्या को व्यापक आयाम दिया। उसने आगनात्मक पद्धति से प्राप्त सामान्य सिद्धान्तों के तार्किक औचित्य (प्रामाणिकता) को चुनौती दी। ह्यूम के अनुसार आगमनात्मक बुद्धि और अनुभव के द्वारा समर्थन करने योग्य नहीं है। ह्यूम के अनुसार आगमनात्मक अनुमान की प्रायिकता भी संदिग्ध होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किसी सर्वव्यापी तर्कवाक्य (जैसे सब कौए काले है) की सत्यता को बिना परीक्षण किये ही स्वीकार किया जाता है। हम अनेक कथनों में बिना पर्याप्त प्रमाण के आधार पर ही विश्वास कर लेते हैं। किन्तु समस्या का मनोवैज्ञानिक समाधान ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है। वस्तुतः समस्या के तार्किक समाधान की आवश्यकता पर बल दिया गया है। ह्यूम ने समस्या के मनोवैज्ञानिक समाधान को स्वीकार किया है, परन्तु वह आगमनात्मक निष्कर्ष के तार्किक समाधान का निराकरण करताहै।[१४]

इस संदर्भ में ट्रेंन्ड रसल का कहना है कि ह्यूम का दर्शन १८वीं शताब्दी के तार्किक औचित्य (Logical Justification) के दिवालियेपन का प्रतिनिधित्व करता है। इस सम्बन्ध में इसकी खोज करना महत्वपूर्ण है कि क्या अनुभववादी दर्शन के अन्तर्गत ह्यूम की समस्या का कोई उत्तर दिया जा सकता है? रसल यह स्वीकार करता है यदि आगमन के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया जाय तो विशेष तथ्यों के निरीक्षणों के आधार पर सामान्य वैज्ञानिक नियमों को प्राप्त करना या स्थापित करना दोषपूर्ण होगा। इस प्रकार ह्यूम के संशयवाद से कोई संशयवादी नहीं बच सकता है।[१५] रसल के अनुसार आगमन की आन्तरिक प्रामाणिकता को नहीं स्वीकार किया जा सकता है। उदाहरणार्थ– सूर्य कल पूरब दिशा में उदित होगा, जैसे कथनों में विश्वास के लिए तार्किक प्रमाण की माँग की जातीं है। इस प्रकार के कथनों में विश्वास **'सामान्य बुद्धि'** (Common Sense) पर आधारित होते हैं। उनका अर्थक्रियावादी या व्यावहारिक (Pragmatic) महत्व एवं मूल्य भले ही हो, परन्तु इस प्रकार के कथनों में विश्वास की पुष्टि तार्किक आधार पर नहीं हो सकती है।

कुछ दार्शनिकों ने आगमन की समस्या को एक **'छद्म समस्या'** (Pseudo Problem) कहा है। आगमन के अन्तर्गत किसी विशेष तथ्य, घटना, नियम आदि के प्रमाणीकरण से सम्बन्धित प्रश्न औचित्यपूर्ण हो सकते हैं, परन्तु स्वयं आगमन के सत्यापन से सम्बन्धित प्रश्न उठाना उसी प्रकार औचित्यहीन है, जिस प्रकार यह प्रश्न उठाना कि अमुक संविधान विधि सम्मत है, अथवा नहीं? किसी देश के संविधान के अन्तर्गत किसी विशेष अधिनियम की वैधानिकता के विषय में प्रश्न उठाया जा सकता है, परन्तु स्वयं संविधान की संवैधानिकता को किसी तरह चुनौती नहीं दी जा सकती है।[१६]

आगमन को समान्यतः तर्कसंगत सिद्ध किया जा सकता है या नहीं? यह प्रश्न एक

अन्य प्रश्न से सम्बन्धित है– क्या सभी आगमनात्मक अनुमान पर आधारित निष्कर्ष पर्याप्त प्रमाणों पर आधारित होते हैं? पी. एफ. स्ट्रासन ने लिखा है कि इस प्रश्न का उत्तर सरल होते हुए भी महत्वपूर्ण नहीं है। इसका उत्तर यह है कि आगमनात्मक निष्कर्ष को प्रमाणित करने वाले प्रमाण कभी–कभी पर्याप्त होते हैं, तो कभी–कभी अपर्याप्त होते हैं। स्ट्रासन के अनुसार आगमन को आगमन के द्वारा प्रमाणित करना 'चक्रक दोष' है। आगमन का प्रमाणीकरण निगमन के आधार पर भी नहीं किया जा सकता है क्योंकि ऐसा करना आगमन को निगमन बनाने का प्रयास है। किन्तु आगमन निगमन नहीं है।[१७]

समकालिक पाश्चात्य दर्शन में विश्लेषी दार्शनिको, विशेष रूप से – तार्किक भाववादियों ने ह्यूम के संशयवाद का खण्डन करते हुए उसे भ्रामक कहा है। ह्यूम के संशयवाद की यह मान्यता भ्रामक है कि तथ्यात्मक ज्ञान को भी अनिवार्य रूप से सत्य होना चाहिए। तार्किक भाववादी वैज्ञानिक ज्ञान को ही समस्त ज्ञान का मानदण्ड मानते हैं। सर्वमान्य वैज्ञानिक नियम और कथन प्रायिक सत्य की कोटि में आते है। यदि वैज्ञानिक कथनों का प्रायिक रूप से सत्य होना स्वाभाविक है, तो वैज्ञानिक ज्ञान के पूर्ण निश्चायक और सत्य न होने को संशयवाद समझना ह्यूम की भूल है। वैज्ञानिक ज्ञान या कथन भले ही प्रायिक रूप से सत्य हो, परन्तु वे हमारे व्यावहारिक जीवन में उपयोगों और विश्वसनीय हैं। संशयवादी की भूल यह है कि वह 'त्रुटि (Error) की तार्किक संभावना' और 'वास्तविक त्रुटि' को अभिन्न मान लेता है।

कुछ दार्शनिक प्रमाण की सर्वाभौमिकता के पक्ष में नहीं है। यदि हमारा प्रमाण तार्किक संशय से परे है तो उसका खण्डन केवल संशय की कल्पना के आधार पर नहीं किया जा सकता है। ए. जे. एयर और जे. एल. आस्टिन प्रत्येक परिस्थिति में प्रमाण को ज्ञान के लिए आवश्यक नहीं मानते हैं। एयर के अनुसार निजी अनुभूतियों और मूल कथनों के संदर्भ में प्रमाण या साक्ष्य प्रस्तुत करने का प्रश्न नहीं उठता है। किन्तु एल. विटगेन्स्टाइन उसे 'ज्ञान' या प्रमा कहने के पक्ष में नहीं है। विटगेन्स्टाइन ने फिलॉसोफिकल इन्वेस्टीगेशन्स (Philosophical Investigations) में लिखा है कि व्यक्तिगत अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए 'मैं जानता हूँ' का प्रयोग नही किया जा सकता है। जैसे– 'मैं जानता हूँ कि मुझे दर्द है' यह कहना ही गलत है। 'जानना' (Know) का प्रयोग वहीं किया जा सकता है, जहाँ भूल की संभावना हो और प्रमाण देना अपेक्षित हो। निजी अनुभूतियों की 'निश्चितता' पर कोई संशय नहीं होता है। इस दृष्टि से 'निश्चितता' और 'ज्ञान' भिन्न कोटियों से सम्बन्धित हैं। वह कहता है– 'मैं कोई चीज जानता हूँ, यह इस पर निर्भर करता है कि (सम्बन्धित) प्रमाण मेरा प्रार्थना करता है अथवा व्याघाती है''।[१८] इससे स्पष्ट है कि ज्ञान के लिए 'उपयुक्त प्रमाण' आवश्यक होता है। वैज्ञानिक ज्ञान प्रायः आगमनात्मक प्रमाणों पर आधारित होता है। गणित एक संप्रत्यात्मक विज्ञान है और उसके

क्षेत्र में निगमात्मक तर्कपद्धति उपयोगी होती है। इसके अतिरिक्त **प्राक्कल्पना मूलक निगमनात्मक पद्धति** (Hypothetico-Deductive Method) का प्रयोग विज्ञानो के क्षेत्र मैं किया जाता है। इसके अन्तर्गत सामान्य नियमों के प्रेक्षणीय परिणामों का सत्यापन किया जाता है। किसी घटना के सम्बन्धित कारण की कल्पना की जाती है। उसके आधार पर निगमनात्मक पद्धति से निष्कर्ष निगमित करके प्रयोगात्मक विधि से सम्बन्धित सिद्धान्तों का सत्यापन किया जाता है। वस्तुतः किसी सिद्धान्त के अन्तर्गत आने वाले समस्त उदाहरणों का सत्यापन करना संभव नहीं होता है। अतः प्राक्कल्पनामूलक निगमनात्मक विधि (Hypothetico Deductive Method) का प्रयोग उपयोगी है। किन्तु रसल ने इस पद्धति को दोषपूर्ण माना है और इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि यह कुछ दार्शनिकों का दार्शनिक गल्प है। अधिक से अधिक यह पद्धति प्राक्कल्पनाओं की प्रायिकता को स्थापित करती है।[१९]

कुछ दार्शनिकों ने वैज्ञानिक ज्ञान की स्थापना के लिए **'मिथ्यापन सिद्धान्त'** (Falsification Principle) का प्रतिपादन किया है। **कार्ल रायमाण्ड पॉपर** के अनुसार वैज्ञानिक सिद्धान्तों का सत्यापन अत्यन्त कठिन कार्य है, परन्तु उनका मिथ्यापन निरीक्षण–परीक्षण के द्वारा किया जा सकता है। उदाहरण के लिए **'सब कौए काले है'**, इस कथन का सत्यापन करना निरीक्षण के आधार पर दुरूह है चाहें जितने कौओं का परीक्षण–निरीक्षण किया जाय सत्यापन प्रक्रिया के आधार पर इसे स्थापित करना संभव नहीं है। इसके विपरीत यदि एक भी गैर– काला (Non-Black) अथवा सफेद कौआ मिल जाय तो सब कौए काले है, इसे आसानी से मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है। वस्तुतः वैज्ञानिक नियम निरपेक्ष रूप से सत्यापनीय नहीं होते हैं, चाहे वे कितने परीक्षणों से सफलतापूर्वक गुजरे हों। पॉपर ने मिथ्याकरण सिद्धान्त को वैज्ञानिक खोज (Scientific Disover) का प्रमाणांक (Hall Mark) कहा है।[२०] ए. जे. एयर ने इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि यदि इसे मान लिया जाय तो आगमन की समस्या का निराकरण नहीं किया जा सकता है। मिथ्याकरण सिद्धान्त एक ऐसा बचकाना रोग है जिसकी पकड़ में स्वस्थ, प्रामाणिक एवं सबल वैज्ञानिक सिद्धान्तों एवं प्राक्कल्पनाओं के आने की संभावना बनी रहती है।[२१]

भारतीय दर्शन के समान पाश्चात्य परम्परा में भी आप्त वचन (Authority) को साक्ष्य या प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है। हम अपने दैनिक जीवन में अनेक प्रकार के वाक्यों को पढ़कर अथवा सुनकर ज्ञान प्राप्त करते हैं। उनमें से अनेक कथन ऐसे हैं जिनकी सत्यता का निर्धारण करने के लिए वर्षों तक निरीक्षण–परीक्षण छानबीन करनी पड़ सकती है, जो व्यावहारिक दृष्टि से संभव नहीं होता है। इसके परिणामस्वरूप हमारे समक्ष दो विकल्प होते हैं : या तो हम वाक्यों को आप्तप्रमाण (विशेषज्ञ) के आधार पर सत्य मान ले

अथवा उनके बारे में अपने निर्णय को स्थगित कर दें। किन्तु आप्त पुरुष को प्रमाण के रूप में स्वीकार करने के लिए कुछ सावधानियां (शर्तें) आपेक्षित हैं–

१. जिस आप्त पुरुष को प्रमाण के रूप में स्वीकार कर रहे हैं उसे उस क्षेत्र विशेष में विशेषज्ञ होना चाहिए। क्योंकि यदि कोई व्यक्ति भौतिकी के क्षेत्र में आप्त पुरुष हो (जैसे न्यूटन या आइन्सटीन) तो आवश्यक नहीं है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विषय में भी विशेषज्ञ हो।

२. यदि कोई व्यक्ति किसी विशेषज्ञ के कथन को प्रमाण मान लेता है तो वह प्रयास एवं तकनीकि प्रयोग के आधार पर उसकी सत्यता का परीक्षण भी कर सकता है। उदाहरण के लिए आइन्स्टीन के सापेक्षता सिद्धान्त (Theory of Relativity) की सत्यता की जाँच प्रयोग के द्वारा की जा सकती है। वैज्ञानिक सिद्धान्तों के समयानुसार परिवर्तन एवं परिमार्जन भी होता रहता है। इसके विपरीत कुछ क्षेत्रों में आप्त वचन के दुरुपयोग की संभावना बनी रहती है। उदाहरण के लिए कोई आप्तपुरुष यह कहता है कि 'केवल अल्लाह ही सर्वशक्तिवान सत् है' ईश्वर (God) अथवा ब्रह्म नहीं, और वह यह आशा करे की हम उसके कथन की सत्यता में विश्वास करें क्योंकि वह इस्लाम एवं कुरान का पण्डित है, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि यह भिन्न कोटि का प्रमाण है। जिसमें मताग्रह एवं पूर्वाग्रह है। ऐसा व्यक्ति इस्लाम की सांस्कृतिक परम्परा का विशेषज्ञ हो सकता है, उसके कथनों की जाँच केवल रीति-रिवाज एवं इस्लाम के ग्रन्थों की सूचना तक ही सीमित हो सकती है।[२२] उल्लेखनीय है कि आप्तपुरुष अथवा विशेषज्ञ चाहे जितने विश्वसनीय हों, उन्हें ज्ञान का प्राथमिक स्रोत नहीं माना जा सकता है। आप्तपुरुष के स्वयं का ज्ञान निश्चय ही किसी न किसी प्राथमिक स्रोत का आधारित होगा। वह प्राथमिक स्रोत इन्द्रियानुभव, तर्कबुद्धि, अन्तः प्रज्ञा इत्यादि कुछ भी हो सकता है। पाश्चात्य परम्परा के आप्त पुरुष अथवा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र विशेष में विशेषज्ञ का प्रयोग अर्थ में किया गया है। ऐसे आप्त पुरुष के कथन की सत्यता में विश्वास का परीक्षण किसी न किसी रूप में किया जा सकता है। यदि किसी आप्त पुरुष (authority) के वचन (कथन) को उसके क्षेत्र से परे किसी अन्य क्षेत्र के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाय तो इसे श्रद्धामूलक दोष कहते हैं।

ज्ञान का एक अन्य प्रमुख स्रोत 'अन्तः प्रज्ञा' (Intution) है। 'अन्तः प्रज्ञा' का प्रयोग पाश्चात्य दर्शन में विभिन्न दार्शनिकों ने पृथक-पृथक अर्थो में किया है। धार्मिक एवं रहस्यवादी साधना में निरत साधक इसका प्रयोग एक रहस्यात्मक शक्ति के रूप में करते हैं। इसके द्वारा सत्ता की अपरोक्षानुभूति या साक्षात्कार हो जाता है। स्पिनोजा, एफ. एच. ब्रैडले, हेनरी वर्गसॉ आदि इसी अर्थ में प्रज्ञा (Intutition) का प्रयोग करते हैं। किन्तु डेकार्ट ने इसे 'बुद्धि का स्वाभाविक प्रकाश' कहा है, जिसके द्वारा स्पष्ट और विवेकपूर्ण ज्ञान होता

है लॉक के दर्शन में इसे ऐसे साक्षात् ज्ञान के रूप में जो अनुभव पर आश्रित हो, स्वीकार किया गया है, जबकि बर्कले इसका प्रयोग अन्तर्बोध (Notion) के रूप में करता है। प्लेंटों से लेकर हेगल पर्यन्त इसे दार्शनिक ज्ञान या विवेकपूर्ण ज्ञान का स्रोत माना गया है। प्लेटो की ज्ञानमीमांसा में बौद्धिक अन्तर्दृष्टि (Rational Insight) को ही दार्शनिक प्रमा (Philosophical Knowledge) अर्थात् सामान्यों के ज्ञान (Knowledge of Universals) का आधार माना गया है। मध्यकालीन दार्शनिकों (एनसेल्म एवं एक्विनास) ने इसे दैवी प्रकाशना या अपरोक्षानुभूति कहा है जो विचारों के परे की अवस्था है। कभी-कभी दैवी प्रकाशना (Revelation) का प्रयोग अनिर्वचनीय विषयों के ज्ञान (बोध) के लिए किया गया है जो भाषिक और तार्किक मानकों का अतिक्रमण कर जाती है। यह एक प्रकार से वेदान्त की अपरोक्षानुभूति के समान प्रतीत होती है, जो मन, वाणी और बुद्धि से परे अनिर्वचनीय है।

अन्तः प्रज्ञा के विरोध में यह कहा जा सकता है कि कभी-कभी एक व्यक्ति की अन्तः प्रज्ञा दूसरे व्यक्ति की अन्त; प्रज्ञा के प्रतिकूल होती है। इन दो परस्पर विरोधी अन्तः प्रज्ञाओं में से कोई एक अन्तः प्रज्ञा ही सत्य हो सकती है। प्रश्न उठता है कि इनमें से किस अन्तः प्रज्ञा को यथार्थ और किसे भ्रामक माना जाय। वास्तविक अन्त; प्रज्ञा में अन्तर करना कठिन हो जाता है। हमारे पास कोई वस्तुनिष्ठ मानदण्ड नहीं है, जिसके आधार पर 'यथार्थ' अन्त; प्रज्ञा' को अन्तः प्रज्ञा के आभास से पृथक किया जा सके। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति अन्त; प्रज्ञा के आधार पर जानने का दावा करता है, वह इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ होता है– 'तुम कैसे जानते हो?' इसलिए कुछ आलोचकों का आरोप है कि अन्तः प्रज्ञा के आधार पर किसी ज्ञान का दावा करना; उस ज्ञान के प्रामाण्य के विषय में अपने अज्ञान को छिपाने का बहाना मात्र है। किन्तु इन कठिनाइयों के बावजूद किसी न किसी रूप में प्रज्ञा को दार्शनिक प्रमा का प्रमुख स्रोत एवं प्रमाण माना गया है।[२३] वस्तुतः अन्तः प्रज्ञा की प्रामाणिकता साधक (ज्ञाता) की पवित्रता और सत्यनिष्ठा पर आधारित होती है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रमाणों की आवश्यकता ज्ञान की सत्यता को स्थापित करने के लिए है। इस दृष्टि से परम्परागत पाश्चात्य दर्शन में सत्यता के तीन प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है– जिन्हें क्रमशः सुसंगति (Coherence) सिद्धान्त, संवादिता (Coreespondence) सिद्धान्त और अर्थक्रियावादी या प्रयोजनवादी (Pragmatic) सिद्धान्त के रूप में निरूपित किया गया है। प्रत्ययवादियों वस्तुवादियों और अर्थक्रियावादियों ने क्रमशः उक्त सिद्धान्तों का समर्थन अपनी-अपनी दार्शनिक मान्यताओं के सापेक्ष रूप में किया है। किन्तु ये तीनों सिद्धान्त एकांगी है। वे ज्ञान के किसी एक पक्ष को ही प्रमाणित करते हैं। वस्तुतः व्याघात या अन्तर्विरोध से रहित होना, अर्थात् सुसंगति (Coherence), बाह्य सत्ता से संवाद (अनुरूपता) एवं उसकी उपयोगिता, अर्थात् मूल्यवत्ता, ये तीनों

विशेषताएं प्रमा की सत्यता और प्रामाणिकता से सम्बन्धित है। इन तीनों सिद्धान्तों को एक साथ समायोजित करके प्रमा के स्वरूप और प्रामाणिकता की व्याख्या की जा सकती है। ज्ञान की वस्तुनिष्ठता और सार्वजनीनता के लिए उसका किसी न किसी बाह्य सत्ता से संवादी होना आवश्यक है। इसी आधार पर ज्ञान और कल्पना प्रमा और अप्रमा में भेद किया जा सकता है। अतः संवादिता को सत्यता का स्वरूप मानना आवश्यक है। किसी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता का परीक्षण एक निकाय के अन्तर्गत उसकी अन्य प्रतिज्ञप्तियों (विश्वासों) की सुसंगति (Colerence) और व्यावहारिक उपयोगिता (Practical Utility) को ध्यान में रखकर ही किया जा सकता है। अतः प्रमा के प्रामाण्य को स्थापित करने के लिए सत्यता के इन तीनों पक्षों में सामज्जस्य आवश्यक है।

ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में इसे एक सर्वाधिक उपयुक्त सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसे मध्यमार्गी अथवा उदारवादी आधारभूत (संस्थापन) सिद्धान्त (Moderate Roundationalism) कहा जा सकता है। इस उदारवादी संस्थापन सिद्धान्त के लिए कुछ प्रतिज्ञप्तिमूलक विश्वासों को साक्षात् रूप से प्रामाणिक (Intuitively evident beliefs) मानना पड़ता है, जिन्हें प्रज्ञात्मक दृष्टि से स्पष्ट कहा जा सकता है, एवं जो प्राथमिक स्रोतों पर आधारित होने के कारण संशय से परे, एवं अभ्रान्त होते हैं। इन अभ्रान्त, संशय रहित एवं साक्षात् रूप से प्रमाणित प्रतिज्ञप्तियों पर ही समस्त ज्ञान की संरचना आधारित होती है। प्रतिज्ञप्तिमूलक विश्वासों का एक सुसंगत (सामंजस्यपूर्ण) अधिरचनात्मक ढाँचा इन आधारभूत प्रत्ययों पर टिका हुआ है।[२४] काण्ट के आलोचनात्मक दर्शन में भी इसकी पुष्टि होती है। काण्ट ने आलोचनावाद में ज्ञान की उत्पत्ति की अपेक्षा उसकी वैधता (Validity), अर्थात प्रामाण्य पर विशेष बल दिया है। काण्ट के आलोचनावाद में कुछ प्रत्यय जैसे– बुद्धि विकल्प और देश–काल आधारस्वरूप है, जबकि कुछ चीजें जैसे– इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अधिरचनात्मक हैं। उल्लेखनीय है कि काण्ट ने प्रत्ययों के अतीन्द्रिय विश्लेषण पर अधिक बल दिया है। काण्ट की ज्ञान मीमांसा में अतीन्द्रिय विश्लेषण पर आधारित बुद्धि विकल्पों (आधारभूत प्रत्ययों) देश–काल और विशुद्ध ज्ञाता (आत्मा) को समस्त अनुभवाश्रित प्रत्यक्षों अर्थात् अधिरचनात्मक प्रत्ययों की तार्किक प्रागपेक्षा (Logical Presupposition) के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

उल्लेखनीय है कि अनुभववादियों ने ज्ञान को प्रत्ययों के बाह्य सम्बन्धों पर आधारित मान लिया। अनुभववाद की पराकाष्ठा ह्यूम के दर्शन में होती है जहाँ प्रत्येक प्रत्यय अनुभवजन्य है। यदि प्रत्येक प्रत्यय अनुभवजन्य है तो प्रत्येक का ज्ञान में समान स्थान और महत्व मानना पड़ेगा। सैमुअल एलेक्जन्डर[२५] ने इसे एक रूपक प्रदान करते हुए 'प्रत्ययों का प्रजातन्त्र' (Democracy of Ideas) कहा है किन्तु बाह्य सम्बन्धों पर आधारित ज्ञान स्थायी और निश्चायक नहीं हो सकता है इस दृष्टि से परम्परागत अनुभववादियों और

वस्तुवादियों ने प्रमा और प्रमाण में बाह्य सम्बन्ध स्थापित किया है। किन्तु कुछ प्रत्ययों, सम्बन्धों और प्रतिज्ञप्तियों को स्वतः प्रमाणित आन्तरिक एवं आधारस्वरूप माने हुए बिना निश्चायक एवं प्रामाणिक ज्ञान की स्थापना नहीं की जा सकती है। वस्तुतः काण्ट ने अनुभववादियों के द्वारा स्थापित प्रजातन्त्र को कुलीन तन्त्र में रूपान्तरित कर दिया जिसके अन्तर्गत कुछ प्रत्यय अतीन्द्रिय और शासक है। इन्हीं अतीन्द्रिय एवं मूलभूत प्रत्ययों से अनुभवाश्रित एवं अधिरचनात्मक प्रत्यय अनुशासित एवं नियंत्रित होते है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि ज्ञान के अनेक रूप, स्तर और प्रकार है। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान की वैधता के लिए एक ही प्रकार के प्रमाण एवं निष्कर्ष पर्याप्त नहीं है। जिस स्तर और प्रारूप का ज्ञान हो तदनुसार ही उसकी वैधता हेतु प्रमाण भी अपेक्षित होता है। जो प्रमाण तथ्यात्मक विज्ञानों के लिये उपयोगी है, वे गणित जैसे संप्रत्यात्मक विज्ञानों के लिए उपयुक्त नहीं हो सकते हैं। नैतिक एवं सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यों (सत्यं, शिवं, सुन्दर) का बोध या अनुभूति सामान्य बुद्धि एवं इन्द्रियानुभव से परे अन्तः प्रज्ञात्मक बोध (Intuitive experence) का विषय हो सकता है। इसी प्रकार ऐतिहासिक तथ्यों, अतीतकालिक घटनाओं, एवं अन्य मनस के ज्ञान हेतु पृथक-पृथक श्रेणी के प्रमाणों की आवश्यता होगी। ज्ञान का विकास एक खुली हुई संभावना है। ज्ञान को किसी निश्चित सीमा तक बाँधा नहीं जा सकताहै। जो प्रमाण आज सर्वमान्य और निर्णायक है उनकी निर्णायकता, निर्दोषता और अपराजेयता देश-काल सापेक्ष है। विशेष रूप से वैज्ञानिक ज्ञान विकासशील होता है जो सामूहिक प्रयास एवं प्रेरणा (Team effort & Team Sprit) का परिणाम होता है। मानव-ज्ञान को निश्चित सीमाओं में बाँधा नहीं जा सकता है। अतः यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक स्तर के लिए एक ही प्रकार की शर्तों एवं प्रमाणों को निर्धारित किया जाय।

संदर्भ और टिप्पणी

१. मूर, जी. ई. सम मेन प्राब्लेम्स ऑफ फिलॉसोफी, (संपादकः एच. डी. लेविस) एलेन एण्ड अनविन (१९६९), पृ. ८०-८१

२. ज्ञान की परम्परागत परिभाषा का उल्लेख प्लेटों के मीनों (Meno[८८]), में मिलता है। देखिए- नॉलेज एण्ड बिलीफ (संपादकः ए. फिलिपस ग्रिफिथ्स) पृ.१४४. प्रो० संगमलाल पाण्डेय ने 'ज्ञानमीमांसा के गूढ़ प्रश्न' दर्शनपीठ, टैगोर टाउन इलाहाबाद (१९९९) में पृ.३ पर इसे आधुनिक पाश्चात्य दर्शन की सर्वमान्य परिभाषा के रूप में उद्धृत किया है। किन्तु इस परिभाषा पर अनेक विवाद एवं प्रश्न उठाये गये हैं और इसे संशोधित एं परिमार्जित रूप में प्रस्तुत किया गया है।

३. राइल, गिलबर्ट, दि कनसेप्ट आफ माइन्ड, हचीसन यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी, लन्दन (१९४९) अध्याय दो खण्ड ३, पृ. २७-३५ एवं फिलॉसोफी भाग XXV, (१९५९) में 'आ. सी. क्रास' का 'लेख' इथिकल डिसएग्रीमेन्ट, पृ. ३०१-३१५

४. इज जस्टीफाइड टु बिलीफ नॉलेज, गेटियर, एनॉलसिस अंक २३ (१९६३) पृ.१२१-१२३

५. रसेल, बी., ह्यूमन नॉलेज, इट्स स्कोप एण्ड लिमिट्स, एलन एण्ड अनविन, लन्दन (१९४८), पृ.१५५

६. लेहरर, कीथ, नॉलेज, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (१९७४), पृ.२१, २१५ पर पाद टिप्पणी

७. चीजहोम, आर. एम. थियोरी ऑफ नॉलेज, इथाका, न्यूयार्क (१९५७) पृ. १०९-११०

८. डान्सी, जे., कटेमपोरेरी एपिस्टिमोलॉजी, बासिल ब्लैकेल, न्यूर्याक (१९८५), पृ.३५-३८

९. उपाध्याय, हरिशंकर, ज्ञानमीमांसा के मूल प्रश्न, पेनमैन पब्लिशर्स, दिल्ली, (१९९५),पृ.३

१०. नोइंग हाऊ एण्ड नोंइग दैट, बूजले (Proc. of Assistotelian Society, New sevies, Vol 53, London १९५३) पृ.१५१-१७२

११. लेहरर, कीथ, नॉलेज, पृ.४९

१२. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वशब्देन भासते।
(वाक्यपदीयम् १/२३)

इसी प्रकार दिङ्नाग ने प्रत्ययों एवं शब्दों को एक दूसरे की योनि कहा है–

विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः।
कार्यकारणता तेषाम् नार्थम् शब्दाः स्पृशन्त्यपि।।

प्रो० संगमलाल पाण्डेय के द्वारा हिदर इन्डियन फिलॉसफी, दर्शनपीठ, इलाहाबाद (१९७८), पृ.३६-३७ पर उद्धृत।

१३. ब्रैरेट विलियम्स द्वारा संपादित, फिलॉसोफी इन ट्वेन्टीथ सेन्चुरी (भाग ३) पृ. ३ से उद्धृत- ("Whatever knowledge is acquired, it must be aquaired through scientific mtheod, whatever science cannot discover, mankind cannot know".)

१४. एम्ब्रोस, एंलिस, (संपादक), प्राब्लेम ऑफ जस्टिफाइंग इनडक्टिव इनफरेन्स, लन्दन (१९६६), पृ. १८२-१८५

१५. रसल, ए हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी, पृ. ६९८ एवं पॉपर, के. आर., द्वारा ओबजेक्टिव नॉलेज, पृ. ५ पर उद्धृत।

१६. हास्पर्स, जान. ऐन इन्ट्रोडक्शन टु फिलॉसोफिल एनालसिस, एलाइड पब्लिशर्स (१९८८),पृ.२५८

१७. स्ट्रासन, पी. एफ. इन्ट्रोक्शन टु लॉजिकल थियरी, पृ. २५७

१८. विटगेन्स्टाइन एल, 'आन सरटेनटी' (संपादक) जी. ई. एम. एन्सकोम्बे एण्ड जी. एच. फनराइट, न्यूयार्क हारपर एण्ड से (१९७२), अनुच्छेद ३०८, ५०४

१९. पोलक, जान. एल. नॉलेज एण्ड जस्टिफिकेशन, प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस न्यूजर्सी (१९७४),पृ.२४८

२०. पॉपर, कार्ल. आर., दि लॉजिक आफ साइन्टिफिक डिस्कवरी, हचिन्सन एण्ड कम्पनी, लन्दन (१९५९) अध्याय चार

२१. एयर, ए. जे. प्राब्लेम आफ नॉलेज, पेंन्गुइनबुक्स (१९५६), पृ. ७३-७४

२२. हास्पर्स, जान. ऐन इन्ट्रोडक्शन टु फिलॉसोफिल एनालसिस, एलाइड पब्लिशर्स, पृ.१३४-१३५

२३. ज्ञानमीमांसा के मूल प्रश्न, पृ.५७

२४. उपाध्याय हरिशंकर, नॉलेज एण्ड जस्टिफिकेशन, डेपार्टमेन्ट ऑफ स्पेशल एसिस्टेन्स, इन फॉसोफी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, पृ.२२४-२३६

२५. मुखर्जी, अनुकूल चन्द्र, सेल्फ, थाट एण्ड रियलिटी, इन्डियन प्रेस इलाहाबाद (१९७० द्वितीय संस्करण), पृ. २८५-८६, (देखिये फाउन्डेशनस आफ नॉलेज) एवं संगमलाल पाण्डेय द्वारा संपादित 'प्राब्लेम्स आफ डेप्थ एपिस्टीमोलॉजी, दर्शन पीठ (१९८८), पृ.३५-४३

आधुनिक विज्ञान में प्रमाण

प्रो. अरविन्द कुमार राय
प्रोफेसर, दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५

गीता पर भाष्य करते हुए भगवान् शंकराचार्य ने जो 'ज्ञान' एवं 'विज्ञान' का भेद समझाया है, वह आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में भी प्रासंगिक है। भाष्यकार के अनुसार 'ज्ञान' शास्त्रोक्त पदार्थों के समझने का नाम है तथा 'विज्ञान' शास्त्र से ज्ञात पदार्थों का स्वानुभव है।[१] कुछ परिवर्तन के साथ यह लक्षण आधुनिक विज्ञान पर भी घटित होता है। 'वैज्ञानिक ज्ञान' विज्ञान के शास्त्रों में उक्त पदार्थों का ज्ञान है तथा 'विज्ञान' उन पदार्थों को प्रयोगों के माध्यम से समझना है।[२] विज्ञान का अर्थ मात्र क्रमबद्ध तथा संगठित ज्ञान नहीं है। 'विज्ञान' का स्वरूप तथ्यात्मक साक्ष्यों और प्रयोगों के आधार पर उक्त पदार्थों की व्याख्या से निर्मित होता है।

विज्ञान सत्य का अनुसंधान है। लेकिन सत्य का अनुसंधान तभी प्रारम्भ होता है जब हम 'क्यों' का प्रश्न उठाते है। बुद्धि का लक्षण क्यों का प्रश्न उठाना है। ज्ञान केवल मनुष्यों को नहीं होता है, जानवरों को भी होता है। कुछ विकसित मनुष्येतर जानवरों को भी अनुभवात्मक ज्ञान होता है। अनुभावात्मक ज्ञान के स्वरूप को लेकर पाश्चात्य दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है, लेकिन पाश्चात्य दर्शन के प्रमुख दार्शनिक अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) ने अपने तत्त्वमीमांसा नामक ग्रन्थ में अनुभव की जिस प्रकार व्याख्या की है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अनुभव के तीन मुख्य घटक है- संवेदन की योग्यता, स्मृति की योग्यता तथा शिक्षित होने की योग्यता। अरस्तू के अनुसार अनुभवात्मक ज्ञान जानवरों को भी हो सकता है। लेकिन वैज्ञानिक ज्ञान का प्रारम्भ तभी होता है जब हम 'क्यों' का प्रश्न उठाते हैं। यह 'क्यों' का प्रश्न आश्चर्य-गर्भित होता है तथा विज्ञान का आविर्भाव तथा विकास 'क्यों' प्रंश्न का सफलता पूर्वक समाधान करने के प्रयास से निर्मित होता है।[३]

अरस्तू ने उद्देश्य की दृष्टि से विज्ञानों का वर्गीकरण तीन कोटि में किया है:

(१) सैद्धान्तिक विज्ञान (Theoria)– जहाँ हम ज्ञान की प्राप्ति ज्ञान के लिए करने में रूचि रखते हैं,

(२) क्रिया विज्ञान (Praxis)– जहाँ हम ज्ञान की प्राप्ति कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य में भेद करने के लिए करते हैं (जैसे नीतिशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र),

(३) उत्पादक विज्ञान या शिल्प विज्ञान (Poiesis)– जहाँ हम ज्ञान की प्राप्ति किसी वस्तु के उत्पादन या निर्माण के लिए करते है जो मानव के लिए उपयोगी होता है यांत्रिकी, शिल्पकला तथा तकनीकि ज्ञान को इस कोटि में रखा जा सकता है। अरस्तू ने काव्य को भी इसी कोटि में रखा है क्योंकि हम काव्य का भी सृजन करते हैं।

यदि हम गणित और तर्कशास्त्र को विज्ञान की कोटि से बाहर रखते हैं, जैसा कि अनेक आधुनिक दार्शनिक करते है, तो सैद्धान्तिक विज्ञानों में सबसे उन्नत तथा व्यापक विज्ञान भौतिकशास्त्र का है। यह विज्ञान भौतिक पदार्थों की संरचना को जानने का प्रयास करता है तथा विभिन्न पदार्थों के सम्बन्धों के विषय में भी अन्वेषण करता है। अतः यहाँ वैज्ञानिक-ज्ञान के स्वरूप पर विचार करते समय मुख्यतः भौतिकशास्त्र के स्वरूप को ही ध्यान में रखा गया है।

सैद्धान्तिक विज्ञान में सत्यानुसंधान के लिए अनुभव, परंपरा आदि आवश्यक तथा अनिवार्य है लेकिन पर्याप्त नहीं। भारतीय दर्शन की शब्दावली में कहे तो वैज्ञानिक ज्ञान का वस्तुतः 'करण' बौद्धिक प्रतिभा है।[४] बुद्धि की आवश्यकता न केवल वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए आवश्यक है, अपितु धार्मिक विश्वास के लिए भी आवश्यक है। प्रसिद्ध ईसाई धर्मगुरु तथा विचारक संत थामस एक्वीनास (१२२५-१२७३ ई०) के अनुसार, "श्रद्धा वह विश्वास है जिसे बुद्धि का अनुमोदन प्राप्त है।"[५] इस प्रकार श्रद्धा और वैज्ञानिक ज्ञान दोनों के लिए संत थामस एक्विनास के अनुसार, बुद्धि का अनुमोदन आवश्यक है।[६] वैज्ञानिक ज्ञान की प्राप्ति में बुद्धि के प्रयोग का लक्षण 'क्यों रूप वाले' प्रश्नों को उठाना तथा उनका सफलतापूर्वक समाधान करना है। अरस्तू के अनुसार 'क्यों रूपात्मक' प्रश्न को उठाने का अर्थ है की हम वस्तु अथवा घटना के कारणों को समझना चाहते हैं। आधुनिक विज्ञान में 'क्यों' का अर्थ अधिक व्यापक है। जहाँ हम वस्तु की सांख्यिकीय व्याख्या करने का प्रयास करते हैं वहाँ भी हम 'क्यों रूप वाले' प्रश्न का समाधान करते है। विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में सांख्यिकीय व्याख्या का प्रचूर प्रयोग होता है। यदि हम अरस्तू के ग्रन्थ तत्त्वमीमांसा में आये 'क्यों' का अर्थ 'क्यों आदि रूप वाले' प्रश्न करें तो वैज्ञानिक अनुसंधान का अर्थ है– पाँच ककारात्मक प्रश्नों को उठाना तथा उनका सफलतापूर्वक समाधान करना या किसी एक ककारात्मक प्रश्न को उठाना तथा उसका सफलतापूर्वक समाधान करना है। इस समाधान की प्रक्रिया में प्रयोगों का उपयोग वास्तव में प्रकृति के सामने प्रश्नों को उपस्थित करना है। ये पाँच ककार हैं– क्या, कहाँ, कब, किससे तथा क्यों।[७]

मानव जाति में ज्ञान प्राप्त करने की सहज प्रवृत्ति होती है। लेकिन वैज्ञानिकों के बौद्धिक सोच और प्राकृतिक नियमों में अद्भुत समानता होती है।[८] प्रसिद्ध अमेरिकी दार्शनिक सी० एस० पर्स (१८३९-१९१४) कहते है, "जब हम ऐसे वैज्ञानिकों की युक्तियों की परीक्षा करते है जिन्होंने आधुनिक विज्ञान को दिशा दी है तो हमें यह देखकर आश्चर्य होता है की उनकी युक्तियाँ सहजात्मक प्रवृत्ति पर आधारित निष्कर्षों को अधिक महत्व देती हैं।"[९] वह पुनः कहते है," .... किसी एक घटना से सम्बन्धित करोड़ों करोड़ परिकल्पनाएँ सम्भव है लेकिन मात्र दो या तीन परिकल्पनाओं में से या अधिक से अधिक दर्जन भर परिकल्पनाओं के आधार पर वैज्ञानिक सही परिकल्पना को पकड़ लेता है। तार्किक सिद्धान्त बुद्धि के आन्तरिक प्रकाश से समझ में आते हैं जिसे हम प्राकृतिक प्रकाश (Light of Nature) कह सकते हैं।[१०] जिस प्रकार धर्म का ज्ञान कृपा के प्रकाश में सम्भव होता है, उसी प्रकार वैज्ञानिक ज्ञान बुद्धि के प्रकाश से आलोकित होता है।

पर्स के अनुसार प्रकृति में आनुमानिक व्यवस्था है तथा यह व्यवस्था अरस्तू के न्यायवाक्य बारबरा के सदृश है।[११] हम यह मानते हैं कि कुछ प्राकृतिक नियम है जो न्याय वाक्य में मुख्य आधार वाक्य की तरह है, कुछ ऐसे नमूने है जो अमुख्य आधारवाक्य की तरह है– ये नमूने भविष्यवाणी रूप वाले हो सकते है, उदाहरण हो सकते हैं या कारण हो सकते हैं जो न्याय वाक्य के मध्य पद का कार्य करते हैं। न्यायवाक्य का जो निष्कर्ष होता है वह प्राकृतिक नियमों के आधार पर या कारणों के आधार पर किये गये कार्य की अनुमिति होती है। यदि हम प्रकृति को इस प्रकार समझते है तो विज्ञान में तीन कार्य है, (१) नियमों की खोज, जो आगमनात्मक अनुमान से संभावित होता है; (२) कारणों की खोज, जो हेतु फलात्मक अनुमान से सम्भव होता है तथा (३) कार्यानुमान, जो निगमनात्मक अनुमान से संभव होता है।[१२]

उपयुक्त उक्ति को समझने के लिए हम एक सरल उदाहरण ले सकते हैं। यह बारबरा न्यायवाक्य का उदाहरण है–

सभी प्राणी मरणशील हैं।
सभी मनुष्य प्राणी हैं।
अतः सभी मनुष्य मरणशील हैं।

प्रथम आधारवाक्य को मुख्य आधारवाक्य कहते है, द्वितीय आधारवाक्य को अमुख्य आधारवाक्य कहते हैं तथा तृतीय कथन निष्कर्षात्मक है। अरस्तू के तर्कशास्त्र में इस युक्ति के आकार का नाम बारबरा है। अरस्तू इस आकृति को वैज्ञानिक आकृति मानते है। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति यदि यह मानता है कि किसी वर्ग के सदस्यों का धर्म 'क' है और कोई वस्तु उस वर्ग का सदस्य है तो उसे निश्चित रूप से मानना पड़ेगा कि उस वस्तु का धर्म भी 'क' होगा। यह निगमनात्मक अनुमान है तथा इसकी प्रमाणिकता असंदिग्ध है। अरस्तू के

अनुयायीयों ने ऐसे विधियों को खोजने की तरफ ध्यान दिया जिससे अन्य अनुमानों को इस आकृति में ढाला जा सकें। यदि भारतीय विधि से इस न्याय वाक्य को प्रस्तुत करने का प्रयास करें तो इसका स्वरूप होगा–

सर्वे मानवाः मरणशीलाः।
प्राणीत्वात् अश्ववत्।

इस प्रकार हम देखते है क न केवल ज्ञान की दृष्टि से आधुनिक विज्ञान में अनुमान का महत्व है अपितु प्रकृति की आन्तरिक संरचना में भी अनुमान व्याप्त है।

II

विज्ञान मात्र सत्य का अन्वेषण नहीं है अपितु सुन्दर सत्य का अन्वेषण है। वेदान्त के अनुसार परमार्थ का स्वरूप सच्चिदानन्द है। विज्ञान के अनुसार व्यवहार में भी सत्य और आनन्द की अनुभूति होती है क्योंकि आनन्द का स्रोत सुन्दरता है तथा भौतिक पदार्थों में सुन्दरता पायी जाती है। (ओम् पूर्णमदः पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते) अनेक नोबेल पुरस्कार विजेता वैज्ञानिकों ने यह विचार व्यक्त किया है कि सौन्दर्यानुभूति वैज्ञानिक अनुसंधान का एक अनिवार्य घटक है। प्रसिद्ध गणितज्ञ हर्मन वेयल (१८८५–१९५५) का कथन है, "मैंने अपने अनुसंधान में सत्य को सुन्दरता के साथ जोड़ने का प्रयास किया है, लेकिन जहाँ दोनों में किसी एक के चुनाव का प्रश्न खड़ा हुआ है वहाँ मैंने सुन्दरता को प्रश्रय दिया है।"[१३] इसी प्रकार एक अन्य प्रसिद्धि गणितज्ञ प्वेंकारे का विचार है, "वैज्ञानिक प्रकृति का अध्ययन इसलिए नहीं करते है कि वह उपयोगी है। वह इसका अध्ययन इसलिए भी करते है कि इस क्रिया में उनको सुखानुभूति होती है, और इसमें सुखानुभूति इसलिए होती है कि प्रकृति सुन्दर है। यदि प्रकृति सुन्दर नहीं होती तो ज्ञान के योग्य भी नहीं होती तथा जीवन भी जीने के योग्य नहीं होता।"[१४]

आधुनिक विज्ञान में दो विशेषताएँ दिखाई देती है (१) गणितीय सूत्रों, समीकरणों तथा तकनीकों का वैज्ञानिक तथ्यों के निरूपण में व्यापक प्रयोग; (२) गुणात्मक राशियों को परिमाणात्मक राशियों में ढालकर समझने का प्रयास। ऐंजल्स ने अपने ग्रन्थ प्रकृति का द्वन्द्ववाद नामक ग्रन्थ में द्वन्द्ववाद के नियम का प्रतिपादन करते हुए परिमाण का गुण में और गुण का परिमाण में परिवर्तन के सिद्धांत को प्रथम द्वन्द्वात्मक नियम के रूप में स्वीकार किया है।[१५] वैज्ञानिकों द्वारा प्रकृति की सुन्दरता का विवेचन प्रकृति के संख्यात्मक और परिमाणात्मक ज्ञान का फल है। नाइट्रोजन मोनोआक्साइड (N_2O) गुणात्मक दृष्टि से नाइट्रोजन पेन्टोक्साइड (N_2O_5)से भिन्न है, लेकिन इसका कारण परिमाणात्मक है। इसमें प्रथम गैस है जबकि दूसरा सामान्य तापक्रम पर ठोस क्रिस्टल है, दोनों में भेद मात्र यह है कि दूसरे में आक्सीजन (O)की मात्रा पहले की अपेक्षा पाँच गुना है। शीत और उष्ण का गुणात्मक भेद भी तापक्रम के संख्यात्मक भेद पर आधारित है। तापक्रम के अधिक होने पर

वस्तु उष्ण प्रतीत होती है तथा कम होने पर ठण्डी। तापक्रम के परिमाण को नापा जा सकता है तथा उसे संख्यात्मक रूप से प्रगट किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति के अनेक तथ्यों को संख्या और आकृत के माध्यम से प्रदर्शित किया जा सकता है।

वैज्ञानिक परिकल्पना का स्वपन व्याख्या और नियमों का अन्वेषण है तथा परिकल्पनात्मक विचार आकृतियों के माध्यम से विचार है।[१६]

प्रकृति के विषय में आकृति परक चिंतन तथा संख्यात्मक चिंतन का सत्य को सुन्दरता के साथ जोड़ने में महत्वपूर्ण अंशदान है। कोई भी चित्र सुन्दर तभी प्रतीत होता है जब वह समरूप होता है।[१७] समरूपता, वैज्ञानिकों के अनुसार सुन्दर पदार्थों का एक अनिवार्य घटक है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द ग्रीक भाषा का शब्द से आया हुआ है, जिसका शाब्दिक अर्थ है, दो या दो से अधिक पदार्थों की समतुल्यता जिसे समान मापक से मापा जा सकता है। समरूपता, सुन्दरता, पूर्णता, क्रमता तथा समुतल्यता का लक्षण है। इसका दर्शन प्राकृतिक पदार्थों के निर्माण में तथा मानवीय कलाकृतियों में बहुलता से दृष्टिगोचर होता है। जब हम हवाई जहाज का निमार्ण करते है तो हम दोनों पार्श्वों में समान लम्बाई के पंखों को लगाते हैं। ईश्वर ने हमें दो हाथ दिया है तथा एक हाथ का आकार दूसरे के सदृश होता है। कल्पना करें कि प्रकृति ने मानव को एक पैर, एक हाथ, एक आँख तथा एक कान वाले जीव के रूप में गढ़ा होता। ऐसी स्थिति में मानव के स्वरूप में वह सौन्दर्य नहीं होता जिसे हम आज देखते हैं। प्रकृति यथासंभव समरूपीय साँचे का प्रयोग जीव और जड़ पदार्थों के निर्माण में करती है। समरूपता का दर्शन पत्तियों में, फूलों में, जानवरों में, पौधों आदि में निर्माण में सर्वत्र दिखायी देता है। दिन और रात के क्रम में भी समरूपता है। छन्दों के सृजन में तथा अलंकारों के निर्माण में भी समरूपता का स्थान है, समरूपता सामान्य है तथा असमरूपता विशेष है।

वैज्ञानिक साहित्य में अनेक प्रकार की समरूपताओं का विवेचन किया गया है। यहाँ हम केवल तीन समरूपताओं का निर्देश करेंगे जो विषय के प्रतिपादन के लिए आवश्यक है। गणितीय दृष्टि से किसी वस्तु को समरूप कहा जायेगा, यदि परिवर्तन के उपरान्त उस वस्तु को पुनः प्राप्त किया जा सके। इसका अर्थ है कि समरूप वस्तु परिवर्तनों के मध्य अपरिवर्तित रहती है।[१८]

(१) प्रतिबिम्बात्मक समरूपता (Mirror Symmetry)– इसके उदाहरण के रूप में अंग्रेजी अक्षर– ᵛको लिया जा सकता है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि ᵛका दाया पार्श्व बाये पार्श्व के समान है। अतः इसे प्रतिबिम्बात्मक समरूपता का उदाहरण कर सकते हैं।

(२) चक्रक समरूपता (Rotational Symmetry)– इसके लिए हम N अक्षर का उदाहरण ले सकते हैं। =के दोनों पार्श्वों में समानता नहीं दिखायी पड़ती है, लेकिन

यदि N को १८०° पर घुमायो तो पुनः उसको उसी आकार में प्राप्त किया जा सकता है। इसे चक्रक समरूपता कहते हैं।

(३) विस्थापनीय समरूपता (Translational Symmetry)– यदि किसी वस्तु को हम एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते है और उसके स्वरूप में परिवर्तन नहीं आता है तो उसे विस्थापनीय समरूपता कहा जा सकता है। यह विस्थापन देश और काल दोनों में हो सकता है। प्रस्तुत उदाहरण में त्रिकोणात्मक आकृति को हम अ, ब रेखा पर स दूरी पर या स के गुणांकों की दूरी पर ले जाये तो आकृति में कोई परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता है।

स

A A A A

अ ब

समरूपता का अध्ययन केवल आधुनिक विज्ञान और गणित की विशेषता नहीं है। ग्रीक दार्शनिकों ने भी इसे समझने का प्रयास किया है, लेकिन उन्होंने समरूपता के विवेचन में दैवीय मान्यताओं पर अधिक बल दिया है। अरस्तू ने प्रतिपादन किया कि सौर मण्डल के ग्रह वृत्ताकार पथ पर घूमते है, क्योंकि वृत्त में पूर्णता है। प्लेटो ने सिम्पोजियम में एक पौराणिक आख्यान का उल्लेख किया है।[१९] मानव पहले गोलीय आकार वाला था लेकिन उसको पार्श्वीय समरूपता में लाने का कार्य जीयस देवता ने अपोलो की सहायता से किया। उन्होंने यह धमकी भी दी कि यदि मनुष्य पुनः अपराध करेगा तो उसकी समरूपता को वह और विखण्डित कर देगें। इसका अर्थ यह है कि ग्रीक दार्शनिक गोलीय समरूपता या वृत्ताकार समरूपता को पार्श्वीय समरूपता से अधिक पूर्ण मानते थे। आधुनिक गणित तथा विज्ञान इस दृष्टि से विचार नहीं करता है, अपितु यह जानने का प्रयास करता है कि प्रकृति में कितने प्रकार की समरूपताएँ पायी जाती है तथा विभिन्न समरूपताओं का स्वरूप क्या है?

समरूपता और भौतिकशास्त्र के नियमों में अटूट सम्बन्ध है– इसका प्रतिपादन २०वीं शती के वैज्ञानिक अनुसंधान का प्रतिफल है। २०वीं शती के पूर्व समरूपता का अध्ययन हुआ था, लेकिन इसे वैज्ञानिक नियमों के अनुसंधान में प्रमुख अस्त्र नहीं बनाया गया था। समरूपता को महत्वपूर्ण स्थान दिलाने में आइंस्टाइन युग का महत्व है। जर्मन गणितज्ञ विदुषी एमी नोएथर (१८८२-१९३६) इसी युग की उपज है जिसकी प्रमेयों ने समरूपता को प्राकृतिक बलों के साथ जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।[२०] नोएथर की प्रमेय इस प्रकार है–

भौतिकशास्त्र के नियमों के प्रत्येक अखण्ड निरन्तरतागर्भित समरूपता के लिए एक संरक्षणात्मक नियम अवश्य होगा।

प्रत्यके संरक्षणात्मक नियम के लिए एक अखण्ड निरंततागर्भित समरूपता अवश्य होगी।[२१]

यहाँ अखण्डनिरन्तरतागर्भितसमरूपता और खण्डात्मकसमरूपता के भेद को समझना आवश्य है। जिस देश (space) और काल से हम परिचित है उसे वैज्ञानिक अखण्ड-निरंतरा-गर्भित समरूप मानते है। खण्डात्मक (discrete) और अखण्डात्मक (continuous) का भेद निमनांकित प्रकार से किया जा सकता है। प्राकृतिक संख्याओं जैसे– १, २, ३, ४ आदि को हम एक रेखा को क्रमशः आने वाले पड़ाव की तरह देख सकते हैं–

१॰ २॰ ३॰ ४॰ ५॰......

यह खण्डात्मक दृश्य है क्योंकि एक से दो पर जाने के लिए हमें कम से कम एक कदम लेना पड़ेगा। जहाँ चलने के लिए किसी कदम की आवश्यकता नहीं होती है उसे अखण्डात्मक कहते हैं। यदि कपड़े से परमाणु तक जाना पड़े तो हमें कपड़े को सूत में सूत को अन्य अवयवों में तोड़ते हुए परमाणु तक पहुचना होगा, लेकिन देश के छोटे से छोटे प्रदेश में पहुँचने के लिए इस प्रकार के कदम नहीं उठाने पड़ेगें। अतः देश और काल अखण्डात्मक नैरन्तर्य वाले समरूप है।[२२] देश की किसी बिन्दु के लिए भौतिकशास्त्र के नियम अपरिवर्तित रूप से लागू होते है। वैज्ञानिक यह मानते हैं कि देश का छोटा से छोटा अंश ले जैसे १/०००, ०००, ०००, ०००, ०००, ०००, ०००, ००० या ($१०^{-२४}$) मीटर ले तो भी हम पाते हैं कि भौतिकशास्त्र के नियम सत्य है। इतने सूक्ष्म स्तर पर अत्यन्त सूक्ष्म माइक्रोस्कोप की भी गति नहीं है फिर भी नोऐथर के प्रमेय के आधार पर निश्चिततापूर्वक हम कह सकते है कि भौतिकशास्त्र के नियम वहीं घटित होते है। इसी प्रकार की स्थिति काल के भी संदर्भ में है। काल के $१०^{-२८}$ सेकण्ड के सूक्ष्म अंश पर भी भौतिकशास्त्र के नियम वैसे ही घटित होते है, जैसे स्थूल स्तर पर। इसका अर्थ है कि गणितीय सिद्धान्तों के आधारों पर वैज्ञानिक उसे देखने और समझने में समर्थ होता है, जिसे हम प्रायोगिक यंत्रों और नंगी आँखों से नहीं देख सकते है। इसका अर्थ यह भी है कि किसी लघु क्षेत्र में प्रकृति का जो व्यवहार है, वही व्यवहार पूरे ब्रह्माण्ड में हैं।[२३]

नोऐथर प्रमेय की गम्भीरता और महत्व को प्रदर्शित करने के लिए भौतिकशास्त्र इतिहास से निम्नांकित घटना का उल्लेख प्रासंगिक होगा। किसी अस्तिर नाभि वाले परमाणु के केन्द्र से तीन प्रकार की किरणों का विकिरण होता है, जिसे वैज्ञानिक अल्फा, बीटा तथा गामा किरण कहते हैं। वैज्ञानिकों ने पाया कि बीटा किरण की प्राप्ति में ऊर्जा के संरक्षण के नियम का उल्लंघन हो रहा है। अनेक प्रयोगों में यह पाया गया कि जब न्यूट्रान का प्रयोगशाला में क्षरण होता है तो इलेक्ट्रान और प्रोट्रान के रूप में प्राप्त होने वाली ऊर्जा, मूल

न्यूट्रानिक ऊर्जा से कम हैं। अतः यहा ऊर्जा और तथा घूर्णन के नियम का उल्लंघन हो रहा है, विज्ञान का अकाट्य नियम है कि ऊर्जा का विनाश नहीं होता है उसके रूप में परिवर्तन होता है।

मूल ऊर्जा से प्राप्त ऊर्जा कम क्यों है? इस प्रश्न ने वैज्ञानिकों को बहुत परेशान किया। नेल्स बोर ने जो क्वांटम यांत्रिकी के जनकों में से एक है, यह विचार व्यक्त किया कि ऊजा४ के संरक्षण का नियम स्थूल जगत में सार्थक है, लेकिन परमाणु जगत के विषय में पूर्णतः सत्य नहीं है, इसका एक नमूना उपरोक्त उदाहरण में दिखायी पड़ता है, लेकिन अन्य वैज्ञानिक इस व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं थे। यदि बोर का अनुमान सत्य है तो हमें यह मानना पड़ेगा की अखंडात्मक–निरंतरता का अस्तित्व सूक्ष्म जगत में नहीं है। जिससे सूक्ष्म जगतमें ऊर्जा के संरक्षण तथा घूर्णन के संरक्षण के नियम का उल्लघन हो रहा है। जगत की खण्डनात्मक सतह अनेक है जो वैज्ञानिक नियमों को प्रत्येक सतह पर घटने नहीं देते है। यदि यह जगत अखण्डात्मक है तो नोएथर की प्रमेय का खण्डन नहीं हो सकता है तथा ऊर्जा के संरक्षण का नियम सूक्ष्म जगत में भी सत्य होना चाहिए।

सन् १९३० में एक युवा वैज्ञानिक वोल्फगैंग पौली[२४] ने एक नये अदृश्य कण की कल्पना की, जो व्याख्या के लिए आवश्यक था। यह कण लुप्त ऊर्जा का वाहक माना गया तथा इसका संकेत इसलिए नहीं मिल पाता था क्योंकि यह आवेश से रहित था। यह कण आज न्यूट्रीनों नाम से जाना जाता है। पौली का अनुमान सत्य सिद्ध हुआ तथा १९५६ में क्लाइड कोवान तथा फ्रेडिक राइन्स ने प्रयोगों के माध्यम से इसका सत्यापन किया।

इस घटना ने विज्ञान को क्रान्तिकारी मोड़ दिया। आज प्रयोगशाला में वैज्ञानिक किसी कण को नहीं पाता है तो वह अखण्डात्मक–समरूपता के सिद्धान्त को मातने हुये ऊर्जा के संरक्षण के सिद्धान्तों को मानता है तथा नये कणों को पाने का प्रयास करता है। नोबेल पुरस्कार विजेता लेडरमैन तथा हील का कहना है कि "देश और काल की संरचना में समरूपता के सिद्धान्त तथा नोएथर प्रमेय का सत्यता की विश्वास को झटका देना आज अत्यन्त कठिन है।"[२५]

इस प्रकार हम देखते है कि सौन्दर्यानुभूति भी वैज्ञानिक पदार्थों के अन्वेषण के लिए दिशा प्रदान करती है। सौन्दर्यबोध केवल काव्यशास्त्र का विषय नहीं है, अपितु विज्ञान का भी विषय है। जिस प्रकार शास्त्रीय संगीत का रसास्वादन अनेक मनुष्यों को सहजता से नहीं होता है, उसी प्रकार वैज्ञानिक पदार्थों में भी रसबोध सभी विद्वानों के लिए सुलभ नहीं होता है। सुन्दरता का सारतत्व, वैज्ञानिकों और गणितज्ञों के अनुसार, समरूपता में निहित है। संगीत में आरोह और अवरोह का क्रम के कारण ही लय की उत्पत्ति होती है, अतः समरूपता सौन्दर्यबोध का एक अनिवार्य घटक है। समरूपता जहाँ एक ओर प्राकृतिक पदार्थों के सौन्दर्य का कारण है, वही दूसरी ओर वैज्ञानिक, प्रामाणिक तथा अपरिवर्तनशील

वैज्ञानिक सत्यों के उद्घाटन के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। वैज्ञानिकों के अनुसार जिस समरूपता का वे उद्घाटन करते है, उसका विषय वे मूल सिद्धान्त है जो प्रकृति और भौतिकशास्त्र के ऐसे नियमों को परिभाषित करते है, जो जगत को नियंत्रित करते हैं।[२६]

विज्ञान में नये पदार्थों का अन्वेषण दो प्रकार से सम्भव होता है– (१) प्रयोगों के माध्यम से तथा (२) मान्य सिद्धान्तों के माध्यम से। मान्य सिद्धान्तों के आधार पर अन्वेषण की प्रक्रिया में प्रमाण संप्लव और अर्थापत्ति नामक प्रमाण की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। पौली ने १९३० में अर्थापत्ति प्रमाण के आधार पर ही न्यूट्रीनों का अन्वेषण किया प्राप्त होने वाली ऊर्जा मूल ऊर्जा से कम थी। अतः पौली ने अदृष्ट ऊर्जा की व्याख्या के लि नये कण की कल्पना की। १९५६ में इसी का अन्वेषण प्रयोगों के माध्यम से हुआ। इस प्रकार प्रमाण संप्लव के कारण वैज्ञानिकों में नये उत्साह का संचार हुआ। इस संचार का प्रतिफल यह हुआ कि वैज्ञानिक मात्र आर्थपत्ति प्रमाण के आधार पर ही निश्चिततापूर्वक अदृष्ट घटकों के न होते हुए भी नये कणों की भविष्यवाणी करने लगे लेकिन अर्थापत्ति प्रमाण की सफलता के लिए मान्य सिद्धान्तों का दोष रहित होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए देवदत्त मोटा हैं। वह दिन में नहीं खाता है, अतः हमने यह माना कि वह रात में खाता है, लेकिन यह अर्थापत्ति प्रमाण तभी सफल होगा जब हमरी यह मान्यता दोषरहित हो कि बिना खाये कोई मोटा नहीं हो सकता। इसी प्रकार ऊर्जा का संरक्षण तथा घूर्णन के संरक्षण का नियम[२७] यदि अकाट्य सत्य है तो इसके आधार पर हम सफलतापूर्वक अर्थापत्ति प्रमाण का प्रयोग करके नये कणों का विधान या निषेध कर सकते हैं।

III

समरूपता का सम्बन्ध अपरिवर्तनशीलता से भी है। वैज्ञानिकों के अनुसार कोई भी कण, परमाणु, परमाणुों का समूह, उपग्रह, ग्रह, ब्रह्माण्ड आदि भौतिक तन्त्र (Physical System) का उदाहरण है। किसी भी भौतिक तन्त्र में समरूपता का विधान किया जा सकताहै। यदि परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरनें के बाद पुनः उस तन्त्र की प्राप्ति पूर्ववत् हो जाती है। समरूपता का अर्थ परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरने के बाद भी वस्तु अथवा तन्त्र की पूर्ववत स्वरूप की प्राप्ति है।[२८] कल्पना करें की कोई पुस्तक विक्रेता किसी पुस्तक को दिल्ली से काशी भेजताहै। यदि पुस्तक एक दो दिन या एक माह के बाद मिलती है तो उसके स्वरूप में परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता है। एक माह के देशान्तर की प्रक्रिया पुस्तक के स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं डालती है। यदि देशान्तर की प्रक्रिया दस साल तक चले, तो पुस्तक की पूर्ववत् प्राप्ति की सम्भावना कम है। वैज्ञानिक यह रेखांकित करने का प्रयास करता है कि किस परिवर्तन की प्रक्रिया में वस्तु अथवा तन्त्र का कौन सा धर्म या नियम सुरक्षित रहता है। जो सुरक्षित रहता है उसे उस परिवर्तन की प्रक्रिया के सापेक्ष समरूप कहा जायेगा। यदि किसी सोने के छल्ले को घुमाते है तो घुमाने के बाद पुनः उसकी पूर्ववत् प्राप्ति

होती है। अतः घुमाने की प्रक्रिया के सापेक्ष सोने का छल्ला समरूप है। लेकिन यदि सोने के छल्ले को हथौड़ी से पीटे तथा उसे त्रिभुजाकार आकृति में या चतुर्भुजाकार आकृति में परिवर्तित करें तो इस प्रक्रिया में सोने की छल्ले की प्राप्ति पूर्ववत् नहीं है। लेकिन यहाँ भी गणितज्ञों के अनुसार आकृति का एक धर्म अपरिवर्तित है। आकृति त्रिभुज हो या चतुर्भुज हो या गोला हो लेकिन उसमें एक आन्तरिक प्रदेश तथा एक बाह्य प्रदेश अवश्य होगा। यदि कोई धर्म, वस्तु या नियम अनेक परिवर्तनों से गुजरते हुये भी पूर्ववत् रहता है, तो वह प्रकृति के मूल नियमों का एक महत्वपूर्ण अंश है। ऊर्जा के संरक्षण का नियम इसका उदाहरण है। भौतिक प्रक्रिया से गुजरने के बाद भी विद्युतीय आवेश का संरक्षण होता है, अतः यह भी प्रकृति का एक महत्वपूर्ण नियम है। न्यूट्रान विद्युत आवेश शून्य है तथा न्यूट्रान के क्षरण के बाद भी शून्य विद्युत आवेश की प्राप्ति होती है– $n^0 - p^+ +^e + v^0$ आवेश की दृष्टि से न्यूट्रान उदासीन है। इसके क्षरण के बाद हमें भावात्मक आवेश वाले प्रोट्रान की प्राप्ति निषेधात्मक आवेश वाले इलेक्ट्रान की प्राप्ति तथा शून्य आवेश वाले (प्रति) न्यूट्रीनों की प्राप्ति होती है। यदि प्राप्त होने वाले आवेशों को जोड़ते है तो हमं यहा भी शून्य आवेश की प्राप्ति होती है। यह विद्युतीय आवेश की संरक्षण का महत्वपूर्ण नियम है। इस प्रकार के अनेक नियम भौतिकशास्त्र में समरूपता के आधार पर संकलित है।[२९]

समरूपता हमरी व्यर्थ की परिकल्पनाओं पर अंकुश लगाती है। यह संरचना की संभावना को सीमित कर देती है। बहुत सारी वैज्ञानिक काल्पनिक कहानियाँ दूसरे ग्रहों से आने वाले जीवों के विषय में प्रचलित हैं। लेकिन यहाँ भी समरूपता हमारा मार्गदर्शन करती है। दूसरे ग्रह से आने वाले जीव राक्षस हो सकते है, लेकिन उनके लिए भी पार्श्वीय समरूपता की आवश्यकता होगी।[३०]

प्रसिद्ध दार्शनिक डेविड ह्यूम ने यहसंदेह व्यक्त किया था कि क्या प्रमाण है कि सूर्य अगले दिन उदय होगा? हमारा यह विश्वास कि सूर्य अगले दिन उदय होगा अभ्यास पर आधारित है। लेकिंन आज हम इस सिद्धान्त में अधिक विश्वास करते है कि सूर्य कब उदित नहीं होगा, इसकी भविष्यवाणी वैज्ञानिक समुदाय हजारों हजारों साल पहले करने में सक्षम है। हमारा ज्ञान भले ही आगमनात्मक है, संभावनायुक्त है लेकिन एक संभावना दूसरी संभावना से कई गुना प्रबल है। सूर्य कल उदय नहीं होगा संभावित है तथा वैज्ञानिक सूर्य के उदय न होने की भविष्यवाणी हजारों साल पहले कर सकते है– यह भी संभावित है, लेकिन दूसरी संभावना, आज वैज्ञानिक युग में पहली संभावना से प्रबल होने के कारण इसको निरस्त करती है। सूर्य कल उदय होगा केवल अभ्यासीय आधार पर आज आधारित नहीं है। ह्यूम के समय में यह था। आज हमारा विश्वास अभ्यास के अतिरिक्त ठोस वैज्ञानिक सत्यों पर भी आधारित है। विज्ञान की सफलता मात्र इसमें नहीं है कि उसने हमें कुछ ज्ञान दिया है, अपितु इसमें भी है कि उसने पूर्व दार्शनिकों विचारकों के अनेक परिकल्पित

संशयात्मक जिज्ञासाओं के लिए द्वार बन्द कर दिया है। इसलिए एक वैज्ञानिक कहता है, "भौतिकशास्त्र के अकाट्य नियम, जो मानव बुद्धि में प्रतिबिम्बित है, रहने वाले है।"[३१]

समरूपता न केवल वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए दिशा निर्देश करती है अपितु अध्यात्मिक स्थिति का भी संकेत करती है। श्रीमद्भगवतद्गीता में स्थितप्रज्ञ का लक्षण, वास्तव में समरूपीय स्थिति का ही वर्णन है। स्थितप्रज्ञ वह है जो सुख-दुःख, भय, शोक, क्रोध इत्यादि की परिस्थितिओं मे भी अपनी स्थिति में भी कोई परिवर्तन हीं होने देता है। जितने अंश में हम समरूपता के निकट होते है, उतने अंशों में ही हम साधु पुरुष होते हैं। अतः समरूपता विज्ञान और अध्यात्म दोनों का एक महत्वपूर्ण प्रत्यय है। दोनों ही अपने-अपने ढंग से अक्षर पदार्थ को पाने का प्रयास करते है। अद्वैत वेदान्त में इसीलिए तत्त्व का स्वरूप अबाधितार्थ के रूप में प्रदर्शित किया गया है तथा प्रमा की परिभाषा करते हुए भी अबाधितार्थ विषयक ज्ञान की ही प्रमा माना गया है। व्याकरण दर्शन में भी आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यपदीयम् (१.९) में प्रणवाक्षर की महिमा का गुणगान करते हुए इसी हेतु को रेखांकित किया है (युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिनी) विज्ञान भी अपने ढंग से अक्षर पदार्थ की प्राप्ति में जुटा हुआ है। अक्षर पदार्थ की दृष्टि से तथा अक्षर पदार्थ के ज्ञान की दृष्टि से ही ज्ञान में वस्तुनिष्ठता का विधान सरलता से किया जा सकता है।

संदर्भ और टिप्पणी

१. ज्ञानं शास्त्रोक्तपदार्थनां परिज्ञानं, विज्ञानं तु शास्त्रतो ज्ञातानां तथा एव स्वानुभवकरणम् श्रीमद्भगवद्गीता ६.८ पर शांकर- भाष्य, (गीता प्रेस, गोरखपुर, १९७१)

२. Reason, holding in one hand its principles, according to which alone concordant appearances can be admitted as equivalent to laws and in the other hand the experiment which it has devised in conformity with these principles, must approach nature in order to be taught by it. Kant I., **Critique of Pure Reason cd, & tr,** by smith. N. K. (MacMillan 11th Impression, 1973, London, p.20.

३. **Metaphysica** Book Al in *The Works of Aristotle*, 2nd Edition tr. & ed. under the editorship of W. D. Ross. VIII, p. 981. A (Oxford at the Calendar Press, 1928).

४. राजशेखर ने काव्य मीमांसा में बुद्धि के तीन भेद किये है- स्मृति, मति तथा प्रज्ञा (त्रिधा च सा, स्मृतिर्मति प्रज्ञेति। अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्त्री:। वर्त्तमानस्य मन्त्री मतिः। अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञेति)। यहाँ प्रतिभा को करण प्रज्ञा के अर्थ में कहा गया है जो अनागत पदार्थों का ज्ञान कराती है। स्मृति भूत विषयक होती है तथा मति वर्त्तमान विषयक होती है। राजशेखर के अनुसार प्रतिभा के कारण परोक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष की तरह दिखायी पड़ते है तथा अप्रतिभा के कारण प्रत्यक्ष पदार्थ भी परोक्ष की तरह दिखायी पड़ते है। *अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्षइव प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव।* राजशेखर, काव्य मीमांसा चतुर्थ अध्याय, पृ० २७ एवं ३०, अनु० तथा सपा० राय, गंगासागर (चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी १९६४)

५. Faith (fides) implies the assent of the intellect to that which is believed. Tranoy, K., Thomas Aquinas', in **A critical History of Western Philosophy,** Ed. by D. J O'Connor, (The Free Press, New York, London 1964, p. 102.

६. What Aquinas does in this passage is to distinguish faith and scientific knowledge as two different species under a common genus; the assent of the intellect. As above, p. 102.

7. Most Scientist are prepared to grant that the chief theoretical (that is, non-pragmatic) aim of scientific research is to answer, in an intelligible, exact and testable way, five kinds of question, namely those begining with what (or how), where, when, whence and why. For the sake of brevity let us call them the five W's of sciences. Bunge, M. **Causality and Modern Scicnce,** (Dove Publication, New York 1959), p. 248.

8. ".....the scientist is committed to the assumption of an affinity between his own mind and the laws of nature". Quoted from Feibleman, J. K., An Introduction to the Phiilosophy of Charles S. Peirce, (The M. I. T. Press Massachusetts. Cambridge. London, England Second Impression, 1970), p. 337.

9. As above, p. 338.

10. **As above.**

11. We usually conceive nature to be perpetually making deductions in Barbara This is our natural and nthropomorphic metaphysics. उपरोक्त पुस्तक से उद्धृत, पृ.३४५.

12. As above.

13. Lipscomb, William N., 'Aesthetic Aspects of Science in the Aesthetic Dimcnsion of Science, ed. by Dean W. Curtin (Philosophical Library New York, 1980) से उद्धृत, पृ० ५

14. उपरोक्त पुस्तक से उद्धृत, पृ० ७

15. एफ ऐंजल्स के अनुसार द्वन्द्ववाद के तीन प्रमुख नियम इस प्रकार है– (1) The law of the transformation of quantity into quality and vice versa; (2) The law of interpenatration of opposites; (3) The law of the negation of negation. Angles, F., **Dialectics of Nature,** tr. by Dutt. C., (Progress Publisher Moscow 7th Empression 1976), p. 62.

16. "The scientific imagination dreams of explanation and laws." Imaginative reasoning is reasoning by diagrams. Quoted from Feibleman, J. K., An Introduction to the Philowophy of Charles S. Peirce, The M. I. T. Press (Massachusetts), London, Second Impression. 1970, p. 340.

17. Standing at the blackboard and drawing some figures on it with chalk I was suddenly struck by the idea; why is symmetry so pleasing to eye? What is symmetry? It is an innate feeling, I answered myself. But what is it based on?" Lev Tolestoy, Quoted from **This Amazingly Symmetrical World** by L. Tarasov, tr. by Alekzandar Repyev (Mir Publishers Moscow), p. 12.

18. So a scientist definition of symmetry would be something like this;

Symmetry is an invariance of an object or system to a transformations. Symmetry and The beautiful Universe by Noble Laureate, Leon M. Lederman and Christopher T. Hill (Prometheus Books, New York, 2004, 2nd Edition 2008), p.15.

19. Aristophanes in Plato's Symposium tells a story about the transition from spherical to bilateral symmetry. Originally man was round. his back and sides forming a circle. To humble their pride and might. Zeus cut them into two and had Apole turn their faces and genitals around and if, said zeus, "I have any more trouble with them I shall split them up again, and they have to hop about one." **Symposium** in the Collected Dialogues of Plato, ed, by Hamilton, E. and Cairns, H., (Princeton University Press, 1961, 5th impression New Jersey), p.543.

20. Symmetry was a totally modern and revolutionary way to think about the laws of nature, Noether's theorem intimately intertwines dynamics together with symmetry. It ultimately explains the forces and dyamics of nature that arise as a consequence of deep, underlying symmetries. Noether's theorem is certainley one of the most important mathematical theorems ever proved in guiding the development of modern physics, possibly on a par with the Pythagorean theorem. It doesn't lie in the province of mathematics along but rather is a profound statement about the entire physical world **symmetry** and **The Beautiful Universe** by Noble Laureate. Leon M. Ledrman and Christopher T. Hill (Prometheus Books, New York, 2004, 2nd Edition2008), p. 73

21. For every continuous symmetry of the lows of physics, there must exist a conservation law.

For every conservation law, there must exist a continuous symmetry- Noether's theorem quoted from **symmetry** and **The Beautiful Univrse** by Noble Laureate, Leon M. Lederman and Christopher T. Hill (Prometheus Books, New York, 2004, 2nd Edition 2008), p. 97.

22. **Symmetry** and **The Beautiful Univrse** by Noble Laureate, Leon M. Lederman and Christopher T. Hill (Prometheus Books, New York, 2004, 2nd Edition 2008), p. 82-87.

23. The local laws of nature are fundamental and all-pervasive. The local laws detemine ultimately what can or cannot exist. The global universe is ultimately one of the many gadgets or inventions or *applications* that one can make from the detailed unerstanding of the local laws of nature, as above, p. 95.

24. सैद्धान्तिक भौतिक विद् के रूप में आस्ट्रीयन भौतिकविद् वोल्फगैंग पौली (Wolfgang Pauli) की ख्याति अद्भुत थी। उनके विषय में किंवदन्ती थी कि उनके किसी नगर में उपस्थिति मात्र से उस नगर में होने वाले प्रयोगों से गणबड़ निष्कर्ष मिलने लगते थे। १९४५ में उन्हें नोबेल पुरस्कार मिला।

25. Our faith, or should we say confidence (as science is not faith-based), in the symmetries to the structure of space and time, and Noether's theorem would at this point, be very hard to shake. **Symmetry** and **The Beautiful Uni-**

verse by Noble Laureate, Leon M. Lederman and Christopher T. Hill (Prometheus Books, Now York, 2004, 2nd Edition 2008). p. 109.

26. Inded, the symmetries we uncover are the basic principles that define our laws of natulre and the laws of physics, hence those that control our universe. **Symmetry and The Beautiful Universe** by Noble Laureate, Leon M. Lederman and Christopher T. Hill (Prometheus Books, New York, 2004, 2nd Edition 2008), p. 43.

27. सामान्यत: यह विश्वास करते है कि टहलने से व्यक्ति के भार में कमी होती है। यदि घूर्णन के संरक्षण का सिद्धान्त सत्य है तो ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि गति का सम्बन्ध मात्रा की वृद्धि से है। यह जो टहलने से भार में कमी होती है, वह ग्रंथियों के स्राव के कारण प्रतीत होता है।

28. Essentially everything becomes a phyical system, when viewed through the prism of physics. A physical *system* is said to possess a *symmetry if one can make a change in the system such that, after the change, the system is exactly the same as it was before.* We call the change we are making to the system a *symmetry operation or a symmetry transformation....*

So, a scientist's definition of *symmentry would be something like this: symmetry is an invariance of an object or system to a transformation.*

Symmetry and The Beautiful Universe by Noble Laureate, Leon. M. Lederman and Christopher T. Hill (Prometheus Books, New York, 2004, 2nd Edition 2008), p. 15.

29. ......the mere existance of certain symmetries requires the existence of the forces that we observe in nature. We now know that all the forces in nature come from these deeper kinds of symmetries, called gauge symmetries...

Physicists now revere these yet fundamental symmetries of nature, and we have come to see them as real and to imtimately appreciate their subtle consequnces. **Symmetry and The Beautiful Universe** by noble Laureate, Leon M. Lederman and Christopher T. Hill (Prometheuw Books, New York, 2004, 2nd Edition 2008), p. 78.

30. The Extraterrestrial may be like a dragon from some fairy tale. but not like a Push-Pull, by no means. He cannot be left-eyed or ritht-eared. He must have and equal number of limbs either. Symmetry requirements reduce drastically the number of possible versions of the extraterrestrial's. appearance. Lev Tolestoy, Quotd from **This Amazingly Symmetrical World** by L. Tarasov, tr. by Alekzandar Repev (Mir Publishers Moscow). p. 50.

31. "The eternal laws of physics, reflected in the human intellect, will go on."

He further says. "Nature goes on, however, with its eternal laws, permitting us, so far to see only part of the whole. Although the theory of everything still eludes us, the language has been learned-whatever new answers are found and deeper questions spawned, about the universe on its mathematical fabric, at centre will be symmetry. **Symmetry and The Beautiful**

Universe by Nobel Laureate, I con M. Ledeman and Christopher T. Hill (Prometheus Books, New York, 2004, 2nd Edition 2008), p. 289.

32. एक आधुनिक दार्शनिक विचारक रोबर्ट नोजिक ने अपने ग्रंथ अपरिवर्तनीयताएं (**Invariances**) नामक ग्रन्थ में वस्तुनिष्ठ तथ्य या सत्य के तीन लक्षणों का उल्लेख किया है : (१) वस्तुनिष्ठ तथ्य कई दृष्टिकोण से समझा जा सकता है। वस्तुनिष्ठ तत्त्व के ज्ञान के लिए प्रमाणों का संप्लव होना चाहिए; (२) उसके विषय में अर्न्तव्यक्ति सहमति होनी चाहिए; (३) वस्तुनिष्ठ सत्य अथवा तथ्य का अस्तित्व हमारे विश्वासों तथा इच्छाओं से स्वतंत्र होना चाहिए। नोजिक के अनुसार ये सारे लक्षण की व्याख्या अपरिवर्तनीय तत्त्वों या सत्यों के मानने पर निर्भर है। (However, it is a fourth and more fundamental characteristic of objective truth that I want to investigate here and objective fact is invariant under various transformations. It is this invariance that constitutes something and objective truth and it underlies and explains three-features "to the extent that they hold"), Nozick, Robert, **Invariances**: *The structure of the Objective World* (The Belknap Press of Harvard University Press, Cambridge Massachusetts, London, England 2001), p. 76.



विधि में प्रमाण विमर्श

प्रो० डी० के० शर्मा
संकाय प्रमुख एवम् विभागाध्यक्ष
विधि संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्याय, वाराणसी।

समूची भारतीय न्यायिक व्यवस्था ही प्रमाण (oriented) अर्थात सबूत (साक्ष्य) Evidence पर आधारित है। यह भारतीय विधि व्यवस्था जो प्रमाण पर आधारित है या साक्ष्य आधारित है, इसके अपने कुछ महत्वपूर्ण निहितार्थ हैं, जो भारतीय न्यायिक विधिक विधिशास्त्र के इस सामान्य लेकिन महत्वपूर्ण सूक्ति पर आधारित है कि–

चाहे कितने भी अपराधी दण्ड से बच जाय परन्तु एक भी बेगुनाह या निर्दोष व्यक्ति दण्डित न होने पाये।[१]

विधिक विधिशास्त्र में 'प्रमाण' वह शब्दावली है जो समूची न्यायिक प्रक्रियाओं एवं व्यवस्थाओं की आधारशिला है क्योंकि किसी भी न्यायिक विधिक कार्यवाही या समस्याओं का निराकरण करने के लिए कुछ ठोस आधार चाहिए एवं यह ठोस आधार सबूत, साक्ष्य, प्रमाण द्वारा प्रदान किया जाता है तथा यह प्रमाण जब दिया जाता है तो व्यक्ति के शुद्ध अंतःकरण द्वारा भी इसे स्वीकार्य किया जाता है एवं यह किसी तथ्य को सुसंगत बनाकर स्पष्ट कर देता है। अतः प्रमाण का विधि में अहम योगदान है जिसे नकारा नहीं जा सकता है इस संबंध में भरपुर सिंह बनाम शमशेर सिंह[२] का मामला उल्लेखनीय है जिसमें सर्वोच्च न्यायालय ने व्यवस्था दी कि यद्यपि वसीयत एक पंजीकृत विलेखह या परन्तु प्रस्तावक को वसीयत का सम्यक निष्पादन साबित करना चाहिए। प्रस्तावक को वसीयतकर्त्ता के मस्तिष्क का ठोस और व्ययन करने वाली दशा और हस्ताक्षर को भी साबित करना चाहिये।

भारतीय विधिक व्यवस्था में साक्ष्य का इतिहास[३]–

(क) हिन्दू काल– हिन्दू धर्मशास्त्र में साक्ष्य विधि के विषय में काफी सामाग्री है, धर्मशास्त्रकारों ने विचारण का उद्देश्य सत्यता को बताया। वे इस बात पर बल देते थे कि "प्रमाण द्वारा झूठ में से सच उसी प्रकार निकालना होता है जैसे सर्जन द्वारा घायल सैनिक

के शरीर से लोहे के तीर को।"

याज्ञवल्क्य ने कहा है कि "कपटी बातों को व्यक्त करके राजा को सच्चे तथ्यों के अनुसार निर्णय देना चाहिये।"

धर्मशास्त्र में चार प्रकार के प्रमाण (साक्ष्य) मान्यता प्राप्त थे–

१. लेख (दस्तावेज संबंधी)

२. साक्षी (गवाह) द्वारा मौखिक साक्ष्य

३. भुक्ति (कब्जा)

४. दिव्य (दैवी परीक्षा)

इसके अलावा धर्मशास्त्र में नोटोरियल पद्धति का भी जिक्र है।

विष्णुस्मृति में कहा गया है कि झूठा साक्षी बदले हुए चेहरे, मुखाकृति का रंग बदलने और माथे के पसीने, विषय से बदलती बातचीत, सूखती काँपती जुबान, होठ काटने से पहचाना जा सकता है।

मनु ने भी साक्षियों के परीक्षण का तरीका विस्तारपूर्ण ढंग से बताया है।

मिताक्षरा ने कहा है कि अन्य प्रकार का साक्ष्य केवल सकारात्मक बातों को जबकि दैवी परीक्षा नाकारात्मक बातों का भी निश्चय कर सकता था।

(ख) भारतीय मुस्लिम काल– इस काल में साक्ष्य मौखिक तथा दस्तावेजी, साक्ष्यो में बँटा था।

कुरान में कहा गया है कि "सत्य पर विश्वास करने वालों न्याय का पालन करो।" एवं "विश्वास करने वालो, न्याय के समर्थन करने वाले बनो।"

इस काल में साक्ष्य कमीशन पर भी लिया जाता था तथा साक्षियों को सही प्रमाण साक्ष्य देने हेतु सौगंध (शपथ) खाना पड़ता था।

मुस्लिमों को खुदा की जबकि हिन्दुओं को गौमाता की, जबकि ईसाइयों को बाइबिल की कसमें दिलायी जाती थी। इस काल में साक्ष्य विधि के तहत साक्षियों के प्रमाण की सत्यता सुनिश्चित करने हेतु उनकी मुखाकृति एवं मुद्रा पर अधिक ध्यान दिया जाता था।

इस प्रसंग में एक मुकदमे का हवाला दिया जा सकता है– एक हिन्दू लिपिक ने एक मुगल सिपाही के विरुद्ध उसकी स्त्री को भगा ले जाने का दावा दायर किया था। उसकी स्त्री ने परिवादी को अपना पति मानने से इन्कार कर दिया। सम्राट शाहजहाँ जो कि उस मुकदमे का विचारण कर रहे थे, उस स्त्री के हावभाव तथा मुखाकृति को देखकर जो कि साक्षी के कट गढ़े में थी, उसके कथन से संतुष्ट नहीं हुए। अतएव उसने तुरन्त उसको आज्ञा दी कि वह न्यायालय की दवात में स्याही भरे। जो कि उस स्त्री ने तुरन्त भर दी। इससे सम्राट ने

निष्कर्ष निकाला कि वह स्त्री हिन्दू लिपिक की पत्नी थी और उसके हक में डिक्री प्रदान की।

इससे प्रतीत होता है कि समस्याओं की जटिलताओं का निराकरण करने में प्रमाण (साक्ष्य) में कठोर एवं ठोस शक्ति है।[५]

प्रत्येक मामले में लगभग स्थिति यह होती है कि कुछ तथ्य या कुछ प्रतिपादनाएं एक ओर के पक्षकार द्वारा स्वीकार्य किया जाता है और दूसरी ओर के पक्षकार द्वारा उस स्वीकारी को इन्कार या कम से कम स्वीकार, अंशतः स्वीकार एवं अंशतः इन्कार किया जाता है। तब प्रश्न उठता है कि उनदोनों में से किस पक्षकार को उस विवादित तथ्य या मामले को साबित करना जरूरी है। ऐसी स्थिति में प्रमाण (साक्ष्य) प्रस्तुत करने की अपेक्षा पक्षकारों से होती है जिसे सबूत का भार (Burdon of Proof) कहते हैं एवं जो पक्षकार अपनी तरफ से ज्यादा से ज्यादा ठोस प्रमाण (साक्ष्य) न्यायालय में विधि के समक्ष प्रस्तुत करता है उसके पक्ष में न्यायालय उचित (Just) ऋजु (Fair) युक्तियुक्त (Reasonable) निर्णय (फैसला) देता है। इस प्रकार प्रमाण की प्रांसगिकता और भी बढ़ जाती है।[६]

फिप्सन महोदय ने कहा है कि प्रमाण का महत्व यह है कि "यदि कोई साक्ष्य उस पक्षकार द्वारा न दिया जाय, जिसके ऊपर उसका भार डाला गया है, तो वह विवादित तथ्य, मामला उसके विरुद्ध निष्कर्षित किया जाएगा।

AIR - 1964SC.136 राघवम्मा बनाम ए. चनकम्मा[७] के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने फिप्सन महोदय के मतों का समर्थन किया है तथा यह भी बताया कि "सबूत का भार" तथा "साबित करने का भार" के बीच सारभूत अंतर है।

सबूत का भार उस व्यक्ति पर होता है जिसे कोई तथ्य साबित करना होता है और यह कभी भी किसी दूसरे पक्ष पर नहीं जाता है। साबित करने का भार का अर्थ होता है प्रारंभ करने का अधिकार। यह सबूत पेश करने के भार के समान स्थिर नहीं रहता और ऐसे तथ्यों को साबित करने के कारण स्थिर नहीं रहता और ऐसे तथ्यों को साबित करने के कारण जिससे उसके पक्ष में उपधारणा की जा सकती है, दूसरे पक्ष पर चला जाता है।

साक्ष्य के संबंध में[८] भारतीय साक्ष्य अधिनियम १८७२ की धारा ३ के निर्वचन खण्ड में व्यवस्था की गई है कि (१) वे सभी कथन, जिनको जांचाधीय विषयों के संबंध में न्यायालय अपने सामने साक्षियों द्वारा किये जाने की अनुज्ञा देता है, या अपेक्षा करता है।

ऐसे कथन मौखिक साक्ष्य कहलाते है।

I. T Act. २००० द्वारा जुड़ी न्यायालय के निरीक्षण के लिए पेश किए गये सब दस्तावेजे (जिनमें इलेक्ट्रानिक अभिलेख शामिल हों) दस्तावेजी साक्ष्य कहलाती हैं।

विधिक न्यायिक व्यवस्था में प्रमाण अर्थात सबूत, साक्ष्य का वही महत्व है जो विज्ञान

में रासायनिक संरचना या मिलावट का जैसे विज्ञान में जल को जमीन, आकाश या हवा में कही भी हाइड्रोजन के दो अनुपात एवं ऑक्सीजन के एक अनुपात को रासायनिक प्रक्रिया द्वारा बनाया जाय, वह जल ही बनेगा।

भारतीय विधिशास्त्र[९] में अक्सर कहा जाता है कि "कानून के हाथ लंबे होते हैं", इसका निहितार्थ यह है कि चाहे अपराधी कितना भी झूठ बोले साक्ष्य नष्ट करे, परन्तु वह कोई न कोई ऐसा ठोस सबूत या प्रमाण छोड़ जाता है जिससे उसे अंततः पकड़ा जाता है एवं दण्डित किया जाता है। इसी दृष्टिकोण से सबूत साक्ष्य का होना विमर्श का महत्वपूर्ण अवयव विधिक परिप्रेक्ष्य में है।

टेलर के अनुसार[१०]– साक्ष्य या प्रमाण वह साधन है जिसके द्वारा किसी तथ्य को साबित या नासाबित किया जाता है।

साक्ष्य के प्रकार–

१. मौखिक एवं दस्तावेजी साक्ष्य
२. न्यायिक एवं न्यायातिरिक्त साक्ष्य
३. वैयक्तिक एवं वस्तु साक्ष्य
४. प्राथमिक एवं द्वितीयक साक्ष्य
५. प्रत्यक्ष एवं परिस्थितिजन्य साक्ष्य
६. मूल एवं अनुश्रुत साक्ष्य

ये वर्गीकरण निश्चित तो नहीं है परन्तु विद्वान विधिक लेखकों ने अपनी सृजनात्मक सुविधा हेतु इसे वगीकृत किया है। जैसे सिविल प्रक्रिया संहिता, १९०८ के आदेश १९ नियम (१) व (२) के तहत शपथपत्र भी एक साक्ष्य है।

AIR - 2002SC.2787 धनंजय बनाम स्टेट ऑफ महाराष्ट्र[११] एवं स्टेट ऑफ यू० पी० बनाम मानसिंह[१२] AIR - 2003SC.62 के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह व्यवस्था की कि प्रत्यक्ष साक्षियो का साक्ष्य जो यह था कि मृतक की हत्या तथा उसे सिर को धड़ से काटने की घटना उन्होंने देखी थी और यह भी देखा कि खीचते हुये ले जाकर शव को नदी में डाल दिया गया था और यह कि उन्होंने तुरन्त ही शव को वहाँ से निकालकर पुलिस को आगाह कर दिया था, इस साक्ष्य की तत्पश्चात् एक स्तर पर यह कहकर काटने नही दिया गया था कि उस समय घनी धुंध थी और इसलिए साक्षीगण कुछ भी देख नहीं पाये होगे।

AIR - 2002SC.3206 आशीश बाँथम बनाम स्टेट ऑफ एम० पी०[१३] के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने मत व्यक्त किया कि संदेह चाहे कितना भी गहरा क्यों न हो, विधिक सबूत का स्थान नहीं ले सकता। जितना गंभीर आरोप होगा उतना ही सबूत का स्तर

ऊँचा होगा। न्यायालय को केवल यह नही देखना होता है कि सच्चाई क्या हो सकती थी, बल्कि यह भी कि अनिवार्य रूप से क्या रही होगी।

प्रोफेसर सामंड का मत है कि कोई भी ऐसा तथ्य जिसमें प्रमाणकारी बल हो, साक्ष्य कहलाता है। प्रमाण या साक्ष्य अंग्रेजी भाषा Evidence शब्द, लैटिन शब्द Evidere से निकला है जिसका तात्पर्य स्पष्टतः पता लगाना, सुनिश्चित या साबित करना है। उदाहरण– यदि प्रश्न हो कि क्या आगजनी आरंभ होने के पूर्व कोई विस्फोट का धमाका तथा उसकी चमक इसके साक्ष्य है एवं जिन्होंने ऐसा धमाका सुना तथा चमक देखी वे साक्ष्य (प्रमाण) दे सकते हैं।

लेकिन न्यायाधीश का व्यक्तिगत ज्ञान तथा अवलोकन साक्ष्य नही है।

आजकल[१४]

(१) टेप अभिलेख (Type recording)

(२) खोजी कुत्ते

(३) विडियो कांफ्रेसिंग

(४) (लाई डिटेक्टटर टेस्ट) Lie detector test repert

(५) (ब्रेन मैंपिग) Brain mapping

इत्यादि के साक्ष्य यदि युक्तियुक्त एवं समपुष्टिकारक है तथा बिना किसी अधिक्षेप के युक्तियुक्त प्रक्रिया का पालन करके सभी आरोपों से मुक्त है, तो ये प्रमाणकारी हो सकते है परन्तु इनमें प्रमाणकारी बल होने चाहिए।

सबूत एवं साक्ष्य दोनों पर्यायवाची न होकर सबूत साक्ष्य का प्रभाव है। प्राथमिक साक्ष्य जिसे भारतीय सामाजिक अधिकार १८७२ की धारा ६२ में बताया गया है सर्वोत्कृष्ट साक्ष्य है यह मूल दस्तावेज है एवं साक्ष्य विधि का मूल सिद्धांत प्राथमिक साक्ष्य पेश करना चाहिए जब तक वह प्राप्य हो सके, यह सामान्य नियम है साक्ष्य का सामान्य नियम यह है कि सिविल (सिविल वाद में) मामलों में दस्तावेजी सबूत को दस्तावेज द्वारा ही साबित किया जाना चाहिए, जब तक कि वह प्राप्य हो।

दाण्डिक (आपराधिक) या फौजदारी मामलो में चश्मदीद गवाह का बयान ज्यादा महत्वपूर्ण अन्य साक्ष्यों के नयिस्पत है। इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण वाद AIR - 19664SC.119 अधनू नागेशिया बनाम स्टेट ऑफ बिहार[१५] में सर्वोच्च न्यायालय में मत प्रकट किया कि जब प्रथम सूचना रिर्पोट में अभियुक्त ने ऐसी बातें लिखवाई हो जिनमें से कुछ बचाती है तथा कुछ फँसाने वाली है, दोनों को अलग-अलग नही किया जा सकता है तो संपूर्ण कथन साक्ष्य से हटा देना चाहिए।

AIR - 19664SC.40 साहू बनाम स्टेट ऑफ यू० पी०[१६] के मामले में

अभियुक्त पर आरोप था कि उसने अपनी बहू की हत्या की थी। वह उसके साथ सदैव ही लड़ा करता था। हत्या के दिन घर से निकलते समय वह बड़बड़ा रहा था और उसे कहते सुना गया– "मैंने उसे मिटा दिया और उसके साथ ही रोज के झगड़े।" यह कथन साक्ष्य के रूप में संस्वीकृति के तहत स्वीकार किया गया, क्योंकि संस्वीकृति के सुसंगत होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि इसे किसी अन्य व्यक्ति के प्रति किया जाये।

AIR - 1952SC.159 **कश्मीरा सिंह बनाम स्टेट ऑफ मध्यप्रदेश**[१७] मजिस्ट्रेट के समक्ष एक अभियोक्त्री की संस्वीकृति अभिलिखत की गयी कि उसने सह अभियुक्त जो कि उसका विवाहेतर मित्र था, के साथ मिलकर अपने पति की हत्या कर दी थी, इसे दोष सिद्धि के लिए पर्याप्त नहीं घटित किया गया। न्यायालय ने व्यवस्था दी कि अभियुक्त के दोषसिद्ध हेतु इसे अन्य साक्ष्यों द्वारा सम्पुष्ट किया जाना चाहिये।

AIR - 1999SC.3124 **स्टेट ऑफ तमिलनाडु बनाम नलिनी**[१८] इस वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने व्यवस्था दिया कि आतंकवादी और विध्वंसकारी क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, १९८७ की धारा १५० के अधीन किसी सह अभियुक्त की संस्वीकृति को अन्य अभियुक्तों के विरुद्ध मूल साक्ष्य का स्तर दिया गया है। किन्तु यह बात साक्ष्य की गुणवत्ता पर निर्भर करेगी। जो वजय दिया जाना होता है, वह साक्ष्य के मूल्यांकन पर निर्भर करता है और पूर्वावधानी के रूप में न्यायालय कुछ सम्पुष्टि भी चाह सकता है।

प्रमाण साक्ष्य का महत्व :– यह सत्य है कि निर्णय का मुख्य आधार साक्ष्य ही है– एक गलत साक्ष्य निश्चित रूप से निर्णय पर असर डालता है। एक घटना के होने पर उसके संबंध में तथ्यों का ढेर इकट्ठा किया जा सकता है इस ढेर में बहुत सी बातें घटना से किसी प्रकार जुड़ी तो होती है लेकिन आवश्यक नहीं है कि वे निर्णय तक पहुँचने में कोई मदद कर सके, अतः सबसे बड़ी आवश्यकता है कि साक्ष्य का एक वैज्ञानिक तरीके से चयन हो एवं एक क्रमबद्ध तरीके से उसे ग्राह्य किया जाए एवं उसके आधार पर सही निर्णय पर पहुँचा जाए।

स्टीफेन महोदय[१९] ने कहा कि "साक्ष्य के नियम न्यायाधीश को सत्यता को जानने के लिए ठोस परख प्रदान करता है। अर्थात यदि यह तथ्य कि कोई बात की गई हो तो आपके समक्ष वह व्यक्ति हो जिसने वह कार्य कारित होना अपनी आँखों से देखा हो, यदि यह तथ्य कि कोई बात कही गई हो, तो आपके समक्ष वह व्यक्ति हो जिसने अपने कानों से यह कहते हुये सुना हो, यदि वह लिखित पत्र हो तो वह पत्र आपके समक्ष हो और स्वयं आप उसको पढ़े।"

महान विधिवेत्ता स्टीफेन महोदय का विश्वास है कि साक्ष्य के नियम सभी तथ्यों के मामलो की तहकीकातों में विशेषकर न्यायिक प्रायोजनों में अधिक मूल्यवान है और कठिन

मामलो का बिना उनको ध्यान में रखे अन्वेषण करना लगभग असंभव होता है। वास्तव में हर युग में हर देश में, और हर क्षेत्र में साक्ष्य या प्रमाण के नियम रहे है और है। एक यही तथ्य स्वतः साक्ष्य या प्रमाण की महत्ता का ठोस प्रमाण है।

साक्ष्य (प्रमाण) का उद्देश्य :– न्यायाधीश वेस्ट[२१] ने कहा है कि "साक्ष्य का उद्देश्य न्यायालयों द्वारा किये गये अन्वेषणों को साधारण सुविधा की सीमा के अंदर निर्वन्धित करना है।" यदि ऐसे निर्वन्धन अन्वेषणों पर न लगाया जाय तो कोई भी मुकदमा, चाहे वह एक हजार वर्षो तक विचारण किया जाय, निर्णय न हो सकेगा।

भारतीय विधिक व्यवस्था में प्रमाण का आधार देशीय नियम पर आधारित साक्ष्य विधि है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि साक्ष्य न्यायालयों के मुख्य कार्य को सुगम बनाती है यह उन नियमों का समूह है जिनके द्वारा न्यायालय के समक्ष तथ्य साबित या नासाबित किये जाते है। यह न्याय प्रणाली को एक दिशा व दशा प्रदान करती है। जिसके माध्यम से पक्षकारों के अधिकारों को प्रभावित किये बिना उनके मध्य होने वाले विषाद को उचित रूप से निर्णित किया जा सके। यह विवादो को निराकरण करने हेतु एक रामबाण है।

***

सन्दर्भा

१. डॉ० अवतार सिंह, साक्ष्य विधि उन्नीसवाँ संस्करण २०१३, सी० एल० पी०
२. AI (ए० आई० आर०) २००९ एस० सी० १६६६:२००८ (१७) एस० सी० आर० ५१७ (२००९) ३ एस० सी० सी० ६८७ बटुकलाल भा० साक्ष्य अधि० षष्ठम् संस्करण पृष्ठ १६५६ ओरियंट पब्लिशंस कम्पनी
३. डॉ० आर० सी० निगम, भारतीय साक्ष्य अधिनियम, ४ संस्करण २००८, सी० एल० ए०
४. अरविंद कुमार दुबे, भारतीय साक्ष्य अधिनियम, द्वितीय संस्करण २००४ सेंट्रल लॉ एजेन्सी
५. डॉ० आर० सी० निगम, भारतीय साक्ष्य विधि, चतुर्थ संस्करण २००८ पृष्ठ सं० ७
६. रघुनाथ प्रसाद वर्मा, भारतीय साक्ष्य अधिनियम, १८७२ नवम् संस्करण २००६, पृष्ठ सं० २८०-३०५, इलाहाबाद लॉ एजेन्सी
७. ए० आई० आर० १९६५ एस० सी० १३६ (१४८) १९६४ (२) एस० सी० आर० ९३३

८. बटुक लाल, भारतीय साक्ष्य अधिनियम, १८७२, षष्ठम संस्करण २०११, ओरियंट पब्लिशिंग कंपनी
९. अपराध शास्त्र के सिद्धांत, प्रो० श्यामधर सिंह, पंचम संस्करण २००८ सपना अशोक प्रकाशन रामनगर वाराणसी।
१०. डॉ० अवतार सिंह साक्ष्य विधि, सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन्स, उन्नीसवाँ संस्करण २०१३
११. ए० आई० आर० २००२ एस० सी० २७८७
१२. ए० आई० आर० २००३ एस० सी० ६२
१३. ए० आई० आर० २००२ एस० सी० ३२०६
१४. डॉ० आर० सी० निगम, भारतीय साक्ष्य अधिनियम, चतुर्थ संस्करण २००८ सेंट्रल लॉ एजेन्सी
१५. ए० आई० आर० १९९६ एस० सी० ११९
१६. ए० आई० आर० १९६६ एस० सी० ४०
१७. ए० आई० आर० १९५२ एस० सी० १५९
१८. १९९९ क्रि एल० जे० ३१२४ (एस० सी०)
१९. डॉ० आर० सी० निगम, भा० साक्ष्य अधिनियम सी० एल० ए० चतुर्थ संस्करण २००८
२०. डॉ० अवतार सिंह भारतीय साक्ष्य अधिनियम १९ संस्करण सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन्स
२१. रघुनाथ प्रसाद वर्मा, भारतीय साक्ष्य अधिनियम नवम् संस्करण २००६ इलाहाबाद लॉ एजेन्सी पब्लिकेशन्स

***

प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद की सार्थकता

डॉ० अभिमन्यु सिंह
प्रोफेसर, दर्शन एवं धर्म विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

जब कोई वस्तु जैसी वह है उसरूप में न जानी जाकर किसी भिन्न वस्तु को रूप में जानी जाती है तो उस ज्ञान को भ्रमात्मक ज्ञान या संक्षेप में केवल भ्रम अथवा भ्रान्ति कहा जाता है। इस प्रकार की स्थिति सामान्यतः मनोवैज्ञानिक (मानसिक) अवधान की कमी या इन्द्रियगत विकारों के कारण उत्पन्न होती है। भारतीय दार्शनिक चिन्तन में यह (भ्रान्ति, भ्रम) अनेक रूपों में व्याख्यायित हुआ है। कभी यह लौकिक भ्रम के रूप में व्याख्यायित होता है तो कभी तत्त्वमीमांसीय पूर्वाग्रह के कारण अलौकिक भ्रम के रूप में। किन्तु सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय इस बात पर समान रूप से सहमत हैं कि (प्रत्येक) भ्रम में दो वस्तुयें होती है और एक को दूसरी वस्तु जान लिया जाता है। उनके बीच असहमति भ्रम में निहित दोनों वस्तुओं इस प्रसंग में, विशेष रूप से भ्रमात्मक वस्तु की सत्तात्मक स्थिति को लेकर है। प्रस्तुत लेख में हमारा उद्देश्य भारतीय दार्शनिक चिन्तन के भ्रम सम्बन्धी विचारों का विवेचन करना न होकर बौद्ध प्रमाण मीमांसा में प्रत्यक्ष प्रमाण के एक लक्षण के रूप में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण आवश्यक है या अनावश्यक है, का (इसका) विवेचन करना है।

बौद्ध ज्ञान मीमांसा में सम्यक् ज्ञान को प्रमाण कहा गया है। इसे दो प्रकार का माना गया है– प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष का विषय परमार्थ सत् स्वलक्षण है और अनुमान का विषय कल्पित संवृतिसत् सामान्य लक्षण। दोनों प्रमाण और उनके विषय परस्पर व्यावृत्त है। किन्तु उपरोक्त बातों से यही ध्वनित होता है कि वस्तुतः बौद्धों के अनुसार (परमार्थतः) प्रमाण एक ही है और वह है प्रत्यक्ष। अतएव परमार्थ सत् स्वलक्षण रूप विषय भी एक ही है। सामान्य लक्षण को कल्पित होने से विषय नहीं कहा जा सकता है। यह बात दिङ्नाग के प्रत्यक्षाभास सम्बन्धी विचार से भलीभाँति पुष्ट होती है। उन्होंने अनुमान और अनुमानजन्य ज्ञान की भी प्रत्यक्षाभासो में गणना की है। चूँकि व्यवहार में किसी ज्ञान को सत्य और किसी ज्ञान को असत्य मानना या कहना पड़ता है, इसलिए अनुमान को भी व्यावहारिक दृष्टि से एक प्रमाण मान लिया गया है।

प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण आवश्यक है कि अनावश्यक है— यह बौद्ध तार्किकों के बीच विवाद का विषय रहा है। असंग ने प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण किया था, किन्तु दिङ्नाग ने इसका ग्रहण नहीं किया। दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष को परिभाषित करते हुए कहा है कि प्रत्यक्ष कल्पनापोढ। धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में प्रत्यक्ष की परिभाषा में तो 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण नहीं किया किन्तु इस पद का ग्रहण आवश्यक है ऐसा संकेतित करते हुए उसका विशद विवेचन किया है। धर्मकीर्ति ने न्याय-बिन्दु में प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण किया है।[१] धर्मोत्तर ने न्याय-बिन्दुटीका में प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद के ग्रहण को अनिवार्य माना है, जिसका अनुगमन परवर्ती सभी बौद्ध तर्कशास्त्रियों ने किया है। आचार्य शान्त रक्षित ने भी तत्त्वसंग्रह के सत्रहवें परिच्छेद में प्रत्यक्ष के एक लक्षण के रूप में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण किया है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि तो फिर आचार्य दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण क्यों नहीं किया? इस प्रश्न के उत्तर में इसके अनेक (कई) कारण बताये जाते हैं। पहला कारण (इनमें से कुछ कारण शेरवात्स्की की पुस्तक बुद्धिस्ट लाजिक भाग-१, पृ० सं० १५५-१५७ तक उल्लिखित हैं।) यह बताया जाता है कि दिङ्नाग के अनुसार सभी भ्रान्तियाँ सविकल्पक होती हैं और मनोजन्य होती हैं। शुद्ध संवेदना (ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष) निर्विकल्पक होने के कारण सभी प्रकार के सम्यक् अथवा असम्यक् निर्णयों, संरचित विकल्पों आदि से सर्वथा रहित होती हैं। अतएव शुद्ध (ऐन्द्रिक) प्रत्यक्ष में कोई भ्रान्ति हो ही नहीं सकती। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का प्रयोग अनावश्यक हो जाता है। वस्तुतः 'अभ्रान्त' पद 'कल्पनापोढ' पद की पुनरावृत्ति मात्र है, क्योंकि 'अभ्रान्त' पद का पारमार्थिक अर्थ है कल्पनापोढ होना।

प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का प्रयोग न करने का एक अन्य कारण यह बताया जाता है कि दिङ्नाग प्रत्यक्ष की ऐसी परिभाषा देना चाहते थे जो वस्तुवादियों (यथार्थवादियों), जो बाह्य वस्तु की सत्ता का विधान करते हैं और विज्ञानवादियों, जो बाह्य वस्तु की सत्ता का निषेध करते हैं तथा आनुभविक (आलम्बन) ज्ञान पत्र को भ्रान्त मानते हैं, दोनों को समान रूप से स्वीकार्य हो। प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण बाह्यार्थ-विरोधी विज्ञानवादियों को स्वीकार्य नहीं होगा। इसीलिए दिङ्नाग ने वादविधि में वसुबन्धु द्वारा दी गयी प्रत्यक्ष की परिभाषा– 'ततोऽर्थाद् विज्ञान प्रत्यक्षम्' का खण्डन किया। दिङ्नाग का मानना था कि उपरोक्त प्रकार की तत्त्वमीमांसीय समस्याओं पर निर्णय देने या उनको विनिश्चित करने का प्रमाणमीमांसा समीचीन आधार नहीं है।

'अभ्रान्त' पद के कई अर्थ किये जाते हैं। यह पद अनेक अर्थों में व्याख्यायित होता है। कहीं (कभी) यह आनुभाविक (लौकिक) अर्थ में तो कहीं (कभी) अलौकिक अर्थ में

व्याख्यायित होता है। अतएव दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष की परिभाषा में इस पद का ग्रहण नहीं किया, क्योंकि इसका ग्रहण समूचे सिद्धान्त के लिए आत्मघाती सिद्ध हो सकता है। कभी-कभी भ्रान्त ज्ञान में भी प्रमाण का लक्षण घटित हो जाता है. शान्तरक्षित दिङ्नाग के इस मन्तव्य पर विचार करते हुये कहते हैं कि वे (दिङ्नाग) प्रत्यक्ष के लक्षण के रूप में 'अभ्रान्त' पद पद का ग्रहण नहीं करते हैं, क्योंकि उनका कहना (विचार) है कि पीतशंखादि भ्रान्त ज्ञान भी अविसंवादी अतएव अर्थक्रियाकारी होने के कारण (प्रत्यक्ष) प्रमाण के लक्षण से युक्त होता है।[२] अलिङ्गज होने के कारण इसे अनुमान नहीं कहा जा सकता है। दिङ्नाग ने इस प्रकार के भ्रान्त ज्ञानों को प्रत्यक्षाभास कहा है। शान्तरक्षित का कहना है कि पीतशंखादि ज्ञान अविसंवादी न होकर विसंवादी है; इसलिए उसमें प्रमाण (सम्यक् ज्ञान) का लक्षण नहीं जाता। यदि यह कहा जाय कि भले ही पीतशंख न प्राप्त होकर शुक्लशंख प्राप्त होता है किन्तु शंख (संस्थान आकार) तो प्राप्त होता ही है। इसलिए यह भ्रान्त ज्ञान अविसंवादी है और अविसंवादी होने के कारण प्रमाण है। इसके उत्तर में शान्तरक्षित कहना है कि कोई भी संस्थान (आकार) वर्ण से रहित नहीं हो सकता। कोई भी आकार वर्ण से पृथक् अपने आपमें प्राप्त नहीं होता है। इसलिए शुक्ल शंख के स्थान पर पीतशंखादि भ्रान्त ज्ञान अविसंवादी न होकर विसंवादी है और प्रमाण का लक्षण इसमें घटित नहीं होता है।[३] कमलशील का कहना है कि प्रमाणता केवल विषय के (वस्तु के) संगत अर्थ-क्रियाकारिता के आधार पर ही निश्चित नही की जा सकती, वरन् इसके लिए वस्तु के वर्ण आकार (संस्थान) को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। विषय (वस्तु) का आकार भी ज्ञान में प्रतिबिम्बित होता है। पीतशंख का ज्ञान पूर्व अनुभूत शुक्लशंख के संस्कार का कार्य है और यहाँ जो संगत अर्थ-क्रियाकारिता है वह भी इस वासना (संस्कार) के ही कारण है।[४]

धर्मकीर्ति ने प्रमाण वार्तिक में प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण नहीं किया है किन्तु इस पर विचार करते हुए इस पद के ग्रहण को आवश्यक बताया है। उनका कहना है कि शब्दार्थ-ग्राही ज्ञान कल्पना होता है।[५] कल्पना ज्ञान तीन प्रकार का होता है। (१) जैसे मरुमरीचि में जलादि व्यवसायी भ्रान्त ज्ञान (२) संवृतिसत् ज्ञान जैसे-यह एक बड़ा लाल घट है। (३) पूर्वदृष्ट-जनित संस्कार (स्मृति) के आधार पर (होने वाला) अनुमान, आनुमानिक ज्ञान स्मार्तज्ञान एवं आभिलाषिक ज्ञान। ये सभी ज्ञान केवल पूर्व अनुभूत कल्पना पर निर्भर होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं, वरन् प्रत्यक्षाभास कहे जाते हैं। उपरोक्त तीनों को सविकल्पक प्रत्यक्षाभास कहने (बताने) के उपरान्त धर्मकीर्ति एक चौथे प्रकार के प्रत्यक्षाभास का उल्लेख करते हैं जिसे वे अविकल्पक प्रत्यक्षाभास कहते हैं। (४) यह प्रत्यक्षाभास संदोषइन्द्रिय-जनित होता है। आश्रयीभूत इन्द्रियों की सदोषता के कारण तिमिरादि जनित केशोण्डूकादि का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं अपितु अविकल्पक प्रत्यक्षाभास होता है। इस प्रकार प्रत्यक्षाभास के चार भेद हैं।[६] इनको सविकल्पक और अविकल्पक में

वर्गीकृत करके दो प्रकार का माना जा सकता है। प्रथम तीन प्रत्यक्षाभास सविकल्पक और चौथा अविकल्पक है। ध्यातव्य यह है कि उपरोक्त सभी को दिङ्नाग ने समान रूप से प्रत्यक्षाभास कहा है।

चौथे (अविकल्पक) प्रत्यक्षाभास का प्रतिपादन करते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं कि नेत्र में तिमिर (तिरमिरा) रोग आ जाने से प्रत्यक्षकर्त्ता को आकाश में केंश-ग्रन्थियाँ उड़ती हुई दिखाई देती हैं और नेत्र विकार होने के कारण एक चन्द्रमा का दो चन्द्रमा के रूप में ज्ञान होता है। इस प्रकार (तरह) के भ्रान्त ज्ञान प्रत्यक्ष न होकर प्रत्यक्षाभास कहे जाते है। 'तिमिर' शब्द नेत्र-शक्ति के उपघातक सभी दोषों का उपलक्षण (उपलक्षक) है।[7] कुछ आचार्य (कणाद आदि) तैमिरिक ज्ञान को भी सविकल्पक (मनोजन्य) मानते हैं। उसकी व्यावृत्ति करने के लिए तिमिर शब्द का उपन्यास (प्रयोग) किया गया है। यदि तैमिरिकज्ञान अविकल्पक अर्थात् कल्पनापोढ़ होने के कारण प्रत्यक्ष है, तो सभी कल्पनापोढ़ ज्ञानों को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। अपितु अभ्रान्त कल्पनापोढ़ ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। अविकल्पक ज्ञानों में भ्रमात्मक तैमिरिक ज्ञान अपवाद है। अतएव इसका वर्जन करने के लिए 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण आवश्यक हो जाता है। आचार्य दिङ्नाग ने अपवाद स्वरूप भ्रान्त प्रत्यक्ष को ध्यान में रखकर प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं किया। उन्होंने 'कल्पनापोढ़' प्रत्यक्षके इस सामान्य लक्षण को ध्यान में रखते हुए प्रत्यक्ष का लक्षण किया है। 'कल्पनापोढ़' प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण है और 'अभ्रान्त' उसका विशेष लक्षण है। यदि कल्पनापोढ़ मात्र प्रत्यक्ष का लक्षण मान लिया जाये तो यह लक्षण अविकल्पक भ्रान्त तैमिरिक ज्ञान में भी प्रवृत्त (घटित) हो जाता है। इसका प्रत्यक्ष के विशेष लक्षण के ग्रहण से बाध हो जाता है। अतएव जब कभी कहीं सामान्य लक्षण भ्रान्त ज्ञान में भी घटित हो जाता है तो विशेष लक्षण के ग्रहण से उसका निरास (बाध) हो जाता है और ऐसी स्थिति में विशेष लक्षण का उल्लेख आवश्यक हो जाता है, ज़िससे परिभाषा अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्ति होने से बच जाती है। आचार्य दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण क्यों नही किया? इसके उत्तर में वार्तिक अलंकार-भाष्यकार का कहना है कि 'साक्षात् ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है।" उसका निदर्शन अभ्रान्त ग्रहण के द्वारा किया जा सकता है, क्योंकि असाक्षात्कारी ज्ञान अभ्रान्त नहीं होता, अपितु सविकल्पक भ्रान्त माना जाता है। अन्य दार्शनिक सविकल्पक को भी साक्षात्कारी और अभ्रान्त मानते हैं। उनेक अनुरोध पर लक्षणाभिधान किया गया है- विशेषलक्षणे परमतापेक्षं सर्वे त्वविकल्पका एवेति।[8] अथवा जिसका (जब तक) बाधक नहीं देखा जाता, वह भी पहले सामान्यतः जाना जाता है।

धर्मकीर्ति यही पर रुकते नहीं, वे अपने विश्लेषण को और आगे बढ़ाते हुये कहते हैं कि यदि यहाँ यह कहा जाय कि द्विचन्द्रादि में पहले चन्द्रविषयक अभ्रान्त ज्ञान उत्पन्न होता है और तत्पश्चात् द्विचन्द्राकार ज्ञान विकल्पनात्मक उत्पन्न होता है, तो इसके उत्तर में यह कहा

जा सकता है कि यद्यपि उक्त ज्ञान मानस है, फिर भी मानस भ्रम के लिये इन्द्रियों को हेतु मानना विरुद्ध नहीं क्योंकि परम्परया इन्द्रिय को भी उसका हेतु माना जाता है। हाँ, उस ज्ञान के मानस होने पर इन्द्रिय में साक्षात् हेतुता विरुद्ध पड़ती है। इन्द्रिय द्विचन्द्रज्ञान की परम्परया हेतु होती है। इस बात पर आचार्य का कहना है कि इन्द्रिय-ज्ञान विषय विचार के प्रसंग में मानस ज्ञान का क्या प्रसंग?[९] मानस ज्ञान निर्विषयक होता है। अतएव उसमें विषय का निरूपण उचित नहीं। इस पर और विचार करते हुये आचार्य धर्मकीर्ति का कहना है कि जैसे ऐन्द्रिय ज्ञान इन्द्रिय के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करता है, वैसे ही तैमिरिक ज्ञान भी। इन्द्रिय व्यापार के बिना तैमिरिक ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता, यदि यह कहा जाय कि इन्द्रिय के विकार से विक्रिया ज्ञान ऐन्द्रियक होता है तब भी उसका निषेध नही हो सकता।[१०] यदि द्विचन्द्रादि ज्ञान भ्रान्ति है, तब इन्द्रिय की विकृति में भी इसकी निवृत्ति होनी चाहिए। इन्द्रिय विकार होने पर उत्पन्न हुई सर्पादि भ्रान्तियाँ विचार होने पर निवृत्त हो जाती हैं। द्विचन्द्रादि भ्रान्ति नहीं। जबकि द्विचन्द्रादि भ्रान्ति को भी विचार होने पर निवृत्त हो जाना चाहिए क्योंकि इन्द्रिय विप्लव उसका कारण नहीं और जब इन्द्रिय विप्लव न हो तब भी उसकी निवृत्ति नही होनी चाहिए, क्योंकि अकारण की निवृत्ति से कार्य की निवृत्ति नहीं होती।[११]जैसे मरीचियों में पूर्वदृष्ट जल-स्मरण-सापेक्ष जल की भ्रान्ति होती है, वैसे ही द्विचन्द्रादि भ्रान्ति भी मानसी होने के कारण (पूर्व) दृष्ट द्विचन्द्र के स्मरण की अपेक्षा करेगी।[१२] जबकि द्विचन्द्र पूर्वदृष्ट होता ही नहीं। जो स्फुटावभासिनी बुद्धि होती है वह निर्विकल्पक मानी जाती है और जो अस्फुटावभासिनी होती है उसे सविकल्पक कहा जाता है। क्लपनापोढ प्रत्यक्ष ऐसा कहने पर तिमिरादि दोष जनित केशोण्डूकादि का निर्विकल्पक ज्ञान प्रमाणता को प्राप्त होता है, उसका निराकरण करने के लि 'अभ्रान्त प्रत्यक्ष' कहा गाय है। अतएव आचार्य दिङ्नाग ने प्रत्यक्षाभास के दो भेद बताये हैं- सविकल्पक और अविकल्पक।[१३] यहाँ धर्मकीर्ति का यह सब कहने का आशय यह है कि भ्रान्ति केवल मनोजन्य (सविकल्पक) ही नहीं होती, अपितु इन्द्रियजन्य (अविकल्पक) भी होती है। अतएव प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण किया जाना चाहिए। प्रमाणवार्तिक के टीकाकार मनोरथनन्दी का मत है कि 'सतैमिरम्' जो प्रत्यक्षाभास का दृष्टान्त-लक्षण का अंग है-"अभ्रान्तत्वस्य लक्षणैकदेशत्वोपलक्षकत्वम्" (प्रमाण वार्तिक मनोरथनन्दीवृत्ति, २-२९३)।

ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति ने प्रमाण वार्तिक में उल्लिखित उपरोक्त कारणों को ध्यान में रखकर ही न्यायबिन्दु में प्रत्यक्ष-लक्षण के रूप में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण किया। (देखिये सन्दर्भ संख्या १)। धर्मोत्तर ने न्यायबिन्दुटीका में 'अभ्रान्त' पद के ग्रहण के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए कुछ अन्य कारणों का भी उल्लेख किया है। उनका कहना है कि कल्पना के स्वभाव से रहित और अभ्रान्त ज्ञान ही प्रत्यक्ष (ज्ञान) कहलाता है। 'अभ्रान्त' पद की व्याख्या करते हुए धर्मोत्तर कहते है कि जो वस्तु के अर्थक्रिया-समर्थ

रूप से विपरीत नहीं होता वह अभ्रान्त कहा जाता है। विशेष प्रकार के सन्निवेश (रचना विशेष) के कारण वर्णात्मक (शुक्लादि) परमाणु ही घट आदि के रूप में जल लाना आदि अर्थ-क्रिया में समर्थ होते हैं। सन्निवेश-विशिष्ट वर्णात्मक (धर्मात्मक) परमाणु-संघात ही वस्तु का अर्थ-क्रिया-समर्थ रूप है। उस अर्थ-क्रिया-समर्थ वस्तुरूप में जो भ्रान्त नहीं होता वह अभ्रान्त कहा जाता है।[१४] धर्मोत्तर का विचार है कि प्रत्यक्ष के ये दो लक्षण केवल अनुमान की निवृत्ति के लिये ही नहीं है, अपितु मतभेदों, असहमतियों, आपत्तियों एवं विरुद्ध मन्तव्यो के निरास के लिये है। अनुमान की निवृत्ति तो केवल कल्पनापोढ़ शब्द के ग्रहण से ही हो जाती है। यदि प्रत्यक्ष-लक्षण के रूप में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण नहीं किया जायेगा तो चलते हुए वृक्ष का दर्शन आदि भी कल्पना-रहित ज्ञान होने के कारण प्रत्यक्ष माना जाने लगेगा। उस ज्ञान में प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति को वृक्षमात्र (गमन क्रिया से शून्य) की प्राप्ति भी होगी। अतएव वह ज्ञान अविसंवादक होने से सम्यक ज्ञान है और कल्पनापोढ़ हो. से प्रत्यक्ष है ऐसी आशंका (आपत्ति) हो सकती है। इस प्रकार की आशंका की निवृत्ति के लिये ही 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण किया गया है। चलते हुये वृक्ष का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि वह भ्रान्तियुक्त है। त्रिरूपलिङ्ग से उत्पन्न न होने के कारण यह अनुमान भी नही है और इनसे भिन्न कोई प्रमाण है ही नहीं। इसलिए चलते हुए वृक्ष का ज्ञान मिथ्याज्ञान है, क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रदेशों में जाता हुआ वृक्ष उस ज्ञान के द्वारा जाना गया था और एकदेश में स्थित (नियत) वृक्ष प्राप्त होताहै। इसलिए जिस देश (स्थान) में चलता हुआ वृक्ष देखा गया था उस देश (स्थान) में वह प्राप्त नहीं किया जाता और जिस देश में नियत (स्थित) वृक्ष प्राप्त किया जाता है वह देखा नहीं गया था। अतएव उस मिथ्याज्ञान से किसी भी वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है। उस देश में जाने पर होने वाले नियतवृक्ष-विषयक अन्य ज्ञान से किसी भी वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है। उस देश में जाने पर होने वाले नियतवृक्ष-विषयक अन्य ज्ञान से ही वृक्ष आदि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार 'अभ्रान्त' शब्द का ग्रहण विप्रतिपत्तियों (विरुद्ध मन्तव्यों) के निरास के लिए किया गया है।[१५]

धर्मोत्तर का कहना है कि इसी प्रकार 'अभ्रान्त' पद के ग्रहण से भी अनुमान की निवृत्ति हो जाती है तब 'कल्पनापोढ़' शब्द भी विप्रतिपत्तियों के निराकरण के लिये दिया गया है। वैसे तो व्यावहारिक दृष्टि से अनुमान सम्यक् ज्ञान है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से वह भ्रान्त ज्ञान है, क्योंकि वह अपने द्वारा गृहीत सामान्यलक्षण जो कि कल्पित वस्तु (अनर्थ) है, में परमार्थसत् वस्तु (अर्थ) का अध्यवसाय करके प्रवृत्त होता है। किन्तु प्रत्यक्ष तो वस्तु के ग्राह्य अर्थ के विपरीत नहीं होता।[१६] प्रत्यक्ष साक्षात्कारी और निर्विकल्पक ज्ञान होता है। किन्तु कुछ दार्शनिक सम्प्रदाय सविकल्पक ज्ञान को भी साक्षात्कारों और अव्यभिचारी (अभ्रान्त) मानते हैं। उनके मन्तव्यों के निराकरण के लिये ही प्रत्यक्ष-लक्षण के रूप में 'कल्पनापोढ़' शब्द का ग्रहण किया गया है।

धर्मोत्तर का सुझाव है कि प्रत्यक्ष-लक्षण के रूप में गृहीत 'अभ्रान्त' शब्द का अर्थ अविसंवादकं नहीं करना (लेना) चाहिए, क्योंकि प्रत्यक्ष सम्यक् ज्ञान है और अविसंवादकं ज्ञान सम्यग्ज्ञानम्' से ही उसका अविसंवादक होना सिद्ध है। इसलिए अविसंवादक के अर्थ में 'अभ्रान्त' शब्द का प्रयोग निष्प्रयोजन ही होगा। यदि अविसंवादक के अर्थ में 'अभ्रान्त' शब्द का ग्रहण माना जायेगा तो प्रत्यक्ष की प्ररिभाषा का अर्थ होगा-प्रत्यक्ष नामक जो अविसंवादक (सम्यक्) ज्ञान है, वह कल्पनापोढ़ और अविसंवादक (अभ्रान्त) होता है। इस तरह दो बार अविसंवादक कहने से कोई लाभ नहीं। अतएव धर्मोत्तर का कहना है कि प्रत्यक्ष का ग्राह्य जो अर्थ-क्रिया-समर्थ वस्तु का रूप है, उसमें जो ज्ञान विपरीत नहीं होता उसे यहाँ अभ्रान्त समझना चाहिए।[१७] (अभ्रान्त शब्द का इस अर्थ में ग्रहण योगाचार मत को भी स्वीकार्य हो सका है।) उपरोक्त विवरणों से यह स्पष्ट है कि धर्मोत्तर ने व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों दृष्टियों से 'अभ्रान्त' पद की व्याख्या की है।

न्यायबिन्दु में धर्मकीर्ति भ्रान्ति के विभिन्न रूपों का उल्लेख करते हुए प्रत्यक्ष को परिभाषित करते हैं। उनका कहना है कि कल्पना से रहित ज्ञान जिसमें तिमिर (इन्द्रिय में स्थित भ्रान्ति का कारण), शीघ्रता से घूमना (मशाल आदि का शीघ्रता से घूमना। यह विषय में स्थित भ्रान्ति का कारण है) नाव से जाना (चलती हुयी नाव में बैठे व्यक्ति को चलते हुये वृक्ष की भ्रान्ति हो जाती है। यह बाह्य आश्रय में स्थित भ्रान्ति का कारण है), तथा वात, पित्त, कफ आदि (इनके कारण जलते हुए खम्भे आदि की भ्रान्ति हो जाती है। यह आभ्यन्तर (शरीर में स्थित भ्रान्ति का कारण है) द्वारा भ्रम उत्पन्न नहीं किया जाता, प्रत्यक्ष है।"[१८] यहाँ धर्मकीर्ति ने भ्रम के जो उदाहरण दिये हैं उनसे यही प्रतीत होता है कि उन्होंने प्रत्यक्ष का यह लक्षण व्यावहारिक (प्रत्यक्ष को ध्यान में रखते हुये) दृष्टि से किया (दिया) है। धर्मोत्तर टीका में कहते हैं कि कल्पनापोढत्व और अभ्रान्तत्व- ये दोनों एक दूसरे की अपेक्षा से (परस्पर सापेक्ष होकर) प्रत्यक्ष के लक्षण हैं, इनमें से प्रत्येक (अलग-अलग, अकेले) प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं- यह दिखलाने के लिए यह कहा गया है कि उस कल्पना से रहित जो भ्रान्ति शून्य ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है।" इस प्रकार परस्पर सापेक्ष इन दोनों लक्षणों का लक्ष्य प्रत्यक्ष है।[१९]

आचार्य शान्तरक्षित ने भी तत्त्वसंग्रह के सत्रहवें परिच्छेद 'प्रत्यक्षलक्षणपरीक्षा' में प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण किया है- 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्' उनका तर्क है कि केशोण्ड्रक आदि का ज्ञान भ्रान्त ज्ञान है, इन्हें प्रमा नहीं माना जा सकता है। अतएव इस प्रकार के भ्रान्त ज्ञान (प्रत्यक्ष) के निराकरण के लिए 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण किया गाय है।[२०] कुछ लोगों (दिङ्नाग आदि) का मत है कि भ्रान्ति शुद्ध रूप से मानसिक होती है; इन्द्रिय-प्रत्यक्ष (ज्ञान) के प्रसंग में मानस ज्ञान (भ्रान्ति) का क्या प्रसंग? अतएव इन्द्रिय प्रत्यक्ष के एक लक्षण के रूप में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण अनिवार्य नही है।

इस मत के विरुद्ध कमलशील का कहना है कि प्रत्यक्ष की परिभाषा केवल इन्द्रिय प्रत्यक्ष को ध्यान में रखकर नहीं की गयी है, वरन् प्रत्यक्ष के अन्य प्रकारों को भी ध्यान में रखकर की गयी है। योगिज्ञान (प्रत्यक्ष) प्रत्यक्ष का एक प्रकार है जो शुद्ध रूप से मानसिक होता है। स्वप्न ज्ञान भी शुद्ध रूप से मानसिक होने के साथ-साथ उसके विषय का स्फुट प्रतिभास होने के कारण निर्विकल्पक होता है और इसमें प्रत्यक्ष का लक्षण घटित होता है। यदि यह एक बार मान भी लिया जाये कि भ्रान्ति मानसिक होती है और इन्द्रिय ज्ञान (प्रत्यक्ष) को पृथक् करने के लिए प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण आवश्यक है। इसके उपरान्त कमलशील कहते हैं कि भ्रान्ति सर्वदा मानसिक (मनोजन्य) ही नही होती अपितु इन्द्रियजन्य भी होती है। क्योंकि भ्रान्ति तभी होती है जब इन्द्रिय व्यापार होता है और जब इन्द्रिय व्यापार नहीं होता तब भ्रान्ति भी नहीं होती। इससे यही प्रदर्शित होता है कि अन्य इन्द्रियज्ञान की तरह ही केशोण्ड्रक आदि का भ्रान्त ज्ञान भी इन्द्रिय जन्य ही होता है। इसके अतिरिक्त यदि भ्रान्ति पूर्णतः मानसिक होती है तो मनोभ्रंश (बुद्धिभ्रंश) ही भ्रान्ति का एकमात्र कारण होगा और इसलिए इन्द्रिय विकार के होते हुए भी मनोभ्रंश के निवृत्त होने पर सर्पादि मानसिक भ्रान्तियों का निरोध हो जायेगा। किन्तु द्विचन्द्रादि भ्रान्तियाँ निवृत्त नहीं होती। मनोजन्य भ्रान्ति में विषय का स्फुट प्रतिभास नहीं होता है। विकल्प से अनुविद्ध होने की स्थिति में विषय की स्फुट प्रतिभासिता नहीं होती, क्योंकि वह अनुपयुक्त (बेमेल) सामान्य के उल्लेख के साथ प्रवृत्त होता है जो कि सर्वदा अस्फुट ही होता है।[२१]

यदि यह कहा जाये कि भ्रान्ति सर्वदा मानसिक होती है, इन्द्रियाँ उसका साक्षात् हेतु न होकर परम्परया (असाक्षात्) हेतु होती है और असाक्षात् हेतु रूप इन्द्रियों को भ्रान्ति का निश्चायक नहीं माना जा सकता है, तो यह तर्क भी स्वीकार्य नहीं। क्योंकि द्विचन्द्रादि भ्रान्त प्रत्यक्षों में मन में यह विचार होते हुए भी कि चन्द्रमा एक है दो नहीं, तिमिर रोग से ग्रस्ति प्रत्यक्षकर्त्ता को द्विचन्द्र दर्शन होता रहता है। अतएव इन्द्रियाँ इस प्रकार के भ्रान्त ज्ञान की साक्षात् हेतु हैं और उसका निश्चायक भी।

आचार्य दिङ्नाग प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण नहीं करते है। उनका मानना है कि सभी भ्रान्तियाँ मानसिक होती है (प्रमाण समुच्चय १.८ बुद्धिस्ट लाजिक, भाग २, पृ० सं० १७, पाद टिप्पणी सं० ३; सरवात्स्की)। निर्वकल्पक भ्रान्ति हो ही नहीं सकती। दिङ्नाग भ्रान्ति को अस्वीकार नही करते और मानते हैं कि उनमें इन्द्रियाँ भी कारण अवश्य होती है, किन्तु भ्रान्ति की उत्पत्ति मन से ही होती है। द्विचन्द्रादि प्रतिभास मानस है। यदि यह एक बार मान भी लिया जाये कि तिमिरादि जनित केशोण्ड्रक एवं द्विचन्द्र दर्शन इन्द्रियजन्य भ्रान्तियाँ होने के साथ ही साथ अविकल्पक (भी) हैं और इनमें प्रत्यक्ष का लक्षण घटित होता है; तब भी प्रत्यक्ष प्रमाण की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण अनावश्यक ही होगा क्योंकि प्रत्यक्ष एक प्रमाण है और प्रमाण (सम्यक्ज्ञान) को

परिभाषित करते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं कि प्रमाण अविसंवादि ज्ञान है, जो अर्थ क्रिया-समर्थ वस्तु का ज्ञान कराता है, उसमें प्रवृत्त करता है-

प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः।
अविसंवादनं शाब्दे अपि अभिप्रायनिवेदनात्।।[२२]

धर्मोत्तर न्यायबिन्दुटीका में प्रमाण का सम्यग्ज्ञान मानते हैं और कहते है कि अविसंवादक ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। सम्यक् ज्ञान (प्रमाण) अनुभव से बाधित न होने वाला ज्ञान (अविसंवादक) एवं उपदर्शित वस्तु को प्राप्त करा देने वाला होता है।[२३] केशोण्ड्रक एवं द्विचन्द्रादि प्रतिभास अविसंवादि ज्ञान नहीं है। अतएव प्रमाण का लक्षण इनमें घटित नहीं होता है और प्रत्यक्ष एक प्रमाण (सम्यग्ज्ञान) है। मेरे विचार से सम्भवतः इसीलिए आचार्य दिङ्नाग ने इन इन्द्रिय जनित भ्रान्तियों को प्रमाण रूप प्रत्यक्ष न मानकर प्रत्यक्षाभास माना और इन पर अलग से विचार करने की अनुशंसा की। जैसे अनुमान प्रमाण के दोषों को हेत्वाभास (साधनाभास) कहकर उन पर अलग से विचार किया जाता है, उसी प्रकार दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष प्रमाण के दोषों को प्रत्यक्षाभास कहकर उन पर अलग से विचार किया है। ये प्रत्यक्षाभास चार प्रकार के हैं-

भ्रान्तिः संवृतिसज्ज्ञानम् अनुमानानुमानिकम्।
स्मार्ताभिलाषिकञ्चेति, प्रत्यक्षाभं सतैमिरम्।। (प्र० स० कारिका ७-८)

प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण न करने का एक कारण यह भी हो सकता है कि परिभाषा को अव्याप्ति दोष से ग्रस्ति होने से बचाया जा सके। प्रत्यक्ष के चार प्रकार हैं- इन्द्रिय, मनोविज्ञान, आत्मसंवेदन और योगिज्ञान। ये प्रत्यक्ष के चारो प्रकार समान रूप से कल्पनापोढ़ है, किन्तु समान रूप से भ्रान्त नहीं हो सकते। कम से कम योगिज्ञान के विषय में मान्यता यही है कि वह भ्रान्त नहीं हो सकता और जब योगिज्ञान भ्रान्त नही हो सकता तो 'अभ्रान्त' पद का प्रत्यक्ष की परिभाषा में ग्रहण अनावश्यक होगा और इसका ग्रहण परिभाषा को अव्याप्त दोष से ग्रस्ति बना (कर) देगा। क्योंकि ऐसी स्थिति में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण प्रत्यक्ष के चारों प्रकारों के लिए समान रूप से आवश्यक नहीं होगा।

आचार्य दिङ्नाग द्वारा प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण न करने का एक निर्णायक कारण यह है कि उनका सिद्धान्त दो परस्पर व्यावृत्त प्रमाणों की मान्यता पर आधारित है। दोनों प्रमाण एवं उसके विषय परस्पर व्यावृत हैं। प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय अविकल्पनात्मक स्वलक्षण है और अनुमान का ग्राह्य विषय सविकल्पात्मक (कल्पनात्मक) सामान्य लक्षण है। सविकल्पक अविकल्पक पर मरु-मरीचि में जल की भाँति अध्यारोप है। सविकल्पक एवं अविकल्पक के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं, अतएव उनके बीच एकता नहीं हो सकती। इन्द्रिय-ग्राह्य स्वलक्षणरूप अर्थ के साथ शब्द की योजना नहीं हो सकती।

शब्द-कल्पना काल में स्वलक्षण नष्ट हो जाने के कारण शब्द के साथ जुड़ाव (सम्बन्धित) नहीं हो सकता। चक्षु के द्वारा स्वलक्षण का प्रत्यक्ष हो जाने के पश्चात् जो वाचक शब्द की कल्पना होती है, वह शब्द उस स्वलक्षण का वाचक न होकर बुद्धि-कल्पित अन्य-व्यवच्छेदरूप अर्थ का वाचक होता है।[२४] वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध शब्द-कल्पना और सामान्य-कल्पना के साथ (बीच) ही होता है। उनमें से कोई भी पदार्थ इन्द्रिय का विषय नही होता।[२५] इस सिद्धान्त के अनुसार इन्द्रियाँ अविकल्पक स्वलक्षण का ही ज्ञान दे सकती हैं। वे निर्णय अथवा विचार नहीं कर सकती एवं सविकल्पक ज्ञान नहीं दे सकती। किन्तु यदि भ्रम अथवा भ्रान्तिपूर्ण निर्णय (विचार, सविकल्पक ज्ञानादि) इन्द्रियों को कारण मानकर (श्रेय देकर) स्वीकार किए जाते हैं (प्रस्तुत किये जाते है), तो कोई कारण नहीं कि उसी आधार पर उसी तरह यथार्थ निर्णय (यथार्थ सविकल्पक ज्ञान) के लिये भी इन्द्रियों को ही कारण क्यों न माने जाये, जैसा कि वस्तुवादी (न्याय-वैशेषिक आदि) वस्तुतः मानते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यदि भ्रान्तिपूर्ण निर्णय (सविकल्पक ज्ञान) का कारण इन्द्रियाँ हैं तो यथार्थ निर्णय (सविकल्पक ज्ञान) का कारण भी इन्द्रियों को ही मानना होगा। इससे यही प्रतिपन्न होगा कि सविकल्पक ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान (अविकल्पक) का संवादी है। इससे सविकल्पक की अविकल्पक के साथ एकता स्थापित हो जायेगी और परिणामतः बौद्ध प्रमाण-सिद्धान्त का आधार ही खण्डित हो जायेगा। इसीलिए आचार्य दिङ्नाग ने भ्रान्ति को मनोजन्य माना और प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण नहीं किया। हाँ यदि सामान्य व्यवहार को ध्यान में रखकर प्रत्यक्ष का लक्षण किया जाये तो उसमें 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण किया जा सकता है। धर्मोत्तर का यह सुझाव कि 'कल्पनापोढ' एवं 'अभ्रान्त' प्रत्यक्ष के ये दोनों लक्षण एक दूसरे की अपेक्षा से विप्रतिपत्तियों के निराकरण के लिये दिये गये हैं, स्वीकार किया जा सकता है।

यदि प्रत्यक्षाभास के चारों प्रकारों में भ्रान्ति विषयक स्तर भेद न किया जाये, इन्हें समान स्तर की भ्रान्ति माना जाये, तो कल्पनापोढं प्रत्यक्षम् इतने से ही काम चल जायेगा। किन्तु यदि इन्हें एक समान भ्रान्त न माना जाये, इन्हें विभिन्न स्तरों की भ्रान्ति माना जाये, कुछ को व्यावहारिक स्तर की भ्रान्ति और कुछ को पारमार्थिक स्तर की भ्रान्ति, कुछ को सविकल्पक और कुछ को अविकल्पक, कुछ को व्यावहारिक स्तर पर प्रमाण और कुछ को वयावहारिक स्तर पर अप्रमाण माना जाये तो प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद के ग्रहण की प्रबल संभावना, विशेष रूप से अविकल्पक सतैमिरिक प्रत्यक्षाभास के प्रसंग में बनती है। परन्तु जब हम प्रमाण (सम्यक्ज्ञान) के लक्षण पर विचार करते हैं तो यह संभावना भी क्षीण हो जाती है। प्रमाण (सम्यक् ज्ञान) अविसंवादि ज्ञान है और व्यवहारतः इस प्रकार का ज्ञान तभी संभव होगा जब ज्ञान के कारण सभी प्रकार के दोषों से रहित हो। वैसे तो कारण दोष रहितता को प्रमाण के लक्षण के रूप में बौद्धग्रन्थों में उल्लेख नहीं किया गया है तथापि

'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः' में ही इस लक्षण का अन्तर्भाव हो जाता है। अविकल्पक सतैमिरिक प्रत्यक्षाभास सदोष इन्द्रियों के कारण होता है। इसलिए प्रमाण रूप प्रत्यक्ष का लक्षण इसमें घटित नही होता। इसी से ही धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, कमलशील आदि के प्रत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद के ग्रहण सम्बन्धी मन्तव्यों का निराकरण हो जाता है। फलतः परत्यक्ष की परिभाषा में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण सार्थक नहीं है।

सन्दर्भग्रन्था:–

१. प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम् । न्यायबिन्दु १.४
२. पीतशङ्खादिबुद्धीनां विभ्रमेऽपि प्रमाणता। अर्थक्रियाऽविसंवादादपरे सम्प्रक्षते। कारिका संख्या १३२३ तत्त्व संग्रह : श्री कमलशीलकृत पंजिकोपेतः प्रथम भाग, संपादक– स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी, १९६८
३. वही, पृ० सं० ४८३, कारिका संख्या १३२६
४. वही, पृ० सं० ४८४, का० सं० १३२७–१३२८
५. शब्दार्थग्राहि यद् यत्र तज्ज्ञानं तत्र कल्पना।
स्वरूपं च न शब्दार्थस्तत्राध्यक्षमतोऽखिलम् । पृ० सं० ८०३–८०४, वार्तिक सं० २२८७.
आचार्य धर्मकीर्तिप्रणीतम् प्रमाणवार्तिकम् स्वामीयोगीन्द्रानन्दकृत– 'वार्तिकालङ्कारभाष्य, व्याख्या' सहित–प्रज्ञाकरगुप्त विरचित–'वार्तिकालङ्कारभाष्य, समलङ्कृतम् षड् दर्शन प्रकाशनं संस्थान, वाराणसी, १९९१
६. त्रिविधं कल्पनाज्ञानमाश्रयोपप्लवोद्भवम् । अविकल्पकमेकञ्च प्रत्यक्षाभं चतुर्विधम्। वहीं, पृ० सं० ८०६, वार्तिक संख्या २२८८
७. अपवादश्चतुर्थोऽत्र तेनोक्तमुपघातजम्। केवलं तत्र तिमिरमुपघातोपलक्षण्।। वहीं, पृ० सं० ८११, वार्तिक संख्या २२९३
८. वही, पृ० सं० ८१३
९. पारम्पर्येण हेतुश्चेदिन्द्रियज्ञानगोचरे। विचार्यमाणे प्रस्तावो मानसस्येह कीदृशः।। प्रमाण वार्तिक २२९५.
१०. वही, २२९६
११. वही, २२९७
१२. वही, २२९८
१३. वही, २३००
१४. अभ्रान्तमर्थक्रियाक्षमे वस्तुरूपेऽविपर्यस्तमुच्यते। अर्थक्रियाक्षमं च वस्तुरूपं सन्निवेशोपाधिवर्णात्मकम् । तत्र यन्न भ्राम्यति तद् अभ्रान्तम् । न्यायबिन्दु टीका, पृ० सं० ३४, अनुवादक – डॉ० श्रीनिवास शास्त्री, दुर्गा आफसेट प्रेस, मेरठ, तृतीय संस्करण २००७

१५. वही, पृ० सं० ३७-३८
१६. वही, पृ० सं० ४०
१७. ही, पृ० सं० ४१
१८. तया रहितं तिमिराशुभ्रमणनौयान-संक्षोभाद्यनाहितविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । १.६ वही, पृ० ५१
१९. वही, पृ० सं० ५१-५२
२०. तत्त्वसंग्रह श्री कमलशीलकृत पञ्जिकोपेतः प्रथम भाग, कारिका संख्या १३११, संपादक स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी-१, १९६८
२१. वही, पृ० सं० ४८०
२२. प्रमाण वार्तिक १.३
२३. न्यायबिन्दुटीका, पृ० सं० १०-, डॉ० श्रीनिवासशास्त्री, तृतीय संस्करण, २००७
२४. प्रमाण वार्तिक २-१३१
२५. वही, २-१२९



सांख्यदर्शने प्रमाणविमर्शः

प्रो० कृष्णकान्तशर्मा

पूर्व अध्यक्ष, वैदिक दर्शन, संस्कृत विद्याधर्मविज्ञान संकाय,

काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

सांख्यदर्शनं मुख्यतया प्रेमयप्रतिपादकं दर्शनं वर्तते। व्यक्तम्‌ अव्यक्तं ज्ञश्चेति त्रीणि तत्त्वानि सांख्यदर्शने प्रमेयतया गृह्यन्ते। तत्रापि प्रकृतिः पुरुषश्चेति तत्त्वद्वयमेव प्रमेयमिति वक्तुं शक्यते। तत्र व्यक्तं, महत्, अहंकारः, श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणरूपाणि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, मनश्चेति एकादशेन्द्रियाणि, शब्दस्पर्शरूप-रसगन्धरूपाणि पञ्चतन्मात्राणि, आकाशवायुतेजोजलपृथ्वीरूपाणि पञ्चमहाभूतानि चेति त्रयोविंशतितत्त्वानि व्यक्तसंज्ञकानि सन्ति। अव्यक्तं प्रकृतिः, ज्ञःपुरुषः इति साकल्येन पञ्चविंशतितत्त्वानि सांख्यदर्शनस्य प्रमेयाणि भवन्ति।

सांख्यमते आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकसंज्ञकानां त्रिविधदुःखानामैकान्तिकी–आत्यन्तिकी च निवृत्तिरेव मोक्षो वर्त्तते। तदुक्तं सांख्यसूत्रकारेण–

'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' इति (सा०सू १/१) व्यक्ताव्यक्तज्ञानां विवेकः (विविच्य ज्ञानम्) एव दुःखत्रयोन्मूलनस्य उपायो वर्त्तते। तदुक्तं सांख्यकारिकायाम्–

> दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
> दृष्टे साऽऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्।।
> दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
> तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।। (सां० का० १,२)

यतो हि व्यक्ताव्यक्तज्ञरूपाणां प्रमेयाणां सिद्धिः = प्रतीतिः (ज्ञानं) प्रमाणाधीना वर्त्तते, अतः प्रमेयाणां प्रतीतये प्रमेयबोधाय प्रवृत्तमपि सांख्यशास्त्रं तत्सिद्ध्ये सामान्यतो विशेषतश्च प्रमाणलक्षणं प्रस्तौति। यथोक्तमाचार्यवाचस्पतिमिश्रेण सांख्यतत्त्वकौमुद्याम्–

अथ प्रमेयव्युत्पादनाय प्रवृत्तं शास्त्रं कस्मात् प्रमाणं सामान्यतो

विशेषतश्च लक्षयति इत्यत आह प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।। इति।
(सां० त० कौ० सां० का०४)

प्रमाणलक्षणम्

सामान्यलक्षणं विना विशेषलक्षणं कर्तुं न शक्यते, अत एव आचार्यवाचस्पतिमिश्रेण दृष्टमनुमानमाप्तवचनञ्चेत्यादिकारिकायाः अवतरणिकायामुक्तं–तमिमर्थं प्रामाणिकं कर्तुमभिमताः प्रमाणभेदा लक्षणीयाः। न च सामान्यलक्षणमन्तरेण शक्यते विशेषलक्षणं कर्तुमिति प्रामाणसामान्यं तावल्लक्षयति–

दृष्टमानुमानमाप्तवचनञ्च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।। इति। (सां० का० ४)

अत्रेयं शङ्का जगर्ति यत् तत्त्वकौमुदीकारेण प्रमाणसामान्यं तावल्लक्षयति इत्युक्त्वा दृष्टमनुमानमाप्तवचनञ्चेत्यादिकारिका समुपस्थापिता, किन्तु कारिकायामस्यां प्रमाणभेदा एव निरूपितास्सन्ति न तु प्रमाणलक्षणमिति। अस्याः शङ्कायाः समाधानं कुर्वता आचार्यवाचस्पतिमिश्रेणोक्तम् – "अत्र च प्रमाणमिति समाख्या लक्ष्यपदं तन्निर्वचनञ्च लक्षणमिति" समाख्या इति पदं मीमांसादर्शने प्रसिद्धम् । तत्र विनियोगविधेः सहकारिभूतषट्प्रमाणेषु समाख्या एकं प्रमाणम्। तथा हि– "समाख्या यौगिकः शब्दः।" (अ० सं० पृ० ८६)

सम् = समीचीना=अवयवार्थवती आख्या समाख्या। एतावता अवयवार्थैरेव यौगिकशब्दस्यार्थः सुस्पष्टो भवति। तद्यथा पाचकशब्दे अवयवद्वयं वर्त्तते पच् धातुः ण्वुल् प्रत्ययश्च। पच् धातोरर्थः पाकक्रिया ण्वुल्प्रत्ययस्य चार्थः कर्त्ता। अतः पाचकशब्दस्यार्थः पाकक्रियाकर्त्ता भवति। एतावता येन शब्देन अवयवार्थ एव ज्ञायते स यौगिकः शब्द इति कथ्यते। सांख्यकारिकायामस्यां प्रमाणमिति लक्ष्यपदं वर्त्तते, यतो हि प्रमाणस्यात्र लक्षणं क्रियते। प्रमाणपदस्य निर्वचनमर्थात् प्रमीयते अनेन इति च प्रमाणलक्षणम्। अत एव तत्त्वकौमुदीकारेणोक्तम् 'प्रमाणमिति समाख्या लक्ष्यपदं तन्निर्वचनञ्च लक्षणम्। प्रमीयतेऽनेनेति निर्वचनात् प्रमां प्रति करणत्वमवगम्यते।' प्रपूर्वकमाधातोरर्थः प्रमा, ल्युट्प्रत्ययस्य चार्थः करणम्, यद्यपि ल्युट्प्रत्ययः भावकरणोभयार्थकः, तथाप्यत्र करणार्थ एव ग्राह्यः न तु भावार्थः इति प्रमीयतेऽनेनेति निर्वचनात् इति कथनेन सुस्पष्टं भवति।

सांख्ये प्रमाणं चित्तवृत्तिरूपम् , अतएव आचार्यवाचस्पतिमिश्रेणोक्तम्– "तच्चा-सन्दिग्धाविरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः" एतावता संशयविपर्ययविकल्पस्मृति-रूपचित्तवृत्तिभिन्ना या चित्तवृत्तिः सा प्रमाणम् इति फलितार्थः। सा चित्तवृत्तिः प्रमाणं यस्याः विषयः संशयराहित्येन ज्ञायते, अर्थात् निश्चितरूपेण ज्ञायते यस्याः विषयो बाधितो न भवति,

पूर्वतः ज्ञातश्च न भवति।

प्रमा– एवंविधया चित्तवृत्त्या जायमानः अस्याः चित्तवृत्तेः फलभूतः पुरुषवर्ती बोधः प्रमा इत्युच्यते। तस्याश्च साधनं प्रमाणम् तदुक्तमाचार्यवाचस्पतिमिश्रेण–

बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणमिति।

तच्चासन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिरिति प्रमाणलक्षणे 'असन्दिग्ध' इति पदेन संशयसाधने, अविपरीतेति पदेन विपर्यय (भ्रम)–साधने, अनधिगतविषयेति पदेन च स्मृतिसाधने–प्रमाणस्यातिव्याप्तिर्न भवति। उक्तञ्चाचार्यवाचस्पतिमिश्रेण– "एतेन संशयविपर्ययस्मृति-साधनेष्वप्रसङ्ग इति।" पौरुषेयबोधः इति कथनेन बोधस्य वस्तुतः पुरुषनिष्ठत्वं नैवावगन्तव्यम् अन्यथा पुरुषस्य परिणामित्वं स्यात्। इयमेवाशयं प्रकटीकुर्वता विद्वत्तोषिणीकारेणोक्तम्– "पौरुषेयो बोध इत्यनेन न बोधस्य पुरुषनिष्ठत्वमाख्यायते येन प्रमातृत्वादिधर्मेण पुरुषस्य परिणामित्वं स्यादपितु बुद्धौ प्रतिबिम्बितत्वेन तत्तादात्म्यापत्त्या पुरुषस्य ज्ञानादिमत्त्वोपचारात् पौरुषेय इत्यभिधीयते एवञ्च चितिचित्तयोरभेदग्रहात् पुरुषे उपचर्यमाणोऽपि वस्तुतो बुद्धिवृत्त्यात्मक एव बोधो न पुरुषधर्म इति।" (विद्वत्तोषिणी सां०का०–४)

प्रमाणत्रैविध्यम्

"त्रिविधं प्रमाणमिष्टमित्युक्त्वा" सांख्यकारिकाकारेण स्पष्टतयोक्तं यत् प्रमाणं सांख्यनये त्रिविधं न न्यूनं नाप्यधिकम्। काश्च ताः तिस्रो विधाः प्रमाणसामान्यस्येति जिज्ञासायामुच्यते दृष्टमनुमानमाप्तवचनञ्चेति त्रिविधं प्रमाणं वर्त्तते, तत्र दृष्टं प्रत्यक्षप्रमाणमाप्तवचनञ्चागमप्रमाणं शब्दप्रमाणं वा वर्त्तते। प्रमाणानां त्रैविध्यस्य निर्धारणं लौकिकप्रमाणदृष्ट्या वर्तते न तु योगिदृष्ट्या। यतो हि योगिनां प्रातिभज्ञानमलौकिकं वर्त्तते। सांख्यशास्त्रञ्च लोकव्युत्पादनाय प्रवृत्तमत एवोक्तं तत्त्वकौमुदीकारेण "एतच्च लौकिकप्रमाणाभिप्रायम्, लोकव्युत्पादनार्थ-त्वाच्छास्त्रस्य, तस्यैवात्राधिकारात्। आर्षं तु विज्ञानं योगिनामूर्ध्वस्रोतसां न लोकव्युत्पादनायालमिति सदपि नाभिहितमनधिकारादिति।"

दृष्टं (प्रत्यक्षम्) प्रमाणम्

सांख्यकारिकाकारेण "प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टमि"ति कारिकांशेन दृष्टप्रमाणस्य लक्षणमुक्तम्। तत्र दृष्टमिति लक्ष्यनिर्देशः परिशिष्टं तु लक्षणम्। लक्षणस्य च प्रयोजनं समानासमानजातीय–व्यवच्छेदो भवति। अर्थात् सजातीयेभ्यःविजातीयेभ्यश्च पदार्थेभ्यः लक्ष्यस्य पृथक्करणमेव लक्षणस्य प्रयोजनम्।

प्रतिविषयाध्यवसायः इति दृष्टलक्षणान्तर्गतपदानां विश्लेषणं सम्प्रति आवश्यकम्। तत्र विषयपदस्य विश्लेषणं कुर्वता आचार्यवाचस्पतिमिश्रेणोक्तं विषयाः विषिण्वन्ति

विषयिणमनुबध्नन्ति स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्तीति यावत्। अर्थात् ये विषयिणं बुद्धिम् अनुबध्नन्ति, स्वाकारेण आकारितां कुर्वन्ति अर्थात् तद्रूपापन्नां कुर्वन्ति ते विषयाः। स्थूलाः पृथिव्यादयोऽस्माकं बाह्यविषयाः सुखादयश्चान्तरः। तन्मात्रादीनि सूक्ष्मतत्त्वानि च ऊर्ध्वस्रोतसां विषयाः भवन्ति नास्मदादीनाम्।

विषयपदविश्लेषणानन्तरं प्रतिविषयपदस्य विश्लेषणमनिवार्यं, तथा हि विषयं विषयं प्रति वर्त्तते इति प्रतिविषयम् = इन्द्रियम् । इन्द्रियाणां विषयं प्रति वर्त्तनं स्वस्थानत्यागपूर्वकं विषयदेशं प्रति गमनरूपं नैव वर्त्तते, अपि तु सम्बन्धविशेषरूपम्। इममेवाशयं प्रकटीकुर्वता तत्त्वकौमुदीकारेण उक्तं "वृत्तिश्च सन्निकर्षः" इति (स०त०कौ०सा०का० ५)। एतावता प्रतिविषयमित्यस्य निर्गलितार्थो भवति विषयसन्निकृष्टमिन्द्रियमिति। अर्थात् घटादिविषयरूपेणार्थेन सह सम्बद्धं चक्षुरादि इन्द्रियम्।

सम्प्रति अध्यवसाय-पदस्य स्वारस्यं वक्तव्यम्। तथा हि तस्मिन्नर्थसन्निकृष्टे इन्द्रिये अध्यवसायः बुद्धिव्यापारः। अर्थात् विषयसम्बद्धे इन्द्रिये आश्रितं निश्चयात्मकं ज्ञानम् अध्यवसायः। अध्यवसायपदस्य स्वारस्यं प्रकटयता तत्त्वकौमुदीकारेणोक्तम् "उपात्त-विषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाख्यायते।" अत्रेदमवधेयं यद् बुद्धिस्त्रिगुणात्मिका। गुणेषु च उपमर्द्योपमर्दकभावः सदा प्रवर्त्तते, अतः कदाचिदेकस्य गुणस्य प्राबल्यम् इतरयोः दौर्बल्यं भवति। पुनरन्यस्य गुणस्य प्राबल्ये तदितरयोर्दौर्बल्यम्। बुद्धौ तमोगुणस्य यदा प्राबल्यं भवति तदा आवरकत्वाच्च तमोगुणस्य विषयप्रकाशो नैव भवति। इन्द्रियाणां विषयेण सह सन्निकर्षे जाते तमोगुणस्य अभिभवो भवति सत्त्वगुणस्य च समुद्रेकः, स एव च बुद्धेः सत्त्वसमुद्रेकः अर्थात् प्राबल्यम् अध्यवसाय इत्युच्यते। तदित्थम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षेण बुद्धेः तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेको भवति स एव दृष्टम् प्रत्यक्षप्रमाणम्। सम्प्रति इयं जिज्ञासा भवति यत् प्रमाकरणरूपं प्रमाणं भवति, प्रमायाश्च स्वरूपं किमस्तीति, आत्रोच्यते अनेन प्रमाणेन चेतनाशक्तेर्योऽनुग्रहः तत्फलं प्रमा, अर्थात् बुद्धौ प्रतिबिम्बिताय चेतनाय बुद्धिवृत्त्या गृहीतानां विषयाणां समर्पणम् एव चेतनाशक्तेः अनुग्रहः, स एव च प्रत्यक्षप्रमाणस्य फलं प्रमा इत्युच्यते। सैव च पौरुषेयो बोधः इत्यपि कथ्यते।

विशेषः–

दृष्टप्रमाणस्य लक्षणेऽस्मिन् अध्यवसायपदग्रहणेन संशयस्य, विषयपदग्रहणेन असद्विषयस्य विपर्ययस्य प्रतिपदग्रहणेन च इन्द्रियार्थसन्निकर्षसूचनात् अनुमानस्मृत्यादेः व्यवच्छेदो भवति। अत एव सजातीयेभ्यः अनुमानादिभ्यः विजातीयेभ्यो विपर्यादिभ्यश्च दृष्टप्रमाणस्य व्यवच्छेदात् प्रतिविषयाध्यवसाय इति दृष्टप्रमाणस्य निर्दुष्टं लक्षणम्।

अनुमानप्रमाणम्–

चार्वाकः प्रत्यक्षमतिरिच्य नान्यत्प्रमाणं स्वीकरोति। किन्तु अन्यस्मिन् पुरुषे विद्यमानम् अज्ञानसन्देहमिथ्याज्ञानदिकम् अनुमानमन्तरा कथं ज्ञातुं स प्रभवेत्। अतः अनिच्छताऽपि चार्वाकेण परपुरुषवर्ति अज्ञानादिकं तात्पर्यविशेषरूपेण वचनविशेषरूपेण च लिङ्गेन नूनमनुमातव्यं स्यात्। एतावता अनिच्छताऽपि चार्वाकेण अनुमानं स्वीकार्यं भविष्यति। सांख्ये अनुमानस्य लक्षणं प्रस्तुवता कारिकाकारेणोक्तं तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमिति। तदिति लक्ष्यं शेषं लक्षणम्। लिङ्गपदस्यार्थः व्याप्यम् लिङ्गिपदस्य चार्थः व्यापकम्। अल्पदेशवृत्तित्वं व्याप्यत्वमधिक-देशवृत्तित्वं व्यापकत्वम्। तत्त्वकौमुदीकारेण व्याप्यव्यापकयो निरूपणमेवं कृतं- "शङ्कितसमारोपितोपाधिनिराकरणेन च वस्तुस्वभावप्रतिबद्धं व्याप्यं येन प्रतिबद्धं तद्व्यापकम्" अत्रेदमवधेयं यदुपाधिर्द्विविधः सन्दिग्धः निश्चितश्चेति। सन्दिग्ध एव शङ्कितोपाधिः निश्चितश्च समारोपितोपाधिरित्यप्युच्यते। यत्र साध्यव्यापकत्वसाधनप्यापकत्वयोस्संशयः तत्र सन्दिग्धोपाधिः भवति। यथा स मित्रातनयः श्यामः, मित्रातनयत्वाद् दृष्टमित्रातनयवत्। इत्यस्मिन्ननुमाने शाकपाकजन्यत्वं सन्दिग्धोपाधिर्वर्त्तते। तत्र साध्यव्यापकत्वस्य सन्दिग्धत्वात् श्यामे मित्रातनये शाकपाकजन्यत्वस्य प्रत्यक्षाभावेन सन्दिग्धत्वात्। एवञ्च यत्र साध्यव्यापकत्व-साधनाव्यापकत्वयोः निश्चयो भवति स निश्चितोपाधिः इत्युच्यते। तद्यथा पर्वतो धूमवान् वह्नेः इत्यत्र आर्द्रेन्धनसंयोगः निश्चितोपाधिर्वर्त्तते। तत्र साध्यव्यापकत्वस्य साधनव्यापकत्वस्य च प्रत्यक्षेणैव निश्चयात्।

वस्तुस्वभावप्रतिबद्धं व्याप्यमिति यदुक्तं तस्यायमभिप्रायः धूमादिवस्तुनो वह्न्यादिवस्तुना सह यः अविनाभावरूपः स्वभावः, तेन प्रतिबद्धम् (आक्रान्तम्)। अर्थात् यस्य वस्तुनः सत्ता येन वस्तुना विना न सम्भवति तद् वस्तु तस्य व्याप्यम् तद्यथा धूमो वह्निना विना न सम्भवति, अतः धूमो वह्नेर्व्याप्यः वह्निश्च व्यापकः। अत्र लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम् इति लक्षणे धूमवह्निरूपयोः विषयवाचकयोः लिङ्गलिङ्गिपदयोः ग्रहणेन विषयिणः प्रत्ययस्य अर्थात् ज्ञानस्य ग्रहणमुपलक्षितम् । एतावता लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमित्यस्यायमर्थः धूमादिर्व्याप्यः वह्न्यादिर्व्यापकः इति यः प्रत्ययः तत्पूर्वकमिति। अर्थात् व्याप्तिज्ञानपूर्वकम् अनुमानमिति फलितार्थः। अत्रेयं शङ्का जागर्ति यत् न केवलं व्याप्तिज्ञानेनानुमानं भवति अपितु पक्षधर्मताज्ञानमपि अपेक्षितं भवति, अत एवेदमनुमानलक्षणमपूर्णम्। अस्य समाधानं कुर्वता तत्त्वकौमुदीकारेणोक्तं यत् लिङ्गिपदम् अत्रावर्त्तनीयं, तेन च लिङ्गि च लिङ्गि चेति लिङ्गिनी, लिङ्गञ्च लिङ्गिनी च इति लिङ्गलिङ्गीनि, तानि पूर्वं यस्य तत् लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम् इति समासाश्रयणेन एकस्य लिङ्गिपदस्य लिङ्गम् अस्यास्तीति व्युत्पत्त्या पक्षधर्मताज्ञानमपि दर्शितं भवति। ततश्च व्याप्यव्यापकभावपक्षधर्मताज्ञानपूर्वकम् अनुमानमिति अनुमानसामान्यलक्षणं सुस्पष्टं भवति।

अनुमानभेदाः-

पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्चेति सांख्ये त्रिविधम् अनुमानम् आख्यातम्। तत्रापि प्रथमं तावद् अनुमानं द्विविधं वीतम् अवीतञ्चेति। वि = विशेषेण इतं = ज्ञातं = प्रसिद्धम्

अन्वयव्याप्तिहेतुकं वीतम्। तदुक्तं तत्त्वकौमिदीकारेण "अन्वयमुखेन प्रवर्त्तमानं विधायकं वीतमिति।" अस्यायमाशयः तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् अन्वयः इत्याकारकः अन्वयसहचार एव मुखमिव प्रधानं यत्र तद् वीतम्। तद्यथा यो यो धूमवान् स स वह्निमान् इति यद् विधायकं अर्थात् वह्नेः साधकं तद् वीतमनुमानं वर्त्तते।

अवीतस्य लक्षणं प्रस्तुवता कौमुदीकारेणोक्तं "व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकम् अवीतमिति। अस्यायम् आशयः तदसत्त्वे तदसत्त्वं व्यतिरेकः। व्यतिरेकसहचार एव मुखमिव प्रधानं यत्र यद् अवीतम्। यथा पृथ्वी इतरभेदवती गन्धवत्त्वात्। यत्र यत्र इतरभेदाभावः तत्र तत्र गन्धाभावः इत्येवं व्यतिरेकमुखेन यदनुमानं तदवीतम्।

शेषवदनुमानम्–

अवीतस्यैव नामान्तरं शेषवदिति परिशेष इति वा वर्त्तते। शिष्यते इति शेषः स एव विषयतया यस्यास्ति अनुमानज्ञानस्य तत् शेषवत्। एतदेव न्यायभाष्यकारेण एवमुक्तं **"प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्र अप्रसङ्गात् शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेष"** इति। तद् पथा शब्दः अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितः, अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति समवायिकारणकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा रूपम्। अस्यायमाशयः शब्दो गुणो वर्तते स च द्रव्याश्रितो भवति। यदि स शब्दः पृथिव्यादिषु अष्टद्रव्येषु आश्रितो नास्ति तर्हि निश्चिततया स नवमद्रव्ये आश्रितः स्यात्। तच्च नवमं द्रव्यम् आकाश इति परिशेषानुमानम्।

पूर्ववदनुमानम्–

वीतानुमानस्यैव भेदद्वयं वर्त्तते पूर्ववत् सामान्यतोदृष्टञ्चेति। तत्र दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयं यत् तत् पूर्ववत्। अर्थात् यस्य सामान्यस्यानुमानं क्रियते तस्य सामान्यस्य स्वलक्षणम् अर्थात् विशिष्टं वैयक्तिकं रूपं यदि पूर्वतः एव प्रत्यक्षीकृतं स्यात् तदा तदनुमानं पूर्वदनुमानम् इत्युच्यते। यथा पर्वते धूमात् इति हेतुना वह्नित्वसामान्यविशेषः अनुमीयते, तस्य च वह्नित्वसामान्यविशेषस्य स्वलक्षणं = वह्निविशेषः पूर्वतः एव दृष्टः रसवत्याम्। अत एवेदं पूर्ववदनुमानम्।

सामान्यतोदृष्टमनुमानम्–

अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयमनुमानं सामान्यतोदृष्टमनुमानमित्युच्यते। अर्थात् यस्य सामान्यस्य अनुमानं क्रियते तस्य सामान्यस्य स्वलक्षणम् = वैयक्तिकं रूपं पूर्वं प्रत्यक्षगोचरं यदि न भवति तर्हि तदनुमानं सामान्यतोदृष्टमिति उच्यते। तद्यथा रूपादिज्ञानानि करणवन्ति क्रियात्वात्, छिदिक्रियावत् इत्यत्र रूपादिविज्ञानानां क्रियात्वेन हेतुना करणवत्त्वम् अनुमीयते। यद्यपि करणत्वसामान्यस्य छेदनादिक्रियायां वास्यादिरूपं स्वलक्षणम् उपलब्धं भवति, तथापि रूपादिज्ञाने यादृशं करणवत्त्वम् अनुमीयते तादृशस्य करणस्य न दृष्टं स्वलक्षणं प्रत्यक्षेण। इन्द्रिजातीयं हि तत् करणं, किन्तु इन्द्रियत्वसामान्यस्य स्वलक्षणम् इन्द्रियविशेषः न

प्रत्यक्षगोचरोऽस्माकं स्थूलदृशाम्। अत्र सामान्यतोदृष्टमिति पदे दृष्टम् = दर्शनम्, सामान्यतः = सामान्यस्य, सार्वविभक्तिकः तसिः। एतावता अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविशेषस्य दर्शनं सामान्यतो दृष्टम् अनुमानमिति फलितार्थः।

आप्तवचनप्रमाणम्–

आप्तवचनप्रमाणं लक्षयता कारिकाकारेणोक्तम्– "आप्तश्रुतिराप्तवचनन्तु" अत्र आप्तवचनमिति लक्ष्यं परिशेषश्च लक्षणम्। आप्ता = प्राप्ता = युक्ता चासौ श्रुतिश्चेति आप्तश्रुतिः। अत्र युक्तत्वं योग्यतावत्त्वं, योग्यता च अबाधितत्वम्। तथा च अबाधिता = प्रमात्मिका श्रुतिः आप्तश्रुतिः। श्रुतिश्च वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम्। अतः प्रमात्मकं वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम् आप्तवचनप्रमाणं भवति। तत्र वेदवाक्यजनितं यद् वाक्यार्थज्ञानं तद्वेदस्य अपौरुषेयत्वेन सकलदोषशङ्काविनिर्मुक्तेः युक्तं भवति। वेदमूलस्मृतीतिहासपुराणवाक्यजनितमपि वाक्यार्थज्ञानं युक्तं भवति।

उपमानादीनामन्यदार्शनिकाभिमतानां प्रमाणानां त्रिष्वेवान्तर्भावः– सांख्यमते उपमानस्यान्तर्भावः आप्तवचने अनुमाने च भवति। तद्यथा "यथा गौस्तथा गवयः" इति यद् वाक्यं तज्जनितं वाक्यार्थज्ञानमाप्तवचनमेव। यश्च गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचक इति प्रत्ययः सोऽप्यनुमानमेव।

अर्थापत्तेश्चान्तर्भावः अनुमाने भवति। तद्यथा जीवतश्चैत्रस्य गृहाभावदर्शनेन अदृष्टस्य बहिर्भावस्य कल्पनम् अर्थापत्तिरित्युच्यते। तथा चात्र सतो गृहाभावदर्शनेन लिङ्गेन बर्हिभावदर्शनम् अनुमानमेव।

अभावस्य चान्तर्भावः सांख्यैः प्रत्यक्षे क्रियते। तथा हि भूतले घटाभावो वर्त्तते इत्युक्ते घटाभावोऽत्र भूतलस्य परिणामविशेषः भूतलस्वरूप एव। अतो नाभावःप्रत्यक्षादतिरिक्तः। सांख्यैः सम्भवस्यान्तर्भावः अनुमाने क्रियते। कस्यचित् पार्श्वे सहस्ररूप्यकाणि सन्तिं इत्युक्ते शतं रूप्यकाणि सन्तीति यः बोधः स सम्भवनामकं प्रमाणमिति पौराणिकाः मन्यन्ते। स च बोधः अनुमानमेव, यतो हि सहस्रं शताद्यविनाभूतम्।

ऐतिह्यस्य प्रामाणत्वमपि सांख्यैः नाङ्गीक्रियते। इति होचुर्वृद्धाः इत्यैतिह्यम्, तद्यथा इह वटे यक्षः प्रतिवसतीति। अत्र अनिर्दिष्टप्रवक्तृकत्वेनेदं वाक्यं सांशयिकम्। यद्यस्य वाक्यस्य आप्तवक्तृकत्वनिश्चयःस्यात् तदा आगम एव स्यात्। अतः ऐतिह्यं न प्रमाणमिति सांख्यानां राद्धान्तः।

***

योगदर्शन एवं प्रमाण-विमर्श[१]

डॉ० सुशीम दुबे[२]

प्रस्तुत आलेख तीन भागों में विभाजित हैं। प्रथम भाग में योग का सामान्य परिचय दिया गया है। द्वितीय भाग में आधुनिक युग में योग की स्थिति का निरूपण करते हुए वर्तमान में योग के क्षेत्र में शैक्षिक, स्वास्थ्य, एवं अध्यात्म की दृष्टि से प्रमाणीकरण की समस्या पर विचार किया गया हैं जो कि समाज एवं जनसामान्य की आवश्यकता से सीधे सम्बन्धित है। आलेख के तृतीय भाग में पारम्परिक तौर पर योगदर्शन में प्रमाण विमर्श पर विचार किया गया है जो कि दार्शनिक दृष्टिकोण एवं जनमीमांसात्मक दृष्टि से विवेचित हैं।

प्रथम-भाग

माननीय प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी जी द्वारा २७ सितंबर २०१४ को संयुक्त राष्ट्र महासभा में अपने संबोधन के दौरान २१ जून को योग अंतर्राष्ट्रीय दिवस के रूप में मनाने का प्रस्ताव देते हुए कहा गया कि 'योग भारत की प्राचीन परंपरा का एक अमूल्य उपहार हैं,....मनुष्य और प्रकृति के बीच सामंजस्य, विचार एवं व्यवहार में सामंजस्य, संयम और तुष्टि में समायोजन के साथ समग्र स्वास्थ्य और लोकहित का एकीकृत दृष्टिकोण योग में निहित है। यह केवल एक अभ्यास न होकर व्यक्ति, प्रकृति एवं समष्टि के साथ एकत्व की खोज है। हम अपनी जीवन शैली में बदलाव लाकर और चेतना को जाग्रत करके, जलवायु परिवर्तन से निपटने में मदद कर सकते हैं। आइये हम एक साथ मिलकर एक अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस को स्वीकार करने की दिशा में काम करते हैं। ''संयुक्त राष्ट्र महासंघ द्वारा इस सार्वभौमिक अपील को स्वीकार करते हुए दिनांक ११ दिसम्बर २०१४ को अपने संकल्प क्र. ६९/१३ से २१ जून को प्रतिवर्ष अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस को मनाने का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। श्री बान

---

१. आलेख में प्रस्तुत विचार लेखक के स्वयं के हैं। लेखक उन विभिन्न स्रोतों का आभार व्यक्त करता है, जहाँ से सब्दर्भित विषय सामग्री का संकलन किया गया है।

२. कार्यक्रम अधिकारी एवं प्रभारी, अकादमिक केन्द्र भा.दा.अ.प. (अन्तर्गत मा.सं.वि.म. भारत सरकार) विपुल खण्ड, गोमती नगर, लखनऊ।

की मून, महासविच संयुक्त राष्ट्र महासभा के अनुसार "योग के अंतर्राष्ट्रीय दिवस के रूप में २१ जून की घोषणा करके, महासभा ने इस कालातीत अभ्यास का समय लाभ और संयुक्त राष्ट्र के सिद्धांतों और मूल्यों के साथ निहित अनूकूलता को पहचाना है।"

आज योग शब्द अत्यन्त प्रचलित तथा सर्वमान्य एवं बहुश्रुत है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि आज भी भारत का विश्व में योगदान जिन दो क्षेत्रों में अग्रणी माना जाता है वे साफ्टवेयर (सूचना प्रोद्योगिकी) एवं योग-अध्यात्म ही हैं। इन्हीं दोनों ने मानवीय मूल्यों का संरक्षण एवं सभ्यता को विकसित एवं प्रगत (एडवान्स्ड) होने में अवस्मरणीय योगदान दिया है।

विश्व संस्कृति में अपना योगदान देने वाला 'योग' प्राचीन भारतीय ऋषियों की महान खोज एवं देन हैं। ऋषियों-मुनियों की इस विलक्षण खोज योग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, प्राचीन भारतीय वैदिक संहिताओं, ग्रन्थों, मृत्तिका मुद्राओं एवं प्रस्तर उत्कीर्णनों में मिलतीहै। प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद में 'युञ्जते', 'युञ्जानः', 'युज् ' योगे' आदि उद्धरण मिलते हैं। जहाँ मन को योजित करने, स्थिर करने के भाव से लेकर, जोड़ने पर्यन्त विविध अर्थ समाहित हैं। यजुर्वेद में इस प्रकार आया हैं-

''युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।''

यहाँ मन को स्थिर करने का भाव "युञ्जते मनः" से अभिप्रायित है।

प्राणायाम प्रमुख योगाभ्यास हैं। सर्वप्रथम प्राणायाम के सन्दर्भ "प्राणविद्या" के रूप में औपनिषदिक साहित्य में मिलते हैं। यहाँ पर पंच प्राणों के नाम-प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद (के ११वें काण्ड के चौथे सूक्त) में व्यष्टि (व्यक्ति) से समष्टि (ब्रह्माण्ड) तक प्राण के विभिन्न आधारों एवं क्रिया-कलापों का स्मरण कर नमन किया गया है। प्राण से सन्दर्भित एक रोचक प्रसंग भी उपनिषत् में मिलता है, जो इस प्रकार हैं- "एक बार समस्त शारीरिक अंग-प्रत्यंग मिलकर अपने-अपने कार्यों का व्याख्यान करके अपनी महत्ता को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, उनमें विवाद होने लगता है, तब यह निर्णय होता है कि जिस अंग के कार्य न करने पर शरीर नहीं चलेगा एवं अन्य अंग प्रभावित होंगे, वही प्रमुख एवं बड़ा माना जायेगा। इस पर सर्वप्रथम आँख ने कार्य करना बन्द कर दिया, परन्तु फिर भी शरीर चलता रहा। अब हाथ पैर आदि कमेन्द्रियों की बारी थी, वे भी अपने शक्ति परीक्षण हेतु, कार्य करना बन्द कर देते हैं, परन्तु तब भी शरीर चलता रहता है। अब बारी मन की थी, जब उसने कार्य करना बन्द किया तो ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ तो प्रभावित हुईं, पर शरीर कार्य करता रहा। अब बारी बुद्धि की थी, जब उसने कार्य करना बन्द किया तो भी शरीर चलता रहा, अन्त में प्राणों की बारी आई जैसे ही उन्होंने शरीर को छोड़ना शुरू किया, वैसे ही सभी अंग-प्रत्यंग निर्जीव होकर त्राहि-त्राहि करने लगे, इस पर उन सभी अंगों ने प्राण की महत्ता को स्वीकार किया।

वास्तव में औपनिषदिक साहित्य में इसी प्राण विद्या के संवर्धन तथा धारण को योग के रूप में यहाँ देखा गया है परम्परा में इसे गोपनीय विद्या भी कहा गया है। प्राचीन समय से ही विदेशी सदैव से भारत की प्राचीन एवं गुप्त विद्या के जानने को लालायित होकर भ्रमणकारी के रूप में भारत आते रहते हैं। भारत में योग विषयक आसन एवं मुद्राओं की भाव भंगिमायें लिये मूर्तियाँ एवं प्रस्तर उत्कीर्णन सुदूर दक्षिण एशियाई देशों से लेकर यूरोप महाद्वीप पर्यन्त मिलते हैं। इनमें शिव, यक्ष-यक्षिणी, भैरव, नटराज आदि की यौगिक भावभंगिमा से लेकर बुद्ध एवं महावीर की पद्मासन में ज्ञान आदि विविध मुद्राओं की प्रतिमाएँ, योग की ऐतिहासिक परम्परा के अक्षुण्ण साक्ष्य हैं।

प्राणायाम वास्तव में भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में गहनता से जुड़ा रहा हैं। शरीर एवं मन का शोधन करने वाला होने से प्राचीन भारतीय परम्परा में प्रत्येक सांस्कृतिक एवं मांगलिक कार्य के अवसर पर शोधन किया, पापों से शुद्धि एवं प्रायश्चित कर्मों में यह जन-जन के अभ्यास का विषय रहा है। जीवनी शक्ति का संवर्धन करने वाली यह योग विद्या योग के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं उद्भव में मूलभूत आधार रही। इसी साधना के बल से ऋषियों द्वारा प्राणों का संरक्षण करके दीर्घ आयु प्राप्त करना संभव रहा है।

योगविद्या के प्रवर्तक

योग के उद्भव में प्राचीनतम वक्ता या प्रथम प्रवर्तक के रूप में हिरण्यगर्भ नाम का उल्लेख आता है। "हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः" याज्ञवल्क्य स्मृति में ऐसा सन्दर्भ है। महाभारत जो कि विशालतम ऐतिहासिक महाकाव्य है, में हिरण्यगर्भ के अभिप्राय- 'द्युतिमान' (प्रकाश/आभा/दीप्ति/ज्योति/तेज) एवं 'विभुः' (सर्वत्र व्याप्त) बतलाये गये हैं।

योग के प्रवक्ता हिरण्यगर्भ के विषय में कुछ इतर धारणाएँ भी विद्वानों ने व्यक्त की हैं। कुछ मनीषी सांख्य शास्त्र के प्रवक्ता कपिल मुनि को ही हिरण्यगर्भ कहते हैं, तो कुछ अन्य हिरण्यगर्भ नाम के किसी ऋषि को योग का आदि प्रवक्ता बताते हैं। ऐसा भी मत है कि हिरण्यगर्भ के योग मत पर हिरण्यगर्भशास्त्र नामक कोई ग्रन्थ रहा है। बहरहाल ऐसे सभी योग विषयक मत एवं विचारों का संकलन एवं प्रस्तुतिकरण जिस आद्य ऋषि ने किया वे पतञ्जलि नाम से विख्यात हैं। इनका समय २०० ई. पू. के आसपास माना जाता है। ऋषि पतञ्जलि ने योग की मूल-मूल बातों को संक्षिप्त एवं सारगर्भित करके योगसूत्र नामक ग्रन्थ में प्रस्तुत किया। योगसूत्र नामक इस ग्रन्थ की व्याख्याएं एवं सांख्यमत सामूहिक रूप से योगदर्शन के नाम से जाने जाते हैं। योगदर्शन से अभिप्राय है कि जिससे योग का दर्शन किया जाता है, अर्थात् योग को देखा जाता है, जाना या प्राप्त किया जाता है। यहाँ तक के साहित्य को हम योग की प्राचीन परम्परा के अन्तर्गत मानते हैं।

"योगसूत्र" से तात्पर्य 'योग' के सूत्रों का संग्रह या संकलन। 'सूत्र' से अभिप्राय हैं– "अल्पाक्षरं सूत्रम् " अर्थात् अल्पाक्षर की संहति सूत्र है। जिस प्रकार माला के सूत्र में समस्त मोती पिरोए रहते हैं, बँधे रहते हैं। उसी प्रकार योग के सूत्र में योग के समस्त मोती महर्षि पतञ्जलि द्वारा पिरोए गये हैं। महर्षि पतञ्जलि के योग सूत्र पर प्रथम प्रामाणिक व्याख्या "व्यासभाष्य" के रूप में प्राप्त होती है। व्यास भाष्य से तात्पर्य है– व्यास के द्वारा महर्षि पतञ्जलि के योग सूत्र पर दी गयी व्याख्या। व्यास भाष्य का रचना काल २००-४०० ईसा पश्चात् माना जाता है। इसी क्रम में नवमीं शताब्दी में वाचस्पति मिश्र ने योगसूत्र एवं व्यासभाष्य दोनों पर ही अपनी व्याख्या दी जो कि 'तत्त्ववैशारदी' के नाम से प्रसिद्ध है। आगे चौदहवीं शताब्दी में योगसूत्र पर महत्वपूर्ण व्याख्याविज्ञानभिक्षु की प्राप्त होती है जिसका नाम लेखक ने 'योगवार्तिक' दिया है। एवं सोलहवीं शताब्दी के आसपास धारेश्वर भोज के नाम से पतञ्जलि योगसूत्रों पर विस्तृत व्याख्या प्राप्त होती है जो कि 'भोजवृत्ति' के नाम से प्रसिद्ध है। भोज ने अपने इस ग्रन्थ में योग के अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थों से विभिन्न सम्बद्ध सन्दर्भ भी दिये हैं जिससे भोजवृत्ति एक समृद्ध ग्रन्थ का कलेवर प्राप्त करता है। वास्तव में योगसूत्रों पर भाष्य ग्रन्थों की परम्परा एक सशक्त एवं समृद्ध योगसाहित्य का सृजन करती है।

आसनों से आज योग की अधिक पहचान की जाती हैं। परन्तु प्राथमिक ग्रन्थों में आसनों का उतना अधिक विस्तार नहीं मिलता जितना मध्ययुगीन ग्रन्थों में। मध्ययुगीन ग्रन्थों में योग के प्रायोगिक एवं कार्मिक पक्ष को विशिष्ट विधि के साथ तथा उनसे ठीक होने वाली विविध बीमारियों के साथ उल्लेख किया गया है। इनमें गोरक्षशतक, हठयोगप्रदीपिका, घेरण्ड संहिता, शिवसंहिता, हठरत्नावली, आदि प्रमुख हैं। वास्तव में योग की ऐतिहासिक परम्परा का क्रियात्मक पक्ष इन ग्रन्थों में अधिक विकसित हुआ है। इनमें प्रमुख हठयोग के आचार्यों की परम्परा का भी स्पष्ट उल्लेख हुआ है। हठयोग प्रदीपिका के रचनाकार हठयोगी स्वात्माराम ने हठयोग परम्परा के आदि प्रवक्ता के रूप में आदिनाथ को बतलाते हुए गोरक्षनाथ आदि तीस महायोगियों का उल्लेख किया है। इसी के साथ योग में नाथ सम्प्रदाय की भी विशेष परम्परा का उल्लेख मिलता है। इनमें गोरक्षनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ आदि का नाम अग्रणी है। पारम्परिक लोक-साहित्य जैसे पंचतन्त्र एवं हितोपदेश में भी इसके आख्यान मिलते हैं।

द्वितीय-भाग

योग वर्तमान काल में सार्वभौमिक, सार्वजनिक एवं सुपरीक्षित स्वास्थ्य रक्षण एवं संवर्धन की पद्धति के रूप में विश्वव्यापी हो रहा है। वास्तव में योग की पद्धति को आज वैज्ञानिक आधार एवं स्वीकृति मिल रही है। इस रूप में योग की पद्धति सार्वभौमिक सिद्ध होती है। यौगिक अभ्यासों एवं उपचारों का लाभ आज सभी लोग ले पा रहे हैं। इस रूप में योग किसी

भी देश जाति व धर्म से सम्बन्धित या नास्तिक-आस्तिक सभी के लिये उपयोगी है।

इसी प्रकार सार्वभौमिक सत्यों एवं सनातन जीवन मूल्यों पर आधारित योग के सत्य अहिंसा आदि यम तथा संतोष, स्वाध्याय आदि नियम का कोई भी व्यक्ति आचरण कर सकता है, चाहे वह आस्तिक हो या नास्तिक हो, गोरा हो या काला। आसन एवं शुद्धिं क्रियाओं के अभ्यास से सभी शरीर को स्वस्थ व निरोगी बना सकते हैं।

योगदर्शन, सभी को, उनके साधन से योगाभ्यास करने की स्वतन्त्रता देता है। सभी धर्म, सभी वर्ग के लोग यथेच्छित चिह्न या पदार्थ पर ध्यान लगाते हैं। योग के आधारभूत ग्रन्थ योगसूत्र (१/२९) में आता है– "यथाभिमतध्यानाद्वा" अर्थात् जो पदार्थ अच्छा लगे उसी पर ध्यान लगाने से चित्त को एकाग्र किया जा सकता है। ध्यान से मानसिक तनाव का कम होना, उच्च रक्तचाप का नीचे आना, श्वास रोग का ठीक होना, ध्यान लगाने से छात्रों के अध्ययन में प्रगति करना अनगिनत व्याधियों में रोगियों का प्राणायाम एवं ध्यान के अभ्यास से अन्यों की अपेक्षा शीघ्र ठीक होना, नशे आदि व्यसनों से छुटकारा पाना आदि तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में भारत ही नहीं विदेशों में भी योग को विद्यालयीन शिक्षा के अन्तर्गत लाया जा सकता है। अमेरिका के एक राज्य इलिनॉईस की संसद ने तो १९१२ में ही एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें ध्यान का समर्थन करते हुए सभी शिक्षा संस्थान को सिखाने का अनुरोध तथा परियोजना के लिये हर सम्भव योगदान के लिये निर्देश दिया।

योग का क्षेत्र : अभ्यासों के प्रमाणीकरण की समस्याएँ एवं समाधान

आज योग का क्षेत्र द्रुत गति से विकासमान है। योग के क्षेत्र में हरेक अन्य क्षेत्र की भाँति विकारों एवं अनिमियतताओं का भी प्रवेश हुआ है। कुछ उल्लेखनीय समस्या इस प्रकार है।

१. योगाभ्यासों के मानकीकरण की समस्या, २. व्यवसायीकरण एवं अन्धानुकरण की समस्या, ३. योग उपचार एवं चिकित्सा को वैज्ञानिक मापदण्डों पर सिद्ध करने की समस्या, ४. विविध प्रारूप में एकरूपता की समस्या, ५. योग में विरूपण की समस्या यथा–एडल्ड योगा, ग़ूथ योगा, डाग योग, ६. योग चिकित्सक एवं केन्द्र के पंजीकरण की समस्या।

समाधानः एक चर्चा

आज योगाभ्यासों के विविध प्रारूप दिखायी देते हैं। एक ही नाम के आसन विविध रूप में प्रचलित हैं। इस सबके मानकीकरण की आवश्यकता है। आज का दौर व्यावसायिक युग है। बाजार में जिस चीज की मांग होती है, उसी का दोहन शुरू हो जाता है। मानवता की सेवा एवं त्याग तपस्या के आदर्श से अर्जित उत्तम अभ्यासों को निर्लिप्त भाव से प्रारम्भ में योगाभ्यासों को समाज में प्रस्तुत कर जो विश्वास एवं सद्भभावना अर्जित की गयी, वही आगे चलकर छद्म एवं वेशधारी लोगों द्वारा सरल व्यवसाय एवं ठगने का माध्यम भी बनी।

वास्तव में दोनों रास्ते से योग को निकालकर एक मानकीकृत पैमाने पर आधारित करने एवं वैज्ञानिक रीति अध्ययन एवं अनुसंधान आज योग शिक्षा को लाने की आधारभूत आवश्यकता है। इस रूप में योग के क्षेत्र की इस समस्या का समाधान किया जा सकता है।

पुनः सामूहिक रूप से योग की इन समस्याओं के निराकरण के लिये विभिन्न सरकारी एजेन्सियों, विभागों, योग के प्रतिष्ठित विद्वानों, योगियों एवं जनप्रतिनिधियों के साझे प्रयास से इन समस्याओं का निराकरण सम्भव है।

योग एक शैक्षिक विषय के रूप में

योग शिक्षा एक विषय के रूप में चिरन्तन मानवीय मूल्यों को सनातन ऋषि परम्परा से प्राप्त करते हुए आधुनिक विविध विषयों के साथ सहसंयोजन, समायोजन एवं पूरक के रूप में कार्य करती है। योग सरल, सस्ते एवं निरोधात्मक एवं संवर्धनात्मक आधार के रूप में स्वास्थ विज्ञान एवं आधुनिक चिकित्सकीय विज्ञान के साथ सम्बन्ध रखता है। शान्ति, भाईचारे एवं एकत्व के सन्देश के साथ यह समाज विज्ञान के साथ सम्बन्धित है। वही धारणा एवं ध्यान, आत्मविश्लेषण, रचनात्मक अवधान एवं अनुचिन्तन से यह मनोविज्ञान के साथ भी आन्तरिक सम्बन्ध रखता है। वास्तव में योग-शिक्षा अपने विविध क्षेत्रों का पल्लवन विविध विषयों से करती है।

योग-विश्वास से वैज्ञानिकता की ओर-अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति एवं प्रसार

सामान्य व्यक्ति के लिये योग, आसन एवं प्राणायाम का समूह है। इसलिये उसके लिये इसका मूल्य किन्हीं विशिष्ट एवं कठिन तौर पर शरीर के अंगों को हैरतअँगेज तरीके से मोड़ लेना तथा इसका उद्देश्य या तो करतब दिखाना या स्वास्थ्य लाभ करना होता है। इस प्रकार यहाँ यौगिक अभ्यास वास्तव में जिमनॉस्ट के समान समझे जाते हैं। कुछ आध्यात्मिक समझ रखने वाले लोगों के लिये योग गूढ़ अभ्यासों एव रहस्यमयी क्रियाओं का समूह है, जिसके प्रभाव से योगी आध्यात्मिक उपलब्धि को प्राप्त करता है। इस प्रकार यौगिक अभ्यास यहाँ पर रहस्यमयता के दायरे में तथा उनका मूल्य अति गूढ़, गोपनीय विशिष्टतम माना गया है।

वैज्ञानिक आधारो पर योग की बात करें तो योग में वर्णित कुण्डलिनी शक्ति आदि के मेडिकल साइंस के अनुसार कोई फिज़ियोलॉजिकल आधार मानव शरीर के शल्यानुसंधान में प्राप्त नहीं होते। यौगिक क्रियायें काफी हद तक वैयक्तिक होती हैं। आब्जक्टिविटीया वस्तुनिष्ठता नहीं होने के कारण इनके वैज्ञानिक पद्धति से प्रमाण की गुंजाइश कम रहती है। पुनः ओब्जक्टिविटी कम होने से निष्कर्षों में भी वेरिएशन की संभावना अधिक रहती है, अतः वैज्ञानिकों का इसमें उत्साह कम हो जाता है।

समाज की दृष्टि से योग तथा यौगिक क्रियाओं को देखें तो समाज वस्तुतः उस मूल्य को महत्त्व देता है, जो वैयक्तिक कम तथा सामाजिक अधिक हों। यदि योगसिद्धि से व्यक्ति

उदासीन होता है तो समाज की भी ऐसे व्यक्ति में उदासीनता ही होगी। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर भी कमोबेश सामाजिक स्तर के अनुरूप ही मूल्य पोषित देखे जाते हैं।

उपर्युक्त मानदण्डों एवं तर्कों से विगत दो दशक से योग समालोचना एवं उहापोह का शिकार रहा और इस अद्यतन भारत में इसका सम्यक् मूल्यांकन नहीं हो पाया। किन्तु विदेशों में इस अवधि में इसका प्रबल प्रचार-प्रसार हुआ। ६० एवं ७० के दशकों में अमेरिका में योग ने लोकप्रियता के नये आयामों का स्पर्श किया। वहाँ योग ने स्वास्थ्य लाभ के निरोधात्मक एवं प्रदायात्मक अद्वितीय कारक के रूप में प्रतिष्ठा एवं प्रसिद्धि अर्जित की। धीरे-धीरे आधुनिक मेडिकल चिकित्सा के दुष्परिणामों से त्रस्त तथा विभिन्न एक्सरसाइज (वेट-लिफ्टिंग, एरोबिक्स, फास्ट स्पोर्टर्स आदि) से ऊबे तथा निराश लोगों ने भी जब योग की शरण ली तो उन्होंने पाया कि योग के अभ्यास, आरामदायक, स्फूर्तिदायक तथा हृदयतन्त्र पर अधिक कार्यभार न डालने वाले स्वरूप के हैं। क्योंकि वेट-लिफ्टिंग के लम्बे समय के अभ्यास से आगे जाकर जोड़ों के दर्द की समस्या देखी गयी। वहीं ऐरोबिक्स भी स्थूल लोग के लिये उतना आरामदायक नहीं महसूस किया गया, एसोबिक्स हार्टपेशेंट, उच्च रक्तचाप के मरीज के लिये भी अप्रशस्तकर तथा कमजोरों के लिये दुष्कर अनुभूत किया गया। फास्ट स्पोर्ट्स के अपने रिस्क पाये गये, तथा यह खर्चीला भी रहा। यही कारण रहा कि उपरोक्त एक्सरसाइजों के एवज में यौगिक अभ्यासों का संक्षिप्तीकरण तथा स्वास्थ्यवर्धन के प्रति लोगों का रुझान बढ़ता चला गया।

चूँकि योग का लक्ष्य आधारभूत स्वास्थ्य से अन्तिम अध्यात्म तक प्रसृत है, अतः यदि अन्य धर्म के लोग अध्यात्म परक मूल्य अपने-अपने धर्म से लेते हैं तो स्वास्थ्यपरकता तो योग से ले ही सकते हैं। अतः योग के वैश्विक करण में अन्तिम अग्राह्यकारक तत्व भी हट गया और इसका कारण यह रहा कि धर्म की निहित कदाचित रूढ़िवादियाँ तथा मूर्तिपूजा आदि का कोई विधान योगाभ्यासों में नहीं है। इसमें केवल ओम् के ही जप का विवरण आता है जो कि अध्यात्म मार्ग के गमनार्थियों के परिप्रेक्ष्य से अधिक संदर्भित है। चूँकि ओं भी अ, उ एवं म का संयुक्ताक्षर है। अतः इसमें भी किसी अन्य धर्मावलम्बी को आपत्ति की भी गुंजाइश कम रहती है। इसलिये योग को अपनाने में धर्म एवं संस्कृति की बाधायें अल्प हुईं।

योग के आधुनिक प्रचारकों ने भी प्राचीन योगियों की भाँति एकांतपरकता तथा सामाजिक उदासीनता के स्थान पर, गतिशीलता, कर्मठता तथा सामाजिक समस्याओं के प्रति संवेदनशीलता का परिचय दिया। उन्होंने समाज के सभी क्षेत्रों में अपने अवदान एवं योग के प्रतिमान स्थापित किये। इन योगप्रचारकों ने न केवल अपने अत्यन्त कर्मठ एवं दक्ष होने का प्रमाण दिया, अपितु प्रेम, सहानुभूति करुणा, भाईचारे एवं विश्वबन्धुत्व का संचार किया। अनेकानेक लोग जो कि नशे की गिरफ्त में थे तथा अन्य विपरीत मनःस्थितियों के शिकार थे उन्होंने पॉजिटिव जीवन का मूल-मंत्र तथा जीने की नयी दिशा तथा प्रेरणा योग

से ग्रहण की। श्री रविशंकर की सुदर्शन क्रिया परक योग, माँ अमृतानन्दमयी का आरोग्यकारक आलिंगन तथा बाबा रामदेव के रोगनिरोधक योगाभ्यास इसके जीवन्त उदाहरण हैं। इस कारण योग तथा योगियों की आधुनिक समाज अत्यन्त सम्मानजनक प्रतिष्ठा निर्मित हुयी।

विज्ञान की भी प्रगति से सूक्ष्म यौगिक क्रियाओं के भी अध्ययन के मार्ग खुले। जिन्हें या तो वैज्ञानिक दृष्टि से निरर्थक माना जाता रहा या असम्भव उनके भी वैज्ञानिक आधार मिले। इनसे वे यौगिक क्रियायें जो कि चमत्कार के धरातल पर थीं, वे भी रेशनेलिटी एवं प्रयोग के दायरे में आ गयीं। यौगिक क्षेत्र में सांइटफिक मैथेडलॉजी के प्रयोग से यौगिक क्रियाओं के उपचारात्मक स्वरूप के प्रकाश में आने से चिकित्सक वर्ग का योग के निश्चित प्रभाव पर विश्वास हुआ। आज अनेक डाक्टर्स स्वयं भी योग करते हैं तथा अन्यान्य मरीजों को भी योगाभ्यासों का परामर्श देते हैं। आज चुनिंदा योगाभ्यास आर्थोपेडिक, रयूमरेटिक एवं अस्थमैटिक व्याधियों में अन्य पैथियों की तुलना में सर्वाधिक कारगार एवं सटीक उपचार माने जाते हैं। पाचनतन्त्र के विभिन्न डिसऑर्डर के अतिरिक्त आज डायबिटीज तथा कैंसर जैसी घातक बीमारियों में भी योगाभ्यास प्रभावकारी पाये जा रहे हैं। विदेशों में ऑफिस जाने से पूर्व आधे घण्टे के प्राणायाम एवं आसनों के अभ्यास दिन भर शरीर को ऊर्जावान बनाये रखने में अत्यन्त लोकप्रिय अभ्यास तथा फैशन दोनों रूपों में है ही।

वैज्ञानिक कसौटी पर खरे उतरे योग ने आज जनसामान्य का भी विश्वास अर्जित किया है। इस प्रकार योग आज एक सार्वजनिक मूल्य के रूप में समादृत तथा स्थापित कहा जा सकता है। विभिन्न विद्यालयों में योगपाठ्यक्रम शरीर-शिक्षण का स्थान ले रहे हैं किन्तु उच्चशिक्षा में अभी भी योगशिक्षण की स्थिति सुदृढ़ नहीं है। अभी भी हमारे देश में मात्र केवल एक या दो ही योग यूनिर्वसिटी हैं वो भी डीम्ड स्तर की। केवल कुछ विश्वविद्यालयों में ही "ह्यूमन कानसेसनेस तथा यौगिक सांइस' नाम से डिप्लोमा या स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम हैं, स्नातक स्तर पर योगपरक पाठ्यक्रमों को अभी भी सम्मिलित किया जाना बकाया है। यद्यपि अनेकों संस्थायें देश एवं विदेश में योगानुसंधान एवं योग के प्रचार-प्रसार की दिशा में कार्यरत् है।

तृतीय भाग

पतंजलि योगसूत्र में योग की परिभाषा की गई है– 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" (योगसूत्र १/२ अर्थात् योग चित्त की वृत्तियों का निरोध है। योगदर्शन में 'चित्त' पद का विभिन्न सूत्रों में प्रयोग हुआ है, यथा १/२, २२, २१, २/१९, ११, १२, १९, ३२, ४/४, ५, १५, १६, १७, १८, २२ तथा २६। चित्त के व्यवहृत अन्य समकक्ष चित् (चिति) पद का प्रयोग योग में मिलता है। 'चित्त्' से 'करण' अर्थ में 'क्त' प्रत्यय करने से 'चित्त' पद निष्पन्न होता है। व्यास भाष्य में चित्त की व्याख्या में आया है 'चिति संज्ञाने' अर्थात् संज्ञान में चेतना की

क्रिया है। योगसूत्र में ४/२२ के में महर्षि पतंजलि ने 'चित्त' पद व्यवहृत वृत्ति को 'बुद्धि' नाम से विश्लेषित किया है। 'बुद्धि' शब्द का अर्थ बोध है जो कि ज्ञानात्मक है। अतः चित्त की ज्ञानात्मक वृत्ति के लिये यहाँ 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग हुआ है, जब कि सांख्य में 'बुद्धि' शब्द से एक तत्त्व वर्णित हुआ है। योग के १/३७ सूत्र में प्रयुक्त 'मन' पदवाचक से भी 'चित्' तत्त्व को व्यवहार समझा जा सकताहै तथा 'मनसः स्थितिनिबन्धनी' सूत्र के भाष्य में आता है– 'चित्तं स्थितौ निबन्धन्ति' साथ ही वार्त्तिककार विज्ञानभुक्षु भी 'मनश्चित्तयोरेकतेति बोध्यम् ' वाक्य द्वारा चित्त और मन की एकरूपता का कहते हैं।

व्यास भाष्य में चित्त की भूमियों का वर्णन आया है जो कि पाँच प्रकार की निरूपित की गई हैं– क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरूद्ध। योग की स्थिति भूमि या समाधि में प्राप्त होती है, इसीलिये व्यास जी द्वारा योग की परिभाषा 'युज समाधौ' से की गई है।

पातंजल-योगसूत्र में चित्त की पाँच प्रकार की वृत्तियाँ बतलाई गई हैं। ये हैं– प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति। ये क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद की हैं। इन वृत्तियों का आन्तरिक विस्तार भी किया गया है। प्रमाण के तीन भेद हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम। विपर्यय मिथ्याज्ञान स्वरूप वृत्ति है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश भेद से विपर्यय के भी पाँच प्रकार कहे गए हैं। विकल्प वृत्ति के वस्तु, क्रिया और अभाव तीन भेद हैं। निद्रा वृत्ति के सात्त्विकी राजसी तथा तामसी तीन रूप हैं। भावित स्मर्तव्या तथा अभावित स्मर्तव्या भेद से 'स्मृति' के दो भेद है।

योगसूत्र के प्रथम पाद-साधन पाद में प्रमाण के भेद कहे गये हैं– प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। (१/७) अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से साधित यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। व्यास भाष्य के अनुसार 'इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवर्त्त्यु परागात्तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्', अर्थात् इन्द्रियप्रणाली के माध्यम से चित्त का बाह्य वस्तु जनित उपराग होने के कारण बाह्य विषय एवं सामान्य तथा विशेष विषयों में विशेषावधारण प्रधाना जो वृत्ति होती हैं, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। बुद्धि के साथ अविशिष्ट, पौरुषेय चित्तवृत्ति बोध ही (विज्ञानभूत वृत्ति का) फल है। पुरुष बुद्धि का प्रतिसंवेदी है। (सं. योगदर्शन-स्वामी स्वामी हरहरानन्द अरण्य)

अनुमान की व्याख्या में व्यासजी के भाष्य में आया है – अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्। यथा देशान्तरप्राप्तेगतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत् विन्ध्यश्चाप्राप्तिगतिः। अर्थात् अनुमेय के साथ तुल्यजातीय वस्तु में अनुवृत्त और भिन्न जातीय वस्तु से व्यावृत्त सम्बन्ध कहलाता है। इसी सम्बन्ध को विषय बनाकर जो सामान्यावधारणा प्रधान वृत्ति होती है, वह अनुमान है। शब्द प्रमाण की व्याख्या करते हुए व्यास भाष्य में कहा गया है कि

'आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थ; परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः' अर्थात् आप्त पुरुष से दृष्ट तथा अनुमित जो अर्थ व विषय है, जब दूसरे व्यक्ति को उसका बोध कराने के लिए आप्त पुरुष उसका उपदेश करते हैं तब उससे जो अर्थ विषया वृत्ति श्रोता में उत्पन्न होती है वह श्रोता पुरुष का आगम रूप प्रमाण होता है।

योगवार्तिककार ने दो प्रकार की प्रमाओं का उल्लेख किया कि..... 'प्रमाद्वयं च सांख्ये सूत्रितम्-द्वयोरेकतरस्य, वाऽप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमेति' (योगवार्तिक २/१९)। चित्त इन्द्रिय प्रणाली के माध्यम से बाह्य घट, पट आदि के प्रति उपरक्त होता है। विषयराग से विषयानुरूप घट, पट की तदाकारा चित्तवृत्ति हो जाती है। इसे चित्त की विषयानुरूप परिणाम अवस्था भी कह सकतेहैं जो कि 'अयं घटः, अयं पटः' आदि से लोक व्यवहार का विषय होती है। अतः विषयानुरूप चित्तवृत्ति बनती है। इस विषयानुरूपण राग को 'करण' (प्रमाण) कहते हैं और 'अयं घट' आदि वृत्ति को 'प्रमा' जिसका आधार बुद्धि है। इसे 'बौद्ध-प्रमा' भी बुद्धिनिष्ठ होने से कहा जा सकता है। 'घटमहं जानामि' अर्थात मैं घट को जान रहा हू यह द्वितीय प्रकार की प्रमा है, जिसकी उत्पत्ति का कारण पूर्व प्रमा (बौद्ध पूर्व प्रमा) है। इस प्रकार द्वितीय प्रमा का सापेक्ष प्रथम प्रमा 'करण' (साधन), कहा जा सकता है जो कि पुरुषनिष्ठ होने के कारण 'पौरुषेयबोध' भी कहा जाता है।

योगदर्शन में प्रमाण, चित्त की वृत्तियों में से एक है, परन्तु योगसूत्रकार के अनुसार योग चित्त की वृत्तियों का निरोध है। अतः 'निरोध' का विवेचन अपेक्षित हैं। निरोध शब्द 'नि' उपसर्गपूर्वक 'रुध्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय कर निष्पन्न होता है, जिसका सामान्य अर्थ बाधा, एवं परिणति स्वरूप नाश समझा जा सकता है। यद्यपि 'निरोध' शब्द 'नाश' अर्थ की अपेक्षा 'अवस्था विशेष' में अधिक उपयुक्त समझा जा सकता है जब हम इसको धर्मी-सापेक्ष धर्म में ग्रहण करते हैं अधिक स्पष्ट तौर पर कहें तो चित्त-धर्मी के वृत्ति-धर्म को निरुद्ध किया जाता है। सांख्य दर्शन सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को मानता है; जिसके अनुसार कार्य, कारण में अनिवार्य रूप से विद्यमान रहता है। अतएव योग सम्मत अर्थ में कार्य (जैसे घट) अपने कारण (जैसे मृत्तिका) में अनागत,वर्तमान तथा अतीत तीनों कालों में भावरूप से निहित रहता है। (योगवार्त्तिक १/१) उसकी अनागत और अतीत स्थिति अनुमानगम्य है। उसकी 'मध्य' की वर्तमान अवस्था का ही प्रत्यक्ष होता है। योगवार्त्तिककार के अनुसार भी 'निरोध' लय रूप है। निरोधः ... लयाख्याऽधिकरणस्यैवावस्थाविशेषोऽभावस्यास्मन्मतेऽ-धिकरणावस्थाविशेषरूपत्वात्। योगवार्त्तिक १/१।

***

न्यायव्याकरणदर्शनयोः सप्रयोजनप्रमाणविमर्शः

डॉ० गणपतिशुक्लः
सहायक आचार्यः
श्रीसदाशिवपरिसरः, पुरी

'मानाधीना मेयसिद्धिः' इति वचनप्रामाण्यात् प्रमाणतत्त्वं पदार्थेषु मध्ये प्रामुख्यं भजते। अतएव दर्शनेषु प्रमाणतत्त्वमीमांसायाः परमोच्चं स्थानमस्तीति नास्ति कस्याप्यत्र विप्रतिपत्तिः। किञ्च पूर्वे ह्याचार्याः स्वस्वसिद्धान्तस्थापनामात्रप्रयोजनां वादकथामेव समाश्रयन्ते स्म प्रामुख्येन। परन्तु गच्छता कालेन वादकथया सह जल्पवितण्डयोरपि दर्शनेषु भूरि प्रवेशो जातः। तदा प्रभृति स्वपक्षस्थापनया सह परपक्षनिराकरणस्यापि आवश्यकताऽनु-भूताऽचार्यैः, तदा प्रभृति च प्रमाणानां विशेषतोऽनुमानार्थापत्त्यादीनां प्रचुररूपेण प्रयोगः प्रारब्धः।

'प्रमीयतेऽनेनेति' करणाभिधानो हि प्रमाणशब्दः।[१] उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि इति समाख्या निर्वचनसामर्थ्यात् बोद्धव्या। यद्यपि सूत्रकारः उपलब्धिपदस्य ज्ञानमित्यर्थं करोति तथापि उपलब्धिसाधनानीत्यादिभाष्येण उपलब्धिपदस्य यथार्थानुभवरूपोऽर्थः लभ्यते। 'करणाधिकरणयोश्च' इति सूत्रेण करणे ल्युटा निष्पन्नोऽयं प्रमाणशब्दः।[२] केशवमिश्रैः प्रमाकरणस्य प्रमाणत्वं स्वीक्रियते।[३] तेषां मते प्रमीयते ज्ञायतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्या उक्तार्थलाभः। प्रमितिः प्रमाणमिति भावव्युत्पत्तिस्तु न युक्ता अप्रमितिरूपचक्षुरादीनामप्रमाणत्वापत्तेः। अतः प्रकर्षेण परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येनेति करणव्युत्पत्त्या प्रमां प्रति करणं प्रमाणमिति।

वैयाकरणमतम्

वैयाकरणमते 'अनिर्ज्ञातार्थस्य साकल्येन ज्ञानं प्रमा तत्करणं प्रमाणं भवति। तथाहि महाभाष्ये उक्तं यत् मानं हि नाम तद् येन अनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामि, उप समीपे यन्नात्यन्ताय मिमीते तदुपमानम् ।[४] अत्र साकल्येन ज्ञानमिति पदेनाबाधितार्थविषयत्वं प्रमायाः बोध्यते। यतोहि बाधितार्थविषयकं ज्ञानमनिर्ज्ञातमर्थं साकल्येन न परिच्छिनत्ति। तेन संशयविपर्ययादीनां निरासः। प्रमालक्षणे अनिर्ज्ञातपदाभावे स्मृतौ अतिव्याप्तिः। यतोहि शाब्दिकैः नेष्यते स्मृतेः प्रामाण्यम् अन्यथा घटोऽयं घटोऽयमिति यद् धारावाहिकं प्रत्यक्षात्मकं ज्ञानं तत्राव्याप्तिः

स्यात्। अतः स्मृतेः प्रमात्वं नास्ति। तथा च स्मृतौ अतिव्याप्तिं वारयितुम् अनिर्ज्ञातपदं प्रदत्तम्। अनिर्ज्ञातार्थस्य इत्यत्र षष्ठ्यर्थः विशेष्यत्वं, साकल्येति पदे स्वार्थे ष्यञ् प्रत्ययो भवति। तथा च अनिर्ज्ञातार्थविशेष्यकत्वे सति सामान्यविशेषधर्मादिरूप सम्भावितसकलधर्मप्रकारकं ज्ञानं प्रमा तत्करणञ्च प्रमाणं भवति।

व्याकरणदर्शने प्रमाणस्य संख्याविषये मतैक्यं नास्ति। तथापि सिद्धान्ततः वैयाकरणाः प्रत्यक्षम् , अनुमानम् , अर्थापत्तिः , शब्दश्चेति चत्वारि एव प्रमाणानि स्वीकुर्वन्ति। केषाञ्चित् शाब्दिकानां मते षड् प्रमाणानि प्रत्यक्षानुमानशब्दार्थापत्त्यभ्यासादृष्टानि। अन्ये प्रतिभासहितानि सप्तप्रमाणानि वदन्ति। अपरे एकादशप्रमाणानि उपमानानुपलब्धिप्रत्यभिज्ञाकोषसहितानि इति वदन्ति। परन्तु शब्दप्रमाणविदः पाणिनीयाः प्रत्यक्षम् अनुमानं, शब्दः, अर्थापत्तिश्चेति चत्वारि प्रमाणनीति वदन्ति।

प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्षं भवति। तथा च अर्थसन्निकृष्टं यत् चक्षुरादि इन्द्रियं तत् प्रत्यक्षप्रमाणं भवति। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्या या चित्तवृत्तिः तत्प्रतिबिम्बितं चैतन्यं प्रत्यक्षप्रमा भवति। तत्करणं प्रत्यक्षप्रमाणं भवति। एतादृशवृत्तौ चैतन्यस्य प्रतिबिम्बो भवति तादृशप्रतिबिम्बनं वृत्तिजन्यं फलं प्रमा भवति। तत्कारणीभूता या वृत्तिः सैव प्रत्यक्षप्रमाशब्देन उच्यते। तदुक्तं महाभाष्यकारेण 'भवति वै कश्चिद् जाग्रदपि वर्तमानकालं नोपलभते तद्यथा वैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्गे आसीनः शकटसार्थं यान्तं नोपलभे, किं पुनः कारणं जाग्रदपि वर्तमानकालं नोपलभते।'[५] अत्र अश्नुते विषयमिति अक्षमिन्द्रियम् । अत्र व्यापारः विषयचैतन्यस्यावरणभङ्गरूपो भवति। ये न्यायदर्शनवत् इन्द्रियं प्रत्यक्षप्रमाणमिति स्वीकुर्वन्ति, तेषां मते सन्निकर्षो व्यापारो भवति।

वैयाकरणानां मते प्रथमक्षणे आत्मना बुद्धिः युज्यते, बुद्ध्या अहंकारः द्वितीयक्षणे, अहंकारेण साकं मनः तृतीयक्षणे, मनसा इन्द्रियाणि चतुर्थक्षणे, इन्द्रियैः साकं विषयः पञ्चमक्षणे संयुज्यते। एवं च पञ्चक्षणेषु प्रत्यक्षस्योत्पत्तिर्भवति।[६]

अनुमानप्रमाणमपि शाब्दिकानां स्वीकार्यमेव। भाष्यादौ बहुत्र स्थले तत्प्रतिपादनात्। 'स्वरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इति सूत्रभाष्ये प्रत्यक्षपूर्वकत्वमनुमानस्य सामान्यलक्षणमित्युक्तम।[७] यथा धूमं दृष्ट्वा वह्नेरनुमानं, त्रिविष्टब्धकं दृष्ट्वा परिव्राजकानुमानमिति। अनेन भाष्यवचनेन अनुमानस्य प्रामाण्यमस्त्येव।[८] अपि च 'न सम्प्रसारणे' इति सूत्रे भाष्यकारः वदति 'इह इङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्रप्रबन्धेन आचार्याणाभिप्रायो गम्यते।' अत्र 'गम्यते' इत्यनेन अनुमीयते इत्यर्थः।[९]

अभ्यासः, अदृष्टं, प्रतिभा इति प्रमाणत्रयं प्रत्यक्षादेः सहकारिरूपं वर्तते।[१०] तथाचोक्तं वाक्यपदीये–

परेषाममाख्येयमभ्यासादेव जायते।
मणिरूप्यादिविज्ञानं तद्विदां नानुमानिकम्।।

प्रत्यक्षमनुमानञ्च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिता।
रक्षःपितृपिशाचानां कर्मजा एव सिद्धयः।।
विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्येव जायते।
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरूपपादिताम्।।

अनुमानविषये न्यायदर्शनेन सहाधिकं साम्यं दृश्यते। विभागविषयेऽपि साम्यं वर्तते। वैयाकरणानां मतेऽपि अनुमानस्य त्रैविध्यं वर्तते। केवलान्वयि, केवलव्यातिरेकि, अन्वयव्यतिरेकिभेदात्। न्यायादिवत् व्याकरणदर्शने पञ्चावयवाः स्वीकृताः। तथापि अवयवानां संख्याविषये ऐकमत्यं नास्ति। उपमानस्य अनुमाने एव अन्तर्भावः।

उक्तं च भर्तृहरिणा

अनिर्ज्ञातस्य निर्ज्ञानं येन तन्मानमुच्यते।
प्रस्थादिकेन मेयात्मा साकल्येनाभिधीयते।।
अनिर्ज्ञातं प्रसिद्धेन येन तद्धर्म गम्यते।
साकल्येनापरिज्ञानादुपमानं तदुच्यते[11]।।

एतेन उपमानस्य पृथक् प्रामाण्यं खण्डितम्।

उपपाद्यज्ञानेन उपपादकत्वकल्पनमर्थापत्तिः। अत्र उपपाद्यज्ञानं करणं, फलमुपपादकज्ञानं भवति। अर्थापत्तिः प्रमा प्रमाणमपि भवति। तथा च प्रमाणप्रमयोः उभयोः कृते अर्थापत्तिशब्दस्य प्रयोगो भवति[12]। अर्थापत्तिशब्दः षष्ठीत्पुरुषसमासे कृते प्रमापरकः, बहुव्रीहिसमासे कृते प्रमाणपरको भवति। यथा पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते अर्थात् रात्रौ भुङ्क्ते इति। उपपाद्यं पीनत्वं रात्रिभोजनमुपादकं भवति। दृष्टार्थापत्तिश्रुतार्थपत्तिभेदेन अर्थापत्तिः द्विधा वर्तते। यथा 'इदं रजतमिति' दृष्टार्थापत्तिः। यथा 'तरति शोकमात्मवित्' इति श्रुतार्थापत्तिः।

शाब्दिकानां मते नैयायिकमतमिव आप्तोपदेशरूपवाक्यस्यैव प्रामाण्यं वर्तते। अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्येन निश्चयवान् रागादिवशादपि नान्यथावादी आप्तो भवति[13]। आप्तत्वञ्च रागादिदोषरहितत्त्वे सति स्वानुभवप्रयोज्यवस्तुतत्त्व-विषयकयथार्थज्ञानवत्त्वम्। अत्र प्राचीनाः वदन्ति शब्दनिष्ठावृत्ति-ज्ञानाधीना पदार्थोपस्थितिः व्यापारो भवति। किन्तु नागेशभट्टमते संस्कार एव व्यापारः।

प्रमाणस्य प्रयोजनविषये ते वदन्ति यत् सर्वोऽपि लोकः प्रमाणपुरस्सर मेव प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपव्यवहारे प्रवर्त्तते। जगतः मूलतत्त्वानुसन्धानं प्रमाणमाध्यमेनैव भवितुमर्हति प्रमाणानि अनेकानि भवन्ति, तथापि निःश्रेयसरूपफलसाधकानि भवन्ति।

न्यायमतम्

प्रमाणेभ्यः उपलब्धिज्ञानाधारेण प्रवृत्तिसाफल्यवैफल्याभ्यां व्यावहारिकं प्रयोजनमिति

नैयायिकाः चिन्तयन्ति। न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकायां 'प्रमाणं हि तमर्थप्रवृत्तिजनकत्वादनुमेयम्।' तथा च प्रवृत्तिसाफल्यवैफल्यरूपदृष्टप्रमाणादपि मुख्यज्ञानं चिन्तयितुं शक्यते। परमार्थज्ञानरूपाभीष्टसिद्धौ एतानि प्रमाणानि सहायकभूतानि भवन्ति। दुःखक्लेशादिसंयुक्तं दुःखसागररूपमिदं जगद् वर्तते। तादृशदुःखसागरात् निवारणमपि प्रमाणस्य तत्त्वज्ञानात् भवति। प्रमाणस्य तत्त्वज्ञानसाधनत्वात् तस्य महत्त्वपूर्ण स्थानं वर्तते।

न्यायनये 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' इति सूत्रेण प्रमाणानां चातुर्विध्यं प्रदर्शितम्। इदं सूत्रं प्रमाणानाम् उद्दिष्टविभागद्वारा विभागपरं वर्तते। अत्र आक्षेपो भवति उद्दिष्टस्य विभागानर्थक्यं विरोधात्। शास्त्रस्य त्रिविधा प्रवृत्तिर्भवति। उद्देश्यलक्षणपरीक्षा इति नाम्ना। उद्दिष्टप्रमाणं न त्रिविधायां शास्त्रप्रवृत्तौ अन्तर्भवति। तस्मान्न युक्तः प्रमाणविभागः, इति चेन्न। उद्दिष्टस्य विभागस्योद्देश्य एवान्तर्भावात्, समानलक्षणत्वात्, प्रमाणेन यथार्थज्ञानं लब्धं भवति। शास्त्रेऽस्मिन् भिन्नपदार्थत्वेन प्रमाणं वर्तते। सः प्रमाणसिद्धान्तः समानतन्त्रेण सिद्धो भवति, परतन्त्रेणासिद्धः। तदुक्तम् आचार्यगौतमेन–

समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः।[14]

अतिरहस्यानां विषयाणां यथार्थज्ञानार्थं प्रमाणानामपेक्षा वर्तते। प्रमाणतत्त्वे स्वजीवनस्योद्धाराय साफल्यार्थञ्च श्रद्धाविश्वासौ करणीयौ।

प्रमाणस्य सम्प्लवो व्यवस्था वा? अप्येतानि प्रमाणानि प्रमेयमभिसम्प्लवन्ते आहोस्वित् प्रत्येकं प्रमेयं व्यवतिष्ठन्ते इति पृष्ट्वा उभयथा भवतीति स्वयमेव समाधत्ते भाष्यकारः[15]। तथाहि अस्तीति आत्मा आत्मोपदेशादेव प्रतीयते। तत्रेदमुमानम् आत्मा अस्तित्ववान् इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानादिमत्त्वात्। तदुक्तं सूत्रकृता 'इच्छाद्वेषप्रयत्न–सुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति[16]। आत्मन्येकात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मा प्रत्यक्षः'[17] इति वैशेषिकसूत्रानुसारं युञ्जानस्य योगसमाधिजन्यमात्मप्रत्यक्षं भवति। यथा वह्नेः ज्ञानमात्मापदेशतः, धूमदर्शने अनुमानं, तत्समीपे गतस्य प्रत्यक्षमपि भवति। किन्तु तत्र प्रमाणव्यवस्थाऽपि दृश्यते। तथाहि 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम' इत्यादौ स्वर्गः नानुमेयः नापि प्रत्यक्षयोग्यः किन्तु आप्तोपदेशादेव तस्य ज्ञानं भवति। विद्युच्छब्दं श्रुत्वा शब्दहेतोः घनसंघट्टनस्य केवलमनुमानमेव भवति न तु प्रत्यक्षादिकम्।[18]

अतएव वाचस्पतिमिश्रेणाप्युक्तम् –

'न हि करिणि दृष्टे चीत्कारेणानुमिमतेऽनुमातारः'। परन्तु कुत्रचित् आप्तोपदेशेन ज्ञातस्य वस्तुनः अनुमानमपि क्रियते। अनुमानेन ज्ञातस्यापि प्रत्यक्षेण ज्ञानं भवति। तथा च सिद्धमिदं यत् यत्र प्रमाणानां संकरो भवति तत्र प्रमाणसंप्लवः। यत्र ह्यसंकरः तत्र व्यवस्थेति।

प्रमात्रा यैः साधनैः यथार्थप्रतीतिः विषयस्य क्रियते दार्शनिकदृष्ट्या तानि सधानानि प्रमाणाणि कथ्यन्ते। कस्याप्यर्थस्य बोधः प्रमाणैर्विना नैव भवतुमर्हति। ज्ञाता प्रमाणसाहाय्येनैव

अर्थमुपलभ्य तमर्थं प्राप्तुं हातुं वा इच्छति। प्रमेयाणां चातुर्विध्यं वात्स्यायनेन प्रातिपादितम्।[१९] सुखं, सुखहेतुः, दुःखं, दुःखहेतुश्चेति। यथा आयुर्वेदे रोगः, रोगहेतुः, आरोग्यम् औषधिश्चेति चातुर्विध्यं वर्णितं वर्तते। अन्यदर्शनशास्त्रेऽपि हेयः, हेयहेतुः, हानं हानोपायश्चेति प्रमेयरूपेण प्रतिपादितम्। उद्योतकरैः हेयादिपदार्था अर्थभेदेन अभिप्रेताः। तत्र दुःखस्य नाम हेयः, दुःखकारणमविद्या तृष्णा धर्मः अधर्मश्चेत्यादिः हेयहेतुः, यथार्थरूपेण पदार्थज्ञानं हानं, तस्योपायरूपेणोक्तं यच्छात्रं हानोपायः भवति[२०]।

उक्तचतुर्षु मध्ये प्रमाणस्यैव प्राधान्यं वर्तते। यतोहि प्रमाता प्रमाणद्वारैव प्रमेयबोधार्थं गच्छति। प्रमात्रा येन साधनेन विषयोपलब्धिः क्रियते तत्प्रमाणं भवति। विषयः प्रमेयो भवति। विषयाणां यथार्थज्ञानं प्रमितिर्भवति। प्रमातृ–प्रमाण–प्रमिति–प्रमेयेषु मध्ये प्रमाणस्यैव प्रामुख्यं वर्तते[२१]। प्रमाणद्वारैव विषयाणानुपलब्धिं कृत्वा तस्य ग्रहणं त्यागो वेति इच्छां कृत्वैव प्रमाता कृतकृत्यो भवति।[२२] प्रमाणस्य सप्रयोजनकत्वसत्त्वेनैव प्रमातुः प्रमितेश्चार्थवत्त्वं साधयितुं शक्यते। इष्टवस्तुरूपार्थप्राप्तेः आधारभूततया प्रमाणस्य सप्रयोजनकत्वं वर्तते[२३]।

प्रमाणविषये न्यायमञ्जरीकाराः वदन्ति यत् आत्मानमारभ्यापवर्गपर्यन्तं द्वादशपदार्थानां यथार्थज्ञानं निःश्रेयससाधनं भवति। श्रुतिरपि कथयति 'निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते'। तात्पर्यमिदं यत् पुरुषः आत्मज्ञानं कृत्वैव आवागमनबन्धनाद् विमुक्तो भवति। यजुर्वेदेऽपि उक्तम्–

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।।[२४]

अर्थात् 'अहं ब्रह्माऽस्मीति' सर्वात्मदर्शी ब्रह्मवेत्ता शोकं मोहं चात्मनः नाशयति। ऋग्वेदेऽपि प्रमाणादिग्रहणयोग्यता मानवानां वर्तते इति लिखितं वर्तते[२५]। प्रमाणं विना मोक्षपर्यन्तं गन्तुं न शक्यते।

न्यायसूत्रकारेण गौतममुनिना प्रमाणस्य प्रयोजनमात्यन्तिकदुःखध्वंसरूपनिःश्रयसमेव कथितं प्रमाणेत्यादिग्रन्थारम्भसूत्रे। यथा प्रदीपेन प्रकाश्यमानवस्तुनः व्यवहारः भवति, तथैव न्यायविद्यया प्रतिपादितस्य प्रमाणस्य साहाय्येन अन्या विद्याः स्वकीयार्थतत्त्वनिरूपणे प्रवृत्ता भवन्ति। यथा 'आदित्यो वै यूपः' इति श्रुतिवाक्ये यूपस्य आदित्यरूपतां विद्वांसः नैव स्वीकुर्वन्ति। तदर्थमेव प्रमाणानां विनिवेशद्वारैव वास्तविकमर्थं ज्ञात्वा अनुष्ठाने परिहारकरणे श्रुतेः विनियोगोः भवति। दण्डनीतौ वार्तायां च प्रमाणानां विनियोगद्वारैव न्यायशास्त्रस्योपयोगः भवति।

पादटिप्पणी–

१. न्या. भा. सू. १/१/३
२. धा. पा. १०८८, ११४२
३. तर्क. भा. पृ. ११
४. व्या. महा. भा., २.१.५५
५. व्या. महा. भार., ३.२.१२४
६. न्या. सू. प्र. वि. पृ., २७
७. म. भा. १/२/६४
८. म. भा. ३/२/१२४
९. म. भा., ६/१/३७
१०. वाक्यपदीयम् १.३५, १२६, २. १४३. १४४
११. वाक्यपदीयम् ३.१४.३५९
१२. वे. परि. अ. परि.
१३. प. ल. म. श. प्र.
१४. न्या. सू. १.१.२९
१५. न्या. भा. सू. १.१.३
१६. न्या. सू., १.१.१०
१७. वै. सू., ९/१/११
१८. न्या. भा.सू., १/१/२
१९. न्या. भा., पृ. २१
२०. न्या. वा. पृ. ११–१२
२१. न्या. भा.,पृ. २४
२२. न्या. वा., पृ. २४
२३. न्या. भा., पृ. २२
२४. यजुर्वेदे, ५०/६
२५. ऋ. वे., १५/६५

***

न्यायभिमतप्रत्यक्षस्वरूपविमर्शः

डॉ. विश्वनाथधितालः

अतिथि प्राध्यापकः

न्यायवैशेषिकविभागः

सम्पूर्णानन्दसंस्कृत विश्वविद्यालय, वारणसी।

जगदेव दुःखपङ्कनिमग्नम् उद्दिधीर्षुः महर्षिः गौतमोऽष्टादशविद्यास्थानेषु अभ्यर्हिततमाम् आन्वीक्षिकीं प्रणिनाय।

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तारः।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश।।[१]

इत्यत्र विस्तरपदयोजनेनापि न्यायशास्त्रस्य अभ्यर्हिततमत्वं सिद्ध्यत्येव। न्यायशास्त्रस्य परमं प्रयोजनं तु मोक्षावाप्तिरेव। मोक्षावाप्तिस्तु तत्त्वज्ञानेनैव सम्भवति। ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। इत्यादिश्रुतयोऽपि तत्र प्रमाणम्। महर्षिणाऽपि प्रथमसूत्रे तत्त्वज्ञानेनैव निःश्रेयसप्राप्तिरिति प्रतिपादितम्। प्रमाणप्रमेयसंशय प्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा-हेत्वाभासच्छल जातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।[२] तत्र प्रमेयतंत्त्वज्ञानं प्रमाणतत्त्वज्ञानं विना न सम्भवतीति प्रथमं प्रमाणमेव उद्दिष्टम्। प्रमाणस्य विशदतया विवेचनैव इदं शास्त्रं प्रमाणशास्त्रमित्यपि ख्यातमेव। प्रमीयते इति प्रमाणम् इति व्युत्पत्या प्रपूर्वकात् माधातोः भावे घञ्प्रत्ययात् निष्पन्नः प्रमाणशब्दः यथार्थाज्ञानार्थकः। तथैव प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम् इति व्युत्पत्या प्रपूर्वकात् माधातोः करणे घञ्प्रत्ययात् निष्पन्नः प्रमाणशब्दः प्रमाकरणार्थकः। यद्यपि प्रमाणशब्दस्य यथायथं द्विविधे एव अर्थे प्रयोगो दृश्यते तथापि सूत्रे उद्दिष्टः प्रमाणशब्दः प्रमाकरणार्थक एव। उक्तञ्च भाष्यकृता–

प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः।[३] इति।

श्रीमता भासर्वज्ञेनाऽपि प्रत्यक्षलक्षणं तावत् प्रतिपादितम्–

सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणमिति।[४]

तत्र प्रमाणानां संख्याविषये दार्शनिकेषु सन्ति विप्रतिपत्तयः। तत्र प्रसिद्धोऽयं श्लोकः–

प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः।
प्रत्यक्षमनुमानञ्च सांख्याः शब्दश्च ते अपि।।
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानञ्च केचन।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याह प्रभाकरः।।
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा।
सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः।।

न्यायमते तु प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि[५] इति सूत्रे महर्षिणा प्रमाणानां चातुर्विध्यं प्रदर्शितम्। तत्र सर्वविधप्रमाणानां मध्ये सर्ववादिसम्मतत्वात् प्राधान्याच्च[६] प्रत्यक्षस्य निरूपणम् आदौ विहितम्। प्रत्यक्षप्रमाकरणत्वं प्रत्यक्षप्रमाणस्य लक्षणमिति मनसि निधाय प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणस्य प्रत्यक्षप्रमाघटिततत्वेन घटितबुद्धौ च घटकज्ञानस्य कारणत्वेन प्रत्यक्षप्रमाया एव लक्षणं विभागश्च प्रदर्शितौ सूत्रकृता– **इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्[७]** इति। षड्दर्शनटीककृतः श्रीमतो वाचस्पतिमिश्रस्य मते तु अस्मिन् सूत्रे यतः इति पदं संयोज्य यत्तदोः नित्यसम्बन्ध इति कृत्वा इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षं यत तत् प्रत्यक्षमिति रीत्या प्रत्यक्षप्रमाणस्यैव लक्षणम् अस्मिन् सूत्रे प्रतिपादितमिति वर्णितम्।[८] तथैव श्रीमता जयन्तभट्टेनापि न्यायमञ्जर्यां सूत्रस्थप्रत्यक्षपदं फलबोधकं करणबोधकं वेति प्रश्ने फलबोधकत्वमेव समर्थितम्। किन्तु पूर्वं प्रत्यक्षानुमानादिसूत्रे प्रमाणस्य उल्लेखात् फललक्षणप्रतिपादनम् अनुपयुक्तमिति प्रश्ने सूत्रे यतः इति पदाध्याहारेण सूत्रस्य प्रमाणलक्षणप्रतिपादकत्वमेव प्रदर्शितम्। तत्र च यद् वैयधिकरण्यं चोदितम् तद्यतः शब्दाध्याहारेण परिहरिष्यामः[९] इति।

अव्यभिचारि भ्रमभिन्नम्। तथा च इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वे सति भ्रमभिन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। तच्च द्विविधम् अव्यपदेश्यं व्यवसायात्मकं च, अव्यपदेशं नाम निर्विकल्पकं, व्यवसायात्मकं नाम सविकल्पकमिति। तत्करणं च प्रत्यक्षप्रमाणमिति। तत्र विशेषण विशेष्यसम्बन्धानवगाहि ज्ञानं निर्विकल्पकम्। विशेषणविशेष्यसम्बन्धावगाहि ज्ञानं

च सविकल्पकम्। निर्विकल्पके मानं तु अनुमानमेव। तथाहि गौः इति ज्ञानं विशेषणज्ञानजन्यं विशिष्टबुद्धित्वात्, दण्डी पुरुषः इति विशिष्टज्ञानवत्। तत्र हि घटादिपदार्थेन समं इन्द्रियार्थसन्निकर्षानन्तरं घटः इति घटत्वप्रकारकं ज्ञानं न सम्भवति कारणीभूतविशेषणज्ञानाभावात्। घटत्वाप्रकारकं च घटविषयकं ज्ञानं न सम्भवति जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तपदार्थानां किञ्चिद्धर्मपुरस्कारेण भासमानत्वनियमात्। तथा च घटस्य जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्ततया घटत्वप्रकारेणैव भासते इति घटः इति घटत्वप्रकारकज्ञानात् पूर्वं घटत्वज्ञानम् आवश्यकमिति इन्द्रियार्थसन्निकर्षानन्तरं घटघट-त्वयोः सम्बन्धानवगाहि ज्ञानमुत्पद्यते तदेव निर्विकल्पकमिति। तच्च निर्विकल्पकं प्रत्यक्षम् अतीन्द्रियं निर्विकल्पकविषयकानुव्यसायाभावादिति। निर्विकल्पकज्ञानानन्तरमेव विशेषणविशेष्यसम्बन्धावगाहि सविकल्पकप्रत्यक्षं जायते इति।

भाष्यकृता श्रीमता वात्स्यायनेन सन्निकर्षे ज्ञाने वा प्रत्यक्षप्रमाणत्वं स्वीकृतम्। उक्तञ्च तृतीयसूत्रव्याख्यानावसरे **अक्षस्य अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्। वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वेति।**[१०] तथा च यदा सन्निकर्षः प्रमाणत्वेन गृह्यते तदा ज्ञानं फलम्। यदा च ज्ञानमेव प्रमाणत्वेन गृह्यते तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयो फलमिति मन्तव्यम्। श्रीमता वाचस्पतिमिश्रेण भाष्यकर्त्रा प्रयुक्तस्य वृत्तिशब्दस्य व्यापारोऽ-र्थःप्रतिपादितः। व्यापारार्थस्त्वित्थं प्रतिपादितः- **स तु व्यापार उच्यते यः कारकैः फले जनयितव्ये चरमभावी धर्म्मभेदः फलोत्पादानुकूलोऽपेक्ष्यते यथा पटे जनयित्वे तन्तुभिश्चरमभाविनः संयोगभेदाः स्वर्गे जनयितव्ये यागेनापूर्वमात्मधर्म्मः, तथेहापि इन्द्रियादिना प्रमाणेन प्रमायां फले प्रवृत्तेन तदुत्पादनानुकूलः सन्निकर्षो ज्ञानं वा चरमभावी धर्म्मभेदोऽपेक्ष्यत इति भवति व्यापारः स एव वृत्तिरित्यस्याख्यायते**[११] इति।

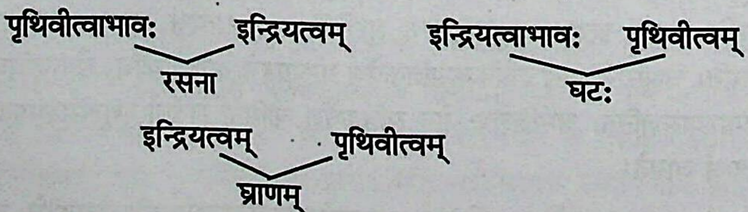
प्रत्यक्षमित्यत्र कः समासः? इति जिज्ञासायां श्रीमता वार्तिककृता उद्योतकरभारद्वाजेन प्रोक्तं यत् तत्र अव्ययीभावः प्रादिसमासो वेति। अक्षस्य अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षमिति भाष्यकारवचनं विग्रहवाक्यरूपेण यदि स्वीक्रियते तदा तु अव्ययीभावः मन्तव्यः। यदि च भाष्यकारवचनं न विग्रहवाक्यमपितु वस्तुनिर्देशमात्रं तदा तु प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्षमिति प्रादिसमास एवादरणीय इति।[१२] वस्तुतः तत्र प्रादिसमास एव ग्राह्यः, अव्ययीभावस्वीकारे तु प्रत्यक्षपदे नित्यनपुंसकलिङ्गं स्यात्, तेन च प्रत्यक्षो घटः, प्रत्यक्षा नारी इत्यादिप्रयोगो न स्यात्। ननु तथापि प्रादिसमासस्वीकारेऽपि प्रत्यक्षो घटः इति प्रयोगानुपपत्तिः, परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः[१३]

इति सूत्रेण प्रादिसमासे परवल्लिङ्गत्वप्रतिपादनात्प्रत्यक्षशब्दस्य नित्यनपुंसकलिङ्ग-त्वापत्तिः इति चेन्न, प्राप्तापन्नालंगतिसमासेषु परवल्लिङ्गप्रतिषेधः।[14] इति निषेधात्। अत एव भूषणकारमतेऽपि प्रत्यक्षमित्यत्र प्रादिसमास एव समर्थितः। प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्षमिति कुगतिप्रादयः इत्यनेन तत्पुरुषः समास इष्यते।[15] इति।

भाष्यवार्तिकादिप्राचीनग्रन्थाानाम् अध्ययनेन इदं ज्ञातुं शक्यते यत् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः प्रत्यक्षप्रमाणमिति। स च सन्निकर्षः पुनः षोढा भिद्यते। संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्य-भावश्चेति।[16] तत्र इन्द्रियेण द्रव्यप्रत्यक्षे संयोगः सन्निकर्षः, द्रव्यसमवेतप्रत्यक्षे संयुक्तसमवायः, द्रव्यसमवेतसमवेतप्रत्यक्षे संयुक्तसमवेतसमवायः, शब्दप्रत्यक्षे समवायः, शब्दसमवेतप्रत्यक्षे समवेतसमवायः। अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेषणभावः इति। यद्यपि द्रव्याधिकाणकाभावप्रत्यक्षे संयुक्तविशेषणता, द्रव्यसमवेताधिकरणका-भावप्रत्यक्षे संयुक्तसमवेतविशेषणता, द्रव्यसमवेतसमवेताधिकरणकाभावप्रत्यक्षे संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणता, शब्दाधिकरण का भावप्रत्यक्षे समवेतविशेषता, शब्दसमवेताधिकरणकाभावप्रत्यक्षे समवेतसमवेतविशेषणता, अभावाधिकरणका-भावप्रत्यक्षे विशेषणविशेषणता इत्यादिरीत्या विशेषणता नानाविधा तथापि विशेषणतात्वेन एकैव सेति न षड्विधत्वव्याघातः। ननु तथापि घटादिद्रव्यप्रत्यक्षे घटादिसमवेतरूपादिप्रत्यक्षे च संयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्षेणैव निर्वाहे कुतः संयोगस्य संयुक्तसमवायस्य च पृथग्ग्रहणमिति चेन्न, तथा सति आत्मनः सुखादेश्च प्रत्यक्षत्वानुपपत्तिः। आत्मनि सुखादौ न मनसः संयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्षासम्भवात्। एते च षट् लौकिकसन्निकर्षाः। अलौकिकसन्निकर्षास्त्रयः, सामान्यलक्षणः, ज्ञानलक्षणः, योगजश्चेति। एकेन धूमेन सह इन्द्रियसन्निकर्षेण धूमः इति लौकिकप्रत्यक्षानन्तरं धूमत्वरूपसामान्यलक्षणसन्निकर्षेण यावद्धूमविषयकम् अलौकिकं प्रत्यक्षं जायते। सुरभि चन्दनं इत्यत्र चक्षुरिन्द्रियेण सुरभिविषयकं प्रत्यक्षं ज्ञानलक्षणासन्निकर्षेण भवति। चक्षुरिन्द्रियस्य लौकिकसन्निकर्षेण गन्धग्रहणे असामर्थ्यम्। योगजन्निकर्षस्तु योगाभ्यासजनितः धर्मविशेषः तेन सन्निकर्षेण योगिनां सर्वेषां स्थूलसूक्ष्मपदार्थानां प्रत्यक्षं जायते।

नव्यन्यायप्रवर्तकेन श्रीमता आचार्यगङ्गेशोपाध्यायेनापि स्वकीये तत्त्व-चिन्तामणिग्रन्थे प्रत्यक्षनिरूपणप्रसङ्गे प्रत्यक्षप्रमाया एव लक्षणं प्रतिपादितम्। प्रत्यक्षं तावत् द्विविधम्- नित्यप्रत्यक्षमीश्वरस्य, जन्यप्रत्यक्षं चास्मदादीनाम्। तत्र जन्यप्रत्यक्षस्य

लक्षणं प्रतिपादितम् **इन्द्रियजन्यं ज्ञानं जन्यप्रत्यक्षमिति।**[१७] अत्र इन्द्रियनिष्ठा जनकता च इन्द्रियत्वाच्छिन्ना ग्राह्या। तथा च इन्द्रियत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपित-जन्यतावत्त्वे सति ज्ञानत्वं प्रत्यक्षस्य लक्षणमिति फलितम्। यद्यपि ज्ञानसामान्यं प्रति मनसः कारणत्वं विद्यते, तथा च अनुमित्यादीनामपि मनोरूपेन्द्रियजन्यत्वेन प्रत्यक्षलक्षणस्याति व्याप्तिस्तथाप्यनुमित्यादिकं प्रति मनसः मनस्त्वेनैव हेतुत्वं न त्विन्द्रियत्वेनेति तत्र इन्द्रियत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यत्वस्य विरहेण न प्रत्यक्षलक्षणस्यातिव्याप्तिः। ननु इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षज्ञानकरणं चेन्द्रियमिति अन्योन्याश्रयः स्यादिति विचिन्त्य इन्द्रियत्वं प्रतिपादितं मणिकृद्भिः- **इन्द्रियत्वं च स्मृत्यजनकज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वमिति।**[१८] आत्ममनः संयोगस्य, शरीरमनःसंयोगस्य, प्राणमनःसंयोगस्य च स्मृतिहेतुत्वेन आत्मादावति-व्याप्तिवारणाय स्मृत्यजनकत्वमिति विशेषणम्। तथा च स्मृत्यजनकज्ञानकारण-मनःसंयोगः इन्द्रियमनःसंयोगः, तदाश्रयत्वस्य इन्द्रियसामान्ये विद्यमानतया लक्षणसमन्वयः। इन्द्रियस्य लक्षणान्तरमपि प्रतिपादितं मणिकृता-**शब्देतरोद्भूता-विशेषणगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनस्संयोगाश्रयत्व**[१९]मिति। षड्विधेन्द्रियेषु मध्ये मनसि विशेषगुणो नास्ति। यथा चोक्तं विश्वनाथेन कारिकावल्याम्- **आत्मानो भूतवर्गाश्च विशेषगुणायोगिनः**[२०] इति। घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्षु विशेषगुणाः सन्ति किन्तु नोद्भूताः, श्रोत्रे शब्दः उद्भूतविशेषगुणो वर्तते। तथा च सर्वेष्विन्द्रियेषु शब्देतरोद्भूतविशेषणगुणानाश्रयत्वं विद्यते, ज्ञानकारणमनस्संयोगाश्रयत्वमपि विद्यत इति लक्षणसमन्वयः। नन्विन्द्रियत्वं जातिरेवास्त्विति चेन्न, इन्द्रियत्वं न जातिः पृथिवीत्वादिना सांकर्यात्। परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणधर्मयोरेकत्र समावेशः संकरः। तथाहि पृथिवीत्वाभाववति रसनेन्द्रिये इन्द्रियत्वम्। इन्द्रियत्वाभावाति घटे पृथिवीत्वम्। पृथिवीत्वइन्द्रियत्वयोरेकत्र समावेशो घ्राणेन्द्रिये इति।



इन्द्रियजन्यत्वमिति प्रत्यक्षलक्षणस्य प्रत्यक्षसामान्येऽविद्यमानतया ईश्वरप्रत्यक्ष साधारणं प्रत्यक्षलक्षणं प्रतिपादितं मणिकृता- **ज्ञानाकरणकं ज्ञानमिति तु वयम्**[२१] इति। तथा हि अनुमितौ व्याप्तिज्ञानं करणम्, उपमितौ सादृश्यज्ञानं करणम्, शाब्दबुद्धौ

पदज्ञानं करणम्, स्मृतौ चानुभवः करणम्। जन्यप्रत्यक्षे इन्द्रियं सन्निकर्षो वा करणम्, नित्यप्रत्यक्षे च न किमपि करणमिति। प्रत्यक्षभिन्नज्ञानानि ज्ञानकरणकानि, प्रत्यक्षं च ज्ञानाकरणमिति लक्षणसमन्वयः। ज्ञानत्वमात्रोक्तावनुमित्यादावतिव्याप्तिः, ज्ञानाकरणकत्वमात्रोक्तौ च घटादावतिव्याप्तिरिति दलद्वयनिवेशः।

प्रभा	जन्मप्रत्यक्षम्	अनुमितिः	उपमिति	शाब्दबोधः	स्कृतिः	नित्यप्रत्यक्ष
|	|	|	|	|	|	
करणम्	इन्द्रियम् (प्रत्यक्षम्)	कारितज्ञानम् (अनुमानम्)	सादृश्यज्ञानम् (उपमानम्)	पदज्ञानम् (शब्द)	अनुभवः	×

श्रीमता विश्नाथपञ्चाननभट्टाचार्येणापि स्वकीये न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीग्रन्थे प्रत्यक्षस्य लक्षणं प्रतिपादितम्। तत्र इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति लक्षणं नित्यज्ञानेऽव्याप्तम्। **मनसः करणतापक्षे ज्ञानाकरणकत्वं प्रत्यक्षलक्षणामनुमित्यादावतिव्याप्तमतः प्रत्यक्षस्य लक्षणान्तरमाह**[२२] ... यत्किञ्चित्प्रत्यक्षादिकमादाय तद्व्यक्तिवृत्त्यनुमित्यवृत्तिजातिमत्वं[२३] प्रत्यक्षत्वं लक्षणमिति। तथा च घटवद्भूतलम् इति प्रत्यक्षविशेषे वर्तमाना अनुमितौ च अवर्तमाना जातिः प्रत्यक्षत्वं तद्वत्वस्य प्रत्यक्षसामान्ये विद्यमानतया लक्षणसमन्वयः। यत्किञ्चित्प्रत्यक्षे अनुभवत्वादिजातिनामपि विद्यमानतया तामादायानुमित्यादावतिव्याप्तिवारणाय अनुमित्यवृत्तित्वमिति जातौ विशेषणम्। तच्च प्रत्यक्षं घ्राणजरासनचाक्षुषत्वाचश्रावणमानसभेदेन षड्विधम्। निरुक्तायाः प्रत्यक्षप्रमायाः किं करणमिति प्रश्ने उच्यते-**इन्द्रियं करणं मतम्**[२४] इति। अत्र च व्यापारवदसाधारणं कारणं करणमिति। व्यापारश्च तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः। तत्र हि इन्द्रियद्वारा प्रत्यक्षज्ञाने जननीये सन्निकर्षो व्यापारः। **विषयेन्द्रियसम्बन्धो व्यापारः सोऽपि षड्विधः**[२५] इति। सन्निकर्षस्य हि इन्द्रियजन्यत्वात् इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षजनकत्वाच्च व्यापारत्वमुपपन्नम्। सन्निकर्षरूपव्यापारजनकत्वं च इन्द्रिये वर्तते। कारणत्वं तावत् द्विविधिम्। साधारण-कारणत्वम् असाधारणकरणत्वं च। तत्र कार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताश्रयत्वम् साधारणाकारणत्वम्। कालेश्वरादीनां च कार्यसामान्यं प्रति कारणत्वेन तेषु कार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता कारणता विद्यत इति तेषां साधारणकारणत्वम्। साधारणकारणानि च परिगणितानि। ईशस्तज्ज्ञानयत्नेच्छाः कालोऽदृष्टं दिगेव च। प्रागभावप्रतिबन्धकाभावौ कार्ये साधारणाः स्मृताः।। इति। कार्यत्वातिरिक्तधर्मावच्छिन्न-कार्यतानिरूपितकारणताश्रयत्वम् असाधारणकारणत्वम्। यथा दण्डस्य घटं प्रति।

तत्र हि कार्यत्वातिरिक्तो धर्मः घटत्वम्, घटत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता कारणता दण्डे वर्तत इति लक्षणसमन्वयः। तथैव कार्यत्वातिरिक्तप्रत्यक्षज्ञानत्वावच्छिन्नकार्यता- निरूपितकारणताश्रयत्वस्य इन्द्रिये विद्यमानतया तत्रासाधारणकारणत्वमपि विद्यत इति इन्द्रियस्य प्रत्यक्षप्रमाणत्वं सिद्धमेव। इदमेव तत्त्वं श्रीमता अन्नम्भट्टेन तर्कसंग्रहे प्रतिपादितम्- **एवं सन्निकर्षषट्कजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षं तत्करणमिन्द्रियं तस्मादिन्द्रियं प्रत्यक्षप्रमाणमिति सिद्धम्**[२६] इति।

श्रीकेशवमिश्रानुसारं तु प्रत्यक्षप्रमाणं **कदाचिद् इन्द्रियम्, कदाचित् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, कदाचिज्ज्ञानम्**[२७] इति। यतो हि साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षप्रमाणम्। साक्षात्कारिणी च प्रमा सा एव या इन्द्रियजन्या। तत्र हि प्रमात्मकफलभेदेन तत्करणरूपप्रत्यक्षप्रमाणे भेदः। यत्र च निर्विकल्पकप्रमा फलम् तत्र इन्द्रियं करणम्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षो व्यापारः। यदा च सविकल्पकप्रत्यक्षप्रमा फलं तदा इन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम्, निर्विकल्पकज्ञानं च व्यापारः। यदा च सविकल्पकानन्तरं जायमानाः हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलं तदा तु निर्विकल्पकज्ञानमेव करणम्, सविकल्पकज्ञानं च व्यापारः इति मन्तव्यम्। अत्र च निर्विकल्पकज्ञानस्यापि प्रमात्वं स्वीकृत्य इन्द्रियस्य करणत्वं साधितं वर्तते किन्तु निर्विकल्पकस्य प्रमात्वं प्रायः स्वीकृतं नास्ति। यथा चोक्तं विश्वनाथेन- **न प्रमा नापि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पकमिति।**[२८] **निर्विकल्पकञ्च प्रमाप्रमाबहिर्भूतमेव व्यवहारानङ्गत्वात्**[२९] इति मणिकारः। पुनश्च हानोपादानोपेक्षाबुद्धीनां फलत्वं स्वीकृत्य निर्विकल्पकस्य करणत्वं साधितं वर्तते किन्तु हानोपादानोपेक्षाबुद्धीनाम् इन्द्रियजन्यत्वं कथं सिद्ध्यति? हानोपादानोपेक्षा- बुद्धीः प्रति प्रत्यक्षज्ञानमेव कारणं इन्द्रियाणां तु ताः प्रति अन्यथासिद्धत्वमेवेति अस्वरसं सम्भाव्य मतान्तरमपि प्रदर्शितम्- **सविकल्पकादीनामपीन्द्रियमेव करणम्। यावन्ति त्वान्तरालिकानि सन्निकर्षादीनि तानि सर्वाण्यवान्तरव्यापारः।**[३०] इति।

सन्दर्भा

१. विष्णुपुराणम् ३/६/२८
२. न्यायसूत्र १/१/१
३. वात्स्यायनभाष्यम्, पृ.२४
४. न्यायसारः (सभूषणः), पृ.१०
५. न्यायसूत्रम्, १/१/३
६. प्रत्यक्षपरा हि प्रमाणान्तरजन्या प्रमितयः इति प्रत्यक्षस्य प्राधान्यम् (न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका) पृ.१०६

७. न्यायसूत्रम्, १/१/४
८. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृ.१०८
९. न्यायमञ्जरी, पृ.१०४
१०. वात्स्यायनभाष्यम्, पृ.१०२
११. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृ.१०२
१२. न्यायवार्तिकम्, पृ.२८
१३. पाणिनीसूत्रम्, २/२/१८
१४. कात्यायनवार्तिकम्, १५४५
१५. न्यायसारः, पृ.८४
१६. न्यायवार्तिकम्, पृ.३१
१७. तत्त्वचिन्तामणिः, पृ.५८५
१८. तत्रैव, पृ.५८७
१९. तत्रैव, पृ.५८९
२०. कारिकावली सं.२९
२१. तत्त्वचिन्तामणिः, पृ.५९५
२२. मुक्तावली-दिनकरी, पृ.१७८
२३. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ.१७८
२४. कारिकावली, ५८
२५. तत्रैव
२६. तर्कसंग्रहः (प्रत्यक्षखण्डस्यान्ते)
२७. तर्कभाषा, पृ.५९
२८. कारिकावली, सं.१३५
२९. तत्त्वचिन्तामणिः, पृ.४४१
३०. तर्कभाषा, पृ.७३

***

न्यायाभिमत अनुमानप्रमाणविचारः

प्रो० वशिष्ठ त्रिपाठी
पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, न्याय विभाग
संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी।

सर्वेषामेव विदुषां अभिमतं 'मानाधीना मेयसिद्धिः' भवतीति। अस्यायमाशयः प्रमाणेनैव प्रमेयात्मक वस्तु सिद्धिर्जायते। तच्च प्रमाणं प्रमाकरणत्व स्वरूपम्। तच्च प्रमाणं 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्द' भेदेन चतुर्विधं न्यायमते प्रसिद्धमस्ति। तत्रापि प्रत्यक्षस्य सर्ववाद्यभिमतत्वात् ज्यैष्ठ्यं भवति। प्रत्यक्षप्रमाणस्यैव उपजीकभूते अनुमनोपमाने भवतः। अतः प्रत्यक्षोपजीवकत्वात् बहुवादि सम्मतित्वात् प्रत्यक्षप्रमाणनिरूपणानन्तरं अनुमानं प्रमाणमेव न्यायशास्त्रे निरूपितमस्ति। अनुमानलक्षणञ्च सूत्रकारेण महर्षिणागौतमेन इत्थं प्रकारेण स्वसूत्रे प्रतिपादितम्– "अथ तत्पूर्वकम् त्रिविधमनुमानं पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टञ्चेति" अत्र सूत्रे तत्पूर्वकमित्यत्र तत्छन्दः प्रत्यक्षपरः। अतः तत्पूर्वस्य इत्यत्र तच्छब्दः प्रत्यक्ष प्रमाण परः। अतः तत्पूर्वयस्य तत्तत्पूर्वकम् इति व्युत्पत्या प्रत्यक्षपूर्वकत्वेसति प्रमाणत्वं इत्येवं अनुमानप्रमाण लक्षणमुपलभ्यते।

प्रत्यक्षाञ्चात्र साध्यसाधनयो व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध विषयकं साधन विषयकञ्च विज्ञेयम्। यथा प्रथमं महानसादौ वह्निधूमयोः व्याप्यव्यापकभावात्मक व्याप्तिरूप सम्बन्ध प्रत्यक्षं भवति। तदनन्तरं पर्वते धूमस्य प्रत्यक्षं ततः संस्काराभिव्यक्ति पूर्वकं व्याप्ति स्मरणम्, ततः उभाभ्यां विशेषणीभूत व्याप्तिज्ञान पक्षधर्मताज्ञानाभ्याम् तृतीयलिङ्गदर्शनात्मकं वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः इत्याकारक परामर्शः जायते तस्माच्च परामर्शात् पक्षविशेष्यक साध्य विधेयकानुमितिर्जायते। अतः प्रत्यक्षज्ञानपूर्वकं ज्ञानमनुमानमुपपद्यते। यद्यपि शाब्दज्ञानस्य तथा संशयविपर्ययाणामपि प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् शाब्दादि ज्ञाने लक्षणमिदमतिव्याप्तम्। अतः तद्दोषपरिहाराय तत्पूर्वकमित्यत्र ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वे यस्यज्ञानस्य तत्तत्पूर्वकमित्येवं बहुव्रीहि समासमभ्युपेत्य उक्तातिव्याप्ति परिहारः कर्तुम् शक्यते।

ते द्वे प्रत्यक्षे इत्यत्र लिङ्ग लिङ्गि सम्बन्ध दर्शनमाद्यं प्रत्यक्षम्। लिङ्गदर्शनञ्च द्वितीयं

प्रत्यक्षम्। एवञ्च लिङ्ग-लिङ्गि सम्बन्ध प्रत्यक्ष लिङ्ग प्रत्यक्षानन्तरं जायमानं ज्ञानमनुमानं स्वीकरणीयम् । तच्चानुमानं परामर्शात्मकम्। अतेवेक्तिं लिङ्ग परामर्शोनुमानमिति। लक्षणमिदञ्च नहि शाब्दादौ अतिव्याप्तम् । शाब्दज्ञानस्य पदज्ञानमात्र पूर्वकत्वमिति। संशयस्य च उभयसाधारण धर्म दर्शनादि पूर्वकत्वात् नहि तत्राव्यतिव्याप्ति।

यद्यपि यत्र अनुमानपूर्वक मेव अनुमानं जायते तत्र लक्षणादिं अव्याप्तं स्यात्। तद्दोषपरिहारायतत्पूर्वकमित्यत्र तानि पूर्वकानि यस्यज्ञानस्य तत्पूर्वकं इत्थं व्युत्पत्तिमाश्रित्य अव्याप्ति परिहरणीया। तानि पदञ्चमण्डूकप्लुतिन्यायात् प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दाः प्रमाणानि इति सूत्र गतं प्रमाणमीति पदमनुवर्तनीयम् । तथा च प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणपूर्वकमनुमानमिति लक्षणं सूत्रेण लभ्यते। इत्थं प्रकारेण यथास्थलानुसारं विग्रहत्रयमेव स्वीकरणीयम्। अतेवेक्तिं वार्तिके तानि ते तत्पूर्वं यस्य तदिदं तत्पूर्वकमिति।

वस्तुतस्तु लिङ्गलिङ्गि सम्बन्धदर्शनं लिङ्गज्ञानपूर्वकं ज्ञानमनुमानं लिङ्ग परामर्शात्मकं लिङ्गलिङ्गि सम्बन्धस्वरूप व्याप्ति स्मरणात्मकं वेति।

अत्र इत्यं विवेचनीयं यदनुमितिकरणमेवानुमानं, करणञ्च यदि व्यापारवदसाधारणात्मकं तदा व्याप्तिस्मरणमेवानुमानं तस्यैव परामर्शात्मक व्यापारवत्वविशिष्टा साधारणकारणत्वात् । यदि च फलायोग व्यवच्छिन्नं कारणं करणं इत्यभ्युपेयते तदा परामर्श एव अनुमानं, तस्यैव अनुमितेः अव्यवहित पूर्ववर्तित्वात् अतः परामर्श एव अनुमानम्।

तच्चानुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्ट भेदेन त्रिविधं। तत्र पूर्ववत् यथा यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते तत्पूर्ववत् अस्यायमाशयः यत्र कारणस्य प्रत्यक्षेण एक सम्बन्धिज्ञानं अपर सम्बन्धि स्मारकं भवतीति न्यायेन कारणगत व्याप्ति स्मरण पूर्वकमनुमितिर्जायते तादृशानुमिति कारणीभूत लिङ्गपारमर्श पूर्ववत् अनुमान शब्दव्यपदेश्यो भवति। यथा वर्षोन्मुख मेघस्य चाक्षुष प्रत्यक्षे जाते अव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्धेन यत्र तादृशो मेघः तत्र वृष्टिरिति व्याप्तिस्मरण-पूर्वीका या तादृश मेघोत्तरं भविष्यत् कालिकी वृष्टिः अवश्यं भाविनि, इत्याकारिका भविष्यति वृष्टिः इत्यनुमितिः तदसाधारण कारणीभूतमानं पूर्ववत् अनुमानम्। एवमेव मिथ्याज्ञानेन भविष्यत् संसार प्रवाहानुमानम्। विधिपूर्वकयागादि सम्पादनेन धर्मानुमानमित्येतत् सर्वं पूर्ववत् अनुमानम्।

द्वितीयं शेषवत् शेषोनाम कार्यं। यतोहि पूर्वभूत कारणापेक्षया कार्यशेषः। तथा च शेषवन्नाम यत्र कार्येण कार्यानुमानं क्रियते। यत्र कार्यप्रत्यक्षेण कारणस्यानुमितिः जायते तत्र तादृशानुमिति कारणीभूत लिङ्ग परामर्शः शेषवत् अनुमान संज्ञकोभवति। यथा नद्याः पूर्वोदक विपरीतं मलिनमुदकं, नद्याः पूर्णत्वं, प्रवाहस्य शीघ्रगामित्वञ्च विलोक्य तत्कर्मीभूतायाः वृष्टेः अनुमितिर्जायते, अपरिदेशे भूतावृष्टिरिति। एतत्स्थले उदकादीनां मालिन्यं कार्यम् वृष्टिश्च कारणम् इत्थञ्च कार्येण मालिन्यादिना कारणभूतायाः वृष्टेः अनुमितिर्जायते। एतादृशानुमिति कारणीभूतमनुमानं शेषवत् संज्ञकं भवति।

एवमेव धूमात्मक प्रत्यक्षकार्येण कारणीभूतस्य वह्नेः यानुमिति जायते तदनुमिति कारणीभूत परामर्शोपि शेषवत् अनुमानमेव भवति।

सामान्यतोदृष्टं– अकार्यकारणीभूतेण यत्राविनाभाविना हेतुना विशिष्यमाण धर्मिगृह्यते अर्थात् साध्यविशिष्टः पक्षः आगम्यते। अन्यत्र दृष्टस्य यत् अन्यत्र दर्शनं तत्गतिपूर्वकमेव भवति। गतिरहितस्य मैत्रस्य तथा दर्शनाभावात् इति सामान्यतोज्ञात्वा अप्रत्यक्षादित्यस्य गतिरनुमीयते। अर्थात् पूर्वस्यां दृष्टस्य रवेः यत् पश्चिमायां दर्शनं भवति तत्र तेन देशान्तर प्राप्ति दर्शनेन अप्रत्यक्षापि आदित्यस्य गतिरनुमीयते, आदित्यः गतिमान इति। तादृशानुमिति कारणीभूत लिङ्ग परामर्शः सामान्यतो दृष्टयानुमानं संज्ञको भवति।

इत्थं प्रकारेण सूत्रकार दृष्ट्या अनुमानभेदानां विवेचनं कृतम् । नव्यन्याय दृष्ट्या अनुमानस्य स्वार्थानुमान परार्थानुमानभेदेन द्वैविध्यं दृश्यते। अत्र अनुमान लक्षणं तावत् अनुमितिकरणत्वं अनुमानस्य लक्षणम्। अनुमितिस्तातवत् व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान जन्यत्वेसति ज्ञानत्वं अनुमितित्वम्। अतएवोक्तं मणिकृता स्वीयचिन्तामणिग्रन्थे व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान जन्यं ज्ञानमनुमितिः तत्करणमनुमानमिति। अत्र व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञानं परामर्शरूपम्। परामर्शस्च अनुमितौ कारणं भवति। तयोः इत्थं प्रकारेण कार्यकारणभावः, तथाहि समवाय सम्बन्धेन पर्वतत्वावच्छिन्नौद्देश्यतानिरूपित संयोग सम्बन्धा वच्छिन्न वह्नित्वविच्छिन्न विधेयताशालि अनुमितित्वावच्छिन्नं प्रति समवाय सम्बन्धेन वह्नित्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित व्याप्तित्वावच्छिन्न विशेष्यत्वावच्छिन्न प्रकारतानिरूपित हेतुताविच्छेदकावच्छिन्नविशेषत्वावच्छिन्न प्रकारताशालि ज्ञानं कारणमित्येवं कार्यकारणभावः अन्तराभास मानविषयतयोः अवच्छेद्यविच्छेदकभाव-मङ्गीकुर्वताम् गदाधर भट्टाचार्यमतेन जायते।

अन्तराभासमानविषयतयोः अभेदः भवतीति स्वीकुर्वतां जगदीश तर्कालंकाराणां मतेन तु इत्थं प्रकारेण कार्यकारणप्रकारः प्रदर्शनीयः समवायसम्बन्धेन पवर्तत्वावच्छिन्नोद्देश्यतानिरूपित संयोगसम्बन्धावच्छिन्न वह्नित्वावच्छिन्न विधेयताशालि अनुमितित्वावच्छिन्नं प्रति समवाय सम्बन्धेन वह्नित्वावच्छिन्न प्रकारतानिरूपित व्याप्तित्वावच्छिन्न विशेष्यत्वाभिन्न प्रकारतानिरूपित हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न विशेष्यत्वाभिन्न प्रकारतानिरूपित पक्षतावच्छेदकावच्छिन्न विशेष्यता शालि परामर्शात्मकं ज्ञानं कारणमित्येवमनुमिति परामर्शयोः कार्यकारणभावः भवति।

नव्यन्याये अनुमानस्य स्वार्थानुमान परार्थानुमान भेदेन योहिभेदः सः इत्थं प्रकारेण परिक्रियते। स्वार्थानुमानं तावत् स्वीय अनुमिति साधनीभूतं यथा महानसादौ पौनः पुन्येन वह्निधूमयोः साहचर्यमनुभूतं तादृश ज्ञानवतः पुरुषस्य यत् पर्वतादौ धूम दर्शनं जातं, तेन च धूमवान पर्वतः इत्याकारकं हेतोः धूमस्य पर्वते वृत्तित्व रूपं पक्षधर्मता ज्ञानं जायते। तदनन्तरं धूमो वह्नि व्याप्यः इत्येष व्याप्तेः स्मरणात्मकं ज्ञानं जायते। इत्थं प्रकारेण विशेषणीभूतानां पक्षधर्मत्वव्याप्तिज्ञानानां साहाय्येन वह्निव्याप्य धूमवानयं पर्वतः इत्याकारकः परामर्शः जायते।

तस्माच्च परामर्शात् पर्वतः वह्निमान् इत्यनुमितिर्जायते। इत्थं प्रकारिकानुमितिरेव स्वर्थानुमिति संज्ञिका भवति। तत्करणञ्च स्वार्थानुमानपद व्यापदेश्यं भवति।

परार्थानुमानञ्च स्वयं धूमादिना पर्वते वह्निमत्वंज्ञात्वा परं प्रतिबोधयितुं पञ्चावयववाक्यस्य यत्र प्रयोगः क्रियते तत्परार्थानुमानं यथा अन्तेवासिनः जिज्ञासाजायते कोवह्निमानिति? तन्निवृत्तये 'पर्वतो वह्निमान' इति प्रतिज्ञावाक्यस्य प्रयोगः क्रियते। पुनः कुतः पर्वतो वह्निमान? इत्यकारक जिज्ञासायां धूमवत्वात् इत्याकारक हेतुवाक्यस्य प्रयोगः क्रियते। तदनन्तरं उत्थितायाः कथं इति जिज्ञासायाः निवृत्तये योयो धूमवान् सस वह्निमान यथा महानसम् इत्याकारक उदाहरण वाक्यस्य प्रयोगः। तदनन्तरं अत्रकिमिति जिज्ञासा निवृत्तये वह्निव्याप्यधूमवांश्चायं इत्याकारकस्य उपनयवाक्यस्य प्रयोगः। तदनन्तरं वे 'तस्मात् तथेति' (वह्निव्याप्यधूमवत्वात् पर्वतो वह्निमान) इत्कारकं उपसंहारात्मकं निगमनवाक्य प्रयोगः क्रियते। तेन परस्यापि वह्रयनुमितिर्जायते। इदमेव परार्थानुमानम्।

एतावता विचारेण लिङ्ग परामर्शस्य अनुमिति करणत्वं अभ्युपगम्य लिङ्ग पारमर्शस्यैवानुमानत्वं प्रदर्शितम्। अत्र प्राचीनाः परामर्श विषयिभीतस्य लिङ्गस्यैवानुमिति करणत्वं प्रतिपादयन्ति। तेषामयमाशयः। व्याप्यत्वप्रकारक वर्तमानग्रह विषयीभूतं लिङ्गमेव अनुमापकं भवति। व्याप्ति प्रकारक वर्तमानग्रह विशेष्यीभूतलिङ्गस्यैव अनुमिति करणत्वं। अनुमितौ नहि केवलं परामर्शमात्रं कारणं भवति किन्तु लिङ्ग परामर्श एव कारणं एवञ्च विशिष्टे कारणत्वग्रहे विशेषणस्यादि भवति कारणत्वम् । परामृश्यमाण लिङ्ग परामर्शस्य कारणता नहि लिङ्गस्य कारणता इत्यत्र विनिगमना विरहात् लिङ्गस्यानुमितिकारणत्वे नहि किञ्चित् बाधकम्। एवं कार्येण कारणस्यानुमिति दर्शनात् धूमात्मक लिङ्गस्य वह्नि कार्यतया भवति धूम्रेन हेतुना वह्ने अनुमित्युत्पत्तौ भवति साधकत्वं, इत्येवं प्राचीनाः प्रतिपादयन्ति। यद्यपि विश्वनाथेन ज्ञायमानस्य लिङ्गस्य नानुमिति करणत्वं। यदि लिङ्गस्यानुमिति कारणत्वे व्यभिचारात्। तथाहि लिङ्गम् अनुमिति कारण भिन्नं व्यतिरेकव्यभिचारात् तथाहि यदि लिङ्गम् अनुमितिकरणं स्यात् तदा अनागतेन विनष्टेन च अनुमितिर्न स्यात्।

इत्येवं प्रकारेण लिङ्गस्यानुमितिकारणत्वं न प्रतिपादयितुं शक्यते। एतद्विषये इत्थं विचारणीयं यत् प्राचीनैः अतीतादिलिङ्गकानुमितिरेव नाभ्युपेयते। अस्मात् कारणात् अतीत लिङ्गकानुमित्यिनुत्पतिः तन्मते नहि दूषणं किन्तु ज्ञायमानलिङ्गस्य यदि अनुमिति करणत्वं अभ्युपेयते तदा संयोग समवायादि अनेक सम्बन्धानां कारणतावच्छेदकत्वं स्वीकरणीयम्।

किञ्च वर्तमानकालीन ज्ञान विशेष्यता विशिष्ट धूमादेरेव तन्मते कारणत्वेन स्वीकृतत्वात् कारणताघटकीभूत अनेक वर्तमान कालानां कारणतावच्छेदकत्व कल्पनारूप गौरवं भवति। यदि च लिङ्ग ज्ञानस्य कारणत्वमभ्युपेयते तदा स्वसंयुक्त मनःसंयुक्त आत्म समवेत स्मरणात्मक- ज्ञान लक्षणात्मक अलौकिक संम्बन्धेन अतीतादि धूमज्ञानस्य सर्वत्र महानसादौ विद्यमानत्वात्

अतीतानागत स्थलेपि अतीतेन अनागतेन धूमेन यज्ञशालादौ अतीतानागत वह्नयादेः अनुमितिः सम्भवति न काप्यनुपपत्तिः इति।

इत्थं प्रकारेण लिङ्ग परामर्शस्यानुमानत्वेपि चिन्तामणिकारैः अनुमानस्य लिङ्ग स्वरूपत्वमेव सुस्पष्टतया प्रतिपादितम् । उक्तञ्च चिन्तामणिकारैः "तच्चानुमानं त्रिविधं केवलान्वयिः केवलव्यतिरेकि अन्वयव्यतिरेकि भेदात्"। इति ग्रन्थसन्दर्भेण स्पष्टमेव उद्भावितं भवति। यतः हेतावेव केवलान्वयित्व, केवलव्यतिदेकित्वान्वयव्यतिरेकित्वग्रहो जायते। तत्र असद्विपक्षं केवलान्वयि। अस्यायमशयः यस्य साध्यस्याभावः कुत्रापि न विद्यते एवं भूतं साध्यं यस्य हेतोर्भवति स हेतुः केवलान्वयि। एवञ्च अत्यन्ताभाव निरूपित प्रतियोगित्वाभाववत् प्रकृतसाध्यवानुमतिकरणत्वं केवलान्वयित्वम्। इदं वाच्यं ज्ञेयत्वादित्यत्र 'वाच्यत्वं नास्ति' इत्याकारकाभावस्य कुत्राप्यसत्वात् अत्यन्ताभाव निरूपित प्रतियोगिता न हिवाच्यत्वे अपितु तादृश प्रतियोगित्वाऽभाववत् वाच्यत्व साध्यकानुमिति करणावस्य ज्ञेयत्वे सत्वेन भवति ज्ञेयत्व हेतौ केवलान्वयित्वं।

अत्र लक्षणे अत्यन्ताभावाप्रतियोगि साध्यकानुमिति हेतुत्व मात्रस्य केवलान्वयित्वं अभ्युपेयते चेत् तदा व्याप्तिज्ञानादेः केवलान्वयित्वं न स्यात्। यदि अत्यन्ताभावप्रतियोगि साध्यक प्रकृत हेतु धार्मिक व्याप्तिज्ञानत्वमेव केवलान्वयित्वं स्वीक्रियते तदा प्रकृत हेतौ केवलान्वयित्व व्यवहारो न स्यात् अतः अत्यन्ताभावाप्रतियोगि साध्यकानुमिति करणत्वमेव केवलान्वयित्वं मविकृता प्रदर्शितम्।

एवं प्रकृत हेतुतावच्छेकावाच्छिन्न विशेष्यता निरूपित साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न समानाधिकरण्यात्मक सहचारप्रकारक निश्चयजन्यत्वाभाववति या व्यतिरेकित्वविशिष्ट साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न प्रकृत साध्यहेतु कानुमितिः तत्करणत्वमेव केवलव्यतिरेकित्वम्।

यतः केवलव्यतिरेकिणि गन्धवत्वादि हेतौ अन्तय सहचारस्य सपक्षविरहेण तादृशस्थले असम्भवात् तत्र व्यतिरेकसहचारग्रहजन्यैव अनुमितिर्जायते। अतः तादृशानुमितिकरणत्वेन भवति गन्धवत्वादि हेतोः केवलव्यतिरेकित्वं। अतेवोक्तम् दीधितिकृता अग्रहीतान्वय व्यतिरेकि साध्यकं केवलव्यतिरेकि भवति। इत्थं प्रकारेण प्रकृतहेतु धार्मिक साध्यसहचारग्रहजन्य व्याप्तिज्ञानजन्य प्रकृतहेतुकव्यतिरेकि साध्यकानुमिति करणत्वं प्रकृतहेतुसाध्यकान्वय व्यतिरेकित्वं। यादृशस्थले अन्तयसहचारग्रहाधीनं व्यतिरेक सहचार ग्रहाधीनञ्च व्याप्तिज्ञानं जायते तादृशस्थलीय हेतोः अन्वयव्यतिरेकित्वं भवति। अनया रीत्या मतभेदेन क्वचिद् लिङ्गस्यानुमिति करणत्वं प्रतिपादितम्। क्वचिच्चलिङ्गपरामर्शस्यानुमितिकरणत्वं न्यायशास्त्रे प्रतिपादित मस्ति। व्यापारवत् असाधारणं कारणं करणमिति मते व्याप्ति ज्ञानस्यैवानुमिति करणत्वेन तस्यैवानुमानत्वमिति।

***

न्यायहेत्वाभासविषये सङ्क्षिप्तो विचारः

आचार्यो गणेश्वरशास्त्री
सम्मानित आचार्य, शांगवेद विद्यालय,
वाराणसी।

अधिगच्छति शास्त्रार्थः स्मरति श्रद्दधाति च।
यत्कृपालेशमात्रेण नमोऽस्तु गुरवे सदा।।

हेत्वाभासविषये किञ्चिन्निरूप्यते। येषु हेतुषु साध्यव्याप्तिः पक्षधर्मता (पक्षवृत्तित्वं) च भवतः ते सद्धेतवः। यथा– पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यत्र धूमे वह्निर्व्याप्तिर्वर्तते पर्वतवृत्तित्वं च वर्तत इति धूमः सद्धेतुः। ह्रदो वह्निमान् धूमादित्यत्र धूमे वह्निव्याप्तिर्वर्तते परं ह्रदवृत्तित्वं न वर्तत इति धूमो न सद्धेतुः। अयोगोलकं धूमवद् वह्नेरित्यत्र वह्नौ अयोगोलकवृत्तित्वं वर्तते परं धूमव्याप्तिर्नास्तीति वह्निर्न सद्धेतुः।

यता सद्धेतुज्ञानेन तत्त्वनिर्णयो विजयश्च भवतस्तथा असद्धेतुज्ञानेन तत्त्वनिर्णयो विजयश्च भवत इति सद्धेतुनिरूपणानन्तरम् असद्धेतुनिरूपणं न्यायग्रन्थेषु कृतम्। अत्र– असद्धेतुशब्दार्थः दुष्टहेतवः। ते च हेतुवद् आभासन्ते। यथा सद्धेतुकस्थले पक्ष–साध्य–हेतवो भवन्ति तथा असद्धेतुकस्थले भवन्ति। पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यत्र सद्धेतुकस्थले पर्वतः पक्षः, वह्निः साध्यम्, धूमो हेतुः। तत्र धूमादिति पञ्चम्यन्तप्रयोगेण धूमो हेतुर्ज्ञायते। एवमेव ह्रदो वह्निमान् धूमादित्यत्र असद्धेतुकस्थले ह्रदः पक्षः, वह्निः साध्यम्, धूमो हेतुः। तत्र धूमादिति पञ्चम्यन्तप्रयोगेण धूमो हेतुर्ज्ञायते। परन्तु स हेतुर्दुष्टः। कथम् इति चेदुच्यते– पर्वतसमीपे भूमौ स्थितो जनः पर्वतोपरि धूमं दृष्टवा पर्वते वह्नेः अनुमितिं करोति तत्र पर्वते वह्निर्भवतीति ज्ञानं यथार्थं भवति। एवं शीतकाले ह्रदोपरि पतितं नीहारं दृष्ट्वानीहारे धूमत्वभ्रमेण नीहारमेव धूमं जानन् जनः प्रयोगं कुरुते ह्रदो वह्निमान् धूमादिति अत ह्रदे वह्निर्न भवतीति ज्ञानम् अयथार्थं भवति। अतएव उक्तस्थले हेतुर्दुष्टः।

इत्थञ्च हेतुवदाभासन्ते इति हेत्वाभासाः इति व्युत्पत्त्या हेत्वाभासशब्दार्थो दुष्टहेतवः।

हेतोराभासाः हेत्वाभासाः इति व्युत्पत्त्या हेत्वाभासशब्दार्थो हेतुदोषाः। अस्यां व्युत्पत्तौ आभासशब्दार्थो दोषाः।

हेतुदोषाः पञ्च सन्ति – १. व्यभिचारः २. विरोधः ३. सत्प्रतिपक्षः ४. असिद्धिः ५. बाधश्चेति। एते दोषाः एकज्ञानविषयप्रकृतहेतुतावच्छेदकवत्त्वसम्बन्धेन येषु हेतुषु वर्तन्ते ते दुष्टहेतवः। ते प्रञ्चधा सन्ति– १. सव्यभिचारः २. विरुद्धः ३. सत्प्रतिपक्षः ४. असिद्धः ५. बाधितश्चेति। सत्प्रतिपक्षे सच्छब्दार्थो विद्यमान इति। अथ व्यभिचारादीन् विचारयामः। व्यभिचारस्त्रिविधः साधारणः, असाधारणः, अनुपसंहारी चेति। तत्र साधारणव्यभिचारो द्विधा– साध्याभाववद्वृत्तिर्हेतुरित्येकः, हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगि साध्यं चेति द्वितीयः। अयोगोलकं धूमवद् वह्नेरित्यत्र धूमाभाववद्वृत्तिवह्निः साधारणव्यभिचारः। तप्तायोगोलकं धूमाभाववत्, तत्र वह्निर्वर्तत इति समन्वयः। अयोगोलकं धूमवद् वह्नेरित्यत्र वह्नि समानाधिकरणाभावप्रतियोगि धूमः साधारणव्यभिचारः। वह्न्यधिकरणं तप्तायोगोलकम्, तद्वृत्तिरभावो धूमाभावः, तत्प्रतियोगी धूमो भवतीति समन्वयः। असाधारणव्यभिचारः साध्यासमानाधिकरणो हेतुः। यथा घटो नित्यः घटत्वादित्यत्र नित्यत्वं साध्यम्, तदधिकरणे नित्ये घटत्वं न वर्तत इति समन्वयः। अनुपसंहारी द्विधा – अत्यन्ताभावाप्रतियोगि साध्यमित्येकः, अत्यन्ताभावाप्रतियोगी हेतुरित्यपरः। सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वादित्यत्र अभिधेयत्वं साध्यम्, प्रमेयत्वं हेतुः। तदुभयमपि अत्यन्ताभावाप्रतियोगीति समन्वयः। यद्यपि सर्वमभिधेयत्वं प्रमेयत्वादित्यस्य पूर्वोक्तदिशा सद्धेतुत्वं तथापि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकज्ञानविषयतया दोषत्वं चेत्यत्र निरूपितम्।

व्यभिचारज्ञानं व्याप्तिज्ञानं प्रति प्रतिबन्धकं भवति। तथाहि अयोगोलकं धूमवद् वह्नेरित्यत्र वह्निः धूमाभावाधिकरणवृत्तित्वाभाववान् इति ज्ञानं प्रति वह्निः धूमाभावाधिकरणवृत्ति इति ज्ञानं प्रतिबन्धकम् । धूमः वह्निसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगि इति ज्ञानं प्रति धूमः वह्निसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगि इति ज्ञानं प्रतिबन्धकम्। हेतुसमानाधि-करणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यम् इति सिद्धान्तव्याप्तौ साध्यसामानाधिकरण्यं विशेष्यदलम् । तज्ज्ञानं प्रति असाधारण्यज्ञानं प्रतिबन्धकम् । तथाहि– घटो नित्यः घटत्वादित्यत्र घटत्वं नित्यत्वाधिकरणवृत्तित्ववदिति ज्ञानं प्रति घटत्वं नित्यत्वाधिकरणवृत्तित्वाभाववदिति ज्ञानं प्रतिबन्धकम्। अनुपसंहारिज्ञानं साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वरूप-व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानं प्रति प्रतिबन्धकम्।

'साध्यभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः' इति तर्कसङ् ग्रहे उक्तम्। साध्याभावव्याप्तिर्नाम साध्याभावनिरूपितव्यतिरेकव्याप्तिः साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वमिति यावत् । तथा च साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगी हेतुर्विरोधः। यथा– ह्रदो वह्निमान् जलादित्यत्र वह्निव्यापकीभूताभावप्रतियोगिजलं विरोधः। वह्निव्यापकीभूतः अभावः जलाभावः, तत्प्रतियोगि

जलं भवतीति समन्वयः। यत्र साध्याभावसाधको हेतुः साध्यसाधकत्वेन उपन्यस्यते तत्र विरोधः। तादृशः उपन्यासः अशक्तिकृतः। अयं विशेषः विरोधे। सत्प्रतिपक्षे तु नैवम् । तत्र (सत्प्रतिपक्षे) प्रतिहेतुः साध्याभावसाधको भवति। साध्याभावव्याप्यप्रतिहेतुमत्पक्षः सत्प्रतिपक्षः। यथा ह्रदो वह्निमान् धूमादिति वादिनोक्ते ह्रदो वह्न्यभाववान्, जलादिति प्रतिवादिनोक्ते वह्न्यभावव्याप्यजलवद्ध्रदः सत्प्रतिपक्षः। साध्यं वह्निः, तदभावो वह्न्यभावः, तद्याप्यः प्रतिहेतुः जलम्, तद्वान् ह्रदो भवतीति समन्वयः। पक्षधर्मताज्ञानसहकारेण विरोधज्ञानं पक्षे साध्यानुमितिं प्रति प्रतिबन्धकम्। एवमेव सत्प्रतिपक्षज्ञानं पक्षे साध्यानुमितिं प्रति प्रतिबन्धकम्। न्यायबोधिन्यामुक्तम्– 'विरुद्धसत्प्रतिपक्षयोर्विशेषस्तु हेतोरेकत्वेन हेतोर्द्वित्वेन च ज्ञातव्यः' इति।

असिद्धिस्त्रिधा– आश्रयासिद्धः, स्वरूपासिद्धः, व्याप्यत्वासिद्धिश्चेति। पक्षतावच्छेदकाभाववत्पक्षः आश्रयासिद्धिः यथा– काञ्चनमयपर्वतो वह्निमानित्यत्र काञ्चनमयत्वाभाववत्पर्वतः आश्रयासिद्धिः। अस्याः पक्षासिद्धिरिति नामान्तरम् । आश्रयासिद्धिज्ञानं परामर्शं प्रति प्रतिबन्धकम्। हेत्वभाववत्पक्षः स्वरूपासिद्धिः। यथा– ह्रदो वह्निमान् धूमादित्यत्र धूमाभाववद्ध्रदः स्वरूपासिद्धिः। भागासिद्धिस्तु स्वरूपासिद्धेरेव भेदः। इयांस्तु विशेषः– स्वरूपपासिद्धिस्थले पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन हेतोरभावो भवति। भागासिद्धिस्थले तु पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन हेतोरभावो भवतीति। स्वरूपासिद्धिज्ञानं परामर्शं प्रति प्रतिबन्धकम्। उक्तासिद्धिभिन्ना व्याप्यत्वासिद्धिः। सा त्रिविधा– साध्याप्रसिद्धिः, साधनाप्रसिद्धिः, सोपाधिकहेतुता, केषाञ्चिन्मते हेतोर्व्यर्थविशेषणघटितत्वं चेति। साध्यतावच्छेदकाभाववत साध्यं साध्याप्रसिद्धिः, यथा– पर्वतः काञ्चनमयवह्निमानित्यत्र काञ्चनमयत्वाभाववान् वह्निः साध्याप्रसिद्धिः। एतज्ज्ञानम् अनुमितिं प्रति परामर्शं प्रति च प्रतिबन्धकम् । हेतुतावच्छेदकाभाववद्धेतुः साधनाप्रसिद्धिः। यथा– पर्वतो वह्निमान् काञ्चनमयधूमादित्यत्र काञ्चनमयत्वाभाववद्धूमः साधनाप्रसिद्धिः। एतज्ज्ञानं व्याप्तिज्ञानादिं प्रति प्रतिबन्धकम्। सोपाधिकहेतुता नाम व्यभिचारितासम्बन्धेन उपाधिविशिष्टहेतुता। उपाधि वैशिष्ट्यं हेतौ। यथा– पर्वतो धूमवान् वह्नेरित्यत्र आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। साध्यव्यापकः साधनाव्यापकश्च उपाधिर्भवति। प्रकृते आर्द्रेन्धनसंयोगः धूमव्यापक; वह्न्यव्यापकश्चेत्युपाधिः। सः (आर्द्रेन्धनसंयोगः) व्यभिचरितत्वसम्बन्धेन वह्नौ वर्तत इति समन्वयः। हेतौ सोपाधिकत्वज्ञानं व्याप्तिज्ञानं प्रति प्रतिबन्धकम् । पर्वतो वह्निमान् नीलधूमादित्यत्र हेतोर्व्यर्थविशेषणघटितत्वम्। पर्वतो वह्निमान् इत्यस्या अनुमितेः सिद्ध्यर्थं धूमादिति प्रयोगे लाघवम्, नीलधूमादिति प्रयोगे गौरवम् इति व्यर्थविशेषणघटितत्वं हेतौ दोषः। यद्यप्यत्र विषये बहु वक्तव्यं तथापि विस्तरभिया नोच्यते।

हेत्वाभासानां सामान्यलक्षणं बहुधा उक्तम्। तथापि तत्र प्रसिद्धलक्षणमादाय किञ्चिदुच्यते। यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्य अनुमितिप्रतिबन्धकत्वं तत्त्वं हेत्वाभासत्वम्। एतलक्षणस्य परिष्कृतं रूपमित्थम्–

अनाहार्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितनिश्चयवृत्तित्वविशिष्टयद्रूपावच्छिन्नविषताव्यापिका प्रकृतानुमितित्वव्यापकप्रतिबध्यतानिरूपित प्रतिबन्धकता तद्रूपवत्त्वं हेत्वाभासत्वम्। ह्रदो वह्निमान् धूमादित्यत्र वह्न्यभाववद्ध्रदत्वावच्छिन्नविषयताव्यापिका तादृशानुमितिप्रतिबन्धकता भवतीति बाधे लक्षणसमन्वयः। आहार्यात्मके दोषज्ञाने प्रतिबन्धकत्वाभवात्तज्ज्ञानवारणाय अनाहार्येति विशेषणम्। अप्रामाण्यज्ञानास्कन्दिते दोषज्ञाने प्रतिबन्धकत्वाभावात्तज्ज्ञानवारणाय अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितेति विशेषणम्। संशयात्मके दोषज्ञाने प्रतिबन्धकत्वाभावा-त्तज्ज्ञानवारणाय निश्चयेत्युक्तम्। एवमेव अव्याप्यवृत्तित्वभ्रमानास्कन्दितत्वनिवेशस्य, अव्यापककविषयताशून्यत्वनिवेशस्य, विशिष्टद्वयाघटितत्वनिवेशस्य, विशिष्टान्तराघटितत्वनिवेशस्य आवश्यकत्वं तत्प्रकारश्चेत्युभयं सामान्यनिरुक्तिगादाधर्यां तत्क्रोडपत्रे च द्रष्टव्यम्।

उक्तलक्षणे प्रकृतानुमितिपदेन पक्षः साध्यवान् साध्यव्याप्यहेतुमांश्चेति समूहालम्बनानु-मितिर्ग्राह्या। तेन व्यभिचारादौ नाव्याप्तिः। ह्रदो वह्निमान् धूमादित्यत्रवह्निव्याप्या-भाववद्ध्रदेऽतिव्याप्तेर्वारणाय लक्षणे प्रकृतानुमितिपदेन पक्षः साध्यवान् साध्यव्याप्यो हेतुः, हेतुमांश्च पक्षः इति समूहालम्बनानुमितिर्ग्राह्या।

अथापि ह्रदो वह्निमान् जलादित्यत्र वह्निव्यापकीभूताभावप्रतियोगिजले (विरोधे) अव्याप्तिः। पक्षधर्मताज्ञानाकालीने विरोधनिश्चये प्रतिबन्धकताविरहात्। अतः उक्तलक्षणस्य परिष्कार इत्थं करणीयः–

अनाहार्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितयद्रूपावच्छिन्नविषयताशालिनिश्चयत्वव्यापकः प्रकृतानुमित्यप्रतिबन्धकत्व–पक्षधार्मिकहेतुमत्ताज्ञानकालीनत्वोभयाभावः तद्रुपवत्त्वं हेत्वाभासत्वम्। इत्थञ्च पक्षधर्मताज्ञानकालीने विरोधनिश्चये तादृशाप्रतिबन्धकत्वाभावेन उभयभावः, पक्षधर्मताज्ञानकालीने विरोधनिश्चये पक्षधर्मिकहेतुमत्ताज्ञानकालीनत्वाभावेन उभयाभावः इति नाव्याप्तिः। उक्तं लक्षणं हेतुदोषरूपहेत्वाभासानाम्। एकज्ञानविषयप्रकृतहेतुता-वच्छेदकवत्त्वसम्बन्धेन तादृशदोषवत्त्वं दुष्टहेतुरूपहेत्वाभासानामिति सङ्क्षेपः।

***

न्यायमीमांसाशास्त्रयोः उपमानप्रमाणस्वरूपसमीक्षणम्

प्रो० रामपूजन पाण्डेय
न्यायवैशेषिकविभागः,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी।

सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धिः। सा द्विविधा अनुभूतिस्मृतिभेदात्। अनुभूतिश्चर्विधा प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदात् । तत्करणमपि चतुर्विधं प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात्[१] अत्र चतुर्षु प्रभाकरणेषु अन्यतममुपमानमाश्रित्य विचार; क्रियते। स्वीकुर्वन्ति सुधियश्च कणादगौतमोहितदर्शनयोः अभ्यर्हितत्वम्। उक्तञ्च–

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां ज्ञेयमान्वीक्षिकी मता।।[२]

तत्र बहुचर्चितेषु पदार्थेषु अन्यतमः प्रमाणभूतः पदार्थः उपमानात्मकः। प्रकृतविषयेऽधुना समासतः किञ्चिद्वक्तुकामः विद्वद्दर्शितदिशोऽनुगच्छामि।

उपमानं प्रमाणान्तरमभ्युपगच्छन्तोऽपि मीमांसन्काः प्रकारभेदमूचुः। आरण्यकपुरुषवाक्यात् जातं 'गोसदृशो गवय' इति ज्ञानमुपमानम् । ततः कदाचिद् अरण्यं प्राप्तस्य गोसदृशं पिण्डं पश्यतो नागरिकस्य आरण्यकवाक्यंस्मर्तुः दूरस्थे गृहे स्थितायां गवि एतत्सदृशी मदीया गौः इति ज्ञानमुपमितिरिति भाष्यकाराः शावरस्वामिचरणाः। इदञ्चोपमानं वेदविहितेषु दृष्टिपशुसोमयागेषु प्रकृतिविशेषपरिज्ञाने उपयुज्यते। यथा सौर्येष्टौ अङ्गकलापशून्यायां दर्शनमात्रात् बुद्धिर्भवति औषधिद्रव्यकत्व–एकदेवकत्वाभ्यां सौर्ययागः आग्नेयसदृश इति।तदन्तरम् एतत्सदृशः (सौर्यसदृशः) आग्नेययाग इति बुद्धिः जायते। सेयमुपमितिः, तथा प्रकृतिविशेषमवधार्य प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या इति अतिदेशवाक्यकल्पनानियमाद् आग्नेयधर्मैः उपकृत्य सौर्ययागःकर्तव्य इति कल्पितविशेषवचनाद् विकृतिषु इतिकर्तव्यताकाङ्क्षा शाम्यति। पुरुषकल्पितमपि इदं वाक्यं वैदिकाऽऽकाङ्क्षामूलकत्वाद् वेदतुल्यामिति मीमांसकाः। दृश्यविषयेऽपि विप्रतिपद्यन्ते प्राभाकराः। ते हि सादृश्यं सप्तपदार्थातिरिक्त एव कश्चित् पदार्थः। तथा हि नेदं द्रव्यं

गुणवृत्तित्वात्, न गुणो न कर्म नापि सामान्यं सामान्येऽपि सत्त्वात्, व्यापि विशेषः ऐन्द्रियकत्वात्, नापि समवायः सम्बन्धत्वाभावात्, नाप्यभावः भावत्वेन प्रतीयमानत्वात्, अत एवातिरिक्तः पदार्थ इति वदन्ति। कुमारिलभट्टाः तदनुयायिनश्च नैयायिकवदेव तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वमेव सादृश्यमिति स्वीकुर्वन्ति।

तत्त्वचिन्तामणिकारास्तु सादृश्यस्वरूपं परिशोध्य भूयोऽवयवादिसामान्यमेव सादृश्यमिति वदन्ति। तथा हि असाधारणतद्गतभूयोधर्मवत्त्वं तत्सादृश्यम्। इदञ्च भेदाघटिततया निरवधि इतरनिरूप्यत्वमेव तत्प्रतियोगिकत्वम्। हस्तिमकशब्दयोरपि प्राणित्वसुखित्वदुःखित्वादिना सादृश्यमिष्टमेवेति नातिप्रसङ्गः। बह्वल्पतद् गतधर्मवत्त्वेन सदृशत्वं मन्दसदृशत्वादिकमुपपद्यते। अपि च सादृश्यव्यञ्जकत्वेन तदङ्गीकृतधर्माणामिव सादृश्यत्वोपपत्तेः अतिरिक्तसादृश्याङ्गीकारे महद् गौरवम्। "गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपम"[3] इत्यादौ सादृश्यं नास्त्येव निरुपमत्वे तात्पर्यात्। यद्वा गगनादीनां स्थानभेदाद् भिन्नत्वमङ्गीकृत्य तथा प्रयोगः। प्रमाणस्योपमानस्य शक्तिज्ञानं फलम्। तथाहि कीदृशो गवय इति जिज्ञासायां यथा गौस्तथा गवय इति श्रुतोतरं तथाभूते पिण्डे दृष्टे तथायमिति अतिदेशवाक्यार्थानुसन्धाने सति अयं गवयपदवाच्य इति मितिर्भवति। इयमेव उपनितिरिति गीयते। न च इदं ज्ञानं वाक्यमात्राद् जायते अप्रत्यक्षीकृतपिण्डस्यापि प्रसङ्गात् नापि प्रत्यक्षमात्रम् अश्रुतवाक्यस्यापि प्रसङ्गात्। नापि तयोः समाहारः प्रमाण-समाहारानङ्गीकारात् वाक्यप्रत्यक्षयोर्भिन्नकालत्वेन समाहाराभावात्। अतः अतिदेशवाक्यार्थ संस्कृतं गवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञानमेवोपमानम्। अयं गवयपदवाच्य इति वा गवयो गवयपदवाच्य इति वा तज्जन्यज्ञानं फलम्।

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानमिति[4] गौतमसूत्रम्। तदर्थश्च प्रसिद्धेन ज्ञानेन साधर्म्येण यत् साध्यस्य अज्ञातस्य वस्तुनः साधनं ज्ञानं तदेवोपमानमिति। एतत्सर्वं स्पष्टीकृतं विश्वनाथेन भाषापरिच्छेदग्रन्थे–

ग्रामीणस्य प्रथमतः पश्यतो गवयादिकम्।
सादृश्यधीर्गवादीनां या स्यात् सा करणं मतम्।।
वाक्यार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिर्व्यापार उच्यते।
गवयादिपदानान्तु शक्तिधीरुपमा फलम्।।[5]

आरण्यकगवयपशुस्वरूपमजानतो नागरिकस्य समीपे केनचिद् आरण्यकेन पुरुषेणोक्तं 'यथा गौस्थता गवय' इति। तदनन्तरं नागरिकोऽरण्यं गत्वा गोसदृशं पिण्डं (पशुं) पश्यति। तादृशप्रत्यक्षानन्तरं यदि कदाचिदनुद्बुद्धसंस्कारः अतिदेशवाक्यं गोसदृशो गवय इत्याकारकं न स्मरति तदा तु पुरोवर्तिनि पशौ तस्य गवयपदवाच्यत्वज्ञानं न जायते। यदि चादृष्टादिवशाद् गोसादृश्यप्रत्यक्षानन्तरं तादृशेनैव प्रत्यक्षेणोद्बुद्धसंस्कारोऽतिदेशवाक्यार्थं स्मरति 'गोसदृशो गवय' इति तदैव स गोसदृशोऽयं गवयपदवाच्यः इति प्रत्यक्षीकृतसाधर्म्येण चक्षुः संयुक्ते

पशौ गवयपदवाच्यत्वमपि निश्चिनोति। एतदेव प्रसिद्धसाधर्म्येण कारणभूतेन साध्यसाधनं नाम सूत्रकृदुक्तमुपमानाख्यं प्रमाणम्।

अत्र पूर्वपक्षिणामाशङ्का भवति। प्रसिद्धसाधनं नाम कीदृशं साधर्म्र्मुच्यते। आत्यन्तिकसाधर्म्यं चेत् तदा गवात्यन्तसादृश्यस्य गवेतरेऽसम्भवात् गवात्यन्तसादृश्यविशिष्टस्य गवयस्य गोत्वमेव प्रसज्येत न तु गवयपदवाच्यत्वमपि। यदि तावत् प्रामिकमेव साधर्म्यताभीष्टं तदा यथा वृषस्तथा महिष इत्यपि उपमानपदवीं लभेत प्रभवविरुद्धमेव। यदि चात्रैकदेशशि-साधर्म्यमेव विवक्षितं तदा 'यथा हस्ती तथा मशक" इत्युममानं स्यात्। हस्तिमशकयोरपि प्राणित्वाद्येकदैशिकं साधर्म्यं विद्यत एव। न च दृश्यते 'यथा हस्ती तथा मशकः' इत्युमानं जायमानम्। तथा चायातं प्रसिद्धेन साधर्म्येण साध्यसाधनमिति रिक्तं वचः सूत्रकारस्य। तत्रोक्तं भाष्यकृद्भिः व्याख्यातञ्च तात्पर्यटीकाकृद्भिः न ह्यत्रसाधर्म्यस्य आत्यन्तिकत्वमे प्रायिकत्वं ऐकदेशिकत्वं नियतं विवक्षितम्। परं प्रकरणादिवशाद् कदाचिदात्यन्तिकत्वं कदाचिद् वा प्रायिकत्वं कदाचिदैकदेशिकत्वमेव साधर्म्यमाश्रित्य अज्ञातनामजात्यादिविशिष्टस्य वस्तुनो लाभ जात्यादिनिश्चयात्मकं साध्यसाधनमिति न पूर्वोक्तशंकावसरः इति।

तथा च महिषादिषु गोसादृश्यज्ञानवतो नागरिकस्य समीपे आरण्यकपुरुषोक्तं 'यथा गौस्तथा गवयः' इति वाक्यं प्रकरणादिबलादेव महिषादिनिष्ठगोसादृश्यभिन्नं किञ्चिद् गोसादृश्यमेवातिदेशात्। तादृशस्थले महिषादिनिष्ठगोसादृश्यस्यानाश्यकत्वात्। प्रकरणादिवशात् तादृशातिदेशवाक्यस्य महिषादिनिष्ठगोसादृश्यभिन्नं किञ्चित् प्रायिकं सादृश्यमेव तात्पर्यविषयीभूतम्।

प्रकरणादिकमनपेक्ष्यैव यदा तादृशातिदेशवास्यार्थज्ञानं कस्यचिनागरिकस्य कदाचिदपि महिषमदृष्टवतो देशान्तरगतस्य केदारस्थसस्यभक्षणव्यग्रे कस्मिंश्चिन्महिषे गोसादृश्यविशिष्टे चक्षुःसंयोगानन्तरमतिदेशवाक्यार्थस्मरणं जातं तदाऽऽरण्यकपुरुषोच्चरितस्य गोसदृशो गवय इति वाक्यस्य ग्राम्यमित्रे आख्यके एव गोसदृशे पशौ तादृशसादृश्यं गवयपदवाच्यतानियामकमिति तात्पर्यज्ञानाभावात् उक्तस्थले महिष एव गोसादश्यदर्शनाद् गवयमदवाच्यत्वज्ञानरूपोममितिभ्रमे बाधकाभावात्।

अत्र प्रसिद्धेन ज्ञानेन वस्तुना यत् प्रसिद्धं ज्ञातं साधर्म्यं तदेवोपमानं ज्ञेयम्। उपमितौ तावद् द्विविधं सादृश्यज्ञानमावश्यकम्। प्रथमं नगरस्थस्य पुरुषस्य आरण्यकपुरुषोच्चरित-वाक्यार्थज्ञानरूपं शाब्दं सादृश्यज्ञानम्। द्वितीयन्तु अरण्यगतस्य नागरिकस्य अज्ञातनामजात्यादिपशौ चक्षुःसंयोगानन्तरं गोसादृश्यस्य प्रत्यक्षात्मकं ज्ञानम्। पूर्वं शाब्दात् सादृश्यज्ञानादृते केवलं प्रात्यक्षिकगोसादृश्यज्ञानात् तादृशसादृश्याश्रये गवयपदवाच्यत्वरूपोपमितिर्नैव भवतीति तु सहृदयहृदयसंवेद्यम्। तथा च प्रात्यक्षिकगोसादृश्यज्ञानं यदा शाब्दतादृशसादृश्य ज्ञानजसंस्कारोत्पनस्मृतिसहकृतं भवेत् तदैव दृष्टे गोसदृशे यशौ गवयपदवाच्यत्व-निश्चयात्मकोप-मितिर्जायते। तथा च अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतं प्रात्यक्षिकं गोसादृश्यज्ञानमेव प्रत्यक्षविषयीभूते

गवयत्वविशिष्टे पशौ गवयपदवाच्यत्वनिश्ययमुत्पादति इति तादृशनिश्चय एकोपमितिः तत्करणं च सादृश्यज्ञानमवधेयम्।

न्यायमञ्जर्यां जयन्तभट्टपादैः 'गोसदृशो गवयः इत्यतिदेशवाक्यस्यैव उपमितिकरणत्वं बृद्धनैयायिकसम्मतमिति प्रतिपादितम्। न्यायवार्तिककारेणापि अतिदेशवाक्यार्थस्मृतिसंस्कृतं गोसादृश्यप्रत्यक्षमेवोपमानाख्यं प्रमाणम्।[६] यद्यपि सांख्यतत्त्वकोमुद्यां उपमानखण्डनावसरे वाचस्पतिमिश्रैरतिदेशवाक्यमेवोपमानमिति कथितम्। तथापि तरैरेव तात्पर्यटीकायां तादृशसादृश्यप्रत्यक्षमेवोपमानमिति व्याख्यातम्। अत्रेदं बोध्यम् जयन्तेन ये खलु वृद्धनैयायिका उक्ता ते तु उद्योतकारपूर्वभाविन एवेति उद्योतकरमतामलोचनयैव ज्ञायते।[७]

जयन्तभट्टैस्तु स्वमतवर्णनावसरे कथितं यथा प्रत्यक्षफलं सदपि पर्वते धूमदर्शनं तथैवातीन्द्रियजं वह्निमत्वसाधनत्वादनुमानं तथैव गोसादृश्यविशेषिताण्यगत गवयपिण्डदर्शनं प्रत्यक्षफलमपि तदनवगतसंज्ञासंज्ञिसम्बन्धबोधविधानात् पृथक प्रमाणपदवीं प्राप्स्यत्येवा। यथा चानुमाने पूर्वसिद्धधूमाग्निव्याप्तिस्मरणं सहकारि तथैव इहापि पूर्वश्रुतातिदेशवाक्यार्थ-स्मरणम्। यथा वा व्याप्तिज्ञानकालेऽनालोकविशेषा बुद्धिधर्मस्य पक्षधर्मताबलाद् विशेषे पर्वतीयवह्नौ वर्तते, तथात्रापि अनवगतवाच्यविशेषाद् अतिदेशवाक्यज्ञानात् अरण्यस्थवाच्य विशेषे दृष्टे तत्र सुस्थिरो भूत्वा अयं स गवयपदवाच्य इति निश्चयं जनयति। एतेन शाक्यवैशेषिकयो-रुपमानस्यअनुमानेऽन्तर्भावनमपि प्रत्युक्तम् ।

न्यायकन्दल्यां[८] श्रीधरभट्टेनापि प्रथमतः शब्दादीनामनुमानेऽन्तर्भाव प्रतिपाद्य उपमानस्यापि आप्तवचनरूपतां वर्णयता कथितम् । आप्तेन वनेचरेण विदितगवयेनाप्रसिद्धनागरिकस्य कीदृग् गवय इति पृच्छते 'यथा गौस्तथागवय' इति अतिदेशेन गोसारूपेण गवयप्रतिपादनरूपमुपमानञ्च भाणमेव ज्ञानम् । शब्दश्च अनुमानेऽन्तर्भूतः इति।

तदनु पूर्वमीमांकैरऽभिमतोपमानखण्डवासरे उक्तं तेन यद् ये तावत्पूर्वमीमांसका वनेचर वाक्यमेवोपमानमाहुस्तेषामपि इदयनुमानमेव पूर्वोक्तययात्।[९] ये तु शब्दश्वापि अनुभूतस्य गोपिण्डस्य वने गवयदर्शनात् स्मृत्यारूढ़ायां गवि 'मदीया गौरनेनसदृशीति सारूण्यज्ञानमुप-मानमाक्ष्यते तदपि स्मरणमेव। स्मरणमात्रं प्रमाणपदवीमारोढुं नितान्तमशक्तमेवेति। सादृश्यं हि सामान्यवत् प्रत्येकं व्यक्तिसमाप्तं न संयोगवदुभयत्र व्यासज्यं वर्तते, गोपिण्डस्यादर्शनेऽपि वने गव्यव्यक्तौ गौसदृशोऽयमिति प्रतीत्युत्पादात्। यथोक्तं मीमांसागुरुमिः—

सामान्यवच्च सादृश्यमेकैकत्र समाप्येत।
प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि यस्मात् तदुपलभ्यते।।[१०]

यथा तथा वा भवतु। उपमानस्य पृथक प्रामाण्यवादिनामपि तत्स्वरूपमधिकृत्य विद्यते वैमत्यमिति तु सुस्पष्टमेव इति दिक्।

यदत्र लिखितंवस्तु तत्तुपूर्वैः प्रपञ्चितम्।
व्यवस्थितं कृतं किञ्चिन्मया संक्षिप्य केवलम्।।

संदर्भ और टिप्पणी

१. न्यायभाष्यम् प्रथम अध्याय, प्र० आह्निक पृ० सं० १७, सुधी प्रकाशन १९८५
२. न्यायभाष्यम् प्रथम अध्याय, प्र० आह्निक पृ० सं० ९२ सुधी प्रकाशन, १९८५
३. न्यायभाष्यम् सि० मु० प्र० खण्ड, किरणावली, पृ० सं० ३१
४. न्यायभाष्यम् प्रथम अध्याय, प्र० आह्निक, सूत्र ६
५. न्याय० सि० मुक्तावली, उपमानखण्ड, पृ० सं० २८८
६. न्यायमञ्जरी पृ० सं० २०५
७. न्यायमञ्जरी पृ० सं० २१५
८. प्रकास्तपादभाव्यम् पृ० सं० ५३०
९. परकास्तपादभाष्यम् पृ० सं० ५३१
१०. प्रकास्तपादभाष्यम् पृ० सं० ५३१

***

मीमांसादर्शने प्रत्यक्षप्रमाणम्

डॉ० कमलाकान्त त्रिपाठी
अध्यक्ष, पूर्वमीमांसाविभाग
सम्पूर्णानन्दसंस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

सकलस्यैव वेदस्य धर्माधर्मयोरेव तात्पर्यमिति सिद्धान्तमाश्रित्य भगवतो जैमिनेः प्रवृत्ता द्वादशलक्षणी मीमांसा। 'चोदनालक्षणोऽर्थोधर्म'[1] इति द्वितीयसूत्रे धर्मे चोदनैव प्रमाणं सा च प्रमाणमेवेति द्विधा प्रतिज्ञाऽऽपादिता। कथम्? धर्माधर्मरूपेऽतीन्द्रिये विषये शब्दस्यैव सामर्थ्यात् प्रत्यक्षादेश्चासामर्थ्यात्। लोकेऽपि तथाभूतेऽर्थे शब्दस्य सामर्थ्यं प्रत्यक्षादेश्चाऽसामर्थ्यं दृश्यते। कथयति भाष्यकारोऽपीममर्थम्[2]–

"चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवञ्जातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयतुं नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्।" इति।

अत्रेन्द्रियोपादानं दृष्टान्तप्रदर्शनाय। यथेन्द्रियस्यातीन्द्रियेऽर्थे सामर्थ्यवैकल्यं तथेन्द्रियपूर्वकत्वादनुमानादेरपि तत्राप्रवृत्तिः। तथा च धर्माधर्मौ प्रति प्रत्यक्षस्यानिमित्तत्वकथनायैव महर्षिणा सूत्रमिदं रचितम्–[3]

'सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भत्वात्। इति।

सूत्राकरार्थस्तु भाष्यानुसारः 'पुरुषस्येन्द्रियाणां सति विद्यमाने सम्प्रयोगे सम्बन्धे यज् ज्ञानस्य जन्म तत् प्रत्यक्षम्, ईदृशं तत् न प्रमाणं धर्मं प्रति, यतो हि विद्यमानस्यैव पदार्थस्येन्द्रियैरुपलम्भो भवति, धर्मस्य तु ज्ञानकालेऽभवाद् व्यवहितत्वात् इन्द्रियायोग्त्वेन न प्रत्यक्षत्वम्।

प्राचीनवृत्तिकारो भवदासस्तु वाक्यं भित्वा लक्षणपरतयाऽपि सूत्रं व्याख्यात्। सत्सप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षलक्षणं तथा अनिमित्तं विद्यमाना पलम्भनत्वादित्यनेन पूर्वलक्षितस्य प्रत्यक्षस्य धर्माधर्मौ प्रत्यनिमित्तत्वम्। वाक्यभेदेनेयं व्यवस्था न समीचीना सूत्रकारस्याजिज्ञासितार्थकथनप्रसङ्गात्। चोदनैव प्रमाणम्, सा च प्रमाणमेवेति प्रतिज्ञाद्वयेऽपि लक्षणकथनस्य सङ्गतिर्नास्ति। किञ्च, प्रत्यक्षलक्षणमेव कथमकारि सूत्रकारेण। अनुमानादेरपि प्रमाणान्तरस्य विद्यमानत्वात् तत्तलक्षणानामपि करणमेपेक्षितम्। न चानुमानादीनि

प्रत्यक्षेऽन्तर्भवन्तीति प्रत्यक्षलक्षणेनैव तेषां गतार्थता वक्तव्येति वाच्यम् । तेषां प्रत्यक्षवैलक्षण्येन स्वीकारात्। यद्यपि प्रत्यक्षपूर्वकत्वमनुमानादीनामस्ति। तथा च प्रत्यक्षलक्षणात् पृथक तेषां लक्षणकरणं नापेक्षित मित्यपि न संभवति। अवान्तरलक्षणस्वरूपादि परिच्छेत्तुं तेषामावश्यकता भवेदेव। लोकत एव प्रसिद्धत्वादनुमादीनां लक्षणापेक्षा नास्तीति कथने प्रत्यक्षस्यापि लोकतः सिद्धत्वात् तल्लक्षणस्याप्यनपेक्षितत्वं स्यात्।

इत्थं बहुषु प्रमाणेषु सत्स्वप्येकस्यैवान्यतमस्य लक्षणकारणे सत्यन्येषां प्रमाणानां लक्षणविधाने सूत्रकारस्यासामर्थ्यं बोधितं भवेत्। अथवा प्रमाणान्तरे तस्यानभिमतिः सूचिता भवेत्। अन्यथा सर्वेषु प्रमाणेषु जाग्रत्सु एकस्यैव लक्षणकरणमनुचितं स्यात् । किञ्च सम्पूर्णस्य सूत्रस्यैकवाक्यतासंभवे वाक्यभेदकल्पनाऽप्यनुचिता स्यात् । यथोक्तं श्रीवार्तिकारैः—

सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदस्तु नेष्यते। इति।

अपि च, स्वप्नज्ञानं विहाय सर्वमेव भ्रान्त्यादिज्ञानं केनचिदर्थेन्द्रियेण सम्प्रयोग एव जायत इत्यस्य सत्संप्रयोगजत्वरूपस्य लक्षणस्याभासेष्वतिव्याप्ति दोषग्रस्तत्वान्न लक्षणंत्वं संभवति। एवमनुमानादिषु प्रमाणेषु स्मृतिषु च लक्षणस्यातिव्याप्तिरस्ति। यतो हि स्वात्मज्ञानमेवेन्द्रियार्थसंबन्धाद् विना भवति, तदतिरिक्तेष्विन्द्रियार्थसम्बन्धापेक्षा यथाकथञ्चिद् भवत्येव। यथोक्तं वार्तिके—

"न चाप्येतेन सूत्रेण प्रत्यक्षं लक्ष्यते स्फुटम्।
तदाभासेषु तुल्यत्वात् स्वप्नज्ञानैकवर्जनात्।।
तद्धीन्द्रियार्थसम्बन्धव्यापारेण विना भवेत्।
केनचित् सम्प्रयोगे तु भ्रान्तत्वादि स्यान्नियोगतः।।" इति।

सत्संप्रयोजत्वस्यालक्षणत्वादेव नैयायिका दूषयन्ति। आभासेऽपि लक्षणस्यातिव्याप्तत्वात्। अलक्षणं तदतोनास्ति दोष इत्याचार्याणां परिहारः। अतएव नैयायिका अदुष्टमिदं गौतमकृतलक्षणं प्रस्तुवन्ति—[६]

'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमिति इन्द्रियस्यार्थेन सन्निकर्षाज्जायमानं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति लक्षणस्य शब्दसाहाय्यादन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्यनेने व्यपदेश्येऽतिव्याप्तत्वादपदेश्यमिति विशेषणम् । भ्रान्तावतिव्याप्तिवारणायाव्यभिचारीति विशेषणम्। स्थाणुर्वा पुरुषो वायमिति संशयेऽतिव्याप्तिवारणाय व्यवसायात्मकमिति विशेषणम्। अत्र तावत् प्राभावनाः साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षलक्षणं स्वीकृत्य नैयायिकाभिमतंलक्षणं खण्डयन्ति। शाब्दाद् भेद इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वेनैव सिध्यति, अतः शाब्दताशङ्कानिरासाय अव्यपेदेश्यमिति विशेषणं व्यावर्तकाभावाद् निरर्थकम् । अव्यभिचारीति पदं यद् विपर्यनिरासाय प्रयुक्तं तदपि निरर्थकमेव। तन्मते सर्वेषामेव ज्ञानानामव्यभिचारित्वात् । संशयेऽतिप्रसक्तिवारणाय व्यवसायात्ममिति यद्विशेषणमस्ति तदपि न वक्तव्यम् । तेषां सिद्धान्ते स्थाणुर्वा पुरुषो वेति स्मृतिद्वयात्मकमेव। तत्तु नेन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यमिति संशये प्रत्यक्षलक्षणस्यातिप्रसक्तिरेव नास्ति। किञ्च, अव्यव्यभिचारीति

विशेषणेनैव संशयस्य व्युदासः संभवति। तस्यापि यथाज्ञायमानार्थ = व्यभिचारित्वात् ।

इत्थं सत्सम्प्रयोगजत्वस्य प्रत्यक्षलक्षणत्वाभावादेव यथावस्थितं सूत्रं प्रत्यक्षलक्षणाय समर्थं नास्तीति मत्वा वृत्तिकारः सत्तच्छब्दयो = र्व्यत्यासं स्वीकृत्य पाठान्तरमुदाहृतवान् । तन्मतेनाभासादिष्वप्रसक्तमिदं लक्षणमस्ति–

'तत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां यद् बुद्धिजन्म तत् सत् प्रत्यक्षम्।' इति। यदर्थविषयकं ज्ञानमस्ति तेनैवार्थेनेन्द्रियाणां सम्प्रयोगे यज् ज्ञानं जायते तदेव यथार्थ प्ररत्यक्षलक्षंणम्। यथा घटोऽयमिति ज्ञाने घटेनैवेन्द्रियाणां सम्प्रयोगो यदा भवति तथा तद्विषकं ज्ञानं यथार्थप्रत्यक्षं भवति। इदं रजतमिति ज्ञाने न रजतेन्द्रियाणां सम्प्रयोगो भवति किन्तु शुक्त्यादिनाऽन्येन सम्प्रयोगो भवति, अत एवान्यसम्प्रयोगजन्यत्वेन 'इदं रजतम् ' इति ज्ञानं न यथार्थप्रत्यक्षं भवति। ननु प्रत्यक्षलक्षणे पूर्वोक्तरीत्या विज्ञातेऽपि प्रत्यक्षाभासपरिज्ञानाय तस्यापि लक्षणं वक्तव्यमिति चेत् ? न आभासस्यार्थादेव ज्ञानसंभवात्। तत्प्रकारस्तूक्त एव।

अत्र वेदान्तिनः शुक्तिरजत = ज्ञानस्थलेऽनिर्वचनीयां रजतोत्पत्तिं स्वीकृत्य तत्प्रयोगजत्वमेव मन्यन्ते। तत्तु न समीचीनम् । अनिर्वचनीयरजतोत्पत्तौ प्रमाणाभावात् । बाधकज्ञानेन कारणदोषज्ञानेन वा मिथ्याज्ञानस्य निर्णेतुं सम्भवात् । यथोक्तम्–७

'बाधकं हि यज् ज्ञानमुत्पद्यते नैतदेवम् मिथ्याज्ञानमिति तदन्यसंप्रयोगे विपरीतं तत्संप्रयोग इति।'

एवञ्च न प्रत्यक्षलक्षणसम्पादने सूत्रकारस्याभिप्राय इति भवदासीयं वाक्यभेदेन व्याख्यानमनादमीयमेव। एतेनैवानुवादपक्षोऽपि निरस्त एव। प्रत्यक्षानुवादेन तस्य धर्मं प्रत्यनिमित्तत्वमिति केचिदाहुस्तन्न। अनुक्ते लक्षणेऽनुवादस्यासंभवात् । तथा च, इन्द्रियसम्प्रयोगे सति यद् विज्ञानं जायते तदेव प्रत्यक्षमिति वचनव्यक्तिर्नास्ति। किंतर्हि? यदेव लोके प्रसिद्धं प्रत्यक्षं तत्र सत्सम्प्रयोगजन्यत्वधर्मो न व्यभिचरति। तत्त्वाभावात् प्रत्यक्षत्वमेव धर्मस्य न भवितुमर्हति। यद्याभासेऽपि सत्संप्रयोगजन्यत्वं भवेत् तर्हि भवतु? का नो हानिः? सत्यसम्यप्रयोगजत्वादेव प्रत्यक्षे वर्तमानो = पलम्भवनत्वम् । धर्मस्य तु भविष्यत्वेन प्रत्यक्षं निमित्तं नास्ति। यथोक्तं वार्तिके–८

"प्रत्यक्षं मज्जने सिद्धं तस्यैवन्धर्मकत्वतः।
विद्यमानोपलम्भवत्वं तेन धर्मेऽनिमित्तता।।" इति।

अत्र त्रयः प्रयोगा भवन्ति। प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्, तद् विद्यमानोपलम्भनं सत्संप्रयोगजत्वात् , सत्संप्रयोजनञ्च प्रत्यक्षत्वात् । ननु विद्यमानोपलम्भत्वसाधनाय सत्सम्प्रयोगजत्वहेतुर्न पर्याप्तः, भविष्यद् वृष्ट्यनुमाने मेघेन्द्रियसयोगजेऽपि सत्संप्रयोगजत्वस्य विद्यमानत्वादिति चेत् ? न असत्संप्रयोगजत्वात् तस्य। वर्तमानवाची खल्वत्र सच्छब्दः संप्रयोगविशेषणः तथा च वर्तमानात् संप्रयोगाद् यज् ज्ञानं जायते तदेव सत्संप्रयोगजमुच्यते। नैतदनुमाने संभवति। तत्तु सम्प्रयोगे लिङ्गज्ञानोत्पादनेन निवृत्तव्यापारे सति लिङ्गज्ञानेन पश्चाज्जायते। अतो नानुमानेऽतिप्रसक्तिः।

नन्वेवं भवदासपक्षेऽपि लक्षणस्यानुमानादावतिप्रसक्तिर्न भवेत्? मैवं वोचः। स हि सच्छब्दं सम्प्रयुज्यमानविशेषत्वेन स्वीकरोति, न तु सम्प्रयोगविशेषणत्वेन सता संप्रयोगः सत्संप्रयोग इति। अनुमानादिकमपि सतैव लिङ्गादिनेन्द्रियेण संप्रयोगाज्जायते। अतस्तन्मते भवत्येवातिप्रसक्तिः। ननु भोः! श्रीमान् भवदासोऽपि वाक्यभेदेने प्रत्यक्षलक्षणेव पृथग् व्याख्यातवान्। यदि सच्छब्दस्य सम्प्रयोगविशेषत्वेन व्याख्याने लक्षणं निर्दुष्टं भवेत् तदा का हानिः? अस्ति हानिरिति ब्रवीमि। पीतः शङ्ख इत्यादिप्रत्यक्षाभासेषु लक्षणस्यातिव्याप्तिः स्यादेव। तस्मान्न सूत्रकारस्य प्रत्यक्षलक्षणप्रतिपादने तात्पर्यमित्येव रमणीयम्।

ननु भवतु धर्मं प्रति प्रत्यक्षस्यानिमित्तत्वकथनायैव सूत्रम् , न प्रत्यक्षलक्षणप्रतिपादनाय, तथापि 'अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् विद्यमानोलम्भनत्वं सत्संप्रयोगजत्वात्, सत्सम्प्रयोगजत्वं प्रत्यक्षत्वात् ' इत्यत्र दृष्टान्तः कः? पक्षसपक्षयोरैक्यासंभवात् प्रत्यक्षं तावद् न दृष्टान्तः। अप्रत्यक्षमपि संभवति, तत्र प्रत्यक्षत्वस्य हेतोर्गमयितुमशक्यत्वात्। अस्मदादिप्रत्यक्षस्य विद्यमानोपलम्भत्वं सत्सम्प्रयोगजत्वं धर्मं प्रत्यनिमित्तत्वञ्च प्रसिद्धमेव, अतोंऽशे सिद्धसाधनत्वमपि स्फुटमिति चेत् ? न । अस्मदादौ तेषां सिद्धत्वादेव तत्साधनतां परिहर्तुं योगिप्रत्यक्षार्थमेव तदनुमानमस्ति। योगिनामेव प्रत्यक्षविशेषपक्षीकृतेऽस्मादादिप्रत्यक्षं दृष्टान्तो भविष्यति। एवं स्वीक्रियमाणे लक्षणपक्षवदसङ्गतिरपि प्रकृतेन न भवति। यतो हि शब्दातिरिक्तानां शेषाणां प्रमाणानां धर्मं प्रत्यप्रामाण्येन चोदनैव धर्मे प्रमाणमित्यंशस्य सिद्धिर्भवति।

तस्मादत्राऽयंनिर्गलितोऽर्थः प्रतिभाति–

भावनाबलजं प्रत्यक्षमतीतादिविषयकं धर्माधर्मविषयपि बोधयतीति शाक्तामन्यन्ते। आत्मनो निसर्गत एव सर्वज्ञा भवन्ति, देहावरणेनाच्छादितज्ञानाय किञ्चिज्ज्ञा अपि देहावरणतो विमुक्तौ तु सर्वमतीतादि जानन्तीति आर्हता मन्यन्ते। तान् प्रति विद्यमानोपलम्भनत्वमसिद्धम् अतस्तान् प्रत्येव धर्मो न प्रत्यक्षे भविष्यत्त्वात् अनागतवृष्टिवत् इति हेतुः सम्मतः। योगिनां प्रत्यक्षमपि नास्मदादेः प्रत्यक्षत्वमतिक्रामेत् । तेषामपि लोकेतदेव प्रत्यक्षं स्वीकरणीयम् । यथोक्त वार्तिके'

न लोकव्यतिरिक्तं हि प्रत्यक्षं योगिनामपि।
प्रत्यक्षत्वेन तस्यापि विद्यमानोपलम्भनम्।।
सत्संप्रयोगजत्वं वाऽप्यस्मप्रत्यक्षवद् भवेत्।। इति।

भावनाबलेन जायमानं प्रत्यक्षमेव न भवति। भावनायाः समानविषयकाव्यवहितस्मृति-सन्ततिरूपत्वात् । स्मृतेश्च पूर्वानुभूताद् व्यतिरिक्तेऽर्थे व्यापारासम्भवात् । एवञ्च, केवलभावाबलेन जायमानस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वनिरासायैव भगवतो जैमिनेः प्रत्यक्षसूत्रविरचनप्रयासः, न तु प्रत्यक्षलक्षणकरणाय। तस्य प्रकृतेऽसङ्गतेः। एवं सत्यपि यदि 'सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षलक्षणमपि संभवेत् तर्हि नैव काचिद् नः क्षतिः। अवयवव्याख्यायां तस्य लक्षणत्वं संभवेत्। असता संप्रयोगस्यासंभवात् सूत्रे सद् ग्रहणानर्थक्यमिति चोद्यस्य परिहारो भाष्यकारेणैव 'सतीन्द्रियसम्प्रयोग' इति कर्मधारयं स्वीकृत्याकारि। अविद्यमानादती

तादनागतात् सम्प्रयोगादपि यद्यती तादिविषयकं प्रत्यक्षं स्यात्तदा तथा भूतस्य योगिनां प्रत्यक्षस्य निराक्रिया न स्यादतस्तन्निराचिकीर्षया सूत्रे सद् ग्रहणं कृतं महर्षिणा। सम्प्रयोग इत्यत्र संशब्दः सम्यग्प्रर्थे प्रयुक्तः। स च दुष्प्रयोगनिरणाय। शुक्तौ रजतभ्रमं विदधच्छुक्तिकेन्द्रियसम्प्रयोगो दुष्टो भवति तन्निवारणाय संशब्द इति तात्पर्यम्। भवदासेन तु सता संप्रयोग इति व्याख्याकारि। अतएव तस्यानुमानादिषु तथाऽऽभासेषु भवत्यतिव्याप्तिः पूर्वोक्तव्याख्याने तु न तथा। तथा च, निष्पन्नं निर्दुष्टं प्रत्यक्षलक्षणं सत्तच्छब्दयोर्व्यत्यासं विनापि। एदभिप्रायकमेव लक्षणं 'साक्षादनुभूति' रिति श्रीगुरुसम्मतं चकास्ति। तत्तु स्वात्मात्मनोरनुमानादावतिव्याप्तमिति भाट्टा दूषयन्ति। अनुमानादौ ज्ञाने तथाऽऽत्मनि प्रत्यक्षत्वं प्राभाकराः स्वीकुन्ति। तन्मते साक्षादनुभूतिरिति प्रत्यक्षलक्षणं विषयगतं प्रत्यक्षमभिप्रेत्य स्वीकरणीयम्।

नैयायिका षोढा सन्निकर्षं स्वीकुर्वन्ति। मीमांसकारस्तद् दूषयन्ति। शब्दस्य भाट्टमते द्रव्यत्वात् संयोगः संयुक्ततादात्म्यमिति संप्रयोगद्वयमेव स्वीक्रियते। अभावेन सहेद्रियसंप्रयोगोनास्ति, अतस्तस्यानुपलब्ध्या ग्रहणम्। सम्बन्धपूर्वकत्वाद् विशेषणविशेष्यभावस्य संयुक्तविशेषणादि संन्निकर्षः समवायाभावयोर्ग्रहणे न संभवति। प्रभाकरमते शब्दस्य गुणत्वात् त्रिविध एव सन्निकर्षः प्रत्यक्षहेतुः संयोगः संयुक्तसमवायः समवायश्चेति।

इदं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकसविकल्पकभेदेन द्विधा न्यायनयवदेव स्वीक्रियते। अतएव 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षमिति धर्मकीर्तिलक्षणं न रमणीयम्। सविकल्पकज्ञानाङ्गीकारे तस्यानुमानप्रमाणोच्छेदापत्तेः। निर्विकल्पकं विना सविकल्पनकस्यैवासंभवात् सविकल्पकमेव प्रत्यक्षमिति वैयाकरणमतमपि खण्डितमेव।

इत्थं यद्यपि लक्षणकरणे मीमांसकानां नास्त्याग्रहस्तथायि तदीयं प्रत्यक्षलक्षणं सर्वतो रमणीयम्।

सन्दर्भग्रन्थाः–

१. मीमांसादर्शनम् १-१ सूत्र २
२. तत्रैवभाष्ये।
३. मीमांसादर्शनसूत्रम् १.१.४
४. श्लोकवार्तिके १.१.४.९
५. तत्रैव १.१.४.१०-११
६. न्यायदर्शने
७. मीमांसादर्शनसूत्रम् १.१.५
८. श्लोकवार्तिके १.१.४.१८
९. श्लोकवार्तिके १.१.४.१८-२९

***

मीमांसादर्शनेऽनुमानप्रमाणविमर्थः

प्रो. धरणीचराचार्य
आचार्य मीमांसा विभाग
पंडिचेरी विश्वविद्यालय, पंडिचेरी।

श्रीहयास्यं प्रणम्मादौ स्मृत्ला च गुरुसन्ततिम्।
मीमांस्यतेऽनुमानतत्त्वं गुरुभट्टसमीरिदतम्।।

अनुमानप्रमाणमधिकृत्य भाट्टप्राभाकरमीमांसकमतभेदेन विचारोऽत्र प्रस्तूयते। प्रत्यक्षप्रमाणनिरूपणानन्तरमनुमानं निरूप्यते।

संगति निरूपणम्

तत्रादौ संगतिः निरूप्यते। का नाम संगतिः? अनन्तराभिधानप्रयोजकजिज्ञासा जनक-ज्ञानविषयकसाधारणानुकूलसम्बन्धः। स च सम्बन्धो निरूपणीयनिष्ठसंगतिः। तथा हि-प्रत्यक्षणनिरूपणानन्तरम् अनुमाननिरूपणे प्रयोजकजिज्ञासा "अनुमानज्ञानं मे जायताम्" इत्याकारिका, तज्जनकज्ञानम्" अनुमानज्ञानं मदिष्टसाधनम्" इत्याकारकम्। तद्विषयोऽनुमानम्। तत्स्मरणानुकूलः सम्बन्धः– अनुमाननिष्ठं प्रत्यक्षकार्यत्वं संगतिरिति। सा च संगतिः षोढा श्रुतासप्रसंग उपोद्धातो हेतुतावसरस्तया।
निर्वाहकैककार्यैक्ये षोढा संगतिरिष्यते।। इति।

प्रत्यक्षावन्तरमनुमाननिरूपणे हेतुतारूपा संगतिः। हेतुतानाम अजहत्स्वार्थलक्षणया कार्यकारणभावः उपजीव्योजीवकभाव इत्यर्थः। प्रत्यक्षमनुजीव्यम् , अनुमानमुपजीवकम्। प्रत्यक्षानुमानप्रमाणयोः प्रत्यक्षानुमित्यात्मकप्रमित्योश्च हेतुहेतुमद्भावः संगतिः। तथा हि- इन्द्रियेण महानसादौ व्याप्तिप्रत्यक्षादेव अनुमानं भवति। व्याप्तिस्मरणरूपानुमानं प्रति व्याप्तिप्रत्यक्षस्य अनुभवविधया कारणत्वात् तथाचेन्द्रियात्मकस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्मरणे व्याप्तिप्रत्यक्षद्वारा व्याप्तिस्मरणात्मकानुमानप्रमाणं प्रति हेतुत्वम् अनुमित्यात्मकप्रमितेः परामर्शात्मकमानस प्रत्यक्षजन्यत्वात् प्रमित्योः कार्यकारणभावः। इत्थं च प्रत्यक्षानुमानप्रमाणयोः परम्परया

कार्यकारणभावः प्रत्यक्षानुमितिप्रमित्योः साक्षात्कार्यकारणभावश्च संगतिरिति फलित।

केचनात्र अवसरसंगतिमपि संगिरन्ते। तथाहि अवसरो नाम अन्तरवक्तव्यत्वम्। तथा च प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दादिक्रमेण तत्र तत्र प्रमाणविभागसूचनात् प्रत्यक्षस्य प्रथमतः प्रस्फुरितत्वात् तदनन्तरं (तन्निरूपणानन्तरं) अनन्तरोपस्थिरेनुमितेरेव वक्तव्यतया अवसरसंगतित्वलाभः। न च विभागवचनेषु कुतो न अनुमितेरेव प्रामाण्यमिति वाच्यम्, स्वतन्त्रस्य मुनेः नियोगपर्यनुयोगानर्हत्वात्, इन्द्रियसम्प्रयोगजस्य प्रत्यक्षस्य प्रथममनुमीयमानत्वाच्च इत्यन्मतिचर्चया।

अनुमानस्वरूपविचारः

"अनुमानं ज्ञातसंबन्धस्य एकदेशदर्शनात् एकदेशान्तरे असंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिः" इति शाबरभाष्यम्। अत्रानुमानशब्दःअनुमितिपरः। तस्यायं भावः वह्निधूमयोः कार्यकारणभाव संबन्धो ज्ञातः। तथा च ज्ञातसंबन्धस्य वह्निधूमरूपपदार्थद्वयस्य एकदेशदर्शनात् धूमदर्शनात् असन्निकृष्टे प्रमाणन्तिरेण अज्ञाते अबाधिते च एकदेशान्तरे वह्नौ यत् ज्ञानमुत्पद्यते अस्त्यत्र वह्निरित्यादि तदनुमानमित्यर्थः। साध्येनात्र हेतुसंबन्धो व्याप्तिः। तदुक्तं श्लोकवार्तिके अनुमानपरिच्छेद।

सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्ग धर्मस्य लिङ्गिना इति। सम्बन्धपदेनात्र संयोगसमवायादयो दूरोत्सारिताः। ते च गम्यगमकभावे न प्रयोजकाः। यथा कृत्तिकारोहित्यादीनां पूर्वोक्तसम्बन्धाभावेऽपि लिङ्गलिङ्गिभावः दृश्यते।

व्याप्यस्य गमकत्वं च व्यापकं गम्यमिष्यते।
यो यस्य देशकालाभ्यां समो न्यूनोऽपिवा भवेत्।।

सव्याप्तो व्यापकस्तस्य समोऽवाभ्यधिकोऽपिवा। इति अनुमानपरिच्छेदीयं श्लोकवार्तिकवचनमत्रावश्यम् अनुसन्धेयम्।

शास्त्रदीपिकाकारोऽप्येतमेवाह औत्पत्तिकसूत्रे। मानमेयोदयकारो ब्रवीति– "व्याप्यदर्शनात् असन्निकृष्टज्ञानमनुमानम्। यथा पर्वते धूमवत्वदर्शनात् अग्निमत्वज्ञानम्।" इति।

भाट्टचिन्तामणिकारो गांगाभट्टस्त्वाह–पूर्वोक्तलक्षणं यथावत्। तदतिरिच्य पुनःस कथयति "अनुमितित्वजातिमती अनुमितिः। अनुमितित्व जातिस्तु अनुमिनोमीत्यनुभवसिद्धा, तत्करणमनुमानम् इति।

चिदान्दपण्डितोऽनुमानमेवमवर्णयत् नीतितत्त्वाविर्भावग्रन्थे "व्याप्यदर्शजन्या-संन्निकृष्टार्थविषयं ज्ञानमनुमानमिति"।

सर्वदर्शनकौमुदीकारो माधवसरस्वती ब्रूते व्याप्यव्यापकांशरूपमनुमानमिति। तत्र व्याप्यांशेन व्यापकांशोऽनुमीयते" इति।

प्राभाकरमतम्

अनूमानं ज्ञातसंबन्धस्य एकदेशदर्शनात् एकदेशान्तरे असंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धि"रिति अनुमानलक्षणपरं शाबरभाष्यम् । ततद् विवृणोति शालिकनाथः प्रकरणपञ्चिकायाम्–

ज्ञातसंबन्धनियमस्यैकदेशस्य दर्शनात्।
एकदेशान्तरे बुद्धिरनुमानबाधिते।।
यः कश्चित् येन यस्येह संबन्धो निरूपाधिकः।
प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धः स तस्य गमकोमतः।।

ज्ञातः संबन्धनियमोयस्य तस्यैकदेशस्य दर्शनात् एकदेशान्तरे असंनिकृष्टेऽर्थे या बुद्धिः सा अनुमानमित्यर्थः इति।

पूर्वोक्तं शाबरं भाष्यमेवं व्याकरोति बृहतीकारः प्रभाकरः– अनुमानमेकदेशदर्शनात् एकदेशान्तरे असंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिः। कस्य एकदेशस्य दर्शनात् ? ज्ञातसम्बन्धस्य इति।

पूर्वोक्त ज्ञातसम्बन्धनियमस्येति श्लोकस्यायं भावः– अत्र एकदेशस्य एकदेशान्तरे चेतिद्वाभ्यां शब्दाभ्याम् आश्रितौ हेतुसाध्यौ उच्येते। ताभ्यामेक आश्रय आक्षिप्यते। अतः समाना श्रयाश्रितयोरेव द्वयोः गम्यगमकभाव इति फलति। असंनिकृष्टपदं स्मरणाभिमाननिरासार्थम। संबन्धशब्देन निरूपाधिकसंबन्धो ग्राह्यः। संबन्धमात्रग्रहणे बौद्धाभिमतानां तादात्म्यादीनां ग्रहणापत्त्या नियमपर्यन्तानुसरणम् दर्शनशब्देन निश्चयोऽभिमतः। तेनार्थायत्तितोऽस्य वैलक्षण्यं सूचितम् तच्चार्यापत्तिप्रकरणे द्रष्टव्यम् ।तथाचायं संपिण्डितोऽर्थः– समानाश्रयाश्रितयोरेकदेशिनोः ज्ञातसंबन्धनियमस्य एकदेशस्य दर्शनात् एकदेशान्तरे असंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिरनुमानमिति।

अनुमानविभागप्रदर्शनम्

भाट्टमतम् शाबरभाष्ये प्रत्यक्षतो दृष्टसंबन्धं सामान्यतो दृष्टसंबन्ध चेति द्विविधं प्रोक्तम् । धूमाकृतिदर्शनात् अग्न्याकृतिज्ञानं प्रथमस्य, देवदत्तस्य देशान्तरप्राप्तिं गतिपूर्विमुपलभ्य सूर्यगत्यनुमानं द्वितीयस्य चोदाहरणम् । एतच्च प्रमाणयति मानमेयोदयः

दृष्टैकव्यक्तिविषयं दृष्टमिष्टं हि मादृशाम् ।
कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्यनुमिति र्यथा।।
एवं सामान्यतो व्यक्तिदृष्टया यत्रानुमीयते।
तद्धि सामान्यतो दृष्टं यथा वह्नयनुमानादिकम् ।। इति।

श्लोकवार्तिककारस्त्वेवं प्रोवाच–

यदि धर्मान्तरापेक्षा तत्र सामान्यदृष्टता।
स्यादग्निधूमयोः सैव तस्मादेव प्रचक्षते।।

प्रत्यक्षंदृष्टसम्बन्धं ययोरेव विशेषयोः।
गोमयेन्धनतज्जन्यविशेषादिमतिःकृता।।इति

अस्यायमर्थः— देवदत्तादन्यधर्मिणि गतिरूपाकृतिरेवं प्राप्तिरूपाकृतिसम्बन्धज्ञानान्तरं सूर्ये प्राप्तिरूपाकृतिं दृष्ट्वा गतिरूपाकृतेरनुमानं सामान्यतो दृष्टम् एवं प्रत्यक्षतः दृष्टसंबन्धस्य विशेषः एवं सामान्यतः दृष्टस्य सामान्यविषयत्वात् विशेषतो दृष्टम्, सामान्यतो दृष्टमिति भेदेनानुमानं द्विविधं भवति।

एतेन प्रत्यक्षयोग्यार्थविषयमग्न्याद्यनुमानं दृष्टम् अतीन्द्रियार्थविषयं चक्षुराद्यनुमानं सामान्यतोदृष्टमिति तार्किकमतमपास्तम्। अतीन्द्रियार्थानामनुमातुमशक्यतया चक्षुरादीनामपि अर्थापत्त्यैव साध्यमानत्वात् प्राभाकरतमतम्— शावरभाष्यानुसारं दृष्टं सामान्यतो दृष्टं चेति द्विविधं स्वीचकार प्रभाकरगुरुः। तदुक्तं बृहत्यां "तत्तु द्विविधं प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धं, सामान्यतो दृष्टसम्बन्धं च। प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धं यथा धूमाकृतिविज्ञानादग्न्याकृति विज्ञानम्। सामान्यतो दृष्टसम्बन्धं देवदत्तस्य गतिपूर्विका देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्य आदित्येऽपि गतिस्मरणम् इति। इदं च प्रमेयानुसारमिति "प्रमेयद्वैविध्यमङ्गीकृत्य एतदुच्यत" इति बृहतीग्रन्थेनावगम्यते। इदमेव मनसि निधाय शालिकचार्यः प्राह—

प्रमेयमनुमानस्य दृष्टादृष्टस्वलक्षणम्। इति।
दृष्टलक्षणं यथा वह्न्यादिः, अदृष्टस्वलक्षणं कर्मादि।

अत्रेदमाकूतम् —भाट्टप्राभाकरयोः प्रस्थाने शाबरभाष्यानुसारं पूर्वोक्तप्रकारं द्वैविध्यमनुमानस्याङ्गीकारो दृश्यते। तथापि उभयत्रापि स्वार्थपरार्थभेदेन तार्किकवत् अनुमानद्वैविध्यमन्यथार्पि विभागः प्रादर्शि इत्यपि विभावनीयं दार्शनिकैः।

अत्रेमानि वचनानि अवश्यमनुसन्धेयानि—

यथाह शालिकनाथः प्रकरणपञ्चिकायाम्—
पर प्रत्यायनेच्चूनामनुमोदयसाधनम्।
वचनं दूषजैस्साधर्मर्थादेतेन वर्णितम्।। इति।

एवमुपवर्ण्य शालिकः प्राह— "द्वेधा अनुमानमुत्पद्यतेस्वयमनुसंहितया अनुमानोत्पादकसामग्रया परप्रयुक्तवाक्योद्बोधितया वा"इति। एतदेव परामृश्य कथयति तन्त्ररहस्यकारः रामानुजाचार्यः। "तच्चानुमानं स्वार्थपरार्थभेदेन द्विविधम्। स्वयमनुसंहितया सामग्र्या अनुमानोत्पत्तिः स्वार्थम्। परप्रयुक्तवाक्यमुदबोधितया तु परार्थम्। इति।

एव भाट्टप्रस्थाने गागाभट्टः स्पष्टं प्राह स्वग्रन्थे भाट्ट चिन्तामणौ— "तच्चानुमानं द्विविधम् स्वार्थं परार्थं च। परामर्शेन स्वस्यैव साध्यज्ञानजनकं स्वार्थम्। प्रतिज्ञानद्यवमनप्रयोगेण परस्य साध्यज्ञान जनकम्।" इति एवं मानमेयोदयकारः नारायणो मनुते— तच्चानुमानं स्वार्थपरार्थभेदेनापि द्विविधमाहुः। यत्र स्वयमेव धूमादिकं दृष्ट्वा व्याप्यादि निरूपणेनानुमीयते तत् स्वार्थम्।

यदा पुनः स एवार्थः पर वाक्येन बोध्यते।
तदा परार्थमित्याहुस्तयोरेतावती भिदा।।

इति। एवं ग्रन्थान्तरेष्वपि तत्र तत्र सोऽयं भेदः प्रकल्पित इति तत्तत्रैव द्रष्ट-व्यमित्यक्तमक्षरक्षरणेन।

लिंगभेदविचारः

लिङ्गं व्याप्यमिति यावत् । तत् केवलान्वयिकेवलव्यतिरेकि-अन्वयव्यतिरेकिभेदात् त्रेधा प्रस्तुतं विद्यते दर्शनग्रन्थेषु "लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनम् " इति न्यायभाष्यं व्याकुर्वाणः "तच्चलिङ्गम् अन्वयव्यतिरेकी, अन्वयी, व्यतिरेकीचेति" त्रेधा लिङ्गं विभाजयति। स एव प्रथमम् ईदृशं विभागमसूचयत् इत्यनेन गवेषकाणां सरणिः। अन्वयव्यतिरेकी नाम पक्षवृत्तित्वे सति रूपक्षावृत्तित्वे सति विपक्षावृत्तिः– यथा शब्दः अनित्यः सामान्यविशेषवत्वे अति अस्मदादि बाह्यकरणजन्यप्रत्यक्ष विषयत्वात् घटादिवत् इति सामान्यविशेषः व्याप्यजातिपक्षः। घटत्वादौ व्यभिचारवारणाय सामान्य विशेषवत्वे सतीति, योगिनां बाह्यकरणप्रत्यक्षविविषयेषु परमाणुषु व्यभिचारवारणाय अस्मदादीति, आत्मनि व्यभिचारवारणाय बाह्यकरणेति च विशेषणानि। अन्वयी नाम पक्षवृतित्वे सति सपक्षवृत्तित्वे च सति विपक्षहीनः– यथा सर्वानित्यत्व वादिनां शब्दः अनित्यः कृतकत्वात् इति। अस्य हि विपक्षो नास्ति।

व्यतिरेकी नाम पक्षवृत्तित्वे सति रूपक्षरहितत्वे सति विपक्षवृत्तिः– यथा इदं जीवच्छरीर-मात्मकं प्राणादिमत्वात् इत्येन न्यायवार्तिककारः उद्योतकरः प्रादीदृशत्।

तमियं पन्थानं मीमांसका अपि अन्वजगमुरिति साम्प्रतं प्रदर्शयायो नयम्।

भाट्टप्राभाकरयोः प्रस्थाने केवलव्यतिरेकिणं विहाय लिङ्गद्वैविध्यमेव प्रायः दृश्यते। तथा हि मानमेयोदयानुसारं प्रस्तूयते– तत्र यस्योभयविधा व्याप्तिरस्ति तदन्वयव्यतिरेकि, यथा धूमेन वह्निज्ञानम् । तत्र हि धूमस्याग्निसम्बन्धो महानसादौ दृश्यते। इति अन्वयदर्शनम्। अग्न्यभावे घूमाभावस्तु महाह्रदादौ दृश्यत इति व्यतिरेकदर्शनम् इति तदन्वयव्यतिरेकित्वम्। यस्य पुनरन्वयव्यतिरेकिनास्ति तत्केवलान्वयि। यथा ज्ञानं ज्ञानान्तरप्रकारयं नस्तुत्वात् घटवद् इत्यादि। अत्र हि ज्ञानप्रकारयत्वाभावे वस्तुत्वाभावो न क्वचिदपि दर्शयितुं शक्यः सर्वेषामपि अर्थानां ज्ञानप्रकराश्यत्वात् । अतः व्यतिरेकिव्याप्तिविरहः। यस्य तु व्यतिरेकव्याप्तिरेवास्ति तत् केवलव्यतिरेकि। यथा सर्वं ज्ञानं स्वप्रकाशं ज्ञानत्वात् । यस्य स्वप्रकाशत्वं नास्ति तस्य ज्ञानत्वमपि नास्ति यथा घटस्य इति। अत्र हि यस्य स्वप्रकाशत्वं तस्यज्ञानत्वमप्यस्तीति क्वचिद् वक्तुमसम्भवात् अन्वयव्याप्तिविरहः। एवमुपपाद्य नारायणः प्राह–

तं च कौमारिलाः प्रायः नेच्यान्ति व्यतिरेकिणम्।
तत्स्थाने चाभिषिञ्चन्ति पञ्चमीं प्रमितिं पुनः।।

इति। अतः कौमारिलप्रस्थे लिङ्गद्वैविध्यमेव केवलव्यतिरेकिणमपहाय स्वीकृतमस्तीति ज्ञेयम्। नारायण पुनः प्राह–

अतएव चिदानन्दः केवलव्यतिरेकिणम्।
नैव साक्षात् निराचक्रे नापि साक्षादुपाददे।।

इति। तथा च सिद्धं यत् प्राचीनमीमांसका, कौमारिलाः केवलव्यतिरेकिणं नाङ्गीचक्रुः परंतु गागाभट्टचिदानन्द–नारायण प्रभृतयः नव्यभाट्टाः केवलव्यतिरेकिणं नव्यनैयायिकवत् अभ्युपजग्मुरिति।

प्राभाकरमतम्– अत्र गुरवः प्राभाकरसिद्धान्ते सुप्रथितेषु वृहती–प्रकरणपञ्चिका–तन्त्ररहस्यप्रभाकरविजयादिषु ग्रन्थेषु न मात्रमपि लिङ्गभेदविचारः दृष्टिपथं गतः। एवं स्थितेऽपि तद् ग्रन्थपरिशीलनेनेदं स्पष्टमवगम्यते यत् तैरन्वयव्यतिरेकि केवलान्वयिरूपं द्विविधं लिङ्गं प्राच्यभाट्टवत् अभ्युपगतमिति। अन्वयव्यतिरेकि केवलान्वयिलिङ्गयोः। स्पष्टमनभिहितेऽपि व्याप्तिप्रस्तावे अन्वयव्यतिरेकविभागस्य दृश्यमानतया उभययापि प्रयोगाणां चावलोक्यमानतया अन्वयव्याप्तिः तथा व्यतिरेकव्याप्तिश्च गुरुणामविरुद्धे इति। निरशङ्कं प्रस्तोतुं प्रभवामो वयम्।

तथा च यस्य लिङ्गस्य अन्वयव्यप्तिः, व्यतिरेकव्याप्तिश्च भवितुमर्हतः तत् अन्वयव्यतिरेकीति, यस्य वा केवलान्वयव्याप्तिरेव भवति तत् केवलान्वयीति वक्तुं शक्यते।

अत्रेदमाकूतम् – "धूमो हि वह्निकार्यतया वह्निसंयोगितया व्याप्तः अग्निस्तु न सर्वदा धूमसम्बन्धीति सम्बन्धव्याप्तो न गमकः। कथमयं विभागः विवेचनीय इति चेत्– अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्" इति ऋजुविमल पञ्चिकायां तेन नाग्नेः धूमसम्बन्धंस्य कालावाच्य अनुप्रवेश्यते। धूमस्य तु कदाचिदपि अग्निसंयोगरहितस्यावगमोनास्ति" इति प्रकरणपञ्चिकायं च शालिकनाथवचनानुसारं धूमरूपस्य हेतोः वह्निसाधनावसरे अन्वयव्यतिरेकित्वम् एतेषां न विरुद्धमिति प्रतीयते। अन्वयव्याप्तेः प्रतिपादनेन केवलतद्व्याप्तिमतः हेतोः केवलान्वयित्वं च कुत्रापि अप्रतिषिद्धमिति तदपि वक्तुं शक्यते। अप्रतिविद्धं परमतमनुमतमिति हि न्यायविदः। अर्थापत्ते; स्वीकृततया न केवलव्यतिरेकिलिङ्गे रूचिरेतेमिति तु स्पष्टम्।

परामर्शप्रकरणम्

महानसादौ वह्निधूमयोः भूयस्सहचारदर्शनादिना धूमे वह्निव्याप्तिं गृहीतवतः कदाचिद् पर्वतसमीपं गत्वाधूमं पश्यतः पुंसः धूमो वह्निव्याप्या इति व्याप्तिस्मृतिर्भवति। वह्नि–व्याप्यधूमनानयमिति व्याप्तिपक्षधर्मतावगाही विशिष्टपरामर्शो भवति। अयमेव तृतीयलिङ्गपरमार्श इत्युच्यते। ततः पर्वतो वह्निमान् इत्यनुमिति र्जायते। तदुक्तं वाचस्पतिमिश्रेण न्यायतात्पर्यटीकायां "संबन्धस्मृतिसहकारिणा इन्द्रियेण स्वसाध्याविनाभूतलिङ्गविज्ञानं यदु पजन्यते तत् परामर्श इत्याख्यायते" इति।

सोऽयं न्यायदर्शनाभितः परामर्शः मीमांसकैः भाट्टैः प्राभाकरैश्च नाङ्गीकृतः। तथाहि–

व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक पक्षधर्मताज्ञानत्वस्य कारणत्वकल्पने अवच्छेदकप्रवेशनिबन्धनं गौरवम्, व्याप्तिज्ञानपक्षधर्मताज्ञानयोः स्वतन्त्रकारणत्वे तु कार्यकारणभावद्यकल्पनागौरवमित्येतादृशं नैयायिककृद् दूषणं न दोषमावहति। यतस्तेषां नैयायिकानां नूतन विशिष्टज्ञानकल्पनावसरे तादृशगौरवमापत्येव। परं तु तत् फलमुखगौरवभूतं न दोषावहमिति, निरूपणं स्वामतश्रद्धा विजृम्भितम्। अपि च धर्मिकल्पनातो वरं धर्मकलपनेति न्यायेन व्याप्तिपक्षधर्म–ज्ञानादिक्लृप्तकारणापेक्षया विशिष्टज्ञानात्मकं नूतनं धर्मिकल्पनम् अन्याय्यमिति प्रतीमो वयम।

व्याप्तिनिरूपणम्

भाट्टतम् – स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिरित्युच्यते। सम्बन्धस्य स्वाभाविकत्वं च निरूपाधिकत्वम्। उपाधिराहित्यं च निरूपाधिकत्वम्। उपाधिस्तु साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्त इति। उपाधिस्तु भूयोदर्शनेन व्यभिचारादर्शनेन च निरस्यत इति च भाट्टानामाकूतम्। तदिदं शास्त्रदीपिकायां मानमेयोदये च विरादमभिहितम्।

"प्राभाकरमतम् अनुमानं ज्ञातसंबन्धस्य एकदेश दर्शनात् एकदेशान्तरे असंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिः" इति शबरस्वामिना प्रोक्तमन्दक्षणम्। तदिदं व्याव्याति बृहतीकारः प्रभाकरगुरुः "व्याप्यं हि दृष्टं व्यापकं गमयति"इति। दृष्टस्य व्याप्यस्य व्यापकावगमसामर्थ्यं यद् वर्तते सैव व्याप्तिरितितदर्थः। तथा च अव्यभिचरितत्वं व्याप्तेः लक्षणमिति पर्यवस्यति। इदमेव मनसि निधाय ऋजुविमलपञ्जिकायां शालिकनाथेन "अव्यभिचारो हि व्याप्तिः। अव्यभिचारश्च सकलदेशकालव्यापित्वम्" इत्युपापादि। स चाव्यभिचारः कथं ज्ञायत इति चेत् "अव्यभिचारस्तु असकृद् दर्शनगम्यः" इति स्पष्टं तत्रैव तेन न्यरूपि। एतदेव प्रकरणपञ्चिकायां शालिकाचार्यः प्रत्यपीपदत्–

> यः कश्चिद् येन यस्येह संबन्धो निरूपाधिकः।
> प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धस्स तस्य गमको मतः।।

इति। अत्र उपाधिशून्यत्वं च अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गृह्यते। "कथमनौपाधिकत्वावगमः? प्रयत्नेनाप्यन्विष्यमाणे औपाधिककत्वानवगमात्। तच्चैतद् भूयोदर्शनायतमिति प्रकरणपञ्चिका–व्ययनमत्रानुसन्धेयमनरयम् अस्माभिः। एवं च सति व्याप्तिग्रहे भूयोदर्शनस्यावरयकत्वं स्पष्टं प्रतीयते भाट्टे प्राभाकरे च। तथापि गुरुमतानुयायी नन्दीश्वरः। व्याप्तिस्तु सकृददर्शतगम्येति। न्यरूरूपत् प्राभाकरविजये। व्याप्तिस्वरूपनिरूपणे भाट्टप्राभाकरयोः तावान् मतभेदो न दृश्यत इत्येव तत्त्वम्।

अवयवनिरूपणम्

अनुमानं स्वार्थपरार्थभेदेन द्विविधमिति प्राक प्रादीदृशाम। स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः। स्वार्थानुमानं नाम न्यायाप्रयोज्यानुमानम्। न्यायप्रयोज्यानुमानं तु परार्थमिति न्यायत्वं च प्रतिज्ञाद्य–

वयवपञ्चकसमुदायत्वम्। अवयवत्वं च प्रतिज्ञाद्यन्यतमत्वम्। तच्च वाक्यं किं त्र्यवयवम् उत पञ्चास्समानो नास्ति। तदिदमत्र भाट्टप्राकरमतभेदेन प्रस्तूयते।

भाट्टमतम्– अव्यवत्रयमेवान्तामिति भाट्टाः। तदुत्यते तच्च वञ्चतमं केचिद् द्वयमन्ये वमं त्रयम्।

उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम्।।

इति पार्थसारथिमिश्रेण शास्त्रदीपिकायाम् औत्पत्तिकसूत्रव्याख्यानावसरे। प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानि अथवा उदाहरणनोपनयनिगमनानि इति त्र्ययवं वाक्यम् अङ्गीक्रियते। भाष्यकारोऽपि शबरस्वामी प्राह– "यत् कर्म तत् फलवत् होमोऽपि कर्म, तेनापि तत् फलवता भवितव्यम्" इति। अतः अस्माभिः त्र्यवयवं वाक्यमन्यूनातिरिक्तं स्वीकार्यम्। यथा– अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यत् कृतकं तदनित्यम्, यथा घटादिः इति प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपं त्र्यवयवं वाक्यम्। अत्र मानमेयोदयकारस्य तस्मात् त्र्यवयवं ब्रूमः पौनरूक्तयासहावयम्। उदाहरणपर्यन्तं यद्वो-दाहरणादिकम्।। इति वचनमत्र ध्येयम्।

प्राभाकरमतम् – अत्र गुरवः– प्राभाकरै, वाक्ये त्रय एवावयवाः स्वीकृताः प्रतिज्ञाहेतु-दाहरणानीति। इमे चावयवाः अनुमानप्रमाणलक्षणवाक्य एव लक्षिताः। तथा चोक्तं शालिकाचार्यैः प्रकरणपञ्चिकायां "तत्र बाधित इति प्रतिज्ञा। ज्ञातसम्बन्धनियमस्येत्यनेन दृष्टान्तवचनम्। एकदेशदर्शनादिति हेत्वाभिधानम्" इति।

अत्रेदं तत्त्वम्–

ज्ञातसम्बन्धनियमस्यैकदेशस्य दर्शनात्।
एकदेशान्तरे बुद्धिरनुमानमबाधिते।।

इति प्रकरणपञ्चिका। अस्यायं भावः तत्र साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा यथा शब्दो नित्यः इति। अनेन चानुमानस्य विषयो निर्दिश्यते। निर्दिष्टे च विषये तस्याबाधित्वमवगन्तुं शक्यते। हेतहेतुमतोः व्याप्यव्यापकभावः परस्य प्रदर्शनीय इति दृष्टान्तवाक्यं प्रयुज्यते। यत्र धर्मिणि सम्बन्धनियमो दृश्यते स दृष्टान्तः यथा महानसादिः। स चेत्यं प्रदर्शयितव्यः– पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञाय यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसादिरिति। सम्बन्धनियमं स्मरतः हेतुदर्शनात् अनुमितिरूत्पद्यत इति हेतुप्रदर्शनाय हेतुवाक्यं प्रयोक्तव्यम्। यथा वह्निमत्वे साध्ये धूमवानयमिति।

प्रभाकरमतानुरोधं हेतुदृष्टान्तयोः पौर्वापर्यनियमः नास्तीति प्रकरणपञ्चिकायां शालिकनाथः दृष्टान्तहेतुवचनयोश्च प्रयोगे क्रमनियमो नादरणीयः इत्यादिग्रन्थेन सुनिपुणमुपापीपदत् हेतूपनययोः अन्यतरप्रयोगेणापि साध्यसिद्धिर्भवतीति एकं फलमुद्दिश्य द्वयोरूपादानं व्यभिमिति मन्वानैः प्राभाकरैः उपनयवाक्यं न प्रायोजि। एवं निगमनमपि पूर्वोक्तहेतु बलादेव सिद्धिमिति "अयं पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारकं निगमनं निष्प्रयोजनम्। तथा च प्राभकरमते उपनयगि-

मनयोरनावश्यकता सूचिता। अत्र भवनाभस्य नयविवेकवाक्यं प्रमाणपदवीं भजते- यथा-

"पञ्चावयवता तार्किकोक्ता न मता। प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तान्तरं धूमवांश्चायं इत्युपनयः, तस्माद् अग्निमान् इति निगमनं-द्वयं व्यर्थम्, धूमवत्वात् इत्युक्तेः धूमावांश्चायमिति पुनरूक्तिः तस्मादयम् अय अग्मिान् इति च पुनरुक्तिः।" इति।

इदमपिध्येयमत्र साधर्म्यदृष्टान्तस्यैव स्वीकारो गुरुमते न वैधर्म्यस्येति। तदुच्यते शालिकाचार्येण प्रकरणपञ्चिकायां "साधर्म्यदृष्टान्तप्रयोगेणैव सम्बन्धावगतेरनर्थकं वैधर्म्यवैधर्म्यदृष्टान्तोपादानमिति" इति।

हेत्वाभासनिरूपणम्

भाट्टमतम्- न्यायमत इव भाट्टमतेऽपि हेत्वाभासपदद्वेधा निरूप्यते। हेतोराभासाः हेत्वाभासा अथवा हेतुवदाभासन्त इति हेत्वाभासा इति। यादृशविशिष्ट विषयत्वेन यथार्थज्ञानस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वं तत्त्वं हेत्वाभासत्वमिति गागाभट्टः भाट्टचिन्तामणौ व्यवृणोत्। "असिद्धिः, अनैकान्तिकत्वं बाधकत्वं चेति त्रयो हेतुदोषाः" इति वदन् शास्त्रदीपिकाकारः पार्थसारथिमिश्रः हेत्वाभासपदं हेतुदोषपरमिति मन्यते। हेतुदोषपरतया दुष्टहेतुपरतया च व्याख्यानं हेत्वाभासपदस्य कृत्वा ते त्रयः असिद्धानैकान्तिक बाधका" इति भाट्टचिन्तोमणिवचनेन गागाभट्टः हेत्वाभासपदस्य दुष्टहेतुपरतायामेव नैर्भर्यं वहतीतिज्ञायते। पुनश्च सः "हेत्वप्रसिद्धिः स्वरूपासिद्धिः" इति कथयन् दोषपरतयापि अवान्तरविभागं निरदिशत्।

मानमेयोदयकारस्तु प्राह- "असिद्धः विरुद्धः अनैकान्तिकः असाधारणश्चेति चत्वारस्तदाभासाः" इति हेत्वाभासचतुष्टयमङ्गीकरोति। अस्य वचनानुसारमयं हेत्वाभासपदं दुष्टहेतुपरतयैव व्याख्यातीति ज्ञायते।

असिद्धः- ते वामेकतमांशस्याप्यभावेस्यादसिद्धता।
हेतोःव्याप्तेश्च पक्षस्य सम्बन्धस्य ग्रहस्य च।।

इति मानमेयोदयश्लोकः।

हेतुस्वरूपस्यैवासिद्धौ स्वरूपासिद्धिः- यथा बुद्धो मोहरहितः सर्वज्ञत्वात् इति। अत्रास्माकं सर्वज्ञत्वं क्वचिदपि दृष्टमितिनाभिमतम्। व्याप्ताभावे व्याप्यत्वासिद्धिः। यथा क्रतुहिंसा अधर्मः हिंसात्वात् इति। अत्र सोपाधिकत्वात् व्याप्त्यभावः। वक्षाभावे त्वाश्रयासिद्धः। यथा गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् इति। हेतोः पक्षसम्बन्धाभावे सम्बन्धासिद्धः। यथा शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात्। विरुद्धः- साध्यविपरीतव्याप्तः साध्यस्वरूप विरुद्धः। यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति। साध्यविशेषस्य विपरीतेन विशेषेण व्यासो विशेषविरुद्धः। यथा क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत् इति। सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। यथा अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् इति। सति सपक्षे पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः। यथा नित्या भूः गन्धवत्वात् इति।

प्राभाकरमतम्– साधारणासाधारणविरुद्धाख्याः त्रयः हेत्वाभासाः प्राभाकरैरिष्यन्ते। हेत्वाभासाः अनुमानलक्षणघटकज्ञातसम्बन्धपदसार्थक्यनिरूपणावसरे बृहत्याख्यायाम् ऋजुविमलपञ्जिकायां शालिकाचार्यैः प्रत्यपादिषत "अत्र च ज्ञातसम्बन्धःशाब्देन असाधारण-साधारण-विरुद्धहेतवः व्यदस्ता इति। तैरेव "हेतोर्दूषणसिद्धत्वं (स्वरूपासिद्धत्म् एकदेशासिद्धत्वं च) असाधारणत्वं साधारणत्वं बाधितविषयत्वं चेति" इति ग्रन्थेन असिद्धसाधारणसाधारणबाधित विषयाः चत्वारो हेत्वाभासा इति व्यरूपिषत प्रकरणपञ्चिकायाम् एवं चोक्तवचनद्वयपरामर्शेन ज्ञायते यत् असिद्धसाधारणासाधारणविरुद्धबाधाः पञ्चहेत्वाभासाः प्राभाकरमतेऽनुमता इति। सत्प्रतिपक्षस्तु नाङ्गीक्रियते प्राभाकरमेत। तथाहि प्रकरणसमत्वं दूषणान्तरं न सम्भवति। प्रबलदुर्बलयो; विरोधे दुर्बलस्य प्रबलापहृत विषयत्वेन दुर्बलमात्मानमेव न लभते। तुल्यबलयोर्विरोध एव नोत्पन्नः। उत्पत्तौ वा वस्तुनो द्विरूपत्वापत्तिः बाधकस्तर्कः। अतः सत्प्रतिपक्षस्य न दूषणान्तरत्वमित्यास्तां तावत्।।

एवं बहवः दुरुहाः गभीराश्च विषयाः
अनुमानप्रमाणरोधिन; पूर्वमीमांसादर्शनेनैकैराचार्यैः
प्रादर्शितेति बिस्तरभयादितोऽत्र विरम्यते।
अनुमापङ्कमग्नोऽयं परिपूतस्तदा भवेत्।
पाठकानां बोधधाराकणपातो भवेद् यदि।।
गुरुभट्टमतोत्सृष्ट मनुमाननिरूपणम्।
धरणीधरविज्ञोयंव्यघात् प्रोषितकाशिकः।।

***

मीमांसा दर्शन में उपमान एवं शब्दप्रमाण

डॉ० सोमनाथ नेने

आचार्य, संस्कृतविभाग, कलासङ्काय,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतीय चिन्तन में वैदिक दर्शनों में मीमांसा प्रथम स्थान पर परिगणित है। मीमांसा दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों ने अपनी प्रमाण–मीमांसा तथा तत्त्व–मीमांसा की परिधि में विवेचनीय सभी विचारों का मूल वेद में खोज कर जहाँ अपनी आस्तिकता प्रमाणित की है, वहीं, मीमांसा दर्शन ने वैदिक वाक्यों के अर्थनिर्णय के लिए किए गए विविध न्यायों तथा सिद्धान्तों के माध्यम से दार्शनिकता के स्वरूप को प्राप्त किया है। महर्षि जैमिनिद्वारा प्रवर्तित मीमांसा दर्शन मे "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते"[१] जैमिनि–सूत्र ०१–०२–०१ इस सिद्धान्तगर्भित सूत्र द्वारा सम्पूर्ण वेद को किसी न किसी यागादि रूप कर्म का प्रतिपादक स्वीकार किया गया है। इसी कारण "वेदा हि यज्ञार्थमनुप्रयुक्ताः" यह लोकोक्ति भी प्रसिद्ध हो गई है। चूँकि कर्मरूप धर्म का प्रतिपादक वेद अपौरुषेय वाक्य के रूप में प्रसिद्ध होने के कारण यह मीमांसाशास्त्र, वाक्यशास्त्र के रूप में भी लोक में प्रसिद्ध है।

भारतीय शास्त्रपरम्परा में इस वाक्यशास्त्र रूपी मीमांसाशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय का निरूपण, उपदेश तथा अतिदेश की विधा द्वारा किया गया है अतः, यह सम्पूर्ण शास्त्र मुख्य रूप से उपदेश तथा अतिदेश रूपी दो प्रमाणों द्वारा प्रकाशित किया गया है। महर्षि जैमिनि द्वारा प्रवर्तित इस मीमांसाशास्त्र के प्रथम छह अध्याय उपदेशात्मक तथा बाद के छह अध्यायों को विद्वानों ने अतिदेशात्मक निरूपित किया है। आचार्य पार्थसारथिमिश्र कहते हैं कि उपदेशविचारे समाप्ते अधुना तदधीतसिद्धिरतिदेशविचारः प्रस्तोष्यत इति।[२] पार्थसारथिमिश्र के इस कथन का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य सोमनाथ का कथन है कि (पूर्व मीमांसाशास्त्र के) पूर्वषट्क में उपदेश का विचार समाप्त कर उत्तरषट्क से अतिदेश का विचार किया गया है। शास्त्र में इन दोनों विधाओं का प्रतिपादन, दोनों के मध्य विद्यमान कार्यकारणभाव की सङ्गति के माध्यम से किया गया है–'पूर्वषट्के उपदेशविचारं समाप्य इदानीमुत्तरषट्के अतिदेशविचारो हेतुहेतुमद्भावसङ्गत्या प्रस्तोष्यत' इत्यर्थः।[३]

इन दोनों प्रमाणों में 'इदमित्थं कुर्यात्' इस प्रकार स्पष्ट रूप से किए गए प्रतिपादन को उपदेश कहा जाता है। व्याकरणशास्त्र में ऐसे प्रथम प्रतिपादन को उपदेश कहा गया है। उपदेश आद्योच्चारणम्[4] यह स्पष्ट है कि अतिदेश, उपदेश पर अवलम्बित है। इसीलिए सोमनाथ इनमें कार्यकारणभाव का प्रतिपादन करते हैं। आचार्य पार्थसारथिमिश्र के द्वारा प्रथम छह अध्यायों को उपदेशात्मक तथा बाद के छह अध्यायों को अतिदेशात्मक रूप से किए गए प्रतिपादन को प्रायिक माना जाता है। इसलिए पूर्वषट्क में उपदेश के साथ अतिदेश तथा उत्तरषट्क में अतिदेश के साथ उपदेश के अस्तित्व की भी सङ्गति मान ली जाती है।

इन दोनों उपदेश तथा अतिदेश रूप प्रमाणों में प्रथम उपदेश रूप प्रमाण मीमांसाशास्त्र में शब्द प्रमाण के रूप में माना गया है। इसी प्रकार अतिदेश, सादृश्य पर अवलम्बित होने से मीमांसाशास्त्र में इसकी प्रस्तुति, उपमान प्रमाण के द्वारी की जाती है। यद्यपि शीर्षक में पहले उपमान का प्रयोग किया गया है तथापि उपमान स्पष्ट रूप से शब्द पर अवलम्बित होने के कारण प्रतिपादन की प्रक्रिया में उपमान पर विचार के पूर्व, मीमांसा में सर्वाधिक प्रबल प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित, शब्द प्रमाण पर ही प्रथम विचार करने में अधिक औचित्य विद्यमान है।

शब्द प्रमाण तथा उसकी उपादेयता

'धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनाम्'[5] इस वार्तिकांश द्वारा यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित कर दिया गया है कि धर्म ही मीमांसा का एक मात्र मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। यह धर्म वैदिक वाक्यों के अर्थ भूत यागादि कर्मों के रूप में सभी मीमांसकों ने एकमत से स्वीकार किया है। यागात्मक धर्म का अवबोध, वैदिक वाक्यों के अर्थनिष्पत्ति पर अवलम्बित होने के कारण यह वैदिक वाक्यार्थावबोध वेदाधीन होने के कारण मीमांसा में एकमात्र वेद को ही मुख्य रूप से प्रमाण माना गया है। यह वेद, १. विधि, २. अर्थवाद, ३. मन्त्र, ४. नामधेय तथा ५. निषेध के भेद से पाँच प्रकार का माना गया है।

महर्षि जैमिनि ने 'अथातो धर्मजिज्ञासा'[6] इस प्रथम सूत्र द्वारा धर्मावबोधविषयकजिज्ञासा उपस्थित कर 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'[7] इस द्वितीय सूत्र के द्वारा धर्मावबोधक मुख्य प्रमाण के रूप में विधि को प्रस्तुत कर विधि के माध्यम से अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय, स्मृति तथा शिष्टाचार को भी धर्मावबोधक प्रमाणो के रूप में स्थापित किया है। यद्यपि सूत्र में विद्यमान 'चोदना' शब्द, साक्षाद्रूप से विधि का ही अवबोधक है तथापि वेदार्थरूप धर्म के अवबोधार्थ वेदाध्ययन हेतु प्रवृत्त 'स्वाध्यायोध्येतव्यः'[8] यह विधिवाक्य, केवल विधि के नहीं अपितु पञ्चविधात्मक सम्पूर्ण वेद के अध्ययन का प्रतिपादक होने के कारण महर्षि जैमिनि ने विधि के साथ विधि के माध्यम से अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय, स्मृति तथा शिष्टाचार को भी धर्मावबोधक प्रमाणों के रूप में स्थापित किया है।

शब्द प्रमाण के अनिवार्य तत्त्व तथा मीमांसा की शाब्दबोधप्रक्रिया

शब्द प्रमाण के रूप में स्वीकृत वेद वाक्यों में विध्यादि प्रमाणों के माध्यम से धर्म का अवबोध, 'दशपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः'[९] जैसे वैदिक वाक्यों के शब्दबोध पर अवलम्बित है। इन वाक्यों का शाब्दबोध, यजेत इस पद (शब्द) में विद्यमान यज् धातु तथा 'त' इस प्रत्यय में विद्यमान आख्यातार्थ तथा लिङर्थ के ज्ञान के बिना असम्भव है अतः, धर्मावबोधक इन वैदिक वाक्यों द्वारा धर्मावबोध होने की प्रक्रिया में इन तीनों के ज्ञान को व्यवस्थित किया गया है। इसी प्रकार जिन वैदिक वाक्यों के शाब्दबोध से यागादि कर्मात्मक धर्म का अवबोध होना है उस वेद रूप शब्द के सर्वथा सन्देहराहित्य, तथा नित्यता के अवबोध हेतु शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता, वेदाऽपौरुषेयत्व तथा स्वतःप्रामाण्यवाद रूप अर्थों के ज्ञान की भी नितान्त आवश्यकता होने से इनके ज्ञान को भी शब्दबोध की प्रक्रिया में समन्वित किया गया है। इस प्रकार धर्म के रूप में अभिमत यागादि कर्मों के अवबोध हेतु शाब्दबोध की प्रक्रिया में मुख्य रूप से १. धात्वर्थ, २. आख्यातार्थ तथा ३. आख्यातार्थ तथा ४. लिङर्थ का व्यवस्थापन किया गया है तथा शाब्दबोध की प्रक्रिया में सहकारी तत्त्वों के रूप में शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता, वेदाऽपौरुषेयत्व तथा स्वतःप्रामाण्यवाद रूप अर्थों के ज्ञान की भी मीमांसा में समन्विति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

१. धात्वर्थ की शाब्दबोध में समन्विति-

उक्त दशपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः अग्निहोत्र जुहुयात्[१०] आदि वैदिक वाक्यों के शाब्दबोध की प्रक्रिया में यज तथा "हू" धातु के अर्थज्ञान की भी नितान्त अपेक्षा रहने से सर्वप्रथम धात्वर्थ को जानना आवश्यक है। इस धात्वर्थ पर विचार करते हुए वैयाकरणों का कहना है कि भूवादि धातुओं के उत्पत्ति आदि फल तथा इन फलों के जनक व्यापार ये दोनों धातु के अर्थ धात्वर्थ हैं। फल तथा फलजनक व्यापार, दोनों धात्वर्थ होने से यजेत में यज् धातु का याग के साथ यागजनक व्यापार को भी धात्वर्थ माना जा सकता है :- अत्र वैयाकरणाः भूवादि-धातूनामुत्पत्यादिरूपं फलं तदनुकूलो व्यापारश्च वाच्यः।[११] वैयाकरणों के इस मत के विपरीत मीमांसक मण्डन मिश्र धातुओं के फल को ही धात्वर्थ मानते हैं। इस विषय में इनका कहना है कि पच्, गम् , त्यज, पत् , आदि धातुओं के क्रमशःविक्लित्ति(पाक), उत्तरदेशसंयोग, पूर्वदेशविभाग तथा अधोदेशसंयोग रूप फल ही अर्थ हैं। इन फलों के जनक व्यापार को ये प्रत्यय का अर्थ निरूपित करते हैं। इनकी दृष्टि से यज् धातु का याग-निष्पत्ति ही अर्थ है :- अत्र मण्डन :- फलमेव धात्वर्थः। पचिगमित्य-जिपतत्यादीनां विक्लित्त्युत्तरदेशसंयोगपूर्वदेशसंयोगपूर्वदेशविभागाधोदेश संयोगादय एवार्थाः। अनुकूलव्यपारस्तु प्रत्ययार्थः।[१२]

३ लिङर्थ = शाब्दी भावना की शाब्दबोध में समन्विति

मीमांसा दर्शन का प्रधान प्रतिपाद्य विषय धर्म है। यजेत, इस पद में विद्यमान 'त'

प्रत्यय के लिङ् अंश से धात्वर्थ याग के कर्तव्यतारूप धर्म का अवबोध होता है। 'त' प्रत्यय के इस लिङ् अंश से होने वाली धर्मानुष्ठानविषयक प्रवृत्ति की उत्पादिका इस प्रवर्त्तना रूपी अंश को शाब्दी भावना कहते हैं। यह शाब्दी भावना 'त' प्रत्यय के लिङ् अंश का वाच्यार्थ होने के कारण इसे विध्यर्थ अर्थात् विधि का अर्थ भी कहते हैं। साक्षात् रूप से धर्म के बोधक यजेत, आदि वेद के भाग को विधि कहा गया है। जिस प्रकार लिङलकार से विधि का प्रतिपादन माना गया है उसी प्रकार लेट्, लोट्, तव्य, अनीयर, आदि प्रत्ययो से भी इस विधि का प्रतिपादन माना गया है। मीमांसा दर्शन में इस विधि के या शाब्दी भावना के १ प्रवर्त्तना तथा २ इष्टसाधनत्वेन प्रवर्तना, ये दो अर्थ माने गए हैं।

१. प्रवर्त्तना रूप शाब्दी भावना का प्रतिपादन

भट्ट सोमश्वर तथा श्री गागाभट्ट के अनुसार प्रवर्तना सामान्य, यजेत, इस पद में विद्यमान 'त' प्रत्यय के लिङ् अंश से अभिहित शाब्दी भावना का अर्थ है। लिङर्थक प्रत्यय का श्रवण होने पर प्रवर्तना सामान्य का ही बोध होता है। शब्दनिष्ठप्रर्त्तना, अर्थात् प्रवृत्ति की उत्पादिका प्रेरणारूप अभिधा ही शाब्दी भावना रूप विध्यर्थ है। उच्यते–पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारविशेषः[१३] इष्टसाधनत्वेन प्रवर्तना।

शाब्दी भावना का प्रतिपादन

आचार्य पार्थसारथि मिश्र के अनुसार यद्यपि प्रवर्तना सामान्य विध्यर्थ है तथापि, विधि शब्द के वाच्यभूत प्रवर्त्तना सामान्य के किसी प्रवर्त्तना विशेष में बिना पर्यवसान के प्रेरणा से प्रवृत्ति की निष्पत्ति नहीं होगी अतः वह प्रेरणा विशेष क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर इष्टसाधनताज्ञान या समीहितसाधनता की ही उपस्थिति होने से समीहितसाधनता ही प्रवर्त्तना के रूप में विध्यर्थ है। यह समीहितसाधनता ही प्रवर्त्तना के रूप में लिङ्प्रत्यय द्वारा अभिहित होती है अतः शाब्दी भावना कही जाती है :– **अन्ये तु सत्यं प्रवर्त्तनासामान्यं विध्यर्थः ... अतश्चावश्यकत्वात् समीहितसाधनतै प्रवर्त्तनात्वेन रूपेण विध्यर्थः।**[१४]

वाक्यार्थ एवं शब्दबोधप्रक्रिया

आकाङ्क्षादि से समन्वित पदों के संसर्ग मात्र से वाक्यार्थनिष्पत्तित मानने वाले नैयायिकों के विपरीत वाक्यार्थनिष्पत्ति के सन्दर्भ में प्रभाकर मीमांसकों का अन्विताभिधानवाद तथा भाट्ट मीमांसकों का अभिहितान्वयवाद, ये दो सिद्धान्त मीमांसाशास्त्र में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

अन्विताभिधानवाद

गुरु प्रभाकर के अन्विताभिधानवाद के अनुसार वाक्यस्थ पद, स्वतन्त्र रूप से अपने अर्थ का अभिधान नहीं करते, अपितु **"दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकाम"**[१] इत्यादि वैदिक स्थलों में यागात्मक कर्मजन्य अपूर्व में अन्वित होकर दर्शपूर्णमास याग द्वारा अपूर्व सम्पादित करे, ऐसे अपूर्वान्वित स्वार्थ के प्रतिपादक होने से अपूर्व रूपी कार्य में अपने

समन्वय का प्रकाशन करते हैं। लौकिक स्थलों में वाक्यों से किसी अपूर्व की निष्पत्ति असम्भव होने से लौकिक वाक्यों में विद्यमान पद (शब्द) क्रिया में समन्वित होकर अन्विताभिधानता को प्रकट करते हैं। 'पशुना यजेत' इस वाक्य में पशु तथा यागक्रिया का पृथक अवबोध नहीं होता, अपितु यागक्रियाजन्य अपूर्व में समन्वित पशु का ही अवबोध माना जाता है। इस प्रकार प्रभाकर मत में कार्य (अपूर्व या क्रिया) से समन्वित रूप से ही वाक्य में वाक्यार्थावबोधिका शक्ति मानी गई है :–

प्राभाकरास्तु कार्यान्विते पदानां शक्तिः।
अन्वितेष्वेव सामर्थ्यं पदानां तेन गम्यते।।[१५]

अभिहितान्वयवाद

प्रभाकरमत के विपरीत भाट्टमत में सर्वप्रथम पदों के अभिहित मुख्यार्थ का बोध माना गया है। पदार्थ का ज्ञान हो जाने के बाद पदों के कर्मत्व, करणत्वादि के रूप में विद्यमान पदार्थों के परस्पर संसर्ग (अन्वय) रूप वाक्यार्थ की लक्षणावृत्ति के माध्यम से प्रतीति स्वीकार की गई है। वाक्यार्थवबोध की प्रक्रिया में पदों में विद्यमान शक्ति की ही तरह वाक्यार्थबोधजनक वाक्यनिष्ठ तात्पर्यवृत्ति का भी उल्लेख किया गया है। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के द्वितीयोल्लास में 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्'[१६] इस वाक्य का प्रयोग किया है। काव्यप्रकाश की टीकाओं में सर्वत्र केषुचित् का अर्थ अभिहितान्वयवादी भाट्ट सम्प्रदाय किया गया है। मीमांसा के भाट्ट सम्प्रदाय में सर्वप्रथम पदों के अभिहित मुख्यार्थ का बोध माना जाता है। इसके पश्चात् पदार्थों के परस्पर संसर्ग (अन्वय) रूप वाक्यार्थ की लक्षणा-वृत्ति के द्वारा प्रतीति मानी गई है :– ''तस्मात्पदाभिहितैः पदार्थैर्लक्षणया वाक्यार्थः प्रतिपाद्यते।''[१७]

कुमारिल भट्ट के प्रसिद्ध अनुयायियों ने वाक्यार्थावबोध की वृत्ति के रूप में लक्षणा-वृत्ति का प्रतिपादन किया है। इनके अनुसार आवश्यक प्रकरण, सहोच्चारणरूप समभिव्याहार, आदि के द्वारा शाब्दबोध उत्पन्न हो जाने से शाब्दबोध की कारणता इनमें ही मानना समीचीन है। प्रत्येक वाक्य के अलग-अलग शाब्दबोध में अलग-अलग तात्पर्यज्ञान अपेक्षित होने से तात्पर्यज्ञान की शाब्दबोध में कारणता मानने में अत्यधिक कल्पना-गौरव का दोष समुपस्थित हो जाता है, अतः तात्पर्यवृत्ति स्वीकार नहीं की जा सकती :–

''सर्वशाब्दे तत्त्च्छाब्दत्वावच्छिन्ने तत्तत्तात्पर्यज्ञानानामन्तकार्यकारणभावापेक्षया लघुत्वादित्याहुः।[१८]

इस प्रकार इस दृष्टि से भाट्टमत में तात्पर्यवृत्ति यद्यपि असङ्गत हो जाती है तथापि धर्मराजाध्वरीन्द्र का कहना है कि एकदेशी मीमांसकों की दृष्टि से वैदिक वाक्यों में भी तात्पर्यनिश्चय, पूर्वोत्तरमीमांसारूप पूजित विचारसिद्ध निर्दुष्ट न्यायों के माध्यम से माना जा सकता है :– 'तच्च तात्पर्य वेदे मीमांसापरिशोधितन्यायादेवावधार्यते।'[१९]

इस प्रकार वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र, एक देशी मीमांसकों की दृष्टि से तात्पर्यवृत्ति की सङ्गति भी प्रदर्शित कर देते हैं। इस सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि तात्पर्यवृत्ति, यथाकथञ्चित मीमांसा में भले ही सङ्गत हो भी जाए परन्तु भाट्टमत के प्रसिद्ध मीमांसकों को मान्य नहीं है। इनके मत में वाक्यार्थावबोध लक्षणावृत्ति द्वारा माना गया है।

मण्डनमिश्राभिमत विध्यर्थ

लिङ्लकार से अभिधाशक्ति द्वारा अभिव्यक्त लिङर्थ या विध्यर्थ के सम्बन्ध में आचार्य मण्डन मिश्र का कहना है कि नैयायिकों द्वारा अभिमत इष्टसाधनत्व, कृतिसाध्यत्व तथा बलवदनिष्टाननुबन्धित्व, इन तीन विध्यर्थों में कृतिसाध्यता-ज्ञान की लोकव्यवहार द्वारा प्राप्ति हो जाने से तथा अनन्यलभ्य ही शब्दार्थ के रूप में मान्य होने के कारण इस कृतिसाध्यता-ज्ञान को लिङर्थ नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञान की अनिष्ट के अभाव के ज्ञान की उत्पत्ति में कारणता होने के कारण प्रवृत्ति के प्रति यह अन्यथासिद्ध हो जाता है अतः इसे भी प्रवृत्ति के कारण के रूप में अभिमत विध्यर्थ, नहीं माना जा सकता। इस प्रकार, उक्त तीनों में से केवल इष्टसाधनत्वज्ञान ही मण्डन मिश्र के मत में विध्यर्थ या लिङर्थ के रूप में अभिमत है :-

'मण्डनस्तु यागादौ कृतिसाध्यताज्ञानस्य लोकत एव सिद्धेरनन्यलभ्यत्वान्न तत्र लिङः शक्तिः, बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानं च द्वेषाभाववजननेनान्यथासिद्धत्वान्न प्रवृत्तौ हेतुः।'[20]

मण्डन मिश्र भी भाट्टमतावलम्बी मीमांसक होने के कारण अन्य भाट्टमतावलम्बी मीमांसकों के समान प्रवर्तना को विध्यर्थ स्वीकार करते हैं, तथापि अन्य भाट्टमतावलम्बी मीमांसकों ने जहाँ प्रवर्तनात्व रूप से प्रवर्तना को विध्यर्थ माना है, वहाँ ये प्रवर्तनात्व रूप से इष्टसाधनताज्ञान को विध्यर्थ मानते हैं :- **'प्रवर्तनात्वं च प्रवृत्तिजनकज्ञानविषयतावावच्छेदकम्। तच्चेष्टसाधनत्वमेव। इति तदेव लिङर्थः।'**[21]

प्रभाकराभिमत विध्यर्थ

गुरु, प्रभाकर, कार्यताज्ञान को विध्यर्थ मानते हैं। गुरु प्रभाकर-सम्मत यह कार्यताज्ञान भी मया इदं कर्तुं शक्यते तथा मया इदमवश्यमेव करणीयम्, इस प्रतीति के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से प्रथम ज्ञान, कृतिसाध्यतामात्र का बोधक होने से प्रवृत्ति में कारणभूत विध्यर्थ नहीं माना गया है। द्वितीय ज्ञान चूँकि इष्टसाधनत्वज्ञान तथा बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञान से उत्पन्न होता है अतः यह द्वितीय प्रकार का कार्यताज्ञान ही गुरुमत में विध्यर्थ माना गया है। गुरु प्रभाकर के मत में यागजन्य अपूर्व ही कार्य माना गया है। गामानय इत्यादि लौकिक वाक्यों में जहाँ लिङर्थक प्रत्यय रहने पर भी अपूर्व रूप कार्य असम्भव होने के कारण ऐसे स्थलों में लक्षणा द्वारा आनयादि क्रियाओं को अगत्या कार्य मान लिया जाता है :-

'तथाहि कार्यताज्ञानं द्विविधं, मयेद् कर्तुं शक्यतइत्येवं रूपमेकं, मयेदमवश्यं

कार्यमित्येवं रूपं द्वितीयम् । तत्राद्यं पदार्थनिष्ठयोग्यतागम्यमिति न प्रवृत्तिहेतुः। द्वितीयं तु स्वेष्टसाधनत्वबलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानजन्यमिति चिकीर्षा-द्वारा प्रवृत्तिं प्रति हेतुः। '[२२]

भाट्टमतानुरूप विध्यर्थ शाब्दीभावना-निरूपण

सिद्धान्ती भाट्ट मीमांसक प्रवृत्ति की उत्पादिका अभिधा व्यापाररूपिणी शब्दनिष्ठा प्रेरणात्मिका शाब्दीभावना को लिङर्थ या विध्यर्थ निरूपित करते है :–

"अभिधैव शब्दनिष्ठा प्रवर्तनारूपः विध्यर्थः।"[२३]

आख्यातार्थ प्रवृत्तिरूपा आर्थीभावना, इस शब्दभावना का कार्य या साध्य होने के कारण इसके साथ साध्यत्व रूप से समन्वित होती है। इसी कारण लिङेतर वाक्यों के मात्र प्रवृत्ति रूप आख्यातार्थ, आर्थीभावना का ही बोध होता है– जैसे "देवदत्तः गामानयति" यहाँ पर प्रत्यय 'ति' में केवल आख्यातार्थ कृति, यत्न या प्रवृत्ति ही विद्यमान है, इसलिए इस वाक्य का "देवदत्तकर्तृका गोनिष्ठकर्मतानिरूपिका आनयनानुकूला कृत्यपरपर्याया आर्थी भावना", इस प्रकार का प्रवृत्तिरूपा आर्थी भावना मात्र को प्राकाशित करने वाला शाब्दबोध अभिव्यक्त होता है। इसके विपरीत कर्तव्यता के प्रतिपादक वैदिक वाक्यों में लिङ्प्रत्यय रहने के कारण आख्यातार्थ के साथ लिङर्थ भी विद्यमान रहता है, इसलिए "दर्शपूणमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः।" इस जैसे वाक्य का "यजमानकर्तृका स्वर्गसाध्यिका दर्शपूर्णमासयागकरणिका आर्थीभावनानुकूला शाब्दीभावनात्मिका प्रवर्तना" ऐसा प्रवृत्त्युत्पादक प्रवर्तनाविशेष्यक शाब्दबोध निष्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार भाट्टमत में वैदिक वाक्यों में विद्यमान प्रवर्तना या शाब्दी भावना (कर्मानुष्ठान की कर्त्तव्यता) का अवबोध कराना ही मीमांसाशास्त्रप्रतिपादित शब्दप्रमाण का एक मात्र लक्ष्य है।

प्रकारता तथा विशेष्यता

भारतीय चिन्तन में वाक्यार्थावबोध की प्रक्रिया से वैयाकरण, न्याय तथा मीमांसाशास्त्र का साक्षात् सम्बन्ध है। शास्त्र के इन तीनों प्रस्थानों में यद्यपि आकाङ्क्षा, योग्यता तथा आसत्ति से युक्त पदों के समुदाय को वाक्य मानने में सहमति है, तथापि, जिस प्रकार पदों से वाक्यार्थ की निष्पत्ति की प्रक्रिया में इनके विचार परस्पर भिन्न हैं उसी प्रकार, वाक्यों में प्रकारता तथा विशेष्यता के विषय में भी इनमें सहमति नहीं हैं। मीमांसा दर्शन में भी गुरुमत तथा भाट्टमत, ये दो सम्प्रदाय होने से वाक्य की प्रकारता तथा विशेष्यता के सन्दर्भ में चार मत विचारार्थ प्राप्त हुए हैं।

व्याकरणमत में धात्वर्थ की मुख्यविशेष्यता

वैयाकरणों की शाब्दबोध की प्रक्रिया में धात्वर्थ को मुख्य विशेष्य के रूप में स्थापित किया गया है। वैयाकरणों ने फल एवं व्यापार को धात्वर्थ के रूप में स्थापित

किया है :–

फलव्यपारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृतः।
फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम्।।[२४]

फल औ व्यापार में धातु की शक्ति है। आश्रय कर्ता एवं कर्म का वाचक तिङ् है। फल के प्रति व्यापार प्रधान है। तिङ् –कर्ता एवं कर्म क्रमशः व्यापार एवं फल के विशेषण हैं। धात्वर्थ मुख्य विशेष्य होने के कारण शाब्दबोध में अन्य सभी पदार्थों का प्रकारतया अर्थात् विशेषण रूप से धात्वर्थ में अन्वय निष्पन्न होता है। वैयाकरणों ने 'तिपादि' आख्यात प्रत्ययों की शक्ति कर्ता में प्रतिपादित की है। आख्यातार्थ कर्ता का प्रथमान्त पदोपस्थाप्य के साथ अभेदान्वय हो जाने पर धात्वर्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध ही इन्हें मान्य है। देवदत्तः तण्डुलान् ओदनं पचति, इस वाक्य में पच् धातु का अर्थ (फल रूप) पाक, मुख्य विशेष्य है। इसमें तण्डुल (चावल) का करणता सम्बन्ध से, ओदन का कर्मता सम्बन्ध से तथा देवदत्त का कर्तृतता सम्बन्ध से अन्वय निष्पन्न होने के कारण ये तीनों ही पदार्थ, विशेष्य धात्वर्थ, पाक के विशेषण बन जाते हैं। इन तीनों की विशेंषणता से विभूषित धात्वर्थ की विशेष्यता को अभिव्यक्त करने के लिए 'देवदत्तकर्तुकः तण्डुलकरणकः ओदनकर्मकः पाकः' यह शाब्दबोध निष्पन्न हो जाता है।

न्यायमत में प्रथमान्त पदार्थ की मुख्यविशेष्यता

नैयायिकों के मत में शाब्दबोध की प्रक्रिया में प्रथमान्त पद के अर्थ कर्ता तथा कर्म ही मुख्य विशेष्य के रूप में स्थापित किए गए हैं। नैयायिक आख्यात का अर्थ कृतिरूप यत्न मानते हैं तथा इस कृति को आश्रयत्व सम्बन्ध से प्रथमान्त मुख्य विशेष्य का प्रकार (विशेषण) प्रतिपादित करते हैं। धात्वर्थ पाक की, कृति में अनुकूलता सम्बन्ध से प्रकारता प्रतिपादित की जाती है। प्रथमान्त पदोपस्थाप्य कर्ता होने की दशा में 'देवदत्तः तण्डुलं पचति' इस कर्तृवाच्य का 'तण्डुलनिष्ठविक्लित्तिजनकयत्नवान् देवदत्तः' यह शाब्दबोध तथा प्रथमान्त कर्म होने पर अर्थात् कर्मवाच्य में 'देवदत्तेन तण्डुलः पच्यते' इस वाक्य का 'तण्डुलनिष्ठविक्लित्तिजनकयत्नवान् देवदत्तः' यह शब्दबोध तथा प्रथमान्त कर्म होने पर 'देवदत्तनिष्ठकृतिजन्यव्यापारजन्यफलशाली तण्डुलः' ऐसा शाब्दबोध निष्पन्न हो जाता है।

मीमांसा के प्राभाकर सम्प्रदाय में शाब्दबोध

मीमांसा के प्राभाकर सम्प्रदाय में शाब्दबोध में मुख्य विशेष्यता कार्य की मानी गई है। गुरु प्रभाकर के अनुसार कार्यताज्ञान भी 'मया इदं कर्तुं शक्यते' तथा 'मया इदम् अवश्यमेव करणीयम् ' इस भेद से दो प्रकार का है। इनमें प्रथम ज्ञान कृतिसाध्यता मात्र का बोधक होने के कारण इसे प्रवर्तक कार्यताज्ञान नहीं माना जाता, परन्तु 'मया इदमवश्यमेव करणीयम् ' इस द्वितीय ज्ञान को, जो इष्टसाधनताज्ञान तथा बलवद् अनिष्ट के अननुबन्धित्वज्ञान

से उत्पन्न है, इसे प्रवृत्ति में कारणभूत प्रवर्तक कार्यताज्ञान अर्थात् प्रवृत्ति का उत्पादक माना जाता है। यही लिङ् आदि विधि-प्रत्यय का वाच्य अर्थ माना गया है। इसे ही नियोग तथा अपूर्व, इन नामों द्वारा भी अभिव्यक्त किया जाता है। शाब्दबोध में यही मुख्य विशेष्य है। 'यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्य में मुख्य विशेष्य कार्य में स्वर्गकाम (स्वर्गकामनावाला नियोज्य) नियोज्यत्वरूप सम्बन्ध से तथा धात्वर्थ याग का विषयत्व-सम्बन्ध से अन्वय निष्पन्न हो जाने के कारण 'स्वर्गकामनियोज्यकं यागविषयकं कार्यम्' यह कार्यमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध अभिव्यक्त हे जाता है :-

'तथाहि कार्यताज्ञानं द्विविधं, मयेदं कर्तुं शक्यत इत्येवं रूपमेकं, मयेदमवश्यं कार्यमित्येवं रूपं द्वितीयम् । तत्राद्यं पदार्थनिष्ठयोग्यातगम्यमिति न प्रवत्तिहेतुः। द्वितीयं तु स्वेष्टसाधनत्वबलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानजन्यमिति चिकीर्षा-द्वारा प्रवृत्तिं प्रति हेतुः।[२२]

भाट्टमत में भावना की मुख्य विशेषता

भाट्ट सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य कुमारिल भट्ट, वाक्य में प्रवृत्ति के कारणस्वरूप प्रवर्तना रूप व्यापार या धर्म को 'भावना' कहते हैं- 'अभिधा भावनामाहुरन्यामेव लिङादयः२५ जिस के द्वारा अभिधान किया जाए उसे अभिधा=विधि कहते हैं। इस विधि का व्यापार भावना=शाब्दी भावना है। यह शाब्दी भावना लिङ् आदि शब्द का वाच्य अर्थ है। जब वाक्य, लिङ् या लिङर्थक लेट्, लोट्, तव्य तथा अनीयर प्रत्ययों से भिन्न अन्य लकारों से युक्त होता है, तब प्रत्यय-वाच्य भावना आर्थी भावना कही जाती है। जब वाक्य लिङ् या लिङर्थक लकारों या प्रत्ययों से युक्त होता है तब प्रत्यय से आर्थी भावना के साथ शाब्दी भी अभिव्यक्त होती है। सभी वाक्यों में भावना को ही भाट्टभिमत वाक्यार्थावबोध में मुख्य विशेष्य माना जाता है। अन्य सभी पदार्थों का उसमें प्रकार या विशेषण रूप से अन्वय हो जाता है। यथा 'देवदत्तो घटमानयति' इस आख्यातार्थ आर्थी भावना या प्रवृत्ति-मुख्य-विशेष्यक वाक्य का देवदत्तकर्तृका घटनिष्ठकर्मतानिरूपिका आनयनानुकूला प्रवृत्तिरूपा भावना, यह शाब्दबोध सम्पन्न हो जाता है। इस में देवदत्त का भावना में कर्तृता-सम्बन्ध से तथा घट का कर्मता सम्बन्ध से प्रकारतया आर्थी भावना में समन्वय हो जाता है। यह भी ज्ञातव्य है कि भाट्टमत में धात्वर्थ करण होता है क्रिया शब्द से उसका व्यवहार औपचारिक रूप से ही हुआ करता है। वैयाकरण धात्वर्थ को क्रिया ही मानते हैं। यही मीमांसा से इनका भेद है।

वाक्य जब लिङ् या लिङर्थक प्रत्यय-घटित होता है तब वाक्य में आर्थी भावना के साथ प्रवर्त्तना या शाब्दी भावना का भी बोध हुआ करता है। शाब्दी भावना, प्रवर्त्तना या प्रेरणारूप होती है। चूँकि इसी से आर्थी भावना रूपी प्रवृत्ति निष्पन्न होती है, अतः लिङर्थक वाक्यों में यह शाब्दी भावना ही मुख्य विशेष्य होती है। आर्थी भावना रूप प्रवृत्ति भी उसमें जन्यत्व रूप से विशेषण के रूप में समन्वित हो जाती है, फलतः 'देवदत्त घटमानय' इस

लिङ्र्थक वाक्य का 'देवदत्तकर्तृका घटनिष्ठकर्मतानिरूपिका आनयनानुकूलप्रवृत्त्यनुकूला शाब्दी भावना' यह शाब्दी भावना-मुख्यविशेष्यक शाब्दबोध सम्पन्न हो जाता है।

मीमांसा शास्त्र का सम्पूर्ण लक्ष्य वेदार्थ की सङ्गति प्रतिपादित करना है। महर्षि जैमिनि ने 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतर्थानाम् तस्मादनित्यमुच्यते।' इस सूत्र से कर्म को ही सम्पूर्ण वेदार्थ के रूप में स्थापित किया है। इस वेदार्थ रूपी कर्म में अनुष्ठान की प्रवृत्ति, बिना प्रवर्तना या प्रेरणा के नहीं हो सकती है, इसीलिए भाट्ट सम्प्रदाय में जहाँ कर्मप्रवृत्ति की सङ्गति के लिए शाब्दीभावनामुख्यविशेष्यक शाब्दबोध प्रतिपादित किया गया है, वहीं 'मयेदमवश्यं करमीयम्' इस कर्तव्यभावना से कर्मनुष्ठान में प्रवृत्ति की सङ्गति के लिए प्रभाकर सम्प्रदाय में कार्यता, नियोग या अपूर्वमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध का प्रतिपादन किया गया है।

दोनों ही शाब्दबोधों के मूल में कर्मनिष्पत्ति की ही भावना निहित है। इसी दृष्टिकोण से 'कर्मेति मीमांसकाः' यह उक्ति भी चरितार्थ हुई है।

मीमांसा की अध्याययोजना एवं प्रमाण-मीमांसा

शब्द रूप वेद द्वारा धर्मात्मक कर्मरूप विषय के अवबोध हेतु महर्षि जैमिनि ने इस शास्त्र को द्वादश अध्यायों में विभक्त कर 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्र से लेकर 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' इस सूत्र तक धर्म का ही विचार किया है। इनमें प्रथम अध्याय में महर्षि जैमिनि ने १. विधि, २. अर्थवाद, ३. मन्त्र, ४. नामधेय, ५. स्मृति तथा ६. शिष्टाचार, इन छह धर्मावबोधक प्रमाणों का प्रतिपादन किया है। द्वितीय अध्याय में अवबोधित धर्मात्मक कर्म के भेद के अवबोधक १. शब्दान्तर, २. अभ्यास, ३. संख्या, ४. संज्ञा, ५. गुण तथा ६. प्रकरणान्तर, इन छह प्रमाणों की उपस्थापना की है। तृतीय अध्याय में अङ्गावीभाव के बोधक १. श्रुति, २. लिङ्ग, ३. वाक्य, ४. प्रकरण, ५. स्थान तथा ६ समाख्या, इन छह अङ्गाङ्गीभावबोधक प्रमाणों का प्रतिपादन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में प्रयोज्यप्रयोजकभाव का विचार कर पद्यमाध्याय में १. श्रुति, २. अर्थ, ३. पाठ, ४. स्थान, ५. मुख्य तथा ६ प्रवृत्ति, छह क्रमावबोधक प्रमाणों का प्रतिपादन किया गया है। सप्तम अध्याय में सामान्यातिदेश तथा अष्टम अध्याय में विशेषातिदेश का प्रतिपादन किया गया है। नवम अध्याय में ऊह का दशम में बाध का एकादश में तन्त्र का तथा द्वादश अध्याय में प्रसङ्ग का निरूपण किया गया है। इस पूरी प्रक्रिया में सभी प्रमाण, शब्द-प्रमाण के रूप में ही अवस्थित प्रमाण माने गए है। इनमें धर्मावबोधक प्रमाण छह ०६, धर्मभेदावबोधक प्रमाण ०६, अङ्गाङ्गीभाव के बोधक प्रमाण ०६, क्रमावबोधक प्रमाण ०६ माने गए हैं। इनके साथ लौकिक प्रमाणों का संयोजन करने पर प्रमाणों की संख्या तीस ३० हो जाती है।

उपमान प्रमाण तथा उसकी आतिदेशिक उपादेयता

मीमांसाशास्त्र में जहाँ वैदिक वाक्यार्थ के रूप में निष्पन्न यागादि कर्मो के अनुष्ठान रूपी

धर्म के अवबोध में उपदेश रूप शब्द को एक मात्र साक्षात्प्रमाण के रूप में स्थापित किया गया। वहीं पर वेद द्वारा ज्ञात कर्म के समान कर्म की कर्तव्यता के ज्ञान के लिए अनिवार्य अतिदेश के हेतु के रूप में उपमान प्रमाण की अनिवार्यता भी मानी गई है।

ग्रन्थकार आपदेव ने मीमांसा के कर्मसङ्गति में सहायक अतिदेश के आधारभूत उपमान प्रमाण के शास्त्रीय स्वरूप को अभिव्यक्त करने के पूर्व उपमान प्रमाण तथा उससे निष्पन्न उपमिति के लौकिक स्वरूप को तथा उससे निष्पादित होने वाले अतिदेश के स्वरूप को स्पष्ट किया है। इनके अनुसार कोई नागरिक किसी जंगली जीवन से परिचित व्यक्ति के मुख से 'गोसदृशो गवयः' – गवय (नीलगाय) गाय के समान होती है, इस लौकिक अतिदेश वाक्य को सुनकर जब अरण्य जा कर गवय को देखता है तब उसे उस गवय में अपनी गौ के सादृश्य का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसे ही शास्त्रीय भाषा में 'गोनिरूपितसादृष्यविष्टिपिण्डदर्शन' कहते हैं। उपमान को प्रमाण मानने वाले न्याय तथा मीमांसा, इन दोनों दर्शनों में उपमान प्रमाण का यही स्वरूप माना गया है। इस उपमान प्रमाण का फल उपमिति प्रमा मानी जाती है।

मीमांसा दर्शन वेदप्रतिपादित यागादि रूप धर्म में यजमान की प्रवृत्ति के निमित्त प्रवृत्त हुआ है इसलिए संज्ञा–संज्ञि के सम्बन्ध के ज्ञान के रूप में नैयायिकसम्मत उपमिति की कर्मानुष्ठान में कोई उपादेयता न होने से सादृश्यविशिष्ट पिण्डदर्शन रूप उपमान के फल उपमिति के रूप में अनेन सदृशी मदीया गौ, इस ज्ञान को माना गया है। उपमिति का यह स्वरूप मान लेने पर कर्तव्य के रूप में कोई याग प्राप्त होने पर उसके सादृश्य के आधार पर उसके प्रकृतियाग का स्मरण किया जाता है तथा फिर यागभावना में विद्यमान १. साध्य, २. साधन तथा ३. इतिकर्तव्यता रूप तीनों अंशों में से साध्य स्वर्ग, तथा उसके साधन याग, दोनों प्राप्त होने के कारण अप्राप्त अङ्गों की प्राप्ति, इस अतिदेश द्वारा हो जाती है।

मीमांसा शास्त्र में वेदार्थ के रूप में अभिमत यागरूप धर्म को प्रकृति तथा विकृति रूप से दो भागों में विभक्त किया गया है। इनमें प्रकृति याग कैसे किए जाएँ? इस प्रश्न के उत्तर में याग के समस्त अङ्ग तथा उनके अनुष्ठान की प्रक्रिया का प्रकृतियागों में पूर्ण प्रतिपादन किया जाता है। विकृतियागों में अङ्ग तथा उनके अनुष्ठान की प्रक्रिया का प्रतिपादन करके अपने प्रकृति यागों के समाम ही विकृतियागों में अङ्गानुष्ठान किया जाए "प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या" ऐसा मीमांसा शास्त्र में नियम बना दिया गया है। उपमान प्रमाण द्वारा सादृशयावबोध होने पर याग की प्रकृति का निश्चय करके उसमें किए जाने वाले अङ्गों के अनुष्ठान के नियामक वाक्य को अतिदेश वाक्य कहते हैं। "सौर्य चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः"[२६] इस वाक्य द्वारा प्राप्त सौर्य याग में सूर्य रूप एक देवता तथा चरु रूप औषध द्रव्य को देख कर इन दोनों की समानता से ऐसी ही दोनों समानता वाले "यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां च पौर्णमास्यां चाऽच्युतो भवति"[२७] इस वैदिक वाक्य से प्राप्त आग्नेय याग रूप

प्रकृतियाग का स्मरण हो जाता है। फिर जैसा इस प्रकृति याग में 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' इस वाक्य से इस मन्त्र द्वारा चरु के निर्वाप की कर्तव्यता का भी अवबोध हो जाता है। "न चात्र तेषामुपस्थापकाभावः उपमितिलक्षणप्रमाणेन तेषामुपस्थितित्वात्। सौर्यवाक्ये हि दृष्टे औषधद्रव्यकत्वेन एकदैवत्यकत्वेन च सादृश्येन आग्नेय-वाक्यमुपमीयते। गवयदर्शनाद् गोरुपमानवत् । तस्मिश्चोपमिते तेन तदर्थो ज्ञायते। सा त्र्यंशा भावना। तत्र सौर्यवाक्ये भावनायाः भाव्यकरणयोः सत्त्वात् इति-कर्तव्यताकाङ्क्षायामुपकारपृष्ठभावेनाग्नेयेति- कर्तव्यताऽतिदिश्यते-सौर्ययागेन ब्रह्मवर्चसं भावयेद् आग्नेयवदुपकृत्येति।"[२८]

उपमान-प्रमाण-गम्य अतिदेश से विकृति यागों में अङ्गों की समन्विति।

सदृश्य रूप उपमिति के आधार पर अन्यत्र कहे गए अङ्गो का उसके समान स्थानों पर विनियोग करने वाले शास्त्र को मीमांसा में अतिदेश कहा गया है :–

प्राकृतात् कर्मणो यस्मात्तत्समानेषु कर्मसु धर्मप्रदेशो येन स्यात्सोऽतिदेशः।[२९]

इस अतिदेश को १. वचनातिदेश, २. नामातिदेश, ३. चोजनालिङ्गतिदेशः, ४. स्थानापत्यादिदेश तथा ५. आश्रयतो धमातिदेश, भेद से पाँच प्रकार का माना गया है। महर्षि जैमिनि ने मीमांसासूत्रग्रन्थ के प्रथम अध्याय से छठें अध्याय तक १. धर्म, धर्मभेद, ३. धर्मभूत याग तथा याग के अङ्गों में विद्यमान अङ्गाङ्गिभाव के प्रतिपादक प्रमाण, ४. याग के प्रयोज्य तथा प्रयोजकभाव, ५. क्रमबोधक प्रमाण, तथा ६. यागाधिकार रूप अर्थ का उपदेश की विधा द्वारा प्रतिपादन किया है।

इन पूर्ववर्ती अध्यायों में निरूपित तत्त्वों के आधार पर प्रकृतियाग के अनुसार विकृतियाग में अङ्गों के सम्प्रेषण को अतिदेश कहा गया है। ज्योतिष्टोम को सभी सोम यागों का, प्रकृति याग माना जाता है।

जैमिनि ने अपने मीमांसासूत्रग्रन्थ के ७ सातवें अध्याय में अङ्गों के सामान्य रूप से सम्प्रेषण का प्रतिपादन करने के बाद ८ आठवें अध्याय में इन अङ्गों के विशेष रूप से अतिदेश अर्थात् सम्प्रेषण का प्रतिपादन किया है। इसके बाद के नवें अध्याय से लेकर १२वें अध्याय तक ९ ऊह, १०. बाध, ११. तन्त्र तथा १२. प्रसङ्ग रूप अर्थों का यथास्थान उपदेश तथा अतिदेश की विधा द्वारा प्रतिपादन किया गया है।

शास्त्रान्तरों में अतिदेश की समन्विति

मीमांसाशास्त्र द्वारा निरूपति अतिदेश का लगभग सभी शास्त्रों तथा प्रस्थानों में सञ्चार स्पष्ट रूपसे प्रकाशित होता है। उदाहरणार्थ धर्मशास्त्र, साहित्य तथा न्यायालयीय निर्णयों में इस अतिदेश की सङ्गति का स्पष्ट रूप से अवलोकन किया जा सकता है।

धर्मशास्त्रीय निर्णयों में अतिदेश

मीमांसा के अनुरूप धर्मशास्त्र में भी एकादशी– व्रत को समास्त व्रतों का, पावर्ण श्राद्ध

को सभी श्राद्धों का, तुलादान को समस्त दानों का, नित्य स्नान को सभी स्नानों का तथा नित्य पूजा को सभी पूजाओं का प्रकृतिभूत कर्म माना गया है। इसी प्रकार यज्ञकार्य में घृत उपलब्ध न होने पर उसके स्थान पर तेल को जब उसका प्रतिनिधि मानकर स्वीकार कर लिया जाता है तब उसे भी आज्य (घृत) मान लिया जाता है– आज्यस्थाने नियुक्तानामज्यशब्दो विधीयते।[३१] इसके बाद उसमें आज्यधर्मों का अतिदेश माना जाता है।

कमलाकर भट्ट ने निर्णयसिन्धु ग्रन्थ में बिमारी, वृद्धावस्थादि के कारण दुर्बल व्यक्तियों में भी उपवास के साधर्म्य से पूरादिन निराहार रहकर उपवासव्रत करने वाले की समानता स्वीकार कर, उनके करने योग्य कर्मों की कर्तव्यता प्रतिपादित की है :–

उपवासासामर्थ्ये तु मार्कण्डेयकौर्मयोः।
एकभुक्तेन यो मर्त्यः उपावसव्रतं चरेत् ।।[३२] (नि. सि. पृ.३२)

यहाँ पर एकमुक्तादि में उपवास शब्द से सम्पूर्ण निराहारी के धर्मों का अतिदेश किया गया है, ऐसा मदनरत्न में निरूपित है।

फाल्गुनकृष्णचतुर्दशी को महाशिवरात्री मनाई जाती है। इसी प्रकार प्रतिमसास कृष्णचतुर्दशी को मासिक शिवरात्री होती है। महाशिवरात्रि प्रकृति है तथा मासिक शिवरात्री, विकृति अतः इसमें भी 'प्रकृति के समान विकृति करे' इस अतिदेश से महाशिवरात्री के समान व्रतानुष्ठान की प्राप्ति मानी जाती है।

भारतीय आस्था के प्रतीक, चारों धामों में पुरी धाम में अपने अग्रज श्रीबलराम तथा अनुजा सुभद्रा के साथ विराजमान भगवान् जगन्नाथ सारे संसार का पालन एवं संरक्षण का कार्य करते हैं ऐसी मान्यता है। यह भी धार्मिक मान्यता है कि वर्ष में भगवान् जगन्नाथ एक पक्ष तक अस्वस्थ रहते हैं। इस समय 'जगन्नाथ' का कार्यभार मुख्य मन्दिर से थोड़ी दूर पर स्थित भगवान् अलावनाथ के पास रहता है इसलिए, जगन्नाथ जी से सम्बद्ध सभी अधिकार, कर्तव्य तथा दर्शनादि समस्त कार्य की भगवान् अलावनाथ के साथ अतिदेश से प्राप्ति हो जाती है।

४. रघुवंश तथा विक्रमोर्वशीयम् में मीमांसा के अतिदेश की समन्विति

साहित्य में कनिष्ठिकाप्रतिष्ठित कविकुलगुरु द्वारा विरचित रघुवंशमहाकाव्य के प्रथम सर्ग के ८० संख्यावाले श्लोक में कामधेनु प्रचेता के दीर्घसत्र की दुग्ध रूप हवि की निष्पत्ति हेतु भुजङ्गों द्वारा आवृत्त द्वार वाले पाताल में होने से उसके स्थान पर उसकी पुत्री नन्दिनी को उसका प्रतिनिधि मानकर उसकी सेवा का राजा दिलीप को महर्षि वसिष्ठ द्वारा निर्देश दिया गया है :–

हविषे दीघसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः।
भुजङ्गपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति।।[३३]

सुतां तदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः।
आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघा हि सा।।[३३]

इस निर्देश के माध्यम से मीमांसा में अभिमत प्रतिनिधि द्रव्य के सिद्धान्त के आधार पर स्वीकृत द्रव्य में मूलद्रव्य के साथ किए जाने वाले व्यवहार के अतिदेश की समन्विति प्रदर्शित की गई है। मीमांसाशास्त्र के षष्ठाध्याय के तृतीय पाद के १३वें अधिकरण में 'सोमाभावे पूतीकानां प्रतिनिधित्वाधिकरणम्' संज्ञकाधिकरण में सोमयाग में सोम न मिलने पर सोमसदृश पूतिका लता का सोम के प्रतिनिधि के रूप में ग्रहण किया जाता है उसी प्रकार, कामधेनु उपलब्ध न होने के कारण उसी के सदृश कामदुघा–कामनाओं की पूर्ति के सामर्थ्य से सम्पन्न नन्दिनी को कामधेनु के प्रतिनिधि के रूप में प्रतिपादित करते हुए महाकवि ने मीमांसाशास्त्र के प्रतिनिधिविधान का इस सन्दर्भ में स्पष्टतापूर्वक प्रतिपादन किया है।

इसी प्रकार, विक्रमोर्वषीयम् के प्रथमाङ्क में राजा पुरूरवा द्वारा राक्षस केशी से उर्वशी की मुक्ति होने पर उर्वशी द्वारा क्या मैं प्रभावदर्शी महेन्द्र द्वारा मुक्त कराई गई हूँ ऐसा पूछने पर चित्रलेखा कहती है कि महेन्द्र द्वारा मुक्त नहीं कराई गई हो अपितु महेन्द्र के सदृश पराक्रम वाले राजर्षि पुरूरवा से– 'ण महिंदेण। महंदसरिसाणुभावमण राएसिणा पुरूरवसेण।'[३४] यहाँ पर राजा पुरूरवा के पराक्रम का महेन्द्र के पराक्रम में सादृश्य के प्रतिपादन से उर्वशी के महेन्द्र के प्रति विद्यमान प्रणय का अतिदेश से पुरूरवा के साथ संयोजन में महाकवि ने मीमांसा के **प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या** इस न्याय की यहाँ पर समन्विति प्रदर्शित की है।

५. इसी सादृश्य के अनुसार, कार्यालयीय व्यवहार में, कोई अधिकारी अवकाश पर चले जाने पर उसके स्थान पर कार्यवाहक अधिकारी के पास जब तक पदभार रहता है तब तक उसके साथ अधिकारी के सारे अधिकार एवं कर्तव्य अतिदेश से प्राप्त हो जाते हैं।

६. न्यायालीय निर्णयों में अतिदेश का अवदान

मीमांसा के अतिदेश सिद्धान्त के आलोक में न्यायालयों द्वारा निम्न निर्णय प्रदान किए गए हैं :–

१. मद्रास हाईकोर्ट के फुल बेन्च के सामने का एक केस है। इसका सन्दर्भ I. L. R. 41 Mad, 44.dsl यह है कि बिना विवाह किए साथ में रहने वाली रखैल के अवैध पुत्र को कोर्ट ने उपमान प्रमाण के अतिदेश के आधार पर पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्रदान कर दिया। न्यायाधीश कुमारस्वामी शास्त्री का यह निर्णय है कि "मनु तथा याज्ञवल्क्य द्वारा (वैध) सन्तानरहित व्यक्ति के सम्पत्ति के अधिकार के सन्दर्भ में दिए गए निर्णय की समानता के आधार पर यह माना गया है कि मनु तथा याज्ञवल्क्य के निर्णय में पिता का अर्थ वैध पिता न होकर पिता मात्र है। सपिण्ड समबन्ध के आधार पर इसलिए दासीपुत्र को उत्तराधिकार दिया गया है।

जातोऽपि दास्यां शूद्रेण कामतोंऽशहरो भवेत्।
मृते पितरि कुर्युस्तं भ्रातरस्त्वधर्मभागिनम्।।
अभ्रातृको हरेत्सर्वं दुहितॄणां सुतादृते।।[३५]

सपिण्डता के इसी सादृश्य के आधार पर जैमिनि के मीमांसाशास्त्र के सातवें तथा आठवें अध्यायों में प्रतिपादित 'अतिदेश' के आधार पर यहाँ पर भी रखैल के पुत्र को अधिकार देता हूँ। पूर्ण पीठ के अन्य न्यायाधीशों ने भी इस निर्णय में अपनी सहमति प्रदान की है। न्यायाधीश कुमारस्वामी शास्त्री अपने निर्णय में लिखते हैं कि "Even assuming that the order of succession to a sonless hindu given by Manu and Yajnavalkya and propounded by Vijinaneswara in Chaptre II, Section I Placitum 2 would not in terms apply owing to the word efhelee being confined to the legitimate father and to the want of Sapinda relationship between a sudra and a dasiputra. I see nothing to prevent succession to the illegitimate son being traced by analogy to the rule laid down in verses 135 and 136 of Yajnavalkya as explained in Chapter II, Section I plactum 2 of the Mitakshara cspeciallyas the Hindu law recognises heritable blood between the Sudra and his dasiputra and Manu States that father of every one of the classes of ons enumerated by him succeeds to the property of his heirless son. the principles of अतिदेश where by principles laid down with reference to one case are applied to other analogous case were recognized by Jaimini in his Mimamsa books VII and VIII of Jaimini Mimamsa. I would for the fore-going reasons answer the question referred to in the affirmative.36

२. सन्दर्भ I. L. R. Madras 519, न्यायमूर्ति श्री बेन्सन तथा २. भाष्यन् अय्यङ्गर हैं। प्रकरण यह है कि दो शूद्र भाई हैं। इनमें १ A है तथा दूसरा B है। इनमें B' शूद्र भाई मर गया है। इसका कोई वैध पुत्र नहीं है परन्तु अवैध पुत्र है। साथ ही भाई का वैध पुत्र है तथा उसका भी वैध पुत्र है। उत्तराधिकार पर विचार करते हुए न्यायालय ने १A के वैध पुत्र के वैधपुत्र को उत्तराधिकार प्रदान किया है।

न्यायालय का यह निर्णय याज्ञवल्क्यस्मृति तथा मिताक्षरा के उत्तराधिकार के नियम के सादृश्य के आधार पर अतिदिष्ट हुआ है। याज्ञवल्क्य के अनुसार १. औरस पुत्र, २. पुत्री का पुत्र- नाती, एकमत्र पुत्री जो पुत्र के ही समान है। २. पत्नी में देवर द्वारा उत्पन्न क्षेत्रज, ४. घर में निम्न जाति द्वारा उत्पन्न गूढज पुत्र, ५. कुँवारी कन्या से उत्पन्न कानीन-मातामह-नाना का पुत्र होता है। ६. सवर्णा क्षता या अक्षता पुनर्विवाहिता का पुत्र पौनर्भव पुत्र है। ७. माता तथा पिता द्वारा प्रदत्त पुत्र दत्तक पुत्र कहलाता है। ८. उनके द्वारा या उनमें से किसी एक के द्वारा धन ले कर बेचा गया पुत्र, क्रीत पुत्र कहा जाता है। ९. स्वयं बनाया गया पुत्र कृत्रिम

पुत्र है। १०. अनाथ द्वारा स्वयं को पुत्र रूप में अर्पित करने वाला दत्तात्मा पुत्र होता है।११ विवाह के समय जो पत्नी के गर्भ में रहा हो वह सहोढज कहा जाता है।१२ मातापिता द्वारा परित्यक्त होने पर जिसे पुत्र के रूप में अपनाया जाता है, उसे अपविद्ध पुत्र कहते हैं।

औरसो धर्मपत्नीजस्तत्समः पुत्रिकासुतः।
क्षेत्रजः क्षेत्रजास्तु सगोत्रेणैतरेण वा।। व्यवहा. १२८
गृहे प्रच्छन्न उत्पन्नो गूढजस्तु सुतः स्मृतः।
कानीनः कन्यकाजातो मातामहसुतो मतः।। व्यवहा. १२९
अक्षतायां क्षतायां वा जातः पौनर्भवः सुतः।
दद्यान्माता पिता वा यं स पुत्रो दत्तको भवेत्।। व्यवहा. १३०
क्रीतष्व ताभ्यां विक्रीतः कृत्रिमः स्यात्स्वयंकृतः।
दत्तात्मा तु स्वयं दत्तो गर्भे विन्नः सहोढजः।। व्यवहा. १३१
उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु सोऽपविद्धो भवेत्सुतः।।

इन सजातीय पुत्रों में पहले के अभाव में बादवालों को पिता के पिण्ड तथा सम्पत्ति में अधिकारी माना गया है।

पिण्डदोंऽशहरश्चैषां पूर्वाभावे परः परः। याज्ञवल्क्य के अनुसार पूर्वोक्त बारह पुत्रों में कोई भी न होने पर पुत्रहीन व्यक्ति के १ पत्नी, २. पुत्रियों, ३. मातापिता, ४. भाई, ५. भाइयों के पुत्र, ६ गोत्र में उत्पन्न व्यक्ति, ७ बन्धु, ८ शिष्य तथा ९ ब्रह्मचारी में पहले पहले के न होनो पर बाद बाद के उत्तराधिकारी माने गए हैं :-

पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रतरस्तथा।
तत्सुता गोत्रजा बन्धुशिष्यसब्रह्मचारिणः।। व्यवहा.१३५

यहाँ पर इस केस में कोई साक्षात् नियम उपलब्ध नहीं है अतः मान्य सिद्धान्त के आधार पर उसकी समानता से अतिदेशानुसार अवैध पुत्र की अपेक्षा श्लोक के 'तत्सुता' के अनुसार भाई के वैध पुत्र के पक्ष में उत्तराधिकार का निर्णय किया गया है।

There is no direct authority either in Hindu law texts or in judicial decisions aplicable to the case. The question therefore has to be answered with reference to established principles and the analogies which have heretofoer prevailed inlike cases."

Benson and Bhashyan Ayyangar-JJ37

३. केस सन्दर्भ, I. L. R. 51 Bomb. 784, Fawcett तथा Parkar ये जज हैं। वाद यह है कि वैश्या की सम्पत्ति पर उसके बहन का उत्तराधिकार है या उस पर राज्य का? यहाँ पर भी मीमांसा के अतिदेश के सिद्धान्त के आधार पर सपिण्डता के आधार पर बहन का उत्तराधिकार मान लिया गया है। वैधपुत्ररहित तथा सम्बन्धियों से रहित शुद्र के मरने पर

उसके अवैध पुत्र को सपिण्डता के आधार पर उत्तराधिकार दिया गया था उसी प्रकार वैश्या तथा उसकी बहन में सपिण्डता की समानता से उत्तराधिकार का अतिदेश हो गया है।

इस विवेचन से यह तत्थ्य स्पष्ट हो जाता है कि न्याय तथा मीमांसा, इन दोनों दर्शनों में न्याय दर्शन के उपमानप्रमाण को संज्ञा तथा संज्ञि के ज्ञानार्थ अवान्तर व्यापार के रूप में अदिदेश की अपेक्षा होती है तथा संज्ञि के ज्ञान के अतिरिक्त न्यायदर्शनसम्मत उपमान तथा उपमिति का अन्य कोई अवदान नहीं बन पाता परन्तु मीमांसाशास्त्रभिमत उपमान प्रमाणजन्य उपमिति से होनेवाले अतिदेश का कर्मानुष्ठान के साथ धार्मिक आचार तथा न्यायलयीय निर्णयों में भी महत्वपूर्ण अवदान है।

सन्दर्भ :-

१. आमनायस्य क्रियार्थत्वात् — जैमिनि-सूत्र ०१-०२-०१

२. उपदेशविचारे — द्रष्टव्य मीमांसादर्शन का विवेचनात्मक इतिहास, पृ.६९ चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९९२

३. पूर्वषट्के उपदेशविचारं — द्रष्टव्य मीमांसादर्शन का विवेचनात्मक इतिहास, पृ. ६९

४. उपदेश आद्योच्चारणम — सिद्धान्तकौमुदी-सूत्रवृत्ति, पृ. ३ सिद्धान्तकौमुदी, चौ. सं. प्रतिष्ठान,दिल्ली, १९८५

५. धर्माख्यं विषयं — श्लोकवार्त्तिकम् पृ. ०३ कामेश्वरसिंहदरभङ्गासंस्कृत-विश्वविद्यालय, दरभंङ्गा १९७९

६. अथातो० — जैमिनिसूत्र ०१,०१,०१

७. चोदना० — जैमिनिसूत्र ०१,०१,०२

८. स्वाध्यायोध्येतव्यः — शतपथब्राह्मणम् १५/०५/०/०२

९. दशपूर्णमासाभ्यां — शतपथब्राह्मण ०१,०४,०६

१०. अगिनहोत्रं जुहुयात् — तैत्तिरीयबाह्मण ०१,०२/०१

११. अत्र वैयाकरणाः — भाट्टचिन्तामणि, तर्कपाद, पृ. ७६, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९३३

१२. अत्र मण्डनः फलमेव धात्वर्थः — भाट्टचिन्तामणि, तर्कपाद, पृ. ७६

१३. उच्यते-पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो — मीमांसान्यायप्रकाश, न्यायबोधिनी, पृ. ४४४, चौखम्बाविद्याभवन, वाराणसी, २००३

१४. अन्ये तु सत्यं — वही? पृ. ४४९

१५. प्राभाकरास्तु — प्रकरणपञ्चिका, पृ. ३८८, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी-०५

१६. तात्पर्यार्थोऽपि	काव्यप्रकाश, पृ.१७, रहस्यबोधिनी, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, १९६६
१७. तस्मात्पदाभिहितैः	शास्त्रदीपिका, पृ. १५४ कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, १९८८
१८. सर्वशाब्दे	भाट्टचिन्तामणि, पृ. ५२ पंक्ति २७ से २९
१९. तच्च तात्पर्यम्	वेदान्तपरिभाषा, २५६, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७७
२०. मण्डनस्तु यागादौ	भाट्टचिन्तामणि, पृ. ८८
२१. प्रवर्तनात्वं च	वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमंजूषा पृ. २५६
२२. तथाहि कार्यताज्ञानं	भाट्टचिन्तामणि, पृ. ६३
२३. अभिधैव शब्दनिष्ठा	भाट्टचिन्तामणि, पृ. ६८
२४. फलव्यपारयोर्धातुराश्रये	वैयाकरण भूषणसार, धात्वर्थप्रकरण, कारिका १३, पृ.१४४
२५. अभिधा भावनामाहुरन्यामेव	तन्त्रवार्तिक ०२.०१.०१, पुनीर प्रेस, गफार मार्केट, दिल्ली -०५
२६. सौर्य चरुं	तैत्तिरीयसंहिता, ०२/०३/०२/०३
२७. यदाग्नेयो	तैत्तिरीयसंहिता ०२/०६/०३/०३
२८. न चात्र तेषामुपस्थापकाभावः	मीमांसान्यायप्रकाश की न्यायबोधिनीव्याख्या, पृ.१४७, चौखम्बा
२९. प्राकृतात् कर्मणो	शाबरभाष्य में उद्धृत, मीमांसाबालप्रकाश, पृ.११७, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सन्२००८ विद्याभवन, वाराणसी, १ प्रथम संस्करण, २००३ ई.
३०. उपवासासामर्थ्ये	गोभिल गृह्य० नारायण० २२१
३२. हविषे दीघसत्रस्य	रघुवंशमहाकाव्य, सर्ग प्रथम, श्लोकसंख्या ८०
३३. सुतां तदीयां सुरभेः	रघुवंशमहाकाव्य, सर्ग प्रथम श्लोकसंख्या ८१
३४. ण महिंदेण।	विक्रमोर्वशीयम् , पृ. २२, कृष्णदासअकादमी, वाराणसी, १९८४

३६. See Mimamsa jurisprudence, By A. S. Nataraja Ayyar, p. 78, Ganganath jha Research Institute, Allahabad. 1952.

३७. There is	See Mimamsa jurisprudence, p. 79.

***

मीमांसानयेऽर्थापत्तिप्रमाणम्

प्रो.भगवत्शरणशुक्लः
व्याकरणविभागः
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायः, का.हि.वि.वि.,वाराणसी।

विविधस्वरूपात्म के अस्मिन् जगति जागतिको जनो व्यवहारायैव सर्वविषयें यथावश्यकं यतते। तत्र वस्तु विषय ज्ञानाय यत् किमपि विशिष्टं कारणं मनुते तेनैव वस्तुस्वरूपं निश्चिनोति। तज्जागतिकं सर्वमपि ज्ञानविषयकं वस्तु प्रमेयं भवति। तत्ज्ञानं च प्रमेत्युच्यते। प्रभा नाम अनुभवत्वव्याप्यजाव्यवच्छिन्नात्वं, तद्विशे कमत्वावच्छि-तत्प्रकाणताशाल्यनुभवो वा। तादृशप्रभावृत्तिकर्मतानिरूपितकारणताशालित्वे सति व्यापारवत्त्वं प्रमाणत्वमिति नैयायिक प्रभृतया वसन्ति।[१] मीमासकाश्च अदुष्टकरणजन्म-मनुपलब्धावधितार्थविषयकं ज्ञानं प्रभा तत् करणं प्रमाणमिति वदन्ति। तथा च कुमारिल भट्टपादाः-

> औत्पत्तिकगिरा दोषः कारणस्य निवार्यते।
> अबाधो व्यतिरेकेण स्वतस्तेन प्रमाणता स्मृतिरन्यथा।।[२]

सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रमाणं मीमांसकमते तावत् प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्ति रूपाख्यानि पञ्च प्रमाणानि भवन्ति।[३] तत्रार्थापत्रिप्रमाणविषये विचारमत्र कुर्महे।[४] प्रकरणपञ्चिकायां तावदर्थापत्तिप्रमाणस्य लक्षणं, भेदाः प्रयोजनमिति सर्वे पक्षाः विवेचिताः सन्ति-

---

१. तत्त्वप्रमाशिवा, पृ.१४

२. श्लोका वा. औत्य. श्लोक सं.१०/११

३. तत्र पञ्चविधं मानं प्रत्यक्षमनुमा तथा।
शास्त्रं तथोपमानार्थापत्ती इति गुरोर्मतम्।। प्रकरण पञ्चिका पृ.१०४

४. अमृतकला प्रथमश्लोक सं.१६-२३, पृ.१०६

विना कल्पनयाऽर्थेना दृष्टेनाऽनुपपन्नताम्।
नयता दृष्टमर्थं या सार्थापत्तिस्तु कल्पना।।
अभावेन गृहे भावो बहिष्कल्पनया विना।
नयताऽनुपपन्नतं कल्प्यमानो बहिर्यथा।।
गम्यानुपपन्नत्वमिह कल्पनया विना।
मानान्तर विरोधेर सन्देहापत्ति क्षयम्।।
देशेन हि विनाभावो न कदाचन दृश्यते।
विनाभावेन सिद्धोऽपि तेन सन्देहमृच्छति।।
तत्संदेहव्युदासाय कल्पना या प्रवर्त्तते।
सन्देहापादवादर्थादर्थापत्तिरसौ स्मृता।।
यत्कल्पनां विना योऽर्थः प्रतीतोऽप्येति संशयम्।
तेन तत्कल्पनामेके त्वर्थापत्तिं प्रचक्षते।।
गमकस्यानुमाने तु विपक्षासत्त्वलक्षणम्।
गम्यतेऽनुपपन्नत्वं विना गम्येन वस्तुना।।
तत्सामग्रीविभेदेन भिन्ने एते परस्परणम्।
अर्थापत्त्यनुमानाख्ये प्रमाये इति निश्चितम्।।

अर्थस्य आपत्तिः =कल्पना यस्मात् तदर्थापत्तिः प्रमाणम्। अर्थस्य आपत्तिः कल्पना इति अर्थापत्तिः अर्थापत्रिशब्दे बहुव्रीहिसमासे यति सः प्रमाणपरः। तत्रैव षष्ठीतत्पुरुष समासे सति स फलपरः। उपपाद्यज्ञाने उप पादन कल्पना अर्थापत्ति र्भवति। अपि च दृष्टेनार्थेनादृष्टस्यार्थस्यार्थान्तर कल्पना यामसत्यामनुपपत्तिमाणादयता यार्थान्तरकल्पना सार्थापत्तिः कथ्यते। यथा जीवितो देवदत्तो गृहे नास्ति इत्यत्र अत्र दृष्टार्थः गृहवृत्त्यनुयोगि–तानिरूपितजीवित्तदेवदत्तप्रतियोगिताकाभावः तेन अदृष्टस्यार्थस्य बहिर्भावस्य कल्पना क्रियते। ननु गृहानु योगिकजीवितदेवदत्तप्रतियोगिताकाभावदर्शनेन बीहर्भावस्य नार्थपत्त्या ज्ञान मपितु तत्रानुभानमेव। यतोहि एकाकी कश्चन न हये लावच्छेदेक स्थलद्वये अवितुमर्हति। अतः यत्र यत्र गृहानुयोगिक जीवितदेवदत्त–प्रतियोगिकाभावः तत्र तत्र बहिराध्य त्रानुयोगिकजीवितदेवदत्तप्रतियोगिकाभावाभावः इति साहचर्यस्यदर्शनात् यतो हि गृह देशानुयोगिक जीवित देवदत्तप्रति योगिका भावः अतोऽन्त्रासुयोगिकजीवि तदेव दत्तप्रतियोगिकआवाभाः अर्थात् बहिर्देशास्रुयोगिक जीवितदेवदत्तप्रतियोगिकीसत्तायाः अस्तु मानं भवति। तथैवत्रादभावे सति अन्यत्र

सत्तात्वं अन्यदेश संयोगेन नियतैकार्थमसवाय सम्बन्धमेकदेशस्थितित्वञ्च जीवितें देवदत्तस्येत्यनुमानसामग्री सम्भावते अत्रापरोऽप्यनुमानाकारः जीवित देवदत्तः (पक्ष) बहिर्देश संयोगवान् गृहाभावेसति विद्यमानत्वार। यो यो गृहा भावे सति विद्यमानः स स बहिर्देशसंयोगवान्, यथा अहम् इति। इत्थं सर्वज्ञानुमानेन अर्थापत्ति फलस्य ज्ञानात् अर्थापत्ति प्रमाणं न स्वीकरणीयमिति चेजोच्यते यतो गृहाभावे सति विद्यमानन्वमिति हेतुन तावत् सम्भवति स्वयं संदेहास्पदीभूतत्वात्। गृहाधिकरणिकैव देवदत्तविषयिणी सत्ता येन ज्ञाता, तस्य बर्हिदेथसम्बन्धेऽप्रत्याकलिते गृहाभावदर्शनेन देवदत्तविषयिणी सत्ता अन्यप्रमाणेन ज्ञातापि सन्दिग्धा, गृहे देवदत्तोऽविद्यमानः कथं विद्यमान इति। ज्ञातेऽपि पदार्थे पूर्वप्रतीतरूपाद् रूपान्तरावगमः संशय मापादयितुं समर्थमेव। देवदत्तस्य विद्यमानता गृहसम्बधैव ज्ञातेति, तदभावज्ञाने बहिदैशसम्बन्धे चाज्ञाते सन्दिहयते। तेन सन्देहगस्ता सती सा प्रतीतिः न हेतु र्भवितुमर्हति। न च बहिर्देगसम्बन्ध-ज्ञानान्विरस्तसन्देहा भविष्यति। विद्यमानतेति लिङ्गमिति वाच्यम् अनुमेया भावात् बहिर्देशसम्बन्ध एव हि देवदत्तादेरनु-मातुमभिन्नषितः स चेत् पतिपन्नस्तर्हि न किञ्चित् प्रमेयमवशिष्यते। न च गृहानुयोगिकदेवदत्तप्रतियोगिकाभावो बहिर्देथसम्बन्धज्ञाने हेतुर्भवति। न हि केवलस्य देवदत्तस्य हेतुत्वमङ्गी करणीयम् अपितु जीवित देवदत्तस्यैव। केवलस्य गृहानुयोगिकदेवदत्तप्रतियोगितावस्याङ्गीकारेतु मृतेषु, जनिष्यमाजेषु च विनापि बर्हि भावं सिद्धेः।

सम्बन्धनियमस्मरयोपकृतादेकदेथदर्शनाज्ज्ञानमानुमानम्। गृहानु योगिक देवदत्त प्रतियोगिका भावस्तु बहिर्देश कल्पनायां मनुत्पन्नायां सत्यां विद्यमानतायां संशय मायाद्य संशयसंशनमादाय बहिर्देशसम्बन्धं कल्पयतीति न तत्रानु मानत्वसम्भवः। धूमादिकन्तुलिङ्ग न कस्यचित् संशयं विद्यायाग्निं ज्ञापयति। अतो न तत्रार्था यतिः।

अर्थापत्त्यनु मानयोः किञ्चिद् वैलक्षण्यं विद्यते। यतो हि यथानुमानस्य जनकं निश्चितं लिङ्गम्, अर्थापत्तेश्च न तथा, अपि तु तत् सन्देहग्रस्तं भवति, अतो नोभयोः साम्यता भिन्न लिङ्गग्रहयात्। अत एवार्थापत्तेर्नानुमानेन गतार्थता। किञ्च निश्चित एव धूमो बह्नेरनुमापकः न तस्य किञ्चिदर्थान्तरमनुपपत्त्यापादकमस्ति, गृहाभावस्तु विद्यमानताया अणुपपत्तिमातनोति। तेन गृआनुयोगिकजीवितदेवदत्तप्रतियोगिताकाभावेन देवदत्तविषपिणी सत्तैव बहिर्देशसम्बन्धकल्पनायामजातायामनुपत्तिमापदिता स्वात्मनो बहिर्देशसम्बन्धत्वं कल्पयति। अनुमानाद् भिन्ना चेयमर्थापत्तिः, तदेवं बहिर्भावकल्पनया गृहानुयोगिकजीवितदेवदत्ताभावो विद्यमानताया अनुपपत्तिं साधयन् बहिर्भावं कल्पयीत।

अथवा देवदत्तसत्तैव गृहाभावेनानुपपत्तिमापादिता स्वसिद्धये बहिर्देशसम्बन्धमुपकल्पयति।

शाबरभाष्ये तावत् "अर्थापत्तिरपि यत्र दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते-इत्यर्थकल्पना"[1] पदद्वयमुपत्यस्तं तेन दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिरिति अर्थापत्तेर्द्वैविध्यमिति स्वीकुर्वन्ति शाबर भाष्यानुयायिनो भट्ट मीमांसकाः। दृष्टार्था पत्तौ तावदर्थस्य कल्पना भवात, श्रुतार्थापत्तौ च शब्दरूपं प्रमाणं कल्पयते। तद्यथा चक्षुरादिना यो दृष्टोऽर्थः तेना पत्तिः उत्पादककल्पनं यत्र सा दृष्टार्थापत्तिः यथा इदं रजतमिति। अत्र अग्रे विद्यमानप्रतिपन्नरजतवृत्तिर्यो नेदं रजतमिति निषिध्यमानत्वरूपोऽर्थः, सोऽनुपपद्यनो विद्येत रजतश्यामत्वकल्पनया विना। अतः स्वोपपादकं मिथ्यात्वस्य कल्पनां विदधाति। श्रुतवाक्यार्थानुपपत्त्या उपपादककल्पनं यत्र सा श्रुतार्था पत्रिः। यथा शतवर्षजीविदेवदत्तो गृहे नास्ति इति। अत्र तादृशवाक्यश्रवयोत्तरं जीविनो देवदत्तस्य गृहाविद्यमानत्वं बहिर्देशविद्यमानत्वं विनाऽनुपपत्वं सत् देवदत्तस्य बहिर्विद्यमावस्य कल्पनं श्रोता विदधाति।

इयञ्च दृष्टार्थापत्तिः सामान्येन त्रिविधा प्रत्यक्षपूर्विका अनुमान पूर्विका अर्थापत्रि-पूर्विका इति। येषां मते शब्दो पमानानुपलब्धन्यामपि प्रमाणत्वं तेषां मते शब्दपूर्विका उपमानपूर्विका अन्नुपलब्धि पूर्विका चापि। आहत्य षड् विद्या भवति। तत्र प्रथमाया उदा करणं पूर्वोक्त मेव शतवर्षजीपि देवस्तो गृहे नास्तीति। अत्र जीविनो देवदत्तस्य गृहासत्त्वं प्रत्यक्षप्रमोजन ज्ञात्वा बहिःसत्वस्य कल्पनं भवति। यद्ययदिमुदाहरण श्रुतार्थायत्ते दत्तं तथापि वाक्यश्रवणोत्रोत्तरं शब्दप्रमाण गृहासत्त्वज्ञानदभागं तत्, इति न तत्र विरोधः। अथवा अग्निर्दहति काष्ठमित्यत्र प्रत्यक्षेणज्ञातक्त् काष्ठकर्मकदाहाग्नौ दाहशक्तिकल्पना। द्वितीया आनुपूर्णिमाया उदाहरणं देशान्तर प्राप्तिलक्षणेन अनुमाननेतावगतस्य आदित्यगमनव्स्य अन्यथा अनुप पत्त्या आदित्ये गमनशक्तिकल्पता। केचन शब्दपूर्विमापि दृष्टार्थापत्तिं मत्यन्ते तन्मते तस्या उदाहरणं पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न मुक्ते इति श्रुतेन वाक्येन दिवाऽभुञ्जाने देवदत्ते पीलत्वरूपो षोऽर्थः प्रमितः तदन्यथानुपपत्तिमाकल्प तदुपपत्तये रात्रौ भुत्तेः इति रात्रिभोजनरूपार्थप्रतिपादक वाक्यान्तरस्य कल्पना। न चात्र दिवा वाक्यप्रमितार्थ यूपो पपत्यर्थं रात्रि भोजनरूपार्थ मात्रकल्पना युक्ता समाश्रयितुम्। श्रुतवाक्यप्रतीय-मानार्थान्यथानुपपत्तिसन्धानेन तदुपपत्तये आकङ्क्षितस्यार्थान्तरस्य तद्बोधकेन वाक्येनैव

१. शाबरभाष्ये, १/१/५।।

समर्पयस्य युक्तत्वात् शाब्दः शाब्देन अन्वेति इति नियमस्य जागरुकत्वात्। उपमान पूर्विका त्वर्थापत्तिर्थथा गवयसदृशो गौः इत्यत्र गवयदर्शनेन एतत् सदृशो गौरित्येवं यद् गवि गवयसादृश्यमुपमितः तदत्यथानुपपत्त्या तादृशसादृश्यविशिष्ट गवि तादृशप्रमाविषयत्व शक्तिरस्तीति कल्पना। अर्थापत्तिपूर्विका यथा- अर्थ बोधानुपपत्या शब्दस्य वाचक शक्ति कपयित्वा पुनस्तदनुपपत्त्या शब्दस्य नित्यत्व कल्पना। अनुपलब्धिपूर्विका यथा जीवतो देवदत्तस्य गृहेऽभावो योग्यानुपलब्ध्या प्रमितः। तदन्य भानुपपत्या च बहिर्भावस्य प्रमाणन्तरेपानव-गतस्य या कल्पना सा अनुपलब्धिपूर्विका अर्थापत्तिः।[१] इत्येवमाहत्य इयं पड्विधा भवति। श्रुतार्थापत्तिश्च द्विविधा अभिधानानुपपत्तिः अभिद्वितानु पपत्तिश्च। यत्र वाक्यैकदेशश्रवणेऽन्वयाभिधानानुपपत्त्या अन्वयाभिधानोपयोगिपदान्तरं कल्प्यते तत्राभिधानापपत्तिरूपा श्रुतार्थापत्तिः। यथा द्वार पिधोहि इति पूर्वे वाग्ये कश्चन द्वारमित्येति वक्ति तदा सम्पूर्णाश्वस्याभिधाना न्यथानुपपत्त्या अन्वयाभिधान्योपयोगिपदान्तरं पिधोकि इति कल्प्यते। एवमेव विश्वजिता यजेत स्वर्गकामः इति सम्पूर्णे वाक्ये केवलं विश्वजिता। यजेत इत्येवोक्ते तत्र अन्वयाभिधानानुपपत्त्या अन्वयाभिधानोपयोगिपदान्तरं स्वर्गकामः इति कल्प्यते।

अभिहितानुपपत्तिश्च यत्र वाक्यावगतोऽर्थोऽनुपपन्वतया ज्ञातः सन् अर्थान्तरं कल्पयति तत्र भवति। यथा- 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यत्र ज्योतिष्टोमयागस्य क्रिया स्वरूपत्वेन क्षणिकत्वात् स्वर्गसाधनत्वं तस्य न भवितुमर्हति। तदन्यथानुपपत्त्या ज्योतिष्टोमयागजन्यमपूर्वं मध्यवर्त्तितया कल्प्यते।

प्रकरणपञ्चिकायां शालिकाचार्यः प्रभाकरमतानुयायी श्रुतार्थापत्तौ 'पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति वाक्ये पीनत्वस्व अन्यथानुपपत्त्या रात्रिभोजनरुपार्थस्यैव कल्पनां मन्यते न तु रात्रौ भुङ्क्ते इतिं शब्दस्य कल्पनाम् इति। भाट्टमतानुयायिनस्तु शब्दस्यैव कल्पनां मन्यन्ते तत्र तत्र ग्रन्थे प्राधान्येन प्रतिपादितमिति दिक्।

***

१. शाबरभाष्यप्रमाटीकायामिदं सर्वं व्याख्यातम् १/१/२, पृ.३८

मीमांसाशास्त्रे प्रमाणविमर्शः

प्रो० एन० आर० श्रीनिवासन्
पूर्व अध्यक्ष एवं आचार्य
धर्म मीमांसा विभाग,
संस्कृत विद्याधर्मविज्ञान संकाय,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

मीमांसाशास्त्रे भाट्टप्रस्थानं प्राभाकरप्रस्थानं चेति प्रस्थानद्वयं प्रचुरप्रचारंगतम्। उभयत्रापि स्वीकृतप्रमाणानि निरूप्यन्ते। प्रमाणशब्दः भावे ल्युट् प्रत्ययान्तः प्रमावाची करणेल्युडन्तःप्रमाकरणवाची। प्रमास्वरूपेऽवगते सति प्रमाकरणम् प्रमाणमपि ज्ञातं भवेत् अतः प्रथमतः प्रमास्वरूपं प्रतिपाद्यते। प्रमायाः सामान्यलक्षणं भाट्टमते 'अज्ञाततत्त्वार्थज्ञानमिति। अत्र स्मृतेरनुभूतार्थविषयकत्वात् ज्ञातार्थकत्वमेवेति अज्ञातेत्यनेन तद्व्यावृत्तिः क्रियते' भ्रमस्य च अतस्मिन् तद्ज्ञानरूपत्वात् अतत्त्वार्थकत्वमेवेति तत्त्वेति विशेषणेन तद्व्यावृत्तिः क्रियते। अयं घटः अयं घट इति धारावाहिकज्ञाने पूर्वपूर्वज्ञानाविषयस्य तत्तज्ज्ञानाधिकरणक्षणरूपकालस्य विशेषणतया मानात् अज्ञातार्थकत्वमेव, अत उक्तलक्षणस्य न तत्राव्याप्तिः।

प्राभाकरमते– अनुभूतिः प्रमाणमिति प्रमासामान्यलक्षणम्। अनुभूतित्वं च स्मृतिव्यतिरिक्तत्वम्। स्मृतिश्च संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानम्। प्रत्यभिज्ञा तु संस्कार–सहितेन्द्रियजन्या न तु संस्कारमात्रजन्येति न तत्राति व्याप्तिः। एतन्मते सर्वस्यापि ज्ञानस्य यथार्थत्वात् भ्रम एव नास्ति। अत्र प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दार्थापत्तिरूपा पञ्चविधा प्रमितिः। अभावस्य अधिकरणरूपत्वात् भावातिरिक्तः अभावाख्यः प्रमेय एव नास्ति, अतस्तत्साधकतया अनुपलब्धिरूपं प्रमाणान्तरमपि नास्ति इति।

प्रत्यक्षातिरिक्तप्रमाणां सर्वासां प्रत्यक्षोपजीवित्वम्। तद्यथा अनुमितेः व्याप्तिमूलकतया व्याप्तिग्रहणस्य प्रत्यक्षज्ञानापेक्षत्वात् परम्परया प्रत्यक्षोपजीवित्वम्। उपमितेश्च सादृश्यज्ञानमूलकत्वात् सादृश्यज्ञानस्य प्रत्यक्षाधीनत्वात् प्रत्यक्षोपजीवित्वम्। शाब्दस्य च वृद्धव्यवहारमूलकशक्तिग्रहाधीनतया, गामानयेत्यादिवृद्धव्यवहारादिषु व्युत्पित्सोः मध्यमवृद्धेन सम्पाद्यमानगवानयनादिरूपक्रियाविशेषप्रत्यक्षेण शक्तिज्ञानस्य जायमानत्वेन परम्परया

प्रत्यक्षोपजीवित्वम्। एवं शतवर्षजीवित्वेन ज्योतिश्शास्त्रादवगतस्य गृहेऽविद्य-मानस्य देवदत्तस्य बहिस्सत्त्वकल्पनारूपार्थापत्तेरपि गृहासत्त्वविषयकप्रत्यक्षमूलकत्वात् प्रत्यक्षोपजीवित्वमनुभव-सिद्धम्।

प्रतिप्रमाणं स्वेतरप्रमाणाग्राह्यार्थग्राहकत्वेनैव पृथक् प्रमाणत्वम्। अनुमाने-विधेयस्य वन्ह्यादेः प्रत्यक्षाद्यग्राह्यत्वात् प्रत्यक्षवैलक्षण्यम्। उपमाने-अरण्यं गतस्य पुरुषस्य तत्र गवयदर्शनानन्तरं मदीया गौः गवयसदृशी इति सादृश्यज्ञानं जायते, तदा ग्रामवृत्तिगोरूपार्थेन इन्द्रियसन्निकर्षो नास्ति व्याप्तिस्मरणं च न विद्यते, अतः सादृश्यज्ञानरूपाया उपमितेः उक्तप्रमाणद्वयाग्राह्यत्वात् प्रत्यक्षानुमित्युभयवैलक्षण्यम्। शाब्दे च इन्द्रियसंनिकर्षव्याप्तिसादृश्यज्ञानादिविरहेऽपि देवदत्तो ग्रामं गच्छतीत्यादिवाक्यैः पदसमभिव्याहारादिरूपाकाङ्क्षावशादेव वाक्यार्थज्ञानस्य जायमानत्वात् पूर्वोक्तप्रमाणत्रयवैलक्षण्यम् अर्थापत्तौ- देवदत्तस्य अकल्पिते बहिर्भावे गृहाभावे च निर्णीते जीवति वा न वा इति संदेहः भवति। कल्पिते तु स च सन्देहः प्रशाम्यति। अत्र बहिर्भावरूप प्रमेयस्य संदेहापादकप्रमाणद्वयविरोधमूलकत्वात् प्रत्यक्षाद्यग्राह्यत्वात् स्वेतरप्रमाणागतार्थत्वेन निरूक्तप्रमाणचतुष्टयवैलक्षण्यम्। अभावविषये-भट्टमते भूतलं घटाभाववदित्यादिप्रतीतेरभाव-विषयकतया सर्वानुभवसिद्धत्वात् तस्यापलापो न युज्यत इति अभावरूपप्रमेयमपि स्वीक्रियते। अभावस्य अधिकरणत्वरूपत्वे भूतले घटो नास्तीति अभावविषयकप्रतीतिः नोपपद्येत। तत्र केवलं भूतलं प्रतीयते इति भूतलमात्रं प्रतीयत इति वा यदि उच्येत तदा केवलस्य मात्रस्य वा अर्थः कः? घटादिरहितमित्येव अर्थः इति उच्यते तदा तत्र विशेषणीभूतं राहित्यम् अभाव एवेति अकामेनापि अभावः स्वीकर्तव्यः।

प्रत्यक्षाद्युपलब्धियोग्यं घटादिवस्तु तदुपलम्भकालोकसन्निकर्षादिसामग्रीसत्वेऽपि यदि नोपलभ्येत तर्हि तदनुपलब्धिः तदभावरूपप्रमेयमवगमयतीति अनुपलब्धिरूपप्रमाणान्तरम् एषितव्यम् ।

यत्तु नैयायिकः विशेषणविशेष्यभावरूपसन्निकर्षेण अभावप्रत्यक्षं जायत इति, तत्रोच्यते-कश्चित् पूर्वेद्युः, वनं गत्वा गृहमागतः, अन्यस्मिन् दिने अपरः तं 'वने सिंहो अभूत्'? इति यदा पृच्छति तदैव सः वने सिंहो नाभूत्' इति अवगच्छति तत्र वनसंबन्धाभावेऽपि जायमानायाः अभावप्रतीतेः चक्षुःसंयुक्तविशेषणत्वादिरूप-सन्निकर्षोत्पन्नत्वं न घटत इति अभावप्रतीतौ विशेषणविशेष्यभावस्य संबंधत्वकल्पनं न युक्तम्। अतः अनुपलब्धिप्रमाणगम्यत्वमेवेति अभावविषयिण्याः प्रमाया अपि प्रमान्तरवैलक्षण्यम्।

पूर्वमीमांसायामनुमानस्वरूपम्

अनुमानपदमनूपसर्गकृमाधातोः भावे करणे च ल्युटि निष्पन्नस्वरूपम् । अनूपसर्गस्य पश्चादित्यर्थः। प्रत्यक्षस्य अनुमानेन व्याप्तिग्रहणायोपजीव्यत्वात् तत्पश्चात् अनुमाननिरूपणं क्रियते। तत्र भावसाधने अनुमानपदस्य अनुमितिरर्थः। करणसाधने अनुमितिकरणम् इति।

प्रथमस्य (स्वरूप) लक्षणादेव द्वितीयस्य तत्करणत्वेन सिद्धिरिति आद्यस्य लक्षणमाह शाबरभाष्ये 'ज्ञातसम्बन्धस्य एकदेशदर्शनादेकदेशान्तरे असन्निकृष्टेऽर्थे या बुद्धिरिति' अस्यार्थः– ज्ञातः संबन्धः हेतुसाध्ययोः व्याप्तिरूपः सम्बन्धः येन पुरुषेण तस्य व्याप्तिज्ञानवतः पुरुषस्य ज्ञातसम्बन्धस्य पक्षधर्मिणि एकदेशिनि पर्वतादौ एकदेशदर्शनात् धूमाद्यात्मकलिङ्गरूपैकदेशस्य दर्शनात् एकदेशान्तरे वह्निरूपैकदेशान्तरे असन्निकृष्टे इन्द्रियसन्निकर्षाभाववति अर्थे या बुद्धि र्जायते तदनुमानमिति। अत्र भाष्ये असन्निकृष्टग्रहणमनुमितेः प्रमाणान्तरानधिगतार्थविषयकत्वरूप प्रामाण्यसूचनार्थम्। तदाह– वार्तिके– असन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र जिहासितम्।

ताद्रूप्येण परिच्छित्तिः तद्विपर्ययतोऽपि वा।। इति। ताद्रूप्येण परिच्छित्तिः निश्चितसाध्यवत्वेन ज्ञानम् तद्विपर्ययतः परिच्छित्तिश्च निश्चितसाध्याभाववत्त्वेन ज्ञानम् तयोरन्यतरत् यत्र वर्तते तत्र साध्यसन्देहरूपपक्षताया अभावात् नानुमितिर्भवतीति तदुभयमनुमित्तौ जिहासितमिति असन्निकृष्टपदेन प्रतिपिपादयिषितम् ।

प्राभाकारस्तु–यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति व्याप्तिग्रहणसमय एव यावद्धूममग्निसद्भावोऽगत इति गृहीतग्राहि एवानुमानम् नापरिच्छिन्नविषयम्। अतोऽसन्निकृष्ट–पदमनुमानस्य स्मरणाभिमाननिरासार्यम्। अनुमानस्य लिङ्गकारणजन्यत्वेन संस्कारमात्रजन्यत्वाभावात् न स्मृतिरूपत्वम् अनुभूतित्व लक्षण प्रामाण्यस्य सद्भावात् प्रमितिरूपत्वमिति वदन्ति। स्मृतिभिन्नं ज्ञान मनुभूतिरिति तल्लक्षण माहुः।

एवं अनुमानसामान्यलक्षणमुक्त्वा तत्तु द्विविधं प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धं सामान्यतो दृष्ट सम्बन्धं चेति विभागः प्रदर्शितः अनुमितेः। तथाहि–यत्र विशेषयोरेव प्रत्यक्षेण सम्बन्धो गृह्यते तद्विशेषविषयं प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धमनुमानम् । यथा यस्मिन्नेव महानसादौ धर्मिणि गोमयेन्धनाग्निविशेष–तज्जन्यधूमविशेषयोः संयोगरूपस्य सम्बन्धस्य ग्रहणं प्रत्यक्षेण जातं तस्मिन्नेव धर्मिणि कालान्तरे तस्यैव धूमविशेषस्य दर्शनेन तस्यैव संदिह्यमानसद्भावस्य अग्निविशेषस्य यदनुमानं तत् प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धरूपम्। तदेतत् 'प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धं यथा– धूमाकृतिदर्शनात् अग्न्याकृतिविज्ञानम्' इति भाष्येण प्रतिपादितम् । तथा अग्रे ''सामान्यतो दृष्टसम्बन्धं यथा– देवदत्तस्य गतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्य आदित्यगतिस्मरणम् इति द्वितीयमपि। यत्र सामान्ययोरेव प्रत्यक्षेण सम्बन्धो गृह्यते तत्सामान्यतो दृष्टसम्बन्धम्। आदित्यो गतिमान् देशान्तरप्राप्तिमत्त्वात्। यो यो देशान्तरप्राप्तिमान् स स गतिमान् यथा देवदत्त इति। अत्र गतिप्राप्त्योः सामान्ययोरेव प्रत्यक्षेण सम्बन्धो गृहीतः। आदित्ये गत्यनुमानं सामान्यतो दृष्टसम्बन्धजन्यानुमानम्।

***

अद्वैतवेदान्ताभिमतप्रत्यक्षस्वरूपविमर्शः

प्रो० रामकिशोर त्रिपाठी
आचार्योऽध्यक्षश्च, वेदान्तविभागे
वाराणसीस्थ सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालये

सत्यानन्दपदोदिताऽपि चिदियं ज्ञानादिना ख्यायते
तत्राध्यस्तसमस्तभूतविकृतिर्ज्ञेया चिता भास्यते।
वृत्तौ चित्प्रतिबिम्बिता मितिरियं मानञ्च तत्कारण-
मेतदद्वैतमयं यदद्वयवपुस्तस्मै चिदात्मने नमः।।१।।
वेद्योपाधितया प्रपञ्चघटिता वेद्या स्वयंचित्प्रभा
वृत्तौ भासनतामुपेत्य बोधकतया ज्ञानेति चित्ख्यायते।
वृत्तेराश्रयतां गता चितिरियं मातेति लोके प्रथा
सर्वोपाधिनिवृत्तितामुपगता सच्चित्स्वरूपा स्वयम्।।२।।
मानं वस्त्ववभासकं व्यवहृदिर्मानान्विता वर्द्धते
मानाधीनसमस्तलोकरचना मानं परं कारणम्।
मानं मोक्षकरं सदा शुभकरं मानेन मेयस्थिति-
स्तस्मान्माननिरूपणं प्रकुरुते वेदान्तशास्त्रस्थितम्।।३।।
सर्वमानेषु यन्मानं तदध्यक्षमितिश्रुतम्।
तत्स्वरूपाभिधानेन तदन्येषां स्वरूपधीः।।४।।
पूर्वं कारणविज्ञानं ततःकार्यस्वरूपधीः।
अतोऽध्यक्षमहं वक्षेऽद्वैतशास्त्राभिधानतः।।५।।

धर्मार्थकाममोक्षाख्यचतुर्विधपुरुषार्थस्वरूपप्रतिपादनपराणि शास्त्राणि स्वस्वसिद्धान्तदिशा पुरुषार्थचतुष्टयस्वरूपमेव प्रतिपादयन्ति। ते च पुरुषार्था ज्ञानविषयतया प्रमात्मकज्ञानेन प्रकाश्यन्ते। अतः पुरुषार्थचतुष्टयप्रकाशकत्वेन प्रमात्मकज्ञानमधिगन्तव्यम्, अथ च ज्ञानमेव सकलव्यवहारहेतुः। व्यवहारो हि सम्वादि प्रवृत्तिजन्यो विसम्वादिप्रवृत्तिजन्यश्चांस्ति। तत्र सम्वादिप्रवृत्तिजन्यो व्यवहारस्तात्विकः, विसम्वादिप्रकृत्तिजन्यश्चातात्विको भवति।

सम्वादिप्रवृत्तिजनकं ज्ञानं यथार्थम् विसम्वादिप्रवृत्तिजनकं ज्ञानं भ्रमः। अतो ज्ञानमेव सर्वव्यवहारप्रवर्तकं सिद्धम् । तत्र सम्वादिप्रवृत्तिजनकत्वेन यथार्थज्ञानं सर्वव्यवहारहेतुर्भवति। यथार्थज्ञानं प्रमापदेनाभिधीयते। तच्च ज्ञानं द्विविधं स्मृतिरनुभवश्च। तत्र संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। अनुभवात्मकं ज्ञानं द्विविधं यथार्थम् अयार्थञ्च। यद्यपि यथार्थायथार्थज्ञानयोर्मध्ये क्रमप्राप्तत्वेन पूर्वं यथार्थज्ञानमेव निरूपणीयम् । तथापि प्रमालक्षणस्य भ्रमभिन्नत्वादिघटितया पूर्वमयथार्थज्ञानस्वरूपमेव विविच्यते। "तच्छुन्ये तन्मतिर्या स्यादप्रमा सा निरूपिता[1] रजत्वादिशून्ये शुक्तिकादौ या रजत्वादिप्रकारकबुद्धिःसा अप्रमापदेनोच्यते। सा च संशयविपर्यभ्रमभेदेन त्रिधा। भुक्तावलीग्रन्थे "तदभाववति तत्प्रकारकज्ञानं भ्रमः"[2] इत्युच्यते। तदभाववन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिता या तन्निष्ठा प्रकारता तन्निरूपकज्ञानत्वम् अप्रमात्वम्। रजतत्वाभावच्छुक्तिनिष्ठविशेषतानिरूपिता या रजत्वनिष्ठा प्रकारता तन्निरूपकज्ञानत्वं शुक्तौ इदं रजतमिति ज्ञाने लक्षणसमन्वयः।

विपरीतं ज्ञानं विपर्यपदेनाभिधीयते। तद्यथा रजते नेदं रजतमिति ज्ञानम् "स संशयो मतिर्या स्यादेकत्राभावभावयोः[3] एकस्मिन् धर्मणि भावस्य अभावस्य च यज्ज्ञानं स संशयः मुक्तावल्यान्तु "एकधर्मिकविरूद्धभावाभावप्रकारकं ज्ञानं संशयः[4], कोटिद्वयसहचरितत्वेन गृह्यमाणो य उभयसाधारणधर्मः स संशयस्य कारणम्। तत्र संशये भासमानयोधर्मयोरन्यतरस्याव-स्थितिर्विद्यते। अतएवैककोटिकधर्मनिश्चयेन संशयो निवर्तते। तत्र निर्णीतकोटिकं ज्ञानन्तु प्रमैव। भ्रमे तु अविद्यमानधर्मिधर्मयोः सम्बन्धः तस्य निवृत्ते सति भ्रमे न तत्र धर्मिधर्मभावयोरवस्थानमिति संशयभ्रमयोर्विवेकः।

प्रमास्वरूपविचारः

पूर्वज्ञानेन न ज्ञातो न चोत्तरेण बाध्यते।
सत्त्वेन यः प्रतीयेत तस्य ज्ञानं प्रमात्मकम्।।

अलमतात्त्विकज्ञानविवेचनेनाथ सम्वादिप्रवृत्तिजनकत्वेन सर्वव्यवहारोपपादकं यथार्थज्ञानं विविच्यते। तत्र नैयायिकास्तद्वत्तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमेति मन्यन्ते। "अथवा तत्प्रकारं यज्ज्ञानं तद्विशेष्यकं च सा तत्प्रमा"[5] तद्वद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमेत्यर्थः[6]रजसे इदं रजतमित्यत्र रजतत्ववद्विशेष्यकत्वे सति रजतत्वप्रकारकत्वमस्तीति लक्षणसमन्वयः। शुक्तौ इदं रजतमित्यत्र रजतत्ववद्विशेष्यकत्वाभावान्नानिप्याप्तिः। ननु ईदृशलक्षणस्य रङ्गरजतयोः इमे रजतरङ्गे इति भ्रमेऽतिव्याप्तिः तत्रापि रजतत्ववद्रङ्गविशेष्यकत्वरजतत्वप्रकारकत्वयोःसत्वादिति चेन्नः तद्वन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिता या तन्निष्ठा प्रकारता तच्छालिज्ञानत्वस्य विवक्षिततत्वात्। उक्तसमुहालम्बनात्मके ज्ञाने रजतत्वप्रकारतायाःरङ्गत्ववद्रङ्गनिष्ठविशेष्यतानिरूपितत्वात् रजतत्ववद्रजतनिष्ठविशेष्यतानिरूपितत्वाभावात्। वेदान्तनयेऽतिव्याप्त्यप्याप्तिदोषदूषितत्वेन नेदं प्रमालक्षणं सम्भवति। शुक्त्यवच्छिन्नाधिष्ठानविषययाऽविद्यया शुक्तावाध्यासिकं रजतमाध्यासिकं रजतविषयकं ज्ञानं शुक्तिरजतयोराध्यासिकः संसर्गश्चोत्पद्यते। अतः शुक्तौ इदं रजतमिति ज्ञाने

रजतनिष्ठं रजतत्वं प्रकारतयाऽवभासते। तत्र तद्वत्तत्प्रकारकत्वरूपस्य प्रमालक्षणस्यातिव्याप्तिःस्यात् निर्धमके ब्रह्मणि च कस्यचित् प्रकारस्यासत्त्वात् आत्मविषयकज्ञाने तद्वत्प्रकारमत्वरूपस्य प्रमालक्षणस्यासत्त्वात् तत्र प्रमालक्षणस्याव्यात्तिरपि प्रसज्येत।

अतोऽतिव्यात्यव्यात्यसम्भवरूपदोषत्रयशून्यं किमपि लक्षणं वक्तव्यम्। तदाह वेदान्तपरिषाकारः "अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानत्वं प्रमात्वम्"[7] प्रमाघटकानधिगता–बाधितपदद्वयं विषयस्य विशेषण्। न अधिगतोऽनधिगतः न बाधितः अबाधितः अनधिगतश्चसावबधितोऽर्थविषयो यस्य ज्ञानस्य तदनधिताबाधितार्थविषयकज्ञानं तत्त्वमनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानत्वम् । तत्र स्मृतिरूपज्ञाने प्रमात्वव्यावृत्त्यर्थमनधिगतपदं विषयविशेषणतयोपात्तम्। स्मृतिसाधारणं हि अबाधितविषयकं भवति। पूर्वानुभूतविषयः सप्रत्ययः संस्कारात्मनाऽवत्तिष्ठते। कारणविशेषेणोत्साहितः संस्कारः स्मृतिरूपतां प्रतिपद्यते। स च पूर्वानुभवो यदि बाधितविषयकस्तदा तत्संस्कारसंजायमाना स्मृतिरपि बाधितविषया भवति। परन्तु यदि पूर्वानुभवोऽबाधितविषयकस्तदा तत्संस्करेण समुद्भूता स्मृतिरपि अबाधितविषया भवति। स्मृतेरनुभवाद्भिन्नतयाऽभवविशेषवृत्तिप्रमात्वव्यावृत्तिरावश्यं मन्तव्या। अबाधितविशेषणन्तु शुक्तिरजतविषयकज्ञाने प्रमात्वव्यावृत्यर्थम्।

तत्रेदमाक्षिप्यते यदयं घटः अयं घट इति धारावाहिकस्थले एकविषयकानि क्षणभेदेन समुत्पद्यमानानि नाना ज्ञानानि तेषां समुच्चयो धारावाहिकज्ञानमित्युच्यते। तत्र पूर्वज्ञानविषयीकृतमेव घटमुत्तरज्ञानं विषयी करोति। उत्तरज्ञानस्याधिगतविषयकत्वेन प्रमालक्षणाव्याप्ति। अत्राह इदानीं घटो वर्तत इति प्रतीतिवलान्नीरूपस्यापि कालस्य चाक्षुषत्वाभ्युपगमाद् धारावाहिकज्ञानस्थले पूर्वपूर्णज्ञानाविषयतत्तत्क्षणविशेषविशिष्टविषकत्वेन नाव्याप्तिः। यदि चाक्षुषावगतिः कालस्य न स्यात् तदा घटे वर्तमानतायाः सन्देहापत्तिः स्यात्। धारावाहिकज्ञानस्थले समानविषयकानि नानाज्ञानमीति मते समाधानमुक्तम्।

वेदान्तनये तु धारावाहिकस्थलेऽप्येकमेव ज्ञानम्। वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यं लोके ज्ञानपदेनाभिधीयते। व्यवहारोपपादकत्वेन वस्तुप्रकाशकं ज्ञानमिति गीयते। अन्तःकरणपरिणाम–भूतवृत्तिमात्रेण न किमपि प्रकाश्यते। प्रकाशमन्तरा न कश्चित् व्यवहारमुपैति। सा च वृत्तिरुपाधिरूपेण ज्ञानावच्छेदकं भवति। अतो वृत्तिभेदेन ज्ञानभेदो भवति। धारावाहिकज्ञानस्थले वृत्तिभेदो नास्ति। "यावद् घटस्फुरणं तावद् घटाकांरान्तःकरण-वृत्तिरेकैव।[8]" स्वविरोधिवृत्त्युत्पत्तिपर्यन्तं वृत्तेः स्थायित्वमभ्युपगम्यते। वृत्तेरेकत्वे तत्प्रतिफलितचैतन्यरूप–ज्ञानस्याप्येकत्वमस्ति।

अनधितविशेषणसमाश्रितदोषनिराकरणेऽपि अबाधितत्वस्य विषयविशेषणत्वे घटादिविषयकज्ञाने प्रमालक्षणस्याव्याप्तिः। वेदान्तनये घटादीनां मिथ्यात्वेन तत्त्व ज्ञानेन बाधात् घटादिविषयकज्ञानस्य बाधितविषयकत्वेन, तत्र प्रमालक्षणस्याव्याप्तिः। तत्राह अबाधितपदेन

संसारदशायामबाधिततत्वं विवक्षितम्। घटादीनामात्मसाक्षात्कारेण बाधात्। संसारदशायां घटादिव्याहारिकपार्दानां बाधो नास्ति। तत्त्वज्ञानोत्तरं प्रमाणप्रमेयव्यवस्थैव न स्थीयते। प्रमाणप्रमेयव्यवस्थाया अध्यासमूलकत्वाद् भेदमूलकत्वाच्च। "यत्र त्वस्य सर्वमात्यमैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्"[९] तत्त्वज्ञानात्पूर्वमविद्याकल्पिताध्यासमूलकभेदस्य सत्त्वात् प्रमाणप्रमेयव्यवस्था सम्पद्यते। "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति"[१०] संसारदशायां बाधितशुक्तिरजतादि-विषयकज्ञानस्य न प्रमात्वम्।

बाधितपदेन सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वे सति ब्रह्मप्रमाऽतिरिक्तप्रयाऽबाधिततत्वं विवक्षितम्। शुक्तिरजतादेःसत्वेन प्रतीत्यर्हत्वेऽपि ब्रह्मप्रमाऽतिरिक्तशुत्त्यादिविषयरूप्रमात्मकज्ञानेन बाधात् न तद्विषयकज्ञानस्य प्रमात्वम्।

यद्यपि बन्ध्यापुत्रादीपनामपि केनापि ज्ञानेन बाधो न भवति। तथापि तेषां सत्त्वेन प्रतीतिर्नास्ति। घटादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मणश्च सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वमस्ति। अथ च ब्रह्मणोऽतिरिक्तप्रमया बाधो नास्ति अतो भवति घटादिविषयकज्ञानस्य ब्रह्मविषयकज्ञानस्य च प्रमात्वम्। सा चेयं प्रमा स्वयमेकरूपा सती करणभेदेन भिद्यते। प्रमायाः करणं प्रमाणपदेनाभिधीयते। तत्राचार्यमतभेदेन प्रमाणाभिमानस्य भेदः। तत्र प्रत्यक्षमेकमितिचार्वाकः, प्रत्यक्षानुमाने इति कणादसुगतमतानुयायिनः शब्देन सह त्रीणीति सांख्याः प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रयाणानीति नैयायिकाः। अर्थापत्त्या सह पञ्चप्रमाणमिति प्राभाकराः। अद्वैतवेदान्तनये तु प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्यनुपलब्धिभेदात् षट् प्रयाणानि अभिमतानि सन्ति। तत्र प्रत्यक्ष स्वरूपं विविच्ये।

प्रत्यक्षप्रमाणस्वरूपविमर्शः

अर्थसंसर्गमासाद्य यत्प्रत्ययस्य कारणम्।
तत्प्रत्यक्षप्रमाणं स्यात्ससर्गो द्वारमुच्यते।।
करणे विषये ज्ञाने त्रिधा प्रत्यक्षवाच्यता।
प्रयाणख्यायने पूर्वं मानमेव निरूप्यते।।

अक्षिणी प्रति प्रत्यक्षम्। अक्षिपदमत्रेन्द्रियमात्रस्योपलक्षकम्। प्रतीत्यव्ययस्य वीप्साद्योतकत्वे यथार्थत्वेन[११] अव्ययं विभक्ति इत्यनेन समासः। अक्ष्णोरभिमुखं प्रत्यक्षमिति विग्रहे आभिमुख्यार्थद्योतकस्य प्रतेः समर्थसुबन्तेन अक्षिणा सह [१२]"लक्षणेनाभिप्रती अभिमुख्ये" इति सूत्रेण समासः। प्रथमया व्युत्पत्त्या प्रत्यक्षपदेन प्रत्यक्षज्ञानकरणेन्द्रियाणां बोधो भवति। द्वितीयया व्युत्पत्त्या इन्द्रियसन्निष्टभूतविषयस्य बोधो जायते। ज्ञानस्यापि प्रत्यक्षविषयत्वात्तत्रापि प्रत्यक्षत्वव्यपदेशो भवति। इत्थं प्रत्यक्षपदस्यार्थत्रयेऽपि प्रयोगो दृश्यते। तत्र ज्ञानकरणभूतप्रत्यक्ष-विचारप्रसङ्गे प्रत्यक्षप्रमाणं तावद्विचार्यते। प्रत्यक्षप्रमाकरणं प्रत्यक्षप्रमाणम।

प्रत्यक्षप्रमास्वरूपविचारः

इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। निर्विकल्पकज्ञानस्य भ्रमस्य चेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण

जायमानतया तत्रातिव्याप्तिर्मा स्यात् एतदर्थं प्रत्यक्षलक्षणम् "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमध्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्[13]" इन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्नमर्थज्ञानं रूपमिति वा रस इति वा भवति। रूपशब्दाद्ररसशब्दाच्च विषयनामधेयम्। तेन व्यपदिश्यते ज्ञानं रूपमिति जानीते रस इति जानीते। तच्च नामधेयशब्देन व्यपदिश्यते। ज्ञानं रूपमिति जानीते रस इति जानीते। तच्च नामधेयशब्देन व्यपदिश्यते। तच्च ज्ञानं शाब्दं तद् व्यावृत्त्यर्थम-व्यपदेश्यमिति। ग्रीष्मे मरीचयो भौमेनोष्मणा संसृष्टा स्पन्दमाना दूरस्थस्य पुरुषस्य चक्षुषा सन्निकृष्यन्ते तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षादुदकमिति ज्ञानं जायते। तद् व्यावृत्त्यर्थमव्यभिचारिपदम् उपात्तम्। निर्विकल्पकज्ञाने प्रत्यक्षप्रमात्वनिरासाय व्ययसायात्मकमिति पदम्। व्यवसायपदं विशिष्टज्ञानपरम्। अतो व्यावसायात्मकानुव्यवसायात्मकयोर्ज्ञानयोर्षिशिष्टज्ञानत्वेन प्रत्यक्षप्रमात्वं सम्पद्यते।

इदं जन्यप्रत्यक्षप्रमालक्षणम्। ईश्वरप्रत्यक्षसाधारणन्तु ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ज्ञानाकरणकत्वं ज्ञानत्वमिति लक्षणम्। अस्मत् प्रत्यक्षे परमेश्वरप्रत्यक्षे च व्याप्तिज्ञानादीनाम-करणत्वात् ज्ञानाकरणकत्वे सति ज्ञानत्वस्योभयत्र सत्त्वाल्लक्षणसयन्वयः। अनुमितिं प्रति व्याप्तिज्ञानम्, उपमितिं प्रति सादृश्यज्ञानम्, शाब्दबोधं प्रति पदज्ञानम्, स्मृतिं प्रति अनुभवःकरणं भवति। प्रत्यक्षप्रमां प्रति तु न किमपि ज्ञानं करणमस्ति। अतो ज्ञानाकरणकं ज्ञानमिति प्रत्यक्षप्रमालक्षणं जीवप्रत्यक्षेशप्ररत्यक्षसाधारणम्। तच्चेदं ज्ञानं वृत्तिरूपम् । तस्य जडात्मकत्वेन न वस्तुप्रकाशकम्। ज्ञानं हि वस्तूनि प्रकाश्य व्यवहारोपपादकप्रवृत्तिविषयतां नयति। वृत्तिश्चान्तः करणपरिणामः, अन्तकरणमपञ्चीकृतमहाभूतानां सत्वांशसमुदायाज्जायमानं सज्जडात्मकम्। तस्य परिणामो वृत्तिरपि जडात्मिका। नहि जडभूतेन पदार्थेन किमपि प्रकाश्यते। वृत्तिप्रतिबिम्बितेन चिता वस्तुप्रकाशः सा च चित् ज्ञानपदभाजा भवति।

अद्वैतवेदान्ताभिमत प्रत्यक्षप्रमास्वरूपविचारः

चिता प्रकाशितं वस्तु व्यवहारप्रवर्तकम्।
प्रवृत्तिजनकं ज्ञानं सर्ववस्तुप्रकाशकम्।।
चिदभिव्यञ्जिका वृत्तिश्चित्तादात्म्येन भासते।
स्वयंजडस्वरूपा सा न प्रकाशाय कल्प्यते।।

अद्वैतनये प्रत्यक्षप्रमा चिद्रूपं ज्ञानम् । तदुक्तं वेदान्तपरिभाषाकारेण 'प्रत्यक्षप्रमा चात्र चैतन्यमेव'[14] तथा च श्रुतिः 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म'[15] अपरोक्षादित्यस्य ब्रह्मसमानाधि-करण्येनापरोक्षमित्यर्थः। अत्राक्षिपन्ति तार्किका जन्यज्ञाने प्रमात्वव्यवहारो भवति। प्रत्यक्ष-प्रमाजनकत्वेन च चक्षुरादीन्द्रियेषु प्रत्यक्षप्रमाकरणत्वव्यवहारो भवति। यदि चैतन्यमेव प्रत्यक्षप्रमा तदा तस्यानादित्वेनाजन्यतया तत्कथं चक्षुरादीन्द्रियाणां तत्करणत्वेन प्रमाणत्वं भवति।

तदुत्तरमाह यथाऽऽकाशस्य स्वस्वरूपतोऽजन्यत्वेऽपि तदवच्छेदकघटाद्युपाधीनां

जाययानतया घटाकाशो जात इति व्यवहारो भवति। तथा शुद्धचैतन्यस्याजन्यत्वेऽपि तदभिव्यञ्जकान्तःकरणस्य परिणात्मिकाया वृत्तेर्जायमानत्वाद्वृत्त्युपहितं चैतन्यमादिमत् जन्यमित्यर्थः। अन्तःकरणपरिणामभूतवृत्तिजनकेषु चक्षुरादीन्द्रियेषु प्रमाणत्वव्यवहारः सम्पद्यते।

वस्तुतस्तु वृत्त्युपहितमेव चैतन्यं सर्वावभासकतया ज्ञानपदबोध्यं भवति। शुद्धचैतन्यं स्वयंप्रकाशमपि वृत्तिमन्तरा न किमपि प्रकाशयति। यदि वृत्तिमन्तरा चैतन्यं वस्तु प्रकाशयेत तदा सर्वदा वस्तुप्रकाशः प्रसृज्येत। सर्वदा वस्तुप्रकाशकत्वे तु ज्ञानस्यानुपरतिः प्रसङ्गस्तेन न सुषुप्तिर्मोक्षश्च स्याताम्। यथा विद्युदादिप्रकाशः कमप्युपाधिमारूढः सन्नेव प्रकाशते। तद्व च्चिद्रूपोऽपि प्रकाशो वृत्तिमारूढः प्रकाशते। अथ च स्वयं प्रकाशरूपमप्यात्मतत्त्वं सर्वत्रावृत्तं सन्न प्रकाशते। अन्तःकरणावच्छेदेन प्रकाशते। अन्तःकरणस्यापञ्चीकृतमहाभूतानां सत्त्वांसमुदायत्वेन तेजस्त्वमस्ति। तेनावृत्तस्यापि चैतन्यस्य प्रकाशावरोधो न भवति। यथा न विद्युद्दण्डस्य प्रकाशकत्वं न केवलाया विद्युतः प्रकाशकत्वम्। विद्युद्दण्डोपहिताया विद्युतः प्रकाशकत्वम् तद्वन्न जडभूतायाःकेवलाया वृत्तेःप्रकाशकत्वं न च केवलायाः चितः प्रकाशकत्वं वृत्त्युपहितायाश्चितः प्रकाशकत्वस्वीकारात्।

वृत्तेः प्रकाशकत्वव्यवहार औपचारिकः। तदुक्तं विवरणे "अन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्"[16] यथा सूर्यादिप्रकाशप्रतिविम्बाश्रयतया दर्पणाद्युपाधीनां प्रकाशत्वव्यवहारः। यथा चायःपिण्डस्य दग्धृत्वाभावेऽपि दग्धृत्वाश्रयवह्नितादात्म्याध्यासात् अयो दहति व्यवहारः। धर्मितादात्म्याध्यासेन धर्मतादात्म्याध्यासो भवति। चित्स्वरूपप्रकाशधर्मिणो वृत्तौ तादात्म्याध्यासात् चिन्निष्ठस्य प्रकाशत्वस्यान्तःकरणपरिणामभूतायां वृत्तावध्यासस्तेन च वृत्तौ प्रकाशत्वव्यवहारः।

अत्रासङ्क्यते परमाणुभूतस्य मनसो निरवयवस्यान्तःकरणस्य परिमाणात्मिमका वृत्तिः कथं भवति? तदुच्यते "न तावदन्तःकरणं निरवयवं सादिद्रव्यत्वेन सावयवत्वात"[17] तदुत्पत्तौ "तन्मनोऽसृजत"[18] इति श्रुतिर्मानमास्ति वृत्तिरूपज्ञानस्य मनोधर्मत्वे तु "कामः संकल्पो विचिकत्साश्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव[19] इति श्रुतिर्मानमस्ति। धीशब्देन वृत्तिरूपज्ञानमभिधीयते। कामादयोऽपि मनोधर्मा एव सन्ति। कामादेरन्तः करणधर्मत्वेऽपि सुखाद्याकारपरिणाम्यन्तःकरणस्यैकाध्यासात् अहं सुखी दुःख्यादिव्यवहारः सम्पद्यते।

नन्वन्तःकरणस्येन्द्रियतयाऽतीन्द्रियत्वात् अहमिति प्रत्यक्षविषयता कथं स्यात् ? अत्रोच्यतेऽन्तःकरणस्येन्द्रियत्वे किमपि मानं नास्ति। यत्तु "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि"[20] इति गीतावचनं मानत्वेनाभिमन्यते। तन्न यथा "यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति इत्यत्र ऋत्विग्गतपञ्चत्वसंख्यायाः पूरणम् अनृत्विजा यजमानेन् भवति। यथा च वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान् इत्यत्र वेदगतपञ्चत्वसंख्यायाः पूरणमवेदेन महाभारतेन दृश्यते तद्वदनिन्द्रियेणापि मनसा इन्द्रियगतषट्त्वसंख्यायाः पूरणे न कश्चिद् विरोधः। मनसोऽनिन्द्रियत्वे "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परंमनः"[21] इति श्रुतिरपि मानम् । ननु मनसोऽनिन्द्रियत्वे सुखादिमानसप्रत्यक्षे

प्रत्यक्षत्वव्यवहारः कथं स्यात्? अत्रोच्यते इन्द्रियजन्यत्वं नहि प्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजकम्। अनुमित्यादेरपि परमर्शादिमानसव्यापारजन्यतया तत्र प्रत्यक्षत्वापत्तिः स्यात्। अथ चेश्वरज्ञानस्यानिन्द्रियजन्यतया तत्र प्रत्यक्षत्वानापत्तिश्च स्यात्। सिद्धान्ते प्रत्यक्षत्वप्रयोजकमुच्यते।

प्रत्यक्षत्वप्रयोजकविचारः

विषयज्ञानयोर्लोके प्रत्यक्षत्वं हि सम्मतम्।
अक्षजन्यत्वभिन्नं तु प्रत्यक्षत्वप्रयोजकम्।।
वस्तु प्रमाणयोरैक्यं ज्ञानाध्यक्षत्वयोजकम्।
विषयाध्यक्षताहेतुः प्रभात्रभेद उच्यते।।

विषयः प्रत्यक्षः ज्ञानं प्रत्यक्षमिति व्यवहाराद् विषयनिष्ठत्वेन ज्ञाननिष्ठत्वेन च द्विविधं प्रत्यक्षत्वम्। उभयोरपि प्रत्यक्षत्वयोः प्रयोजकं भिन्नम्। तत्र विषयगतप्रत्यक्षत्वप्रयोजकं "प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभेदः"[२२] "घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षत्वं तु प्रमात्रभिन्नत्वम्"[२३] एकस्यैवात्मतत्त्वस्याविद्ययोपाधिवशेन प्रमाणप्रमेयप्रमातृत्वादिव्यपदेशो भवति। तत्र घटाद्युपहितं चैतन्यं विषयचैतन्यम्। अन्तःकरणवृत्त्युपहितं चैतन्यं प्रमाणचैतन्यम्, अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यम्, चैतन्यस्यैवावच्छेदकभेदेन त्रिधा व्यवहारः।

ननु उपाधिभेदेन भिन्नयोः प्रमाणचैतन्यप्रमेयचैतन्ययोः कथमभेदः। अत्रोच्यते "यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणायाकारं भवति। तथा तेजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादीन्द्रियद्वारा निर्गत्य घटादिदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते"[२४] अनुमित्यादिस्थले वह्न्यादिविषयेण सह चक्षुरादीन्द्रियाणां सन्निकर्षाभावान्न विषयदेशगमन-मन्तःकरणस्य। न च विषयाकारपरिणामः, तदभावे तु प्रमाणचैतन्यविषयचैतन्ययोरभेदोऽपि न सम्भवति। भिन्नदेशस्थोपाधीनामुपधेयस्य भेदकत्वेऽपि समानदेशस्थत्वेन न भेदकत्वम् "अतएव मठान्तर्वर्तिघटावच्छिन्नाकाशो न मठावच्छिन्नकाशाद्भिद्यते"[२५] एवमयं घट इत्यादिप्रत्यक्षस्थलेऽपि घटादिविषयस्य तदाकारवृत्ते श्चैकत्र बहिर्देशे समवधानान्नोपधेयस्य भेदकत्वम्। "विभाजकयोरप्यन्तःकरणवृत्तिघटादिविषयोरेदेशस्थत्वेन भेदाजनकत्वात्"[२६]

तत्र घटादिबाह्यविषयप्रत्यक्षस्थले चक्षुरादीन्द्रियद्वारा तैजसमन्तःकरणं घटादिविषयदेशं प्राप्य घटादिविषयाकारेण परिणमते। अन्तःकरणपरिणामरूपाया वृत्तेघटादिविषयसंयोगितया वृत्तिरूपोपाध्यन्तर्गत एव घटादिविषयोपाधिः संजातः। अतस्तद्वोपधेयभूतचैतन्यस्य न भेदः। सुखादेश्चान्तःकरणधर्मत्वेन नियमेनैकदेशस्थिततया तत्रापि सुखाकादवृत्तिरूपोपाधेः सुखादिविषयोपाधेर्न चैतन्यभेदकत्वम्।

ननु वृत्तिरूपोपाद्येर्विषयरूपपोपाधेश्चैकदेशस्थत्वेन चैतन्याभेदस्य प्रयोजकत्वे स्मर्यमाणसुखादेरपि प्रत्यक्षत्वापत्तिः स्यात्। पूर्वानुभूतसुखादेः संस्कारात्मनाऽन्तः-करणनिष्ठत्वेनोद्बोधककारणवशात् स्मरणात्मिकायाः सुखाकारवृत्तेप्यन्तःकरदेशे जायमानतया

सुखाकारवृत्तेःसुखादिविषयस्य चैकदेशस्थत्वं सम्भवतीतिचेन्न वृत्तिरूपोधाधेर्विषयरूपोपाधेश्च समानकालीत्वेनोपधेयाभेदप्रयोजनकत्वम्। तदुक्तम् "उपाध्योरेकदेशस्थत्वे सत्येककालीनत्व-स्यैवोपधेयाभेदप्रयोजकत्वात्"[27] स्मर्यमाणसुखस्यातीतत्वेन स्मरणात्मिकाया वृतेर्वर्तमानत्वेन भिन्नकालीनत्वं सुस्पष्टमेवास्ति।

यदि एककालीनत्वेनोपाधी न विशिष्येते। उपाध्योरेकदेशस्थत्वमात्रमुपधेयाभेद-प्रयोजकमुच्यते। तदा विषयो वर्तमानत्वविशेषणेन विशिष्यते। विषयस्य वर्तमानत्वे सति विषयाकारवृत्तेर्विषयस्य चैकदेशस्थत्वमुपधेपाभेदप्रयोजकत्वम्। स्मर्ययाणसुखस्य वर्तमानत्वाभावान्न सुखस्मृतौ प्रत्यक्षत्वस्यातिव्याप्तिः। स्वकीयसुखदुःखे सर्वदा प्रत्यक्षे परकीये च मुखप्रसादादिनाऽनुमानगम्ये। धर्माधौ वर्तमानावप्यदृष्टरूपतया क्वचिदपि न प्रत्यक्षौ। परन्तु त्वं धार्मिकोऽसि त्वमधार्मिकोऽसीत्यादिवाक्यादिना यदा स्वकीयधर्माधर्मौ ज्ञायेते। तदा वर्तमानयोधर्मार्धयोरन्तःकरणनिष्ठत्वेन शब्दादिना धर्माद्याकारवृत्तेरप्यन्तःकरणदेशस्थत्वेनोपधेया-भेदप्रयोजकत्वे धर्माधर्मविषयकज्ञानयोः प्रत्यक्षत्वाापत्तिः स्यात् । तद् वारणाय विषयः प्रत्यक्षयोग्यत्वविशेषणेन विशिष्यते। तथा च ज्ञानगतप्रत्यक्षत्वप्रयोजकत्वम् विषयस्य प्रत्यक्षयोग्यत्वे सति वर्तमानत्वे। सति विषयरूपोपाधेर्विषयाकारवृत्तिरूपोपाधेश्चैकदेशस्थत्वमिति। एतत्प्रयोजकस्य सत्वे ज्ञाने प्रत्यक्षत्वव्यवहारः सम्भवति।

विषयगतप्रत्यक्षत्वप्रयोजकविचारः

प्रमात्रिभिन्नताज्ञानं विषयाक्षत्वयोजकम्।
मातरि विषयाध्यासोऽभेदकारणमुच्यते।।
स्वोपहितचिदध्यस्तो घटादिविषयो यदा।
प्रमात्रध्यस्ततां याति तदा प्रमात्रभिन्नता।।

'घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षत्वं तु प्रमात्रभिन्नत्वम्'[28] ननु घटादेर्विषयस्य बहिर्देश स्थितस्थत्वेनान्तःकरणाषच्छिन्नचैतन्येन सह कथमभेदः। अहमिमं घटं पश्यामीत्यनुभवेन प्रमातृविषययोः साक्षाद् भेददर्शनादिति चेन्न प्रमात्रभेदपदेन चितो जडभूतस्य मायिकस्य विषयस्य भेद एव निषिध्यते न तु ऐक्यरूपोऽभेदःप्रतिपाद्यते। तथा चोक्तम् "प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वाभावः"[29] तथा हि घटादिविषयाः स्वावच्छिन्नचैतन्येऽध्यस्ताः सन्ति। विषयचैतन्यसत्तैव घटादीनां सत्ता। सिद्धान्तेऽधिष्ठानचैतन्यसत्ताऽतिरिक्तत्ताऽध्यस्त-पदार्थस्य नास्ति।

पूर्वोक्तरीत्या चक्षुरादीन्द्रियद्वाराऽन्तःकरणस्य विषयदेशगमनसम्भवेनान्तःकरणा-वच्छिन्नचैतन्यस्यैव घटादिविषयस्याधिष्ठानत्वम्। विषयदेशपर्यन्तं प्रसृतमन्तःकरणं घटादिविषयं व्याप्नोतीति तदवच्छिन्नप्रमातृभूतचैतन्यमेव घटादिविषयस्याधिष्ठानम्। एवं प्रमातृचैतन्यसत्तैव घटादिविषयसत्ता जाता। न तदतिरिक्तसत्ता विषयचैतन्यस्येति सिद्धं घटादिविषयस्यापरोक्षत्वम्।

अनुमित्यादिस्थले तु वह्न्यादिविषयस्येन्द्रियासन्निकृष्टतयाऽन्तःकरणस्य विषयदेशगमनासम्भवात् स्वावच्छिन्नचैतन्याध्यस्तवह्न्यादिविषयचैतन्यस्य प्रमातृसत्ताभिन्नसत्ताकत्वमस्तीति नातिव्याप्तिः।

नन्वेवम् अहं धार्मिकः सुखित्वादित्यनुमानजन्यस्वकीयधर्मबोधेऽपि प्रत्यक्षत्वापत्तिरिति वाच्यम्। स्वकीयधर्मस्यान्तःकरणपरिणात्वेन तन्निष्ठतयाऽनुमानजन्यस्वकीयधर्माकारवृत्तेश्चान्तः करणनिष्ठतया धर्मावच्छिन्नविषयचैतन्यमन्तःकरणावच्छिन्नप्रमातृचैतन्याद्भिन्नं न जातम्। अतो योग्यत्वविशेषणेन विषयो विशिष्यते। विषयस्य प्रत्यक्षत्वयोग्यत्वे सति प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वाभावः विषयप्रत्यक्षत्वप्रयोजकः। धर्मस्य प्रत्यक्षत्वायोग्यत्वान्न विषयप्रत्यक्षत्वप्रयोजकत्वस्य प्रसक्तिः। धर्माधर्मयोरन्तःकरणधर्मविशेषेऽपि न सुखादिवत्प्रत्यक्षत्वयोग्यत्वमस्ति। अन्तःकरणधर्माणां प्रत्यक्षत्वयोगयता फलबलकल्प्या। अन्यथा नैयायिकदीनां मतेऽपि आत्मधर्मविशेषेण सुखादिवद् धर्माधर्मयोरपि प्रत्यक्षत्वापत्तिर्दुष्परिहरा स्यात्।

नन्वेवम् रूपी घट इति घटगतरूपप्रत्यक्षस्थले घटगतपरिणामादेरपि प्रत्यक्षत्वं स्यात्? तत्र यथा रूपं घटवृत्ति तथा परिणामादयो घटधर्मा घटवृत्तयः सन्ति। घटदेशमभिव्याप्य प्रसृतमन्तःकरणं यथाघटगतरूपं व्याप्नोति तद्वद्घटगतपरिणामादिकमपि व्याप्नोति। रूपावच्छिन्नविषयचैतन्यस्य प्रमातृसताऽतिरिक्तसत्ताकत्वाभावे परिणामाद्यवच्छिन्नविंषयचैतन्यस्यापि प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वाभावःसम्भवति। अथैवं रूपप्रत्यक्षप्रयोजकसमाग्र्या परिणामादीनां प्रत्यक्षत्वापत्तिर्भवेत्। तद्वारणाय प्रमातृचैतन्यं तत्तदाकारवृत्त्युपहितत्वशिषणेन विशिष्यते। तथा हि विषयस्य प्रत्यक्षयोगयत्वे सति तत्तदाकारवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्यसत्ताऽतिरिक्तसताकत्वाभावः, विषयप्रत्यक्षत्वप्रयोगकः। रूपकारवृत्तिदशायां परिणामाद्याकारवृत्तेरभावेन परिणामाद्याकारवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्वाभावेन न परिणामादीनां प्रत्यक्षत्वापत्तिः।

वृत्तिविषयकवृत्तिस्वीकारेऽनवस्था स्यादतो वृत्तिविषयकवृत्तिर्न स्वीक्रियते। तथापि वृत्तेः स्वविषयत्वाभ्युपगमेन स्वाकारवृत्त्युपहितप्रमातृसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वाभावेन वृत्तेरपि प्रत्यक्षत्वं सङ्गच्छते। तद्यपि वृत्तेः स्वविषयत्वे प्रभाकरसंमतं विज्ञानवादिसम्मतञ्च स्वप्रकाशत्वमापद्यते। तेषां मते स्वस्मिन्नेव प्रकाशत्वं स्वप्रकाशत्वमभिमतमस्ति। तथापि सिद्धान्ताभिमतम् अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षत्वयोग्यत्वरूपं स्वप्रकाशत्वं वृत्तौ नास्त्येव। वृत्तेर्वेद्यत्वाभ्युपगमात्।

वस्तुतस्तु एकत्रैकदा कर्तृकर्मविरोधाद् वृत्तेः स्वविषयत्वं न युक्तम्। अनस्थाभिया वृत्तिविषयिणी वृत्तिरपि न स्वीक्रियते। साक्षिभास्यैव वृत्तिः प्रत्यक्षविषयतामधिगच्छति। यत्तु वृत्तिः स्वविषया अन्याप्रकाश्यत्वे सति प्रकाश्यमानत्वादात्मवदित्यनुमानेन वृत्तौ स्वविषयत्वं साध्यते, तन्न सम्भवति। आत्मवदिति दृष्टान्ते स्वेन प्रकाश्यमानत्वस्य व्यभिचारात्। नात्मा स्वेन परेण वा प्रकाश्यः। स्वस्मिन् स्वविषयत्वस्य बाधाच्च नोक्तानुमानं स्वविषयत्वसाधकम्। सुखादिवत् केवलसाक्षि विषयत्वादेव वृत्यादीनां प्रकाश्यत्वे उपपन्ने वृत्तिविषयाया वृत्तेरापेक्षा

नास्ति। केवलसाक्षिविषये वृत्तेरुपयोगाभावात् "सा च वृत्तिश्चतुर्विधा संशयो, निश्चयो गर्वः स्मरणमिति"[३०] वृत्तिभेदेनैकमप्यन्तः करणं मनोबुद्धिः चित्तमिति व्यपदिश्यते। तथा योक्तम्—

"मनोबुद्धिरहङ्काराश्चित्तं करणमन्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे।।"[३१]

तदेवं स्वाकारवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्यसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वशून्यत्वे सति योगत्वं विषयस्य प्रत्यक्षत्वम्। तत्र संयोगसंयुक्ततादात्म्यादीनां सन्निकर्षाणां चैतन्याभिव्यवृत्तिजनने कारणत्वम्। तच्च प्रत्यक्षं सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदेन द्विविधम्।

प्रत्यक्षद्वैविध्यविचारः

यत्र पदार्थसंसर्गो विषयत्वेन भासते।
तत्सविकल्पकं ज्ञानं तच्छून्ये निर्विकल्पता।।
भिन्नपदार्थसंसर्गो यत्र ज्ञानेऽवभासते।
तदेव सविकल्पाख्यं तदन्यन्निर्विकल्पकम्।।
संसर्गरहितं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानसम्भवम्।
तत्राखण्डधिया जातं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्।।

प्रत्यक्षं द्विविधं सविकल्पकं निर्विकल्पकञ्चेति। तत्र पदार्थसंसर्गावगाहि ज्ञानं सविकल्पकमित्युच्यते। विषयितासम्बन्धेन सह विद्यमानो विकल्पो विशेष्यविशेषणयोः संसर्गो यत्र तज्ज्ञानेऽवभासते तज्ज्ञानं सविकल्पकं भवति। यथा घटमहं जानामीत्यादिज्ञानम्। अत्र ज्ञाने घटघटत्वयोः संसर्गोऽपि वैशिष्ट्येनावभासते। निर्विकल्पकं तु संसर्गानवगाहि ज्ञानम्। यथा सोऽयं देवदत्तः अत्र ज्ञाने विशेषणविधया प्रविष्टयोस्तत्तेदन्तयोर्भानं नास्ति। इन्द्रियसन्निकृष्टदेवदत्तमात्रस्य बोधादस्य ज्ञानस्य निर्विकल्पकत्वम्। एवं तत्त्वमसीत्यादिवाक्य-जन्यज्ञानमपि निर्विकल्पकं तत्रापि सकल संसर्गशून्यनिधर्मकचैतन्यमात्रस्य बोधो भवति। इन्द्रियजन्यत्वं प्रत्यक्षत्वे न प्रयोजकमिति कृत्वा शाब्दमपीदं ज्ञानं प्रत्यक्षमेव। योग्यवर्तमानविषयकत्वे सति प्रमाणचैतन्यस्य विषय चैतन्याभिन्नत्वरूपप्रत्यक्षप्रयोगकस्य तत्रापि सत्त्वात्।

अखण्डार्थस्वरूपविचारः

संसर्गाबोधकं वाक्यं व्यक्तिमात्रस्य बोधकम्।
अखण्डार्थस्य तद्धेतु स्तदन्यत् स्याद्विकल्पके।।
पदार्थसम्बन्धबोधो यद्वाक्येन न गम्यते।
तदखण्डार्थकं वाक्यमिति शास्त्रविदां मतम्।।

यत्र वाक्येन पदार्थ संसर्गस्य बोधो न भवति। तत्राखण्डार्थस्य प्रतीतिर्जायते। यथा

सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञास्थले तत्तेदन्तारहितेन्द्रियसन्निकृष्टदेवदत्तमात्रस्य बोधः। प्रत्यभिज्ञास्थले वाक्यजन्यज्ञानस्यापि देवदत्तादिविषयस्येन्द्रियशन्निकृष्टतया चक्षुरादीन्द्रियद्वारेण बहिर्निःसृतान्तःकरणवृत्त्यभ्युपगमेन वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यदेवदत्तावच्छिन्नचैतन्योरभेदात् प्रत्यक्षत्वमस्तीत्येव।

एवं तत्त्वमसि इत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्यापि। तत्त्वमसीतिवाक्यश्रवणोत्तरं तत्पदबोध्य-सर्वज्ञत्वविशिष्टत्वंपदबोध्याल्पज्ञत्वविशिष्टविषयकं ज्ञानं न जायते। सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्व-विरुद्धधर्मवतोरैक्याभावात्। किन्तु तत्त्वमितिपदद्वयलक्ष्याखण्डचैतन्यस्यैव बोधः। तत्वंपदलक्ष्यं केवलचैतन्यं तच्च सन्निकृष्टमेवास्ति। तत्र प्रमातुरेव विषयतया लक्ष्यचैतन्यस्य वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य चैकदेशस्थितयोपाधिद्वयावच्छिन्नचैतन्ययोभेदात्।

ननु वाक्यजन्यज्ञानस्य पदार्थसंसर्गवगाहितया कथं संसर्गानवबोधकं निर्विकल्पकं ज्ञानं तत्त्वमसीत्यादिवाकजन्यमत आह वाक्यजन्यज्ञानविषये न हि पदार्थसंसर्गत्वं तन्त्रम्। अनभिमतसंसर्गस्यापि वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वापत्तेः। किन्तु तात्पर्यविषयत्वं वाक्यार्थबोधे तन्त्रम्।

तत्त्वमस्यादिवेदान्तवाक्यानाममुपक्रमोपसंहारादिषड्विधलिङ्गैरखण्डचैतन्यरूपेऽर्थे तात्पर्यमवसितम्। यस्मिन्नर्थे वाक्यानां तात्पर्यं स एवार्थो बोध्यते। संसर्गे वेदान्तवाक्यानां तात्पर्यभावान्न संसर्गस्य बोधः। संसर्गानबोधकत्वेनाखण्डर्थत्वं वेदान्तवाक्यानाम्। तथा योक्तम्—

संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुता निरामियम्।
उक्ताऽखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता।।[३१]

पदानां वाक्यानां वा संसर्गाविषयकबोधे हेतुता एवाखण्डार्थता। यद्वा प्रतिपादिकार्थ-मात्रपरत्वमखण्डार्थत्वम्। ननु वेदान्तनये ब्रह्मणोऽवेद्यत्वाभ्युपगमेन तत्त्वंपदलक्ष्यभूतस्य चैतन्यस्य कथं प्रत्यक्षत्वम्। तथा च श्रुतिः "विज्ञातारमरे केन विजनीयात्" तत्रोच्यते अवेद्यत्वपदेन फलव्याप्यत्वमात्रं निषिध्यते। वृत्तिविषयत्वं तु आत्मनोऽभिमन्यत एव। ब्रह्मणः सर्वतोभावेनाप्रत्यक्षत्वेऽविद्यानिवृत्तिर्न स्यात्। ब्रह्मणोऽपरोक्षज्ञानमेवाविद्यानिवर्तक-मस्ति।

तथा चोक्तम्—

फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।।[३२]

अभिव्यक्तं चैतन्यं फलं भवति। अभिव्यक्तिश्च इन्द्रियद्वाराऽर्थसन्निकृष्टमनःपरिणामविशेषः तथा च इन्द्रियसन्निकर्षद्वारा घटादिविषयदेशेऽन्तःकरणस्य घटाद्याकारवृत्तिर्जायते। तत्र अभिव्यक्तं चैतन्यं फलमुच्यते। चैतन्यप्रतिबिम्बयुता वृत्तिर्विषयं व्याप्नोतीति फलरूपचैतन्यस्यापि व्याप्तिर्जाता। घटादिजडविषयणामिन्द्रियसन्निकर्षसम्भवेन फलव्याव्यत्वमभिमन्यते। ब्रह्मणश्चेन्द्रियसन्निकर्षाभावेन फलव्याप्यत्वं नास्ति। ब्रह्मणः तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यवृत्तेरविषत्वेऽज्ञाननिवृत्तिर्न स्यात्। अज्ञाननिवृत्तिरेव वेदान्तशास्त्राध्ययनस्य फलम्।

जीवसाक्षीश्वरसाक्षिभेदेन प्रत्यक्षद्वैविध्यविचारः

जीवसाक्षिप्रकाश्यं यत् यच्चेशशाक्षिभासितम्।
प्रत्यक्षं द्विविधं प्रोक्तं भासकचित्प्रभेदतः।।
उपाधिभेदमाश्रित्य साक्षिणो भेद उच्यते।
स्वतश्चाद्वयरूपत्वान्न तत्र भेदसम्भवः।।

प्रत्यक्षं द्विविधं जीवसाक्षिजन्यमीशसाक्षिजन्यञ्च तत्रावच्छेदवादेऽन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं जीवः। अन्तःकरणोपहितं चैतन्यं जीवसाक्षि उच्यते। अन्तःकरणस्यैवावच्छेकोपाधिरूपत्वेन चैतन्यस्य भेदकत्वम्। अत्रावच्छेदकपदं विशेषणपरम्। विशेषणं हि वर्तमानं सत्कार्यान्वयि व्यावर्त्तकम्। उपाधिश्च वर्तमानः सन् कार्यानन्वयी व्यावर्तको भवति। अन्तःकरणस्य विशेषणत्वे विधेयभूतचैतन्येऽन्वयेन तद्गतजायसंसर्गात् प्रमातृत्वम्। अन्तःकरणस्योपाधित्वे विधेयभूतचैन्येऽनन्वयेन स्वरूपभूतप्रकाशस्याविरोधोत् साक्षित्वम्।

ननु साक्षिचैतन्यस्याभिमतिर्निष्प्रयोजना। चक्षुरादीन्द्रियद्वारेण विषयदेशं व्याप्य प्रसृतया घटाद्याकारान्तःकरणवृत्त्या विषयप्रकाशसम्भव इति चेन्न अपञ्चीकृतमहाभूतानां सत्त्वांश समुदायादुत्पन्नान्तःकरणस्य जडत्वेन तत्परिणामस्यापि जडत्वाद् विषयप्रकाशत्वायोगात्। तथाहि स्वयंस्वप्रकाशभूतं साक्षिचैतन्यं सर्वत्राविद्याऽऽवृत्तम् अन्तःकरणदेशावच्छेदेनाऽनावृत्तं सत् तदवच्छेदेन विषयप्रकाशकम्। अतोऽन्तःकरणं प्रकाशभूतचैन्यस्योपाधिः। यथा सर्वत्र व्यापकतया विद्यमानयमपि नभः कर्णशष्कुलिदेशावच्छेदेन शब्दस्वरूपाभिव्यञ्जकम् अतः कर्णशष्कुलिदेशः श्रोत्ररूपस्याकाशस्योपाधिस्तद्वत् सर्वत्रावृत्तस्वरूपस्य साक्षिणोऽन्तः। करणमुपाधिरिति। उपाधिभूतान्तःकरणानां नानात्वात् जीवसाक्षिणोऽनेकत्वम्।

ईश्वरसाक्षि तु मायोपहितं चैतन्यम्। तत्र मायाभूतोपाधेरेकत्वात् ईश्वरसाक्षिण एकत्वम्। मायाया अनादित्वेऽपि सृज्यमानप्राणिकर्मवशेन परमेश्वरस्योपाधिभूतमायायाः परिणामविशेषा जायन्ते। कर्मणः फलभोगोन्मुखदशायामिदमिदानीं सृष्टव्यमित्याकारा वृत्तिर्जायते। कर्मणः फलभोगदशायामिदमिदानीं पालयिव्यमित्याकारवृतिर्जायते कर्मणः फलभोगोपरतौ इदमिदानी संहर्त्तव्यमित्यकारा च वृत्तिर्जायते। तासां वृत्तीनां सादित्वेन तत्प्रतिबिम्बितचैन्यमपि सादीत्युच्यते। अतः परमेश्वरस्यापि वृत्तिरूपं ज्ञानं सादि जन्यपरिणामरूपमेवास्ति।

केवलसाक्षिभास्यत्वविचारः

करणाजन्यवृत्त्या यो विषयो व्याप्यतेऽमलः।
साक्षिणा भास्यमानत्वात् साक्षिभास्यः स उच्यते।।

अविद्याऽन्तःकरणादीनां प्रत्यक्षत्वे चक्षुरादिप्रमाणं नापेक्ष्यते। अतस्ते साक्षिमास्याः कथ्यन्ते। एवं प्रातिभासिकपदार्थानामिन्द्रियासन्निकृष्टतया करणं निरपेक्ष्य वृत्तिर्जायते। तया वृत्त्या गृहीतविषयश्चैतन्येनावभास्यते। केवलसाक्षिभास्य उच्यते। तत्र वेदान्तपरिभाषाकारः

साक्षिभास्यस्थलेऽपि वृत्तिविशेषं स्वीकरोति।

वस्तुतस्तु केवलसाक्षिभास्यप्रत्यक्षस्थले वृत्तिर्नापेक्ष्यते। वृत्तिं विनाऽपि साक्षिचैतन्यं सर्वावभासकमस्ति। केवलसाक्षिभास्यत्वे यदि वृत्तिरापेक्षेत तदा वृत्तेः साक्षिभास्यत्वं न स्यात्। परन्तु अहं सुखमनुभवामि इति प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या सुखादिविषया वृत्तिः स्वीक्रियते।

एवमीशसाक्षिणा प्राणिकृतकर्मफलं प्रकाश्यते। ईशसाक्षिणा प्रकाशितानि कर्मफलानि प्राणिभिरुपभुज्यन्ते। साक्षिरूपेण सर्वप्राणिनामन्तःस्थितं साक्षिचैतन्यं कर्मफलं प्रकाशयति। तत्रापीन्द्रियादिकरणानि नापेक्ष्यन्ते। अतः पाणिकर्मफलमपि केवलसाक्षियास्यमिति।

वेदान्तशास्त्रसंसिद्धं प्रत्यक्षं हि निरूपितम्।
इतोऽप्यधिकबोधाय शास्त्रालोडनमिष्यते।।

सन्दर्भग्रन्थाः–

१. कारिकावली का० १२७
२. मुक्तावलीगुणनिरूपणे
३. कारिकावली का० १७०
४. मुक्तिवलीगुणप्रकरणे
५. कारिकावली का० १३५
६. मुक्तावलीगुणनिरूपणे
७. वेदान्तपरिभाषा प्रत्यक्षपरिच्छेदे
८. वेदान्तपरिभाषा प्रत्यक्षपरिच्छेदे
९. बृ० ४.५.१५
१०. बृ० ४.५.१५
११. पा० सू० २.१.६
१२. पा० सू० २.२.१४
१३. न्यायसूत्रम् २२४
१४. वेदान्तपरिभाषा प्रत्यक्ष परिच्छेदे १२ पृ० ३४१
१५. पञ्चपादिकाविवरणे
१६. वेदान्तपरिभाषा प्रत्यक्षपरिच्छेदे
१७.
१८. बृ० १.५.३
१९. का० १.३.१०
२०. वेदान्तपरिभाषाप्रत्यपरिच्छेदे
२१. वेदान्तपरिभाषा
२२. वेदान्तपरिभाषा
२३. वेदान्तपरिभाषाप्रत्यक्षपरिच्छेदे
२४. वेदान्तपरिभाषाप्रत्यक्षपरिच्छेदे
२५. वेदान्तपरिभाषाप्रत्यक्षपरिच्छेदे

२६. वेदान्तपरिभाषाप्रत्यक्षपरिच्छेदे
२७. वेदान्तपरिभाषाप्रत्यक्षपरिच्छेदे
२८. वेदान्तपरिभाषाप्रत्यक्षपरिच्छेदे
२९. तत्रैवायं श्लोकः
३०. प्रत्यक्तत्त्वप्रदीयिका
३१. बृ० उ० २.४.१४
३२. वेदान्तसारे

***

अद्वैतनयेऽर्थापत्तिप्रमाणस्वरूपविमर्शः

वाचस्पतिः

डॉ० दिव्यचेतनब्रह्मचारी

अतिथि अध्यापक

व्याकरण विभाग,

संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी।

समेषां प्राणिनां प्रमात्मकज्ञानेनैव निष्कम्पप्रवृत्तिः भवति इति व्यवहारे वयं पश्यामः, तदर्थं किमपेक्षितं भवति विचारप्रसंगे आयाति करणमपेक्षितं तच्च तत् किम् ? इत्याकांक्षायां वेदान्तपरिभाषाकारेणोक्तम्- "प्रमाकरणं प्रमाणम्।" तत्र प्रमाकरणे विशेषणं 'प्रमा' सा का?। नागृहीतविशेषणा बुद्धिः विशेष्यमवगाहते इति न्यायात् प्रमायाः ज्ञानमावश्यकं भवति। तत्राद्वैतसिद्धान्ते प्रमायाः लक्षणम्-

"अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानत्वम्।" अथवा तदवृत्त्यनवच्छेदाप्रकारत्वे सति ज्ञानत्वम्। एतादृशप्रमायाः करणं यद् भवति, तदेव प्रमाकरणमुच्यते। प्रत्यक्षानुमानोपमानागमैः शांकरभाष्यम्। (मुण्डकोपनिषद् प्र.मु.द्वि.ख.म.सं.१२) तच्च वेदान्त न्याये षड्विधं भवति। यद्यपि शांकरभाष्यालोडनेन चत्वारि प्रमाणानि, भान्ति न तु षट्। तथापि व्यवहारे भट्टनये इति शरणीमाश्रित्य षट् प्रमाणानि[१] राजन्ते वेदान्तनिकाये। तेषां मध्येऽन्यतमं प्रमाणमर्थापत्तिः। तत्रादौ अर्थापत्तिप्रमाणस्वीकारस्य किं फलं, सम्प्रदायदृष्ट्या श्लोकवार्त्तिके लिखितानि पद्यानि प्रस्तूयन्ते तद्यथा-

स्मृत्या श्रुतिर्या परिकल्प्यतेऽस्मिन् लिंगादिभिर्या विनियोजिका च। फलादिभिर्यत् परिपूरणं च सम्बन्धकृत्तत्र न काचिदस्ति। तत्सर्वमित्याद्यसमंजसं स्याद् न चेदियं स्यादनुमानतोऽन्या।।[२] अर्थस्य आपत्तिः यस्मात् सा अर्थापत्तिः, अर्थस्यापत्तिः वा अर्थापत्तिः। अर्थस्य विवक्षितस्य पदार्थस्यापत्तिःकल्पना अनुपपत्तिः। बहुव्रीहिपक्षे यद्यपि आपद्यतेऽन्येति करणव्युत्तिराश्रीयते, बाहुलकत्वात् करणेपि क्तिन् प्रत्ययश्च क्रियते, तदा करणपरम् तथापि स्त्रियां क्तिनो भावाधिरणत्वेन बाहुलकत्वेन करणपरत्वाश्रयमयुक्तं मत्वा बहुव्रीहिसमासेनैव करणपरत्वमंगीकरणीयमिति वेदन्तपरिभाषकारस्य भावः। यतो हि बाहुलकस्यागतिकगतिकत्वाद्

मे मतिः तथा ज्ञापितव्यधिकरणकबहुव्रीहिसमासेनैव अर्थापत्तिशब्दस्य प्रमाणपरत्वं बोधयति। अत्रापत्तिशब्द भावव्युपत्तिपरः बोध्यः। लक्षणं भवति– उपपाद्यज्ञानेनोपपादकज्ञानकल्पना। तत्रोपपाद्यत्वं नाम उपपादयितुं योग्यमुपपाद्यं तच्च किम? कार्यम् , तस्य ज्ञानम्, उपपाद्यस्य ज्ञानम् इति उपपाद्यज्ञानम्, कार्यज्ञानम्, तेनोपपाद्यज्ञानेन। उपपादकज्ञानम् एतस्य तात्पर्यं भवति। उपपादयति इति उपपादकः कारणमित्यर्थः तस्य ज्ञानमुप पादकज्ञानम्, तस्य कल्पनेति संहत्यार्थो जायते उपपाद्यज्ञानेनोपपादज्ञानकल्पना। उपपाद्यज्ञानेनेति पदम्, स्वरूपकथनपरं न तु लक्षणघटकमिति विशेषः। उपपाद्यस्य ज्ञानम् इत्यत्र षष्ठ्यर्थः विषयित्वं विषयित्वसम्बन्धेनापपाद्यं विशेषणमुपाद्यविषयकज्ञाने तच्च ज्ञानं तृतीयार्थजन्यत्वसम्बन्धेनोपपादकज्ञाने गच्छति। तथा बोधो जायते विषयित्वसम्बन्धावच्छिन्ना उपपाद्यत्वावच्छिन्ना या प्रकारता उपपाद्यनिष्ठा तादृशप्रकारतानिरूपिता या उपपाद्यज्ञानत्त्वावच्छिन्ना विशेष्यता तादृशविशेष्यतासमानाधि करणजन्यत्वसबन्धावच्छिन्ना ज्ञानत्वावच्छिन्ना या प्रकारतानिरूपिता या उपपादकज्ञानत्वावच्छिन्ना– विशेष्यता तादृशविशेष्यतावद् यदुपपादकज्ञानम् तस्य या कल्पना तदेवार्थापत्तिप्रमाणम्। तथा च मणिप्रभा[३] ग्रन्थः उपपाद्यज्ञानत्वावच्छिन्नोपपाद्य–ज्ञाननिष्ठोपपादकज्ञानीयजन्यता–निरूपितजनक– तानिरूपितजन्यतावदुपपादकज्ञानमित्यर्थः। षष्ठीतत्पुरुषसमासपक्षे अर्थापत्तिशब्दार्थः प्रमाबोधकः बहुव्रीहिसमासपक्षे अर्थापत्तिशब्दः प्रमाणबोधकः। अर्थस्य रात्रिभोजनरूपस्योपपादक ज्ञानस्य आपत्तिः कल्पना तथा च रात्रिभोजनकल्पनमेवार्थापत्ति–प्रमेत्यर्थः। प्रमाणपरः अर्थापत्तिशब्दः– अर्थस्य रात्रिभोजनस्योपपादकज्ञानस्य कल्पना यस्माद् दिवाभोजनाभावविशिष्टपीनत्वज्ञानात् तदर्थापत्तिप्रमाणम् । सटिप्णार्थदीपिकः[४]। इयमर्थापत्तिः द्विविधा– दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्चेति भेदाद्[५]। दृष्टस्य अर्थस्य आपत्तिः कल्पनेति दृष्टार्थापत्तिः। तद्यथा भ्रमस्थले इदं रजतमिति पुरोवर्तिनि पदार्थे प्रतिपन्नस्य रजतस्य इयं शुक्तिः नेदं रजतमिति। तत्र निषिध्यमानत्वं निषेध– प्रतियोगित्वं रजतस्य सत्यत्वेऽनुपपन्नमिति तत्र रजतस्य सद्भिन्नत्वमसत्यत्वात्यन्ताभाववत्वं वेत्यात्मकं मिथ्यात्वं कल्पयति इति। एतेनेदमागतम् शुक्तिरजतादिनिष्ठमिथ्यात्वाद्यभाव– व्यापकीभूतप्रमीयमाणनिषिध्यमानत्वाद्यभाव प्रतियोग्यर्थविषयकज्ञानत्वम्। दृष्टार्थापत्तेः फलितार्थस्तु चक्षुरादिनापरोक्षीभूतार्थानुपपत्त्यापत्तिुपपादकार्थज्ञानं दृष्टार्थापत्तिः। यद्वा दृष्टार्थेन–इदं रजतमिति पुरोवर्त्तिप्रतिपन्नरजतनिष्ठं नेदं रजतमिति निषिध्यमानत्वरूपार्थेनापत्तिरुपपादकमिथ्यात्वरूपार्थस्य ज्ञानं दृष्टार्थापत्तिः। तथा च शुक्तिरजतादिनिष्ठनिषिद्ध्यमानत्वादिरूपार्थाभावव्यापक– मिथ्यात्वाद्यभावप्रतियोग्यर्थविषयकज्ञानत्वं दृष्टार्थापत्तित्वम्। श्लोकवार्तिकवचनम्–

प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत्। अदृष्टं कल्पयेतदन्यं सार्थापत्ति– रुदाहृता।[६] तत्र श्रुतार्थापत्तिः श्रृतस्य श्रुयमाणस्य अर्थस्य स्वार्थस्य अनुपपत्तिः। अर्थात स्वार्थानुपपत्तिमुखेनार्थान्तरकल्पनम् । एवं श्रुतार्थेन– बन्धनिष्ठज्ञाननिवर्त्यत्वार्थेनापत्तिरुप– पादकमिथ्यात्वज्ञानं श्रुतार्थापत्तिः श्रुतबन्धनिष्ठज्ञाननिवर्त्यत्वाद्यभावव्याक–मिथ्यात्वाद्यभाव– प्रतियोग्यर्थविषयकज्ञानत्वं श्रुतार्थापत्तित्वमिति। वेदान्ते मुक्तिविषयकं वाक्यं प्रसिद्धम्– तरति शोकमात्मविद्[७] इत्यत्र श्रुतस्य श्रूयमाणस्य शोकशब्दवाच्यबन्ध–समुदास्य ज्ञाननिर्वर्त्यत्व–

स्यान्यथानुपपत्त्या बन्धजातस्य मिथ्यात्वं कल्प्यते। स चायं श्रुतिबोधितोऽर्थः शोकस्य सत्वत्वे नोपपद्यते, सत्यत्वस्य ज्ञाननिर्वर्त्तत्वायोगात्, मिथ्यात्वे तूपपद्यते एव।

एतेनेदं बोध्यम् –

शोकादिनिष्ठमिथ्यात्वाद्यभावव्यापकीभूतश्रूयमाणज्ञाननिवर्त्तर्यत्वाद्यभावप्रतियोग्यर्थ-विषयकज्ञानत्वम्। लोकप्रसिद्धः दृष्टान्तस्तु यथा वा जीवी देवदत्तो गुहे नेति वाक्यश्रवणान्नतरं जीविनो गृहासत्त्वं बोधयद् बहिःसत्त्वं कल्पयति।

श्रुतार्थापत्तिश्चेति द्विविधा–अभिधाननुपपत्तिरभिहितानुनपपत्तिचेति।[८] अत्राभिधान-शब्दतात्पर्यपरः अर्थदीपिकाग्रन्थः– अभिधीयतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्याभिधानपदेन तात्पर्यस्य विवक्षिततत्वाद्।[९] तात्पर्यस्य विवक्षित्वे सतीदं समाधानं फलितमित्याह तथा च द्वारकर्मकपिधानक्रियासंसर्गपरत्वं पिधानोपस्थापकपदं विनानुपपन्नमिति ज्ञानं तत्रापि संभाव्यते। यत्र वाक्यैकदेशश्रवणेऽन्वयाभिधानानुपपत्त्यान्वयाभिधानोपयोगिपदान्तरं कल्प्यते तत्राभिधानानुपपत्तिः। तद्यथा द्वारं पिधेहि वाक्यप्रयोक्तव्ये वाक्यैकदेशः प्रयोक्तः द्वारमिति अत्र द्वारनिष्ठाकर्मता क्रियात्मकनिरूपकमन्तरानुपपन्ना तत्र योग्यक्रियाबोधकं पदं कल्प्यते अर्थात अध्याहारः क्रियाबोधपदस्य भवति। अभितानुपपत्तिस्तु यत्र वाक्यावगतोर्थोऽनुपपन्नत्वेन ज्ञातः सन्नर्थान्तरं कल्पयति। अनयोर्भेदकरणमेवं बोध्यम्– दृष्टार्थापत्तौ अर्थस्यैव कल्पनम्, श्रुतार्थापत्तौ तु शब्दस्य प्रमाणस्य कल्पनमिति वैषम्याद् भेदेन विभागः इति।[१०] श्रुतार्थापत्तौ यदि अर्थस्यैव कल्पना स्यादिति, तर्हि श्रुतस्यैव वचनस्य सोऽर्थः कल्पनीयः परन्तु तन्न युक्तम् तथा हि श्लोकवार्त्तिके–

> न तावत् श्रूयमाणस्य वचसोऽर्थेऽयमिष्यते।
> न ह्यनेकार्थता युक्ता वाक्ये वाचकता तथा।
> पदार्थान्वयरूपेण वाक्यार्थो हि प्रतीयते।
> न रात्र्यादिपदार्थश्च दिवावाक्येन गम्यते।
> न दिवादिपदार्थानां संसर्गो रात्रिभोजनम्।
> अन्यार्थव्यापृतत्त्वाच्च न द्वितीयार्थपल्पना।
> तस्माद् वाक्यान्तरेणायं बुद्धिस्थेन प्रतीयते।[११]

यथा स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत[१२] इत्यत्र स्वर्गसाधनत्वस्य क्षणिकज्योतिष्टोमया-गतयावगतस्यानुपपत्त्या मध्यवर्त्त्यपूर्वं कल्प्यते। न चेयमर्थापत्तिरनुमानेऽन्तर्भवितुमर्हति। अनेनेदं कल्पयामि इति अनुव्यवसायबलात्। यथा पृथिवी स्वेतरभिन्ना गन्धवत्त्वाद्। तत्र गन्धवत्त्वमितरभेदमन्तरानुपपन्नम्। तेन पृथिव्यामितरभेदःकल्प्यते। तथा चानुव्यवसायः पृथिवीतरभेदं कल्पयामि यदीतरभेदप्रमानुमितिः स्याद् अनुमिनोमि इत्यनुव्यवसायः स्याद् अनुव्यवसायस्यैव ज्ञानसाक्षित्वात् न च तथानुव्यवसायः, तस्मादितरभेदप्रमा नानुमितिः, किन्त्वर्थापत्तिः।[१३] तस्मादर्थापत्तिः प्रमाणान्तरम्। न त्वस्यानुमानेन्तरभावः उक्तानुव्यवसाय-

विरोधात् एतच्च फलबलस्वभावेन कल्पनीयं भवति। किंच यद्यपि यत्र यत्र रात्रिभोजनामभावस्तत्र तत्र दिवाभुंजानत्वसमानाधिकरणपीनत्वस्याभावः यथा दिवा रात्रौ चाभोजीति व्याप्तिः संभवति तथापि न सा पीनत्वरात्रिभोजनयोर्हेतुसाध्ययोः। किंतु तदभावयोः। अथ चात्र व्याप्तिस्मृत्यादेरपेक्षापि न दृश्यते इत्यर्थापत्तिप्रमाणान्तरमेव साधीयः इत्यद्वैतामोद-ग्रन्थः।[१४] अत्र विशेषः तत्रोपपाद्यज्ञानं नाम उपपाद्याकारान्तःकरणवृत्तिः[१५] करणम् व्यपारवदसाधारणकारणम् करणम् प्रकृते कः व्यापारः स्याद् येन व्यापारेणार्थापत्तिप्रमाणं स्याद्, अत्र व्यापारो नामेति उपपाद्याकारवृत्तेर्विषयेण साकं सम्बन्धः स एव व्यापाररूपः यतो व्यापारस्य लक्षणं तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वव्यापारः यथा उपपाद्यज्ञानं पीनत्वज्ञानं तस्योपपादकविषयेण सह विषयताख्यसम्बन्धः तज्जन्यं यदुपपादकज्ञानं तत्फलम् तत्र यः व्यापारः विषताख्यसम्बन्धः तस्मिन् उपपाद्यज्ञानजन्यत्वं सत् उपपादकज्ञानजनकत्वं वर्तते। तादृशव्यापारवादुपपाद्यज्ञानम् इति प्रमाणम्। रत्नप्रभाकारस्तु संस्कारव्यापारः अर्थापत्तौ प्रमाणम्– तत उपपाद्यज्ञानत्वेन तज्जन्यज्ञानत्वं फलभूतार्थापत्तिलक्षणं चार्थापत्तिप्रमाणलक्षणम् तत्करणं च नान्तःकरणं न चान्यत्, किन्त्वनुमितौ व्याप्तिज्ञानमिव तत्संस्कारव्यापारकम् शिखामणौ।[१५] एतस्य विवरणं मणिप्रभा तत्करणत्वं च उपपाद्यज्ञानरूपार्थापत्ति प्रमाकरणत्वम्। व्याप्तिज्ञानमिव तत्संस्कारव्यापारकम्– उपपाद्यज्ञानसंस्कारव्यापारकम्। यद्यपि सामान्यतः उपपादकज्ञान सिद्धौ अपि उपपाद्याधिकरणव्यक्तिविशेषवृत्तितया ज्ञानस्यासिद्धेः अतः अपूर्वभूतायाः प्रमायाः जनकत्वात्। अज्ञातज्ञापकत्वेन प्रमाणत्वं रक्षितं बोध्यम्। उपपादकं व्यापकं भवति उपपाद्यो व्याप्यो भवति। अभावयोर्व्याप्तिः मध्ये विपरीतं भवति। तथा अर्थापत्तेः लक्षणं भवति। उपपाकाभाव-व्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वमुपपाद्यत्वमिति। उपपाद्याभाव-व्याप्याभावप्रतियोगित्वमुपपादकम्। यत्र उपपादकाभावस्तत्रोपपाद्याभावः इतिरीत्या उपपादकाभावस्य व्याप्यत्वमुपपाद्याभावस्य च व्यापकत्वं बोध्यम्। अर्थापत्तिः प्रमाणान्तरं न्यायरत्नाकरे[१६] ईदृगरूपमेव ह्येतत् प्रमाणम् यदर्थं च यस्यासत्यर्थान्तरे मिथः प्रतिघातेनासंभवमालोच्यार्थान्तरकल्पना प्रतिघातं परिहृत्य संभवतीत्यत एव विलक्षणसामग्रीत्वेन प्रमाणान्तरत्वमिति। श्लोकवार्तिके– पक्षधर्मादिविज्ञानं बहिः संबोधतो यदि। तैश्च तद् बोधतोऽवश्यमन्योन्याश्रयता भवेदन्यथानुपपत्तौ हि प्रेमयानुप्रवेशिता तादूरूप्येणैव विज्ञानान्न दोषः प्रतिभाति नः।[१७]

प्रमाणान्तरस्वीकारे न तावदाग्रहो विद्यते मीमांसकानां वेदान्तिनां वा। तथा च श्लोकवार्तिकवचनम्– एवंस्वभावाप्यनुमानशब्दं लभेत चेदस्तु यथेप्सितं नः इति।[१८] अर्थापयामीत्यनुभवसिद्धजातिविशेषः तदवच्छिन्ना[१९] प्रमा, रूढ्या अर्थस्य आपत्तिः ज्ञानमिति, योगेन च अर्थस्य आपत्तिर्ज्ञानं यस्मात् प्रमाणात् तद् अर्थापत्तिः प्रमाणमिति। अर्थापत्तिर्नाम अन्यथानुपपत्तिज्ञानमिति। प्रभाटीकारस्तु[२०]– उपपाद्यज्ञानहेतुभूतमुप-पाद्यज्ञानमर्थापत्तिः प्रमाणम्। उपपाकज्ञानमर्थापत्तिः प्रमा फलम्। यथा पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते... अत्यत्र पीनत्वं रात्रिभोजनानुपपत्त्यासम्भवीति रात्रिभोजनं कल्पयति। अत्रोपपादकज्ञानहेतभूतं पीनत्वज्ञानमुपपाद्यं सदर्थापत्तिः प्रमाणम्। रात्रिभोजनज्ञानमुपपादकं सदर्थापत्तिः प्रमेति। तत्र योऽर्थोऽन्येन

केनचित्कल्पनीयेन विना नोपपद्यते सोऽर्थं 'उपपाद्यः' इति। यस्य च कल्पनयार्थस्याभावे सत्युपपाद्यं नोपपद्यते सोऽर्थः 'उपपादकः' इति सर्वत्रावश्यमेव ध्येयमिति शम्।

सन्दर्भा

१. वेदान्तपरिभाषा प्रथमपरिच्छेदे।
२. वेदान्तपरिभाषापत्तिनिरूपणे टीकाद्धृतवाक्यम् – परिभाषाप्रकाशिका श्रीयुक्तानन्तकृष्ण-शास्त्रिकृताकलिकाताविश्वविद्यालेनप्रकाशिता सन् १९३०।
३. दान्तपरिभाषार्थापत्तिनिरूपणे टीका
४. दान्तापरिभाषार्थापत्तिनिरूपणे टीका शिवदत्तकृतार्थदीपिका प्रकाशकः चौखम्भा-संस्कृतसीरिज सन् १९८४।
५. वेदान्तपरिभाषार्थापत्तिप्रमाणप्रसंगे।
६. वेदान्तपरिभाषार्थापत्तिनिरूपणे टीकोद्धवाक्यम् – परिभाषाप्रकाशिका श्रीयुक्तानन्त-कृष्णशास्त्रिकृताकंलिकाताविश्वविद्यालेनप्रकाशिता सन् १९३०।
७. वेदान्तपरिभाषार्थापत्तिप्रमाणप्रसंगे उद्धृतमुपरिषद् वाक्यम्
८. दान्तपरिभाषार्थापत्तिनिरूपणे
९. दान्तपरिभाषार्थापत्तिनिरूपणे टीका शिवदत्तकृतार्थदीपिका प्रकाशक चौखम्भासंस्कृतसीरिज सन् १९८४।
१०. वेदान्तपरिभाषार्थापत्तिनिरूपणे टीकोद्धृतवाक्यम् – परिभाषाप्रकाशिका श्रीयुक्तान्तकृष्णशास्त्रिकृताकलिकाताविश्वविद्यालेनप्रकाशिता सन् १९३०।
११. वेदान्तपरिभाषार्थापत्तिनिरूपणे टीकोद्धृतवाक्यम् – परिभाषाप्रकाशिका श्रीयुक्तान्तकृष्णशास्त्रिकृताकलिकाताविश्वविद्यालेनप्रकाशिता सन् १९३०।
१२. वेदान्तपरिभाषार्थापत्तिनिरूपणं उद्धृतवाक्यम्
१३. वेदान्तपरिभाषार्थापत्तिनिरूपणे उद्धृतवाक्यम् – वेदान्तपरिभाषार्थापत्तिनिरूपणे टीकोद्धृतवाक्यम् – परिभाषासंग्रहाख्यटीका लेखकः श्रीपंचाननभट्टाचार्य।
१४. अभ्यकरोपाहववासुदेशास्त्रिप्रणीताद्वैतमोदःआनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः सन २००४।
१५. वेदान्तपरिभाषार्थापत्तिनिरूपणे उद्धृतवाक्यम् – वेदान्तपरिभाषार्थापत्तिनिरूपणे टीकोद्धृतवाक्यम् – परिभाषासंग्रहाख्यटीका लेखकः श्रीपंचाननभट्टाचार्य।
१६. वेदान्तपरिभाषा टीका रामकृष्णाध्वरि शिखमणि अर्थापत्तिनिरूपणप्रसंगे।
१७. वेदान्तपरिभाषा टीका स्वामिरश्रीमदमरदासप्रणीता मणिप्रभा अर्थापत्तिनिरूपणप्रसंगे।
१८. वेदान्तपरिभाषार्थापत्तिनिरूपणे टीकोद्धृतवाक्यम् – परिभाषाप्रकाशिका श्रीयुक्तानन्तकृष्णशास्त्रिकृताकलिकाताविश्वद्यिालेनप्राकशिता सन् १९३०।
१९. वेदान्तपरिभाषार्थापत्तिनिरूपणे टीकोद्धृतवाक्यम् परिभाषाप्रकाशिका श्रीयुक्तानन्तकृष्णशास्त्रिकृताकलिकाताविश्वद्यिालेनप्रकाशिता सन् १९३०।
२०. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली गुणनिरूपणस्थकिरणावली ग्रन्थः कारिकासंख्या १४४।

***

अद्वैत वेदान्त दर्शन में शब्द प्रमाण विमर्श

प्रो० शङ्कर दयाल द्विवेदी
संस्कृतविभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अद्वैत वेदान्त दर्शन का मुख्य विषय तत्त्वमीमांसीय है, प्रमाण-मीमांसीय नहीं। सम्भवतः इसीलिए सभी प्रधान ग्रन्थों में, उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता, जिन्हें अद्वैत वेदान्त में प्रस्थानत्रयी की मान्यता प्राप्त है, में प्रमाणों के विषय में स्वतंत्र विचार नहीं प्राप्त होता। यद्यपि यह श्रवण मनन निदिध्यासन की त्रिस्तरीय सरणि का उपदेशक शास्त्र है, सभी उपनिषदों का पर्यवसान जीव ब्रह्म के ऐक्य के प्रतिपादन के साथ-साथ शुद्ध चैतन्य की व्याख्या करने में है। उपनिषदों, गीता, ब्रह्मसूत्र में बार-बार चार महावाक्यों और शब्दादि के माध्यम तत्त्वस्वरूपावाप्ति का मार्ग निर्देशित किया गया है और शास्त्रयोनित्वात् आदि सूत्र ब्रह्म को शास्त्र प्रमाणक सिद्ध करते हैं। फिर भी ब्रह्म को अप्रमेय, अज, अव्यक्त, अशब्द, अस्पर्श, अच्छेद्य, अक्लेद्य आदि विविध शब्दों के द्वारा बार-बार यह समझाने का प्रयास किया गया है कि ब्रह्म शब्दादि प्रमाणों का विषय नहीं हो सकता। यह भी कहा जा सकता है कि इसीलिए अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थों में प्रमाणों के स्वतंत्र निरुपण का प्रयास नहीं किया गया, परन्तु इस अन्तरर्विरोध का समन्वय कैसे किया जाय? यदि वह अप्रमेय है तो शब्द प्रमाणभूत उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों और गीता आदि के प्रस्तुतीकरण की क्या आवश्यकता है और यदि इनके माध्यम से ब्रह्म साक्षात्कार को सम्भव बताया गया है तो वह अप्रमेय कैसे है?

हम यह भी जानते हैं कि धर्मराजाध्वरीन्द्र की वेदान्त परिभाषा के अलावा प्रमाणों का स्वतंत्र निरुपण करने वाला कोई ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त में प्राप्त नहीं होता। व्यवहार सिद्धि के लिए भाट्ट मीमांसकों को अभिप्रेत छः प्रमाणों का स्वीकार यह सिद्ध करता है कि जिन प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि प्रमाणों को कुमारिल भट्ट और उनके अनुयायियों ने पहले ही प्रतिपादित कर दिया है, वह अद्वैत वेदान्त की पूर्वपीठिका है और इन्हें भी भाट्टाभिमत प्रमाण ज्यों का त्यों स्वीकार हैं। किन्तु उनका पृथक् निरुपण न करते हुए ये अपना पूरा ध्यान अद्वय ब्रह्मतत्त्व की तत्त्वमीमांसीय सिद्धि में ही केन्द्रित रखते हैं।

मानव इतिहास के प्रारम्भ से भाषा उसके अभिप्राय सम्प्रेषण का मुख्य साधन थी। वेद, वेदाङ्गों, व्याकरण के ग्रन्थों और अन्य शास्त्रों में भाषा के विविध रूपों की प्रामाणिक चर्चा प्राप्त होती है। भाषा का प्रयोग करने वाला कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि वह शब्द को प्रमाण नहीं मानता क्योंकि यदि वह ऐसा कहता है तो वह वदतोव्याघात और झूठे होने का दंश झेलने को विवश है इसलिए अधिकांश दार्शनिक सम्प्रदायों में शब्द को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। अद्वैत वेदान्त में शब्द प्रमाण की क्या स्थिति है? उसकी आवश्यकता भी है या नहीं और उपनिषद् वाक्यों में प्रस्थानत्रयी आदि के रूप में स्वीकृत शब्द प्रमाण अद्वैत वेदान्तियों को किस रूप में अभीप्सित हैं, इसकी चर्चा अभी की जानी है। इसलिए ऊपर उठाये गये प्रश्न का समाधान करने से पूर्व यहाँ शब्द प्रमाण के अद्वैत वेदान्त शास्त्र को अभिमत स्वरूप को स्पष्ट करना आवश्यक है।

शब्द प्रमाण का लक्षण

यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद् वाक्यं प्रमाणम्- वेदान्त परिभाषा।

अर्थात् जिस वाक्य के तात्पर्य का विषय बनने वाला संसर्ग अन्य प्रमाणों से बाधित नहीं होता वह वाक्य प्रमाण होता है और यहाँ वाक्य शब्द का अभिप्राय आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य से युक्त विशेष वाक्य से है इसलिए शब्द प्रमाण भूत वाक्य के साथ-साथ आकांक्षादि चारों को प्रमा के सहकारी कारण या निमित्त कारण के रूप में स्वीकार किया जाता है। वेदान्ती शब्द नित्यत्ववादी है और वैयाकरणों की तरह वाक्य से सीधे वाक्यार्थ बोध को स्वीकार करते हैं। जहाँ एक ओर न्याय दर्शन में पदज्ञान को करण पदार्थज्ञान को अवान्तर व्यापार और वाक्यार्थ ज्ञान को प्रमा कहा जाता है, वहीं अद्वैत वेदान्त में वाक्य को करण और वाक्यार्थ ज्ञान को प्रमा स्वीकार किया जाता है। वाक्य पदों के उस समूह को कहते हैं जो आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य से युक्त हो। चूँकि इनके मत में वाक्य ही प्रमाण है इसलिए प्रसंगागत आकांक्षादि के स्वरूप पर संक्षेप में विचार किया जाना उचित होगा।

आकांक्षा

पदार्थों की परस्पर जिज्ञासा में विषय होने की योग्यता को आकांक्षा कहा गया है। श्रोता पुरुष की पृच्छा की शान्ति पूरे वाक्य को सुनने पर होती है। यदि वह वाक्य के एक हिस्से का श्रवण करता है तो उसे दूसरे हिस्से के विषय में जानने की आकांक्षा उत्पन्न होती है। क्रिया का श्रवण होने पर कारक के ज्ञान की जिज्ञासा होती है और कारक का श्रवण करने पर क्रिया की जिज्ञासा होती है और करण का श्रवण होते ही इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होती है। इस प्रकार गौः अश्वः पुरुषः हस्ती जैसा पद समूह क्रिया विषयक आकांक्षा का अभाव होने से वाक्य नहीं कहा जा सकता और तत्त्वमसि आदि समान विभक्तिक पदों में अभेदान्वय का प्रतिपादन होने के कारण इनमें वाक्य लक्षण की अव्याप्ति भी नहीं होगी।

योग्यता

तात्पर्य विषयीभूत संसर्ग का बाध न होना योग्यता कहा जाता है। 'वह्निना सिंचति' जैसे पद समूह योग्यता के अभाव में वाक्य नहीं कहे जाते क्योंकि द्रव द्रव्य द्वारा सम्भावित सिञ्चन की क्षमता अद्रव वह्नि में प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधित है। तत्त्वमसि जैसे वाक्यों में तत् और त्वम् पदों के वाच्यार्थों में अभेद का बाध होने पर भी लक्ष्यार्थ अविरुद्ध चैतन्यांश में अभेद अर्थ का बाध नहीं होता।

आसत्ति

पदजन्य पदार्थों की व्यवधान रहित उपस्थिति आसत्ति कही जाती है। यद्यपि वाक्य का उच्चारण पदों का उच्चारण और वर्णों का उच्चारण कालभेद ग्राही और क्रम भावी प्रक्रिया से होता है, युगपत् नहीं। अस्तु क्रम भावी उच्चारण में एक सीमा तक ही कालभेद अपेक्षित होता है किन्तु अपेक्षित कालभेद से अधिक समय तक रहने वाला उच्चारण का व्यवधान या मध्य में किसी अन्य की चर्चा, वाक्य या वाक्यांश की उपस्थिति से आसत्ति बाधित हो जाती है। जिससे वाक्यार्थ बोध नहीं होता। यद्यपि वाक्य में कदाचित् अश्रुत पद वाक्यार्थ बोध में अपना सहयोग अवश्य करते हैं क्योंकि ऐसे स्थल में श्रोता द्वारा अश्रुत पद का अध्याहार कर लिया जाता है। उदाहरणार्थ वक्ता कुछ संकेत करते हुए यदि द्वारम् कहता है तो उसके संकेत से श्रोता पिधेहि पद का अध्याहार कर लेता है, जिससे अर्थबोध में असङ्गति उपस्थित नहीं होती। यदि वक्ता अङ्गुलिनिर्देश से प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर द्वारा किसी प्रकार का अर्थ बोध श्रोता तक सम्प्रेषित करना चाहता तो यहाँ न तो पदजन्यता होती, न आसत्ति होती न आसत्ति का अभाव होता है और नही ये शाब्द बोध होता है।

तात्पर्य

वाक्य में वाक्य के घटक पदों के द्वारा शक्य अथवा लक्ष्य पदार्थों के संसर्ग का अनुभव उत्पन्न करने की योग्यता का होना तात्पर्य है– तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वम् तात्पर्यम्।

वक्ता के विवक्षित अर्थ का ज्ञान करा देने की योग्यता वाक्य में होना चाहिए। वाक्यगत यही योग्यता तात्पर्य कही जाती है। यदि यह कहा जाय कि विवक्षित अर्थ की प्रतीति को इच्छा से उच्चरित होना– यह तात्पर्य का लक्षण है तो अनुचित होगा। क्योंकि वेद वाक्यों का सम्यक् अर्थ न जानने वाले पुरुष के द्वारा उच्चरित किये जाने वाले वेदवाक्य में वक्ता पुरुष में ऐसे किसी तात्पर्य के उपस्थित न रहने पर तात्पर्य को वाक्यार्थ बोध का उपकारक मानना असम्भव हो जायेगा।

यदि यहाँ वेद वाक्य के तात्पर्य के उपस्थित न रहने पर ईश्वरीय ज्ञान के द्वारा शाब्दबोध की सङ्गति स्वीकार की जाय तो समीचीन नहीं होगा, क्योंकि ईश्वर को न मानने वाले मीमांसा आदि दर्शनों में तात्पर्य के द्वारा वाक्यार्थ बोध स्वीकार किया ही जाता है। इसलिए

निष्कर्ष रूप में तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वम् को तात्पर्य न मानते हुए तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वम् को तात्पर्य कहा गया है।

वाक्यार्थ बोध के लिए वाक्यगत तात्पर्य कभी (१) अन्वय के न उपपन्न होने पर कभी (२) प्रयोजन के सिद्ध होने पर कभी (३) प्रकरण की सङ्गति होने पर वाक्यार्थ-बोध में अपनी कारणता चरितार्थ करता है। उदाहरणार्थ गेहे घटः यह वाक्य आधाराधेय सम्बन्ध से अन्वय स्थापित करके तात्पर्य के द्वारा शाब्दबोध उपस्थित करता है। गंगायांघोषः आदि वाक्यों में अन्वय उपपन्न न होने से वाक्यार्थ बोध बाधित होता है। जब गंगा तटे घोषः यह अभिप्राय लिया जाता है, तो गंगा तट और घोष के बीच आधाराधेय अन्वय रूप सिद्ध होकर अर्थबोध कराता है और यह गंगा का अति-सन्निकटत्व सिद्ध करता हुआ शैत्य पावनत्व आदि की प्रतीति के प्रयोजन को सिद्ध करने वाला होकर तात्पर्य को वाक्यार्थ बोध का जनक बनाता है। कभी-कभी इस तरह का तात्पर्य प्रकरण की अनदेखी करने से सिद्ध नहीं होता। अतः प्रकरण को भी तात्पर्य का निश्चायक माना जाता है।

अद्वैतवेदान्त और शब्द शक्तियाँ

साहित्य शास्त्र में तीन तरह की शब्द शक्तियाँ और तीन तरह के पदार्थ स्वीकार किये जाते हैं। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना इनको शब्द शक्ति और शक्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य इनको पदार्थ कहा गया है। किन्तु सभी दार्शनिक सम्प्रदायों में व्यंजना को शक्ति या वृत्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। साहित्य के क्षेत्र में प्रतीयमान अर्थ को उपस्थापित करने वाली व्यंजना का स्वरूप निश्चित न होने के कारण और दर्शन मे असंदिग्ध अविपरीत निश्चित अर्थबोध की प्रबल वकालत के कारण निश्चितार्थ प्रतिपत्ति में व्यंजना का सर्वथा निषेध किया जाता है। यदि दर्शन में व्यंजना द्वारा अभीष्ट अर्थ प्रस्तुत किया जाना अनिवार्य हो तो इस प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ की लक्षणा द्वारा उपस्थिति स्वीकार की जाती है।

जहाँ तक अद्वैत वेदान्त का प्रश्न है यहाँ अभिधा और लक्षणा यही दो शक्तियाँ अभीष्ट हैं। अभिधा को यहाँ शक्ति कहा गया है जिसका आश्रय पद होता है और पदगत अभिधा शक्य अर्थ को श्रोता में शब्द श्रवण के अनन्तर शक्यार्थ को उपस्थिति करती है। 'इस पद से यह अर्थ जाना जाय' इस रूप की शक्ति प्रमुख शक्ति कही जाती है और शक्यार्थ को प्रधान अर्थ या मुख्यार्थ कहा जाता है। पद और पदार्थ के बीच अन्वय व्यतिरेक से वाच्य-वाचक सम्बन्ध सिद्ध होने पर 'एकसम्बन्धिज्ञानम् अपरसम्बन्धिस्मारकं भवति' इस न्याय से पदज्ञान और पदार्थ ज्ञान दोनों में से श्रोता को होने वाला पदज्ञान एतादृश शक्ति द्वारा पदार्थज्ञान को उपस्थित करता है। अद्वैत वेदान्त दर्शन में जाति को पदार्थ माना जाता है, व्यक्ति को नहीं।

पदार्थ बोधन के लिए पद की दूसरी क्षमता लक्षणा कही जाती है। लक्षणा और अभिधा दोनों पदों में वर्तमान होती है, पदार्थ बोध कराना इनका प्रयोजन होता है, इसलिए

सम्मिलित रूप से दोनों वृत्ति कही जाती है, किन्तु इन द्विविध वृत्तियों में से अभिधा को तो शक्ति कहते हैं पर लक्षणा को शक्ति नहीं कहते। अतः यह केवल वृत्ति के रूप में ही जानी या समझी जाती है।

लक्षणाबीज

सामान्य रूप से पदगत शक्ति वाक्यार्थ बोध रूप प्रमा को सिद्ध करने में व्यवहृत होती रहती है, किन्तु कभी-कभी इस शक्ति द्वारा उपस्थित वाक्य घटक पदों के शक्यार्थ में परस्पर अन्वय करना असम्भव हो जाता है। शास्त्रीय भाषा में इसे अन्वयानुपपत्ति कहते हैं। जैसे 'गंगायां घोषः' में गंगायांपद-वाच्य जलधारा में घोष का आधाराधेय भाव उपपन्न नहीं होता और इस प्रकार के आधाराधेय सदृश अन्वय के उपपन्न होने की शर्त पूरी न करने के कारण वाक्यार्थ बोध नहीं होता तब पदगत गौणी वृत्ति लक्षणा के द्वारा इस अपेक्षा की पूर्ति की जाती है। अतः गंगायां के लक्ष्यार्थ गंगा तट के साथ घोष का आधाराधेय अन्वय संगत हो जाता है।

'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' जैसे वाक्य में अन्वय बाधित नहीं है। यदि श्रोता केवल कौवों से दही की रक्षा करता है तो अन्वय की उपपत्ति में कोई समस्या नहीं आती किन्तु यहाँ वक्ता का तात्पर्य बाधित होता है। वक्ता यहाँ दही की रक्षा श्रोता के माध्यम से दध्युपघातक सभी कुत्ता, बिल्ली, कौवा, प्रभृत्ति पशु, पक्षियों से करना चाहता है। इसलिए काकेभ्यों में लगे हुए बहुवचन के प्रत्यय से काक और काक भिन्न दध्युपघातक जीव सबसे दही की रक्षा करना- ऐसा तात्पर्य रखता है और इस तात्पर्य की सिद्धि होने पर ही लक्षणा के द्वारा वाक्यार्थ बोध होता है।

अस्तु यहाँ पर विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है कि लक्षणा की प्रयोजन सिद्ध के लिए उसके बीज के रूप में अन्वयानुपपत्ति और तात्पर्यानुपपत्ति में से दोनों को स्वीकार किया जाय या केवल किसी एक को। कई सम्प्रदाय अन्वयानुपत्ति और तात्पर्यानुपत्ति दोनों को लक्षणा बीज के रूप में स्वीकार करते हैं। लेकिन अद्वैत वेदान्त के दार्शनिक केवल तात्पर्यानुपत्ति को ही लक्षणा-बीज कहते है। वस्तुतः आधाराधेय भाव जैसे अन्वय की आवश्यकता वक्ता के तात्पर्य से भी पूरी हो जाती है। इसलिए तात्पर्यानुपपत्ति को अकेले लक्षणा-बीज मानने पर लक्षणा सिद्ध हो जाती है। गंगायां घोषः में यदि अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा बीज माने, तब केवल गंगा तटे अर्थ देने से ही अन्वय सिद्ध होता हो ऐसी बात नहीं है। घोषः के स्थान पर लक्षणा द्वारा यदि मत्स्यः जैसे जल जीवी को प्रस्तुत कर दिया जाय, तब आधाराधेय भाव का अन्वय तो सिद्ध हो जायेगा, किन्तु लक्षणा सिद्ध नहीं होगी। वस्तुतः वक्ता यहाँ गंगायां घोषः के द्वारा घोष की गंगा की जलधारा से अत्यन्त सन्निकटता सिद्ध करना चाहता है। जो कि गंगायां मत्स्यः से सिद्ध नहीं होगी। यद्यपि गंगायां मत्स्यः अन्वयानुपपत्ति की पृच्छा को शान्त कर देता है परन्तु वक्ता को अभिप्रेत लक्ष्यार्थ को

उपस्थित नहीं करता। वक्तुरिच्छा रूप तात्पर्य की सिद्धि तो गंगा तटे घोषः से ही होती है। इसी प्रकार 'यष्टीप्रवेशय' 'क्षत्रिणो यान्ति' जैसे वाक्यों में तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा के बीज के रूप में स्वीकार करना होगा।

लक्षणाभेद

लक्षणा दो प्रकार की स्वीकार की गयी है- केवल लक्षणा और लक्षित लक्षणा। चूँकि लक्षणा शक्य-सम्बन्ध-रूपा होती है। अतः 'लक्षणा का यह शक्य सम्बन्ध कहीं पर साक्षात् सिद्ध होता है और कहीं पर परम्परा से। साक्षात् सिद्ध वाली लक्षणा केवल-लक्षणा कही जाती है और परम्परा से लक्षित लक्षणा बनती है। उदाहरण के लिए गंगायां घोषः में प्रवाह रूप वाच्यार्थ का तीर रूप लक्ष्यार्थ के साथ साक्षात् संयोग सम्बन्ध है। अतः यहाँ केवल लक्षणा है। किन्तु द्विरेफ आदि पदों में परम्परा द्वारा लक्ष्यार्थ सिद्ध होता है। ऐसे स्थानों में दो बार लक्षणा करनी पड़ती है- जैसे द्विरेफ पद से वाच्यार्थ होगा दो रकार जो बाधित हो रहा है। अतः ऐसे पद में लक्षणा करनी पड़ेगी, जिसमें रकार दो बार आता है जैसे भ्रमर। अतः शक्य सम्बन्ध रूप वाला भ्रमर पद द्विरेफ पद का प्रथम लक्ष्यार्थ है पुनः भ्रमर से लक्षणा करके मधुकर कीट का अर्थ लिया जायेगा। जो घूमते हुए रवण करें अर्थात् गुञ्जन करे वह भ्रमर होगा ऐसा इसका शक्यार्थ है। अधिकांश कीड़े उड़ते समय गोल-गोल चक्कर लगाते है और रवण भी करते हैं। उन सबका अर्थ यहाँ वक्ता को अभीष्टनहीं है। अपितु वह इनमें से केवल एक कीट मधुकर का अर्थ लिया जायेगा। इस प्रकार द्विरेफ से एक बार भ्रमर पद में लक्षणा और भ्रमर पद से दुबारा मधुकर कीट में लक्षणा होने के कारण इसे लक्षित लक्षणा कहेंगे। इसी लक्षित लक्षणा को गौणी लक्षणा भी कहा जाता है। जैसे 'सिंहों माणवकः' माणवक नाम का वटु सिंह है। यहाँ सिंह शब्द का वाच्यार्थ पशु विशेष वटु माणवक में संगत नहीं है। न ही माणवक और सिंह के बीच अभेद सम्बन्ध ही सम्भव है। अतः तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हुए यह स्वीकार करना चाहिए कि सिंह के क्रूरत्वादि गुण वटु में भी उपस्थित है। इस प्रकार यह 'माणवक सिंह के सदृश क्रौर्यत्वादि गुणों से युक्त है' यह लक्ष्यार्थ प्रकाशित होता है। यहाँ भी लक्षित लक्षणा है, क्योंकि एक बार लक्षणा द्वारा सिंह शब्द से क्रौर्यत्वादि गुणों का अर्थ ग्रहण किया जायेगा। और दुबारा सिंह में तादात्म्य सम्बन्ध में विद्यमान क्रौर्यत्वादि गुणों का माणवक में उपस्थित होना इन द्विविधि लक्षणाओं के बिना यह माणवक सिंह के समान क्रूरत्वादि गुणों से युक्त है- इस लक्ष्यार्थ का समन्वय नहीं होगा।

प्रकारान्तर से लक्षणा भेद

दार्शनिक सम्प्रदायों में लक्षणा के जो रूप लक्षणा भेद के रूप में प्रसिद्ध है, उस आधार पर लक्षणा तीन प्रकार की होती है। जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा।

जहल्लक्षणा– जिस लक्षणा में वाच्यार्थ का अन्तर्भाव लक्ष्यार्थ में न होकर अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है, उसे जहद्लक्षणा कहा जाता है।

इस लक्षणा में शक्यार्थ बाधित नहीं होता, केवल लक्ष्यार्थ बाधित होता हैं। 'विषं भुंक्ष्व' विष खाओ इस वाक्य में आने वाले पदों में विषभक्षण रूप वाच्यार्थ का अभिधान नहीं किया जा रहा है। अपितु शत्रु के घर भोजन मत करना– इस लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण गंगायां घोषः है। गंगा पद से प्रवाह रूप वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग करके तीर रूप लक्ष्यार्थ को ग्रहण किया जाता है। चूँकि यहाँ वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग हुआ है, इसलिए यहाँ आने वाली लक्षणा जहल्लक्षणा कही जाती है।

अजहल्लक्षणा– इसमें लक्ष्यार्थ के साथ-साथ वाच्यार्थ की भी प्रतीति होती है। यहाँ वाच्यार्थ का अन्तर्भाव करते हुए लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार अन्तर्भावित वाच्यार्थ वाला लक्ष्यार्थ प्रतीति होने के कारण इसे अजहल्लक्षणा कहते है। जैसे 'शुक्लो घटः' या 'शोणो धावति' जिसका अर्थ है कि शुक्ल पद का वाच्यार्थ शुक्लगुण है। जिसका घट अर्थ के साथ सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता। किन्तु शुक्ल गुण विशिष्ट घट द्रव्य ऐसे लक्ष्यार्थ में शुक्ल गुण रूप वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ में अन्तर्भावित है। शोणो धावति का अर्थ है- शोणाश्वः धावति लाल रंग दौड़ता है– यह वाच्यार्थ संगत नहीं है, क्योंकि गुण का क्रिया से साक्षात् अन्वय नहीं होता। इसलिए शोण (लाल) अश्व दौड़ रहा है यह लक्ष्यार्थ होगा। यहाँ वाच्यार्थ शोण गुण का परित्याग नहीं हुआ अपितु उसका अन्तर्भाव अश्व के साथ विशेषण के रूप में करते हुए लक्ष्यार्थ प्रकाशित हो रहा है।

जहदजहल्लक्षणा– इस लक्षणा में वाच्यार्थ के दो हिस्से होते हैं एक हिस्से में विरोध होता है दूसरे हिस्से में विरोध नहीं होता। इस प्रकार विरुद्ध अंश का परित्याग करते हुए अविरुद्ध अंश को ग्रहण करना यही लक्ष्यार्थ होता है। जैसे सोऽयं देवदत्तः यहाँ सः और अयम् तत्कालविशिष्ट और एतत्कालविशिष्ट वाच्यार्थ के इस हिस्से में निश्चय ही विरोध है जबकि देवदत्त एक ही है यदि वह तत्कालविशिष्ट है तो एतत्कालविशिष्ट नहीं हो सकता यदि वह एतत्कालविशिष्ट है तो तत्कालविशिष्ट नहीं हो सकता। इसलिए लक्षणा द्वारा तत्कालविशिष्ट एतत्काल विशिष्ट इस विरुद्ध अंश का परित्याग करके अविरुद्ध देवदत्त का अंश ग्रहण किया जाता है। तत्त्वमसि वाक्य में भी इसी प्रकार तत् और त्वम् से दो विरोधी वाच्यार्थ प्राप्त होते है। तत् का वाच्यार्थ है परोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य और त्वम् पद का वाच्यार्थ है प्रत्यक्षत्व विशिष्ट चैतन्य, असि क्रिया के द्वारा दोनों के बीच सामानाधिकरण्य स्थापित किया गया है जो असम्भव है जो परोक्ष है वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता जो प्रत्यक्ष है वह परोक्ष नहीं हो सकता। इन दोनों में परस्पर विरोध है। इसलिए लक्षणा के द्वारा परस्पर विरोधी परोक्षत्व और प्रत्यक्षत्व अंशों का परित्याग करते हुए अविरुद्ध चैतन्यांश के रूप में लक्ष्यार्थ स्वीकार किया जाता है। यहाँ परस्पर विरोधी दोनों के विरोधी विशेषणों का

परित्याग हुआ है परन्तु विशेष्य एक और अविरुद्ध है उसी को लक्ष्यार्थ के रूप में स्वीकार किया जाता है।

इस प्रकार त्रिविध लक्षणा का आश्रय केवल पद ही नहीं होता अपितु वाक्य भी लक्षणा का आश्रय है। जिसका अभिप्राय यह है कि लक्षणा केवल पद की वृत्ति ही नहीं है अपितु यह वाक्य की भी वृत्ति है। उदाहरणार्थ- "गम्भीरायां नद्याम् घोषः" जैसे वाक्य में लक्षणा का आश्रय अकेले नद्याम् पद नहीं है अपितु पूरा वाक्य ही लक्षणा का आश्रय है। यहाँ घोष का आश्रय न तो अकेले विशेषण गहरापन है और न ही अकेले नदी घोष का आश्रय है। अपितु विशेषण और विशेष्य के वाचक गम्भीरायां नद्याम् इस पद समुदाय में लक्षणा का आश्रय मानते हुए गहरी नदी के तट पर घोष है। इस रूप में लक्ष्यार्थ की सिद्धि होती है। इस प्रकार के उदाहरणों में एक समस्या यह भी आती है कि शक्यता या अशक्यता पद में होती है, वाक्य में नहीं, क्योंकि शक्ति (अभिधा) पद का धर्म है वाक्य का नहीं। इस प्रकार पदवृत्ति लक्षणा के होने में शक्य सम्बन्ध की सिद्धि हो जाने पर लक्षणा की सिद्धि हो जाती है।

चूँकि वाक्य में शक्यता नहीं होती इसलिए वाक्य से शक्य सम्बन्ध रूपलक्षणा को कैसे स्वीकार किया जायेगा। किन्तु वेदान्ती यह स्वीकार करते हैं कि जिस प्रकार पदार्थ शक्य होता है उसी प्रकार यदि वाक्यार्थ को भी शक्य मान लिया जाय तो वाक्यगत लक्षणा की उपस्थिति में कोई दोष नहीं आयेगा।

जिस प्रकार लौकिक वाक्यों में लक्षणा होती है उसी प्रकार वैदिक वाक्यों में भी लक्षणा होती है। वैदिक वाक्यों में लक्षणा के स्वीकार करने पर कोई समस्या नहीं होगी। जैसे वेद के अर्थवाद वाक्यों के द्वारा निन्दा या प्रशंसा के अर्थ में लक्षणा स्वीकार की जाती है यहाँ निन्दा या प्रशंसा के माध्यम विधि अथवा निषेध वाक्यों के साथ अर्थवाद वाक्यों की एक वाक्यता स्वीकार करके अर्थ की संगति होती है। जैसे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' अर्थात् वायु अत्यन्त वेगवती देवता है। यह अर्थवाद वाक्य वायव्यम् श्वेतमालभेत भूतिकामः अर्थात् कल्याणकामी व्यक्ति को वायु देवता के लिए श्वेतवर्णी पशु का आलभन करना चाहिए- इस विधि वाक्य के साथ अर्थवाद वाक्य की एक वाक्यता स्वीकार करने पर ही अभीष्ट अर्थ बोध होता है। यहाँ वायु की शीघ्रगामी देवता के रूप में प्रशंसा की गयी है जिसका तात्पर्य यह है कि यदि किसी याजक को अपने यज्ञ का शीघ्र फल प्राप्त करना अभीष्ट है तो उसे शीघ्र फल देने वाले वायु देवता के लिए यजन करना चाहिए। जिन पदों के समवाय से बने अर्थवाद वाक्य से प्राशस्त्य रूप वाच्यार्थ को स्वीकार किया जाता है उसे वाक्य के रूप में न स्वीकार करके एक पद के सदृश पदस्थानीयत्व स्वीकार करना चाहिए जिससे उसकी विधि वाक्य के साथ एक वाक्यता स्थापित करने में असुविधा न हो। निन्दा के अर्थ में 'सोऽरोदीत् यदऽरोदीत् तद् रूद्रस्य रूद्रत्वम्' इस निन्दात्मक अर्थवाद का अभिप्राय यह है

कि रजत द्रव्य से दुःख प्राप्त होता है। इस अर्थवाद वाक्य का 'बर्हिषु रजतं न देयम्' इस निषेध वाक्य के साथ लक्षणा द्वारा एक वाक्यता स्थापित करके अर्थबोध किया जाता है।

भिन्न-भिन्न संसर्गों का बोध कराने वाले दो वाक्यों में परस्पर आकांक्षा के कारण एक वाक्यता होती है इसलिए चाहे अर्थवाद निन्दा परक हो या प्रशंसा परक उसकी विधि वाक्य और निषेध वाक्य के साथ एक वाक्यता होने में कोई समस्या नहीं है। मीमांसको ने कहा है-

> स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया।
> वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते।।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वाक्य का स्वसन्निहित पदों से अन्वय होकर पदैक वाक्यता होती है और प्रत्येक वाक्य का भिन्न-भिन्न शाब्द बोध होने पर यदि वह वाक्य अङ्गी भाग का बोधक हो तो उसे अङ्ग की आकांक्षा होती है और यदि वह वाक्य अङ्ग का बोधक हो तो उसे अङ्गी की अपेक्षा होती है। इस प्रकार परस्पर अपेक्षित दोनों वाक्यों में आकांक्षा स्वीकार की जाती है। दोनों वाक्यों में परस्पर अन्वय होकर जो एक वाक्यता सिद्ध होती है उसे ही महावाक्यार्थ कहते हैं और उसी को वाक्यैकवाक्यता कहते हैं।

जैसा कि हम ऊपर यह प्रश्न उठा चुके हैं कि उपनिषद् वाङ्मय (श्रुति), ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता के प्रस्थानत्रयी के प्रवृत्त रहते और श्रवण, मनन, निदिध्यासन के क्रम में श्रवण की प्राथमिक स्थिति के स्वीकार किये जाने पर अद्वैत वेदान्त दर्शन में आगम प्रमाण या शब्द प्रमाण की भूमिका का अपलाप नहीं कर सकते। वहीं दूसरी ओर प्रस्थानत्रयी की बार-बार निखिल वेदान्त वेद्य अद्वय ब्रह्मतत्त्व को अप्रमेय, अशब्द, अवाङ्मनसगोचर और अनिर्वचनीय कहकर वेदान्त समर्थित पूरे प्रमाण विचार को अनावंश्यक घोषित कर देती है। तब यह देखना आवश्यक हो जाता है कि एक ही शास्त्र के अन्दर उक्त दोनों सम्भावनाओं की चरितार्थता कैसे होगी?

ब्रह्मविद्या के अवगम के लिए ब्रह्मविद्या का अधिकारी होना अनिवार्य है। कठोपनिषद् का गुरु यम नचिकेता के अधिकारित्व की परीक्षा लेने के बाद ही उसे ब्रह्म विद्या का उपदेश देता है। परवैराग्य की दशा को प्राप्त साधनचतुष्टय सम्पन्न प्रमाता ही ब्रह्मविद्या का अधिकारी है। उसी को लक्ष्य करके उपनिषद् वेद्य जीव ब्रह्मक्य और शुद्धचैतन्य रूप प्रमेय का निरुपण किया गया। वेदान्तसार में ब्रह्मविद्या के विषय का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है- "विषयो जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्।"

अर्थात् जीव और ब्रह्म के बीच ऐक्य का प्रतिपादन और प्रमेय भूत शुद्ध चैतन्य का प्रतिपादन करना- यही समस्त उपनिषदों का प्रयोजन है। सामान्यतः प्रमाण, प्रमेय की जो भी व्यवस्था विविध शास्त्रों में प्राप्त होती है वह व्यावहारिक रूप से उपलब्ध लौकिक विषयों के सम्बन्ध में है। प्रत्यक्षानुमानादि सभी प्रमाण लौकिक प्रपञ्चात्मक जगत् की

व्यावहारिक सिद्धि करते हैं किन्तु उनका अद्वैत वेदान्त शास्त्र के परमार्थ तत्त्व अद्वय ब्रह्म की सिद्धि में कोई उपयोग नहीं हो सकता। चूँकि इस अद्वय ब्रह्म तत्त्व की सिद्धि में कोई उपयोग नहीं हो सकता। चूँकि इस अद्वय ब्रह्म तत्त्व की सिद्धि में प्रमाणों का वैसे उपयोग सम्भव नहीं है जैसा लौकिक या स्वर्गादि विषयों की सिद्धि में होता है, इसलिए उसे बार-बार अप्रमेय कहा गया है। सम्भवतः इसीलिए अद्वैत वेदान्त दर्शन के अन्दर प्रमाणों का व्यापक प्रदर्शन और निदर्शन नहीं प्राप्त होता। यहाँ शंकराचार्य का स्पष्ट अभिमत है कि यदि लौकिक या स्वर्ग सम्बन्धी विषयों की सिद्धि में किसी को रुचि है तो वह पूर्व मीमांसा शास्त्र में प्रवेश करे। अभी उसे उत्तरमीमांसा की ब्रह्मविद्या के विषय में अधिकारित्व की प्राप्ति नहीं हुई है। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा सूत्र के भाष्य में अथ पद का व्याख्यान करते हुए शंकराचार्य ने यह कहा- "ब्रह्म विचार का विषय केवल उस व्यक्ति के लिए है जो साधनचतुष्टय सम्पन्न हो और ब्रह्मविद्या का अधिकारी हो।

इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता में साधनचतुष्टय से रहित अर्जुन के लिए श्रीकृष्ण ने आत्मतत्त्व को अप्रमेय कहा और प्रज्ञावाद के अन्तर्गत आने वाले प्रत्यक्षानुमानादि समस्त प्रमाणों के द्वारा आत्मतत्त्व के ज्ञान को सर्वथा असम्भव बताया।

यह देखना भी आवश्यक है कि क्या अद्वैत वेदान्त की साधना पद्धति में और जीवन्मुक्त आदि दशाओं तक पहुँचने में प्रमाण, प्रमेय व्यवहार अपनी किसी प्रकार की भूमिका निभाता है? वेदान्तसार में ज्ञान की प्रक्रिया के लिए वृत्तिव्याप्ति और फलव्याप्ति का निर्देश किया गया है, जिसके अनुसार बुद्धि और उस पर स्थित चिदाभास दोनों मिलकर घटादि विषयों को व्याप्त करते हैं।

इनमें से सर्वप्रथम बुद्धि विषयगत अज्ञान को नष्ट कर देती है और तब बुद्धि में प्रतिबिम्बित चिदाभास से उस विषय का स्फुरण होता है।

बुद्धितत्स्थ चिदाभासौ द्वावपि व्यानुपतः घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्।।

बुद्धि द्वारा घटगत अज्ञान का नाश वृत्ति वृत्तिव्याप्ति कहा जाता है। चिदाभास द्वारा घट का स्फुरण (ज्ञान) फलव्याप्ति कहा जाता है। इसी प्रक्रिया से जब साधक आत्मतत्त्व को अपना विषय बनाता है तब सूर्य प्रथम वृत्तिव्याप्ति की दशा में साधक की बुद्धि आत्मा विषयक अज्ञान को नष्ट कर देती है किन्तु इस क्षण विशेष में जैसे ही आत्मा विषयक अज्ञान का नाश होता है वैसे ही बुद्धि स्वयं नष्ट हो जाती है। क्योंकि वह तो सृष्टि के क्रम में अज्ञान की विक्षेप शक्ति से ही उत्पन्न हुई है और 'कारणनाशे कार्यनाशः' के सिद्धान्त से अज्ञान के नाश से बुद्धि का नाश हो जाता है और जब बुद्धि स्वयं नष्ट हो गयी तो चित्तत्त्व का प्रतिबिम्बन कहाँ होगा। आखिरबुद्धि में ही चिदाभास आश्रित होता है। जब बुद्धि नष्ट हो गयी तो चिदाभास भी नष्ट हो जायेगा। इस प्रकार यहाँ फलव्याप्ति की सिद्धि नहीं होती, ज्ञाता,

ज्ञेय, ज्ञान की त्रिपुटी का लोप हो जाता है। केवल ज्ञ मात्र निर्भास होता है। अतः इस विशेष परमार्थ स्थिति में किसी प्रमाण की कोई भूमिका नहीं हो सकती है। प्रमाणों की भूमिका तो एक क्षण पहले तक है ब्रह्म साक्षात्कार की दशा में प्रमाता प्रमेय, प्रमाण का भेद समाप्त हो जाता है। इसलिए उस परमात्म तत्त्व को अप्रमेय कहा गया है। शंकराचार्य जीव और ब्रह्म के तादात्म्य को आत्मभाव से जान लेने वाले मनुष्य के लिए सभी लौकिक और वैदिक प्रमाण प्रमेय व्यवहार को इस दशा विशेष में शान्त मान लेते हैं–

"तमेतमविद्याख्यातमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेय व्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि।"

कथं पुनरविद्यावद्विषयाणिप्रत्याक्षादीनि शास्त्राणि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति। उच्यते देहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः।

दूसरी ओर प्रत्यक्षादि सभी प्रमाण अविद्यावद् विषय कहे गये हैं, क्योंकि इनके द्वारा होने वाला ज्ञान मनुष्यों और पशुओं में समान रूप से होता है–

तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्याक्षादि प्रमाणानि शास्त्राणि पश्वादिभिश्चाविशेषात्।

इस प्रकार प्रथमतः ब्रह्म विद्या के अनधिकारियों के लिए अद्वय तत्त्व अप्रमेय है क्योंकि वे बाह्य लौकिक प्रमाणों से ब्रह्मेत्तर विषयों की सिद्धि में ही संलग्न होते हैं। जब साधनचतुष्टय सम्पन्न साधक श्रुति बोधित और तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के अखण्डार्थावबोध को समझता हुआ ब्रह्मविद्या का कोई अधिकारी ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति की ओर अग्रसर होता है तब भी सभी शास्त्र ब्रह्मावगति से एक क्षण पूर्व तक उसको सहायता पहुँचाते हैं। इस अर्थ में उसे शास्त्रप्रमाणक माना गया है, किन्तु जैसे धान्य को चाहने वाला व्यक्ति अनाज के दाने प्राप्त करके पुवाल को फेंक देता है, वैसे ही ब्रह्मविद्या का अधिकारी वृत्तिव्याप्ति की दशा में सभी प्रमाणों श्रुतियों और शास्त्रों को उनका निर्गलितार्थ ग्रहण कर लेने के बाद उन्हें पूर्णतः त्याग देता है, और तब फलव्याप्ति की दशा में वह प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहारों से शून्य होकर उस अद्वय परमात्मतत्त्व का अपरोक्षानुभव करता है। स्पष्ट ही शंकराचार्य ने इस स्थिति को प्रमाण प्रमेयादि भेद ज्ञान की स्थिति से पृथक् रूप में समझने के लिए इसे अपरोक्षानुभूति कहा है। अर्थात् यह प्रमा नहीं है। यह प्रत्यक्ष प्रमा भी नहीं है अनुमान, उपमान, शब्द और अन्य प्रमाणों से होने वाली अपरोक्ष प्रमा भी नहीं है, बल्कि यह अपरोक्षानुभूति है जिसमें प्रमाण, प्रमेय आदि विचार का कोई प्रवेश नहीं है।

***

अद्वैतवेदान्तेऽनुमानस्वरूपम्

वाचस्पतिः
डॉ० दिव्यचेतनब्रह्मचारी
अतिथि अध्यापक
व्याकरण विभाग,
संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी।

कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यादिविकारशून्यान्तःकरणजनितसंतोषतोषितभावभावितौदार्य-मनःपूतावितद्रविजलधाराप्लावितोर्मिघातघातितजफेनश्वेतिमाधारितक्षणक्षणपरिवर्तनस्वभाव-स्वभावितानादिमायामयपरिणामपरिणतपंचीकरणप्रक्रियाविर्भूतपार्थिवशरीरसाधितकार्याकार्यविचार-विचारिसाधकबाधकबाधितवासनावासितोरुजव्यवहारदृष्टिमार्गगमनादानोत्सर्गानन्दानन्दित-विषयानन्दनन्दितचित्ताकर्षणकर्षितविषयजालजालितसर्वानर्थमूलख्यातिख्यापितकीर्तिताज्ञान-नामधेयगेयाज्ञानिहृदयराजितमिथ्याप्रपंचप्रपंचितान्तःपातिप्रमाणप्रमेयर्मितिप्रमात्रादिव्यवहारपात्र-पातितप्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्युपलब्धिनामनामितप्रमाणपदव्यवहारभाजनश्रुति-मार्गानुगमनमात्रप्रमाणप्रमणितलक्षणाधीनसिद्धिसाधितानुमानं नाम किं ? किं ? खलु को जानाति, इति जानात्येव कथम् ? अनुमानप्रयोगात् चारुवाकविवादितविदितानुमान-स्वरूपम् अनुमानं प्रमाणं प्रमितिकरणतावच्छेदकत्वाद् प्रत्यक्षवदनुमानेनैवानुमान-स्यास्तित्वमागत-मनुमानप्रमाण-विचारपरामनुमानस्वरूपतां कथं लभेतेति तु उत्कटभावना समुदेतीत्यत्र का विप्रतिपत्तिः।

अनुमानस्वरूपविषयोपस्थापनमहमनुमानशब्दमर्यादयानुमानं स्वरूप-मुपस्थापयामीति तथा-अनुपश्चात् मानं भवति तदनुमानमुच्यते अथवा अनुगता, अनुघटिता ज्ञप्तिः ज्ञानं यस्माज्जायते तदनुमानम् अर्थात् अनुमितिजनकमनुमानं फलति। अत एवानुमितिकरणमनुमानं तत्तच्छास्त्रेषु प्रसिद्धं वर्तते। किमनुगता, अनुघटिता ज्ञप्तिः ज्ञानं यस्माज्जायते तदनुमानमिति विग्रहे अन्योन्याश्रयदोषोद्भावनापि न संभवति। अनुमितिकरणमनुमानमिति लक्षणे अनुमितिज्ञानाधीन-मनुमानज्ञानम्, अनुमानज्ञानाधीनमनु-मितिज्ञानम् इतिकृत्वान्योन्याश्रयः तस्माद्

दोषदुष्टत्वादनुमानस्यानुमितिकरण-मनुमानलक्षणं न संभवति। अनुमानमित्यत्रैव बहुव्रीहि-करणान्नास्ति, तादृशस्य विग्रहस्यावश्यकता। व्याप्तिज्ञानमनुमानं सिद्धान्ते लक्षणं वक्तव्यं भवति। उक्तदोषदूषितत्वाद्। अनुमितेः करममनुमानम् अनुगतायाः अनुघटितायाः ज्ञप्तेः मानं करणम् अनुमानम्, करणम् तदेव भवति यद् व्यापारवदसाधारणकारणकरणकम्।

कारणत्वं द्विविधं साधारणासाधारणभेदात्। साधारणकारणत्वन्नाम कार्यत्वावच्छिन्न-कार्यता निरूपितकारणताशालिकारणत्वम्। कार्यमात्रं प्रति साधारणकारणानि-ईश्वरस्तज्ज्ञानेच्छाकृतयः प्रागभावकालदिगदृष्टानि कारणान्तर्गतं बोध्यम्। **ईशस्तज्ज्ञान-यत्नेच्छाकालोऽदृष्टं दिगेव च। प्रागभावप्रतिबन्धकाभावौ कार्ये साधारणास्स्मृताः।।** कार्यत्वातिरिक्तधर्मावच्छिन्न-कार्यतानिरूपितकारणताशालिकारणत्वमसाधारणकारणत्वम्। येन विना यस्य कार्यस्य निष्पत्तिर्न जायते तत्तस्य कार्यस्यासाधारणकारणं भवति तद्यथा घटं प्रति कपालादयः। प्रकृते अनुमितित्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताशालि-कारणमनुमानम् । अनुमानप्रमाणे व्यापारविचारः- व्यापारस्तु व्याप्तिसंस्कारः व्यापारस्य लक्षणम्, तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्। समन्वयः व्याप्तिज्ञानजन्यः व्याप्तिसंस्कारः व्याप्तिज्ञानजन्या या अनुमितिः तस्याः जनकः व्याप्तिसंस्कारः। व्याप्तिसंस्कारे तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्, व्यापारलक्षणं समन्वितं जातम्। अत एव व्याप्तिसंसकारः व्यापारो न तु परमार्शः। अत्रानुमितिजनने कः क्रमः? अत्रैवं बोध्यम्- तार्किकाः अनुमितिजनने क्रमं वदन्ति आद्यज्ञानं लिंगज्ञानं ततः द्वितीयज्ञानं हेतुमतपक्षज्ञानमर्थात् पक्षताज्ञानम् ततः तृतीयज्ञानं साध्यव्याप्यहेतुमान् पक्षः इति एतच्च लिंगपरामर्शः कथ्यते ततः चतुर्थक्षणे अनुमितिः सिद्धयति। अत्रौपनिषदाः वदन्ति आदौ व्याप्तिग्रहः ततः पक्षधर्मताग्रहः व्याप्तिज्ञानाद् व्याप्तिसंस्कारस्तु वर्तत एव अतस्तृतीयक्षणे अनुमितिर्जायते। मध्ये परामर्शो नास्ति। किं च व्यतिरेकव्यभिचारोपि वर्तते। अत्र संस्कारः मध्यवर्ती-सन्निकर्षस्थानापन्नः तथा च पूर्वंध्वस्तस्यापि व्याप्त्यनुभवस्य तथैवानुमित्यव्यवहितपूर्ववर्तित्वं सुसम्पाद्यं, यथा स्मृतिस्थले विषयानुभवस्य स्वर्गादिस्थले च चिरध्वस्तस्य यागादेः इतिवद् भावः।

परामर्शे व्यतिरेव्यभिचारोद्भावनम् – तथा हि व्याप्यसत्त्वे व्यापकसत्त्वमावश्यक-मिति नियमः सर्वानुभवसिद्धः। तथा च यत्राधिकरणे व्याप्यस्य ज्ञानं भवति तत्र व्यापकज्ञानात्मिका अनुमितिर्जायते। सति चैवं "यत्र वह्निव्याप्यो धूमः" इत्येकं स्मरणात्मकं ज्ञान धूमवान् पर्वतः इत्येवं च द्वितीयं स्मरणात्मकं ज्ञानं, अथवा "वह्निव्याप्यो धूमः" इति संस्कारोद्बोधः धूमवान् पर्वतः इति प्रत्यक्षम् तत्रापि प्रोक्तनियमबलेन अनुमितेरभ्युपगन्तव्यतया व्याप्तिविशिष्टवैशष्ट्यावगाहिपरामर्शमन्तरेण अनुमित्युपत्त्या व्यतिरेकव्यभिचारान्न तस्य कारणत्वं वक्तुं शक्यमिति। कार्यकारणनिर्णायके हेतुकथनम्- कश्चनं कार्यकारणभावः अन्वयव्यभिचारलक्षणाभ्यामेव निर्णीतो भवति। अन्वयो नाम तत् सत्त्वे तत्सत्त्वमर्थात् कारणसत्त्वे कार्यसत्त्वम् व्यतिरेकोनाम कारणाभावे कार्याभावः। अन्वयव्यभिचारोनाम कारणसत्त्वे

कार्यसत्त्वाभावः, व्यतिरेकव्यभिचारोनाम कारणाभावे कार्यसत्त्वम् व्यभिचारदोषदुष्टत्वात् परामर्शो न कारणमनुमितिं प्रति फलति। द्वयं च तृतीयक्षणे जायमानानुमितिः व्याप्तिज्ञानत्वेनैव व्याप्तिज्ञानजन्या। अत्र व्याप्तिज्ञानं जनकमनुमितिज्ञानं जन्यम्। व्याप्तिज्ञाननिष्ठजनकता-निरुपितजन्यतावती अनुमितिः। व्याप्तिज्ञानत्वेनेत्यत्र तृतीयार्थावच्छिन्नत्वम् तथा च व्याप्तिज्ञानत्वावच्छिन्ना या व्याप्तिज्ञाननिष्ठा जनकता, तादृशजनकतानिरूपिता या जन्यता अनुमितिनिष्ठा तादृशजन्यतावत्त्वमनुमितेर्लक्षणं पर्यवसितम्। यथा प्रसिद्धस्थलम्- पर्वतो वह्निमानित्यत्र व्याप्तिज्ञानं महानसे जायमानं यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरित्याद्याकारकं धूमनियतवह्निसमानाधिकरणो धूम इति ज्ञानम्। तादृशज्ञानत्वावच्छिन्ना या जनकता सा प्रोक्तज्ञाननिष्ठैव जनकता, तन्निरूपितजन्यत्वस्य पर्वतो वह्निमानित्यनुमितावायाततया लक्षणसमन्वयः। अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या वेदान्तपरिभाषा ग्रन्थः।

अनुमितिः व्याप्तिज्ञानत्वेनैव व्याप्तिज्ञानजन्येत्येतद् घटकीभूते वाक्ये यद् व्याप्तिज्ञानत्वेनेतिपदम् तदुत्तरा या तृतीया तदर्थावच्छिन्नत्वम्। तात्पर्यतः– यदि जनकतायां व्याप्तिज्ञानत्वावच्छिन्नत्वमनिवेश्य केवलं व्याप्तिज्ञाननिष्ठजनकतानिरूपित जन्यत्वमात्रमनुमितेर्लक्षणमुच्येत तदा "धूमनिष्ठवह्निव्याप्तिमहं जानामि।" इति धूमनिष्ठवह्निव्याप्तिविषयकज्ञानात्मकानुव्यवसायेऽतिव्याप्तिर्दुर्वारा स्यात् प्रत्यक्षं प्रति विषयस्य कारणतया व्याप्तिज्ञानप्रत्यक्षात्मकानुव्यवसायं प्रति व्याप्तिज्ञानस्यापि विषयविधया जनकतया व्याप्तिज्ञाननिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतत्वस्य निरुक्तानु-व्यवसायेऽपि सत्त्वात्। एवमन्यत्र व्याप्तिज्ञानजन्यध्वंसादौ स्यात्। अनुमितिः व्याप्तिज्ञानत्वेनैव व्याप्तिज्ञानजन्येत्येतद्घटकीभूते वाक्ये यद् व्याप्तिज्ञानत्वेनेतिपदम्, तदुत्तरा या तृतीया तदर्थावच्छिन्नत्वं तस्य स्वीकारे नास्ति दोषः। तथा हि आद्यानुव्यसायज्ञाने विषयत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यतायाः सत्त्वेनाथ च व्याप्तिज्ञानजन्यध्वंसे प्रतियोगित्त्वाच्छिन्नजनकतानिरूपितायाः जन्यतायाः सत्त्वेन व्याप्तिज्ञानत्त्वाच्छिन्नजनकतानिरुपितायाः जन्यतायाः अभावान्नातिव्याप्तिः।

अनुमितिः व्याप्तिज्ञानसंकारजन्यत्वात् कथं न स्मृतिः– अत्रैवं बोध्यं संस्कारजन्यमात्रं न स्मृतिलक्षणम्। तथा सति संस्कारध्वंसस्यापि स्मृतित्वापत्तेः। संस्कारस्य प्रतियोगिविधया तं प्रत्यपि जनकत्वात्। संस्कारत्वावच्छिन्नजनकता निरुपितजन्यत्वोक्तया तद् दोषवारणेऽपि, त्वन्मतसिद्धप्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तिः। अतः संस्कारमात्रजन्यत्वं स्मृतित्वमिति वक्तव्यम । तथा च संस्कारपक्षधर्मताज्ञानाभ्यां जायमानायां तु अनुमितौ नावकाशः स्मृतित्वापादनस्य, त संस्कारमात्र जन्यत्वाभावात्। अतः न स्मृतित्वापत्तिरनुमितेः। संस्कारः स्वफलेन स्मृतिरूपेण न नश्यति अपितु दृढो भवति। तथा च वेदान्तपरिभाषा– न हि स्मृतेः संस्कारनाशकत्वनियमः, स्मृतिधारादर्शनात्। एवमत्र बाध्यबाधकभावः– न संस्कारस्य फलसामान्यनाश्यत्वम् अपि तु फल-विशेषनाश्यत्वम्। अन्यथा तद्विषयकस्मरणोत्तरं पुनः तद्विषयकस्मरणं न स्यात्। प्रथमस्मरणेनैव संस्कारनाशे कारणाभावेन कार्योत्पादासम्भवात्। सम्भवति च क्रमेण तद्विषयकं

नानास्मरणम्। सति चैवं नास्याः शंकायाः अवसरो यद् व्याप्तिस्मरणस्थले तेन संस्कारनाशात् कारणाभावे सर्वानुभवसिद्धानुमितिः कथं स्यात् संस्कार–कारणत्ववादिनाम्? इति। चरमस्मरणस्यैव संस्कारनाशकत्वेन व्याप्तिस्मरणकालेऽपि संस्कारसत्वात् ततोऽनुमितेः शक्यसम्पादत्वात्।

अत्र विशेषः उद्बुद्धसंस्कारसहकृतपक्षधर्मतातः अनुमितिर्ज्ञेया न तु अनुद्बुद्धसंस्कारात्। अत एवोक्तम् – तदुद्बोधस्यापि सहकारित्त्वात् । एतेनेदमागतम्– न खलु संस्कारमात्रस्य स्मृतिकारणत्वमुच्यते येनानुद्बुद्धसंस्कारादुपादिता भवेदनुमितिः अपि तु उद्बुद्धसंस्कारस्य। तादृशसंस्कारपक्षधर्मताज्ञानयोः सत्त्वे तत्रानुमितिरिष्टैव इति। तस्मादनुमानस्य लक्षणं जातं व्याप्तिज्ञानम्। उद्बुद्धव्याप्यसंस्कारपक्षधर्मताभ्या–मनुमितिर्जायते। अत एवेयं ख्यातिः अनुमानस्य बलद्वयं व्याप्तिज्ञानं पक्षताज्ञानं चेति।

पक्षधर्मताकथनम्– व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वम् पक्षधर्मता। व्याप्यस्येत्यत्र व्याप्तिविशेषणं सा व्याप्तिः कः पदार्थः इति भावनायामुत्थितायाम् – किं व्याप्तिलक्षणम् व्याप्तिश्चेति व्याप्तिश्चाशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा। वेदान्ताभिमतस्य विवरणम्– तथा च अशेषो यः साधनस्य हेतोराश्रयः तदाश्रितं यत् साध्यं, तत् सामानाधिकरण्यं हेतौ व्याप्तिः। तथा च समन्वयः– यथा प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वादिति सद्धेतुस्थले साधनं दृश्यत्वम् , तस्याशेषाश्रयः प्रातिभासिकव्यावहारिकादि, तदाश्रितं साध्यं मिथ्यात्वं तदधिकरणे यावति व्यावहारिकप्रातिभासिकपदार्थे दृश्यत्वहेतोर्वृत्तितया मिथ्यात्वसामानाधिकरण्यस्य दृश्यत्वहेतौ सत्त्वाल्लक्षणसमन्वयः। व्याप्तिग्रहे नास्ति औपनिषदानामाग्रहः भुयोदर्शने– तथा चोक्तं धर्मराजाध्वरीन्द्रेण सा च व्यभिचारादर्शने सति सहचारदर्शनेन गृह्यते। कथनाशयः–भूयोदर्शनादेव सहचारदर्शनाद् व्याप्तिनिश्चयः सम्भवतीति न नियमः पार्थिवत्वलाहलेख्यत्वयोः शतशः सहचारदर्शनेऽपि एकत्र हीरके व्यभिचारदर्शनेन व्याप्त्यनिश्चयात्। अतः व्यभिचारज्ञानं न चेत् सकृत्सहचारदर्शनादपि सम्भवितुमर्हति व्याप्तिनिश्चयः। सत्येवं व्यभिचारज्ञानविगमस्थले यदि भूयः सहचारदर्शनं तर्हि तत्र व्याप्तिनिश्चयो दण्डापूपायित एव। अनुमानं व्याप्तिज्ञानम्। इति सिद्धम्।

वेदान्ते– अनुमानमेकविधं स्वीकृतं वर्तते तच्चान्वयिरूपम्। तथा चोक्तम्– तच्चानुमामन्वयिरूपमेकमेव न तु केवलान्वयि।

अत्रैवं बोध्यम्– तार्किकवेदान्तिमतमवलोडनम् हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावा-प्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यरूपां व्याप्तिं वह्निमान् धूमात् घटोभिधेयः प्रमेयत्वात् इत्युभयस्थलसाधारणीं वदन्ति यद्यपि नैयायिकाः तथापि– घटोभिधेयः प्रमेयत्वादित्यादि-स्थलीयलक्षणे अभावे हेतुसामानाधिकरण्यनिवेशस्यानावश्यकतया, अत्यन्ताभावा-प्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्य-सामानाधिकरण्यमिति लक्षणद्वये निगूढाशयस्तेषाम्। तथा च तेषां मते अत्यन्ताभावा-प्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यम् केवलान्वयव्याप्तिः। हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभाव-

प्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यम् अन्वयव्यतिरेकव्याप्तिः। सकलसाध्याभाववन्निष्ठाभाव-प्रतियोगित्वं केवलव्यतिरेकव्याप्तिः, इति व्याप्तित्रयी, इति तद्विषयकस्य व्याप्तिज्ञानस्यापि त्रैविध्यं व्याप्तिविशिष्टहेतोरपि च त्रैविध्यं स्वाभाविकम्।

वेदान्तिमते तु हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यापर पर्याया अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यरूपैव व्याप्तिरूपेयते, इति तादृशव्याप्तिज्ञान-रूपमनुमानमप्येकमेव, तादृशव्याप्तिविशिष्टलिङ्गमप्येकविधमेव न त्रिविधमित्यभिनवःपन्थाः।

तच्चानुमानं द्विविधं स्वार्थपरार्थभेदेनेति। तत्र न्यायाप्रयोज्यं स्वार्थानुमानम्। न्यायप्रयोज्यं परार्थानुमानम्। न्यायो नामावयवसमुदायः।

अनुमानेऽवयवत्वविचारः– अवयवसमुदायः कः? तत्र कति अवयवाः के च ते? प्रतिज्ञाहेतूदाहरणाख्याः त्रयः। अथवा उदाहरणोपनयनिगमनाख्याः त्रयः। न तु पंच। प्रतिज्ञायाः निगमनवाक्येन लाभात् न प्रतिज्ञातिरिक्ता न कल्पनीया अथवा निगमनवाक्यस्य प्रतिज्ञयैव लाभसंभवः नातिरिक्तं निगमनवाक्यम्। पक्षतावाक्यादेवोप-नयवाक्यस्य लाभसंभवः नातिरिक्तम्। उपनयवाक्यं कल्पनीयम् । अत एवावयवाः त्रयः एव न तु पंच। तथा वेदान्तपरिभाषा न तु पंचावयवाः। अवयवत्रयेणैव व्याप्तिपक्षधर्मतयोरूपदर्शनसम्भवेनावयवद्वयस्य व्यर्थत्वाद्। अन्वयिरूपमनुमानमेकविधं न त्रिविधम्। वेदान्तपरिभाषा तच्चानुमानमन्वयिरूपमेव न तु केवलान्वयि। सर्वस्यापि धर्मस्यास्मन्मते ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेनात्यन्ता-भावाप्रतियोगिकत्व-रूपकेवलान्वयित्वासिद्धेः।

पर्वतो वह्निमान् इत्यत्र अनुमितिप्रत्यक्षत्वविचारः– पर्वतो वह्निमान् इति पर्वतविशेष्यकवह्निप्रकारकं ज्ञानमनुमितिः तार्किकसम्प्रदाये। वेदान्तिनये तु पर्वताविषयकज्ञानांशे प्रत्यक्षता वह्न्यंशविषयकज्ञाने अनुमितिज्ञानत्वं विशेषः। तथा चोक्तम्– न तु पर्वतविषयकत्वांशे, इति पर्वतो वह्निमान् इति ज्ञानस्य वह्न्यंश एवानुमितित्वं न पर्वतांशे। तदुक्तिरित्थं संभवति– पर्वतो वह्निमान् इति नैका वृत्तिः अपितु वृत्तिद्वयी। तत्र पर्वत इति प्रत्यक्षात्मिका वृत्तिः वह्निमान् इत्यनुमित्यात्मिका। कुत एवमिति चेद् यतः कारणीभूतव्याप्तिज्ञानस्य न पर्वतवृत्तिजननसामर्थ्यं तत्र। यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति साचर्यावगति सम्पन्नव्याप्तिज्ञाने पर्वतस्यात्यन्तमनुल्लेखात्। तथा चानुमितित्वप्रयोजकीभूतव्याप्तिज्ञानजन्यत्वस्याभावात्। न पर्वत इति वृत्तौ अनुमितित्वसम्भवः। एवं च न पर्वतं पश्यामीत्यनुभवविरोध इति।

इन्द्रियप्रणालिकया अन्तःकरणस्य पर्वताकारधारणादन्तःकरणवृत्तिपर्वतयोः एकदेशस्थतया तदुभयावच्छिन्नचैतन्याभेदाद् विषयभूतघटस्य प्रत्यक्षत्वमितिवद् पर्वतांशे प्रत्यक्षज्ञानमेवेति भावः।

प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधकमनुमानप्रयोगः– ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या, ब्रह्माभिन्नत्त्वात् यदेवम् तदेवम् यथा शुक्तिरूप्यम् । तथा च ब्रह्मभिन्नस्य सर्वस्य व्यावहारिकस्य प्रातिभासिकस्य च पक्षत्वम्। मिथ्यात्वस्य साध्यत्वम्। ब्रह्मभिन्नत्वस्य हेतुत्वम्। अत्र सर्वं मिथ्या इत्येतावन्मात्रोक्तौ ब्रह्मण्यपि मिथ्यात्वोक्ताया प्रयोजनव्याघातः शून्यवादपर्यवसानापत्तेः। किंच पक्षैकदेशे ब्रह्मणि

ब्रह्म ब्रह्मभिन्नत्वरूपहेतोरसत्त्वापत्त्या भागासिद्धिः, अतः ब्रह्मभिन्नत्वमुक्तम्। ब्रह्मभिन्नं मिथ्यैतावन्मात्रोक्तौ बाधापत्तिः तुच्छस्यापि गगनकुसुमादेः तदानीं पक्षकुक्षिनिक्षिप्ततया तत्र मिथ्यात्वस्य साध्यस्याभावात् मिथ्यात्वस्य सद्धर्मतया असति तुच्छे तदभावात्। सर्वपदं च सत्त्वेन प्रतीत्यर्हपरम्। मिथ्यात्वं च त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्। ब्रह्मभिन्नत्वं चिद्भिन्नत्वम् ब्रह्मभिन्नत्वम् । एतेन दृश्यत्वजडत्वपरिच्छिन्नत्वादीनां हेतूनामुपसंग्रहो वेदितव्यः। अयं भावः– प्रातिभासिकस्य किंचित्कालसत्त्वेऽपि व्यावहारिकत्वेन तस्य तदानीमसत्त्वात्, व्यावहारिकत्वात्मकव्यधिकरण–धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रातिभासिकाभावप्रितियोगित्वां न क्षतिः शुक्तिरूप्यादौ, इति कथं दृष्टान्तासिद्धिः? इति।

तथा च शुक्तिरूप्यादिकं यदि मिथ्या न स्यात् ब्रह्मभिन्नं न स्यात् इति तर्केण व्यभिचारशंकाखण्डनम् । खण्डितायां च व्यभिचारशंकायां व्याप्तिनिश्चयाप्रतिबन्धेन सदनुमितिसम्पत्त्या नानुमानप्रयोगस्यासाधुत्वसम्भावनेति। मिथ्याप्रपंचाश्रय–रूपाधिष्ठानात्मना सदातनीयानुभवानन्दानन्दितात्माने सच्चिदात्मने परमात्मने आनन्दात्मने स्वतःसिद्धात्मने क्वदिद्दर्शनान्तरे जगत् कर्तृत्वेनानुमानमानितेन आगमगमितबोध–बोधितेनापामरजनफलप्रदा–तृत्वेनेशत्वभावात्मने स्वात्मने नमो नम इति।

***

विशिष्टद्वैतवेदान्ते प्रमाणविचारः

प्रो० एन्० आर० श्रीनिवासन्
पूर्व अध्यक्ष एवं आचार्य
धर्म मीमांसा विभाग,
संस्कृत विद्याधर्मविज्ञान संकाय,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

श्रीमान् वेङ्कटनाथार्यः कवितार्किककेसरी।
वेदान्ताचार्यवर्यो मे सन्निधत्तां सदा हृदि।।

प्रमाणशब्दस्य भावे करणे च व्युत्पत्तिः, आदौ प्रमैव प्रमाणमिति, द्वितीये प्रमाकरणमेव प्रमाणमिति सिद्ध्यति। प्रमायाः ज्ञाने सति तत्करणस्यापि सामान्यतया ज्ञानं संभवतीति प्रथमं प्रमालक्षणमुक्तम् "यथावस्थित व्यवहारानुगुणं ज्ञानं प्रमा" इति। अत्र व्यवहारशब्दः प्रवृत्तिं शब्दप्रयोगञ्च प्रतिपादयति। 'यथावस्थित' पदं अबाध्यार्थकं तथा वस्तु येनाकारेण वर्तते तदाकारविशिष्टञ्च बोधयति। तथा च "अबाध्याप्रवृत्तिजननयोग्यं ज्ञानं प्रमा" एवं विशेष्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नवाचकशब्दप्रयोगानुगुणं ज्ञानं प्रमा इति सिद्ध्यति। 'अयं घट' इति प्रमायां घटत्त्वविशिष्टघटवाचकः अयं घट इति व्यवहारः अयं घट इत्याकारक ज्ञानजन्यः इति लक्षणसमन्वयः। यथावस्थितपदं भ्रमव्यावृत्त्यर्थम्। पुरोवर्ति शुक्तौ यो रजतमिति शब्दप्रयोगः सः पुरोवर्तिनिष्ठरजतत्वविशिष्टवाचकः न भवतीति न तत्राति व्याप्तिः। अबाध्य प्रवृत्ति जनकत्वं सफलप्रवृत्तिजनकत्वम्। तथा च सफलप्रवृत्तिजनकं ज्ञानं प्रमा इति निष्कर्षः। सा च प्रमा त्रिविधा प्रत्यक्षमनुमानं शास्त्रञ्चेति। तदाह–

प्रत्यक्षमनुमानं शास्त्रञ्च विविधागमम्।
त्रयं सुविदतं कार्यं धर्मसिद्धिमभीप्सता।।

इति मनुस्मृतौ।

तत्र साक्षात्कारि प्रमा प्रत्यक्षम्। साक्षात्त्वञ्च जातिरूपः उपाधिरूपो वा कश्चित्ज्ञानस्वभावविशेषः स्वात्मसाक्षिकः। अथवा लैङ्गिकत्वशाब्दत्वस्मृतित्वरहितज्ञानत्वं साक्षात्त्वम्। प्रत्यक्षस्य अपरं

लक्षणं ज्ञानकरणजज्ञानस्मृतित्त्वरहिता मतिः। व्याप्यतो व्यापके धीः अनुमानम्। व्याप्यतया प्रतिसंधीयमानात् तद् व्यापकतया सामान्यस्य प्रसिद्धस्यार्थस्य विशेषतः अवगतिः अनुमितिः। अनाप्तानुक्तवाक्यजनितं वाक्यार्थविज्ञानं शाब्दं प्रमाणम् अत्र आप्तवाक्यजन्यं ज्ञानं शाब्दप्रमेत्युक्ते अपौरुषेयवेदवाक्य जन्यज्ञाने अव्याप्तिः स्यात्। अतः अनाप्तानुक्तवाक्यजन्यमिति लक्षणमुक्तम्। वेदवाक्ये आप्तोक्तत्ववत् अनाप्तोक्तत्वमपि नास्तीति अनाप्तानुक्तत्वं भवति। वेदवाक्यार्थज्ञाने च तज्जन्यत्वमस्तीति नाव्याप्तिः।

उपमानादीनाम् उक्तेष्वेव त्रिषु प्रमाणेष्वन्तर्भावः गृह्यमाणपदार्थगतसादृश्यविज्ञानात् स्मर्यमाणपदार्थगतसादृश्यविज्ञानम् उपमानम तस्य स्मृतौ अन्तर्भावः। अरण्ये प्रत्यक्षतः दृश्यते गवयपदार्थः, तद्गत गोसादृश्यज्ञानात् स्मर्यते नगरस्थगौः, तत्र (तुल्यात्तुल्यान्तरे) धीः इयमिव गौः सा इति धीः स्मृतिरूपा। अथवा यो यत्सदृशः सः तद्‌गतसादृश्यप्रतियोगी, यथा मिथः स्वहस्तौ, इति व्याप्त्या गौः एतत्सदृशः, एतद्गतसादृश्यप्रतियोगित्वात्, इत्यनुमानेन गतार्थत्वात् स्मृतौ अनुमाने वा अन्तर्भवतीति अभिप्रायः। अर्थापत्तिरपि अनुमाने एव अन्तर्भवति। जीवतो देवदत्तस्य बहिस्सत्वं विना अनुपपद्यमानस्य गृहे असत्त्वस्य दर्शनात्। व्याप्यात् गृहे असत्त्वात् व्यापकस्य बहिःसत्त्वस्य ज्ञानम्। तच्च अनुमानमेव, व्याप्यात् व्यापकज्ञानस्य अनुमानरूपत्त्वात्।

अभावस्तु भावान्तररूपं यथा अश्वे विद्यमानः गोत्त्वाभावः अश्वादिरूपः अश्वादि-वृत्त्यश्वत्वादिधर्मरूपो, वा अश्वादिग्राहकेन्द्रियेणैव गृह्यते। गोत्त्वाभावत्वेन रूपेण गोत्त्वाभावग्रहे प्रतियोगिगोत्वादिस्मरणसहितेन्द्रियादिरेव हेतुः इति प्रत्यक्षादिप्रमाणैरेव गतार्थत्वान्नाभावः प्रमाणान्तरम्।

***

माध्वदर्शन-सम्मत प्रमाणमीमांसा - एक परिचय

प्रो. राजाराम शुक्ल
आचार्य, वैदिक दर्शन,
संस्कृत विद्याधर्मविज्ञान संकाय,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

भारतीय दर्शन के समस्त अङ्गों और उपाङ्गो के मूल उत्स से सम्बन्धित ज्ञानमीमांसा का आधार यद्यपि श्रुतियों को माना जाता है, क्योंकि भारतीय मान्यता है कि समस्त दार्शनिक आवधारणाओं के बीज वेदों में सन्निहित है, किन्तु जब दार्शनिक चिन्तनधारा के विकास एवं परिष्कार का प्रश्न उठता है तो विभिन्न स्तरों पर कथाओं का आश्रयण आवश्यक हो जाता है। दार्शनिक चिन्तनों का मूल उद्देश्य तत्त्वनिर्णय होता है, अतः कथाओं को भी तत्त्वनिर्णय-पर्यवसायी रूप से देखा जाता है। अतएव दार्शनिक विकास के प्रारम्भिक काल में वाद कथा को ही महत्त्व दिया गया। "तत्त्वबुभुत्सोः कथा वादः" अर्थात् तत्त्वजिज्ञासा के लिए की गयी कथा को 'वाद' कहते हैं। प्रारम्भिक काल में स्वसिद्धान्तस्थापना मात्र से तत्त्वनिर्णय को प्राप्त करने की प्रवृत्ति अधिकांशतः दृष्टिगोचर होती है। किन्तु कालक्रम में उत्तरवर्ती आचार्यों ने अनुभव किया कि स्वसिद्धान्त के समर्थन के साथ-साथ परकीय सिद्धान्तों का निरास भी तत्त्वनिर्णय के लिए उपयोगी होगा, क्योंकि जब तक परकीय सिद्धान्तों की यथाकथञ्चित् स्थिति बनी रहेगी तब तक तटस्थ व्यक्ति के लिए निष्कम्प प्रवृत्ति सुलभ नहीं हो पाएगी। अतएव आचार्यों ने स्वसिद्धान्त समर्थन के साथ-साथ परसिद्धान्त निराकरण में भी अपने आप को प्रवृत्त किया। फलतः वाद-कथा के साथ-साथ जल्प एवं वितण्डा का भी समावेश शास्त्रों में परिलक्षित होने लगा। जहाँ एक ओर वाद कथा केवल तत्त्वबुभुत्सा के लिए प्रयुक्त होती थी वहीं तत्त्वबुभुत्सा के साथ-साथ विजिगिषा एवं पर-

पराभावेच्छा भी सम्मिलित हुयी। यहाँ पर अवश्य स्मरणीय है कि जल्प एवं वितण्डा का भी मुख्य उद्देश्य तत्त्वनिर्णय ही है। विजय तो आंशिक एवं गौण है। इस सम्बन्ध में इस भ्रान्ति का निराकरण अवश्य करना होगा कि यथाकथञ्चित् पर-पराभव के लिए शास्त्रकार जल्प एवं वितण्डा का आश्रय लेते हैं। वस्तुतः इन दोनों का मुख्य लक्ष्य तत्त्वनिर्णय ही होता है। तत्त्व के सम्बन्ध में संशय अथवा विपरीत निश्चय के प्रसक्त होने पर तत्त्वनिर्णय बाधित होता है, अतः जल्प एवं वितण्डा की आवश्यकता होती है। अतएव इनका उपयोग संवाद के रूप में किया जाता है। इस प्रयोग ने शास्त्र को संवादात्मकता प्रदान की है, जिससे एक शास्त्र के अध्येता को उस विषय से सम्बद्ध शास्त्रान्तर के अभ्यास का एवं उस पर चिन्तन का अवसर प्राप्त होता है। वाद स्व-स्व सिद्धान्तों के विषय में निश्चययुक्त विद्वानों के द्वारा किये जाते हैं। जैसा कि **आचार्य वाचस्पति मिश्र** ने कहा है- **'निश्चितौ हि वादं कुरुतः।'** अतः जिस समय वे पूर्व पक्ष के रूप में किसी अन्य को पक्ष उपस्थापित करते हैं उस समय वे सिद्धान्त पक्ष के साथ-साथ पूर्व पक्ष की भी स्थिति स्पष्ट करते हैं। इससे शास्त्रीय चिन्तन को एक नई दिशा के साथ-साथ पर्याप्त विकास भी प्राप्त हुआ है।

संवाद भी इस विद्या को पुष्ट एवं पुष्टतर बनाने के लिए चिन्तन की तर्काधारित प्रक्रिया का आश्रयण लिया गया। श्रुति को सर्वोच्च प्रमाण मानने वाले आचार्यों ने भी श्रुतसिद्ध अर्थों को सर्वमान्य बनाने की दृष्टि से तर्क का सहयोग लिया। तर्क को श्रुति-सहायक के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई तथा वेदान्त जैसे तत्त्व परक शास्त्रों में भी तर्क एक अनिवार्य अङ्ग के रूप में प्रतिष्ठित हो गया।

संवाद की इस सुदृढ़ प्रक्रिया के पल्लवन में भारतीय दर्शन में विवेचित प्रमाण मीमांसा का सबसे अधिक योगदान रहा है। भारतीय दर्शन के प्रायः प्रत्येक शाखाओं में अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार प्रमाणों के स्वरूप एवं विभागों का विश्लेषण किया गया है। अनेक प्रकार के मतभेद होते हुए भी सभी में यथार्थ ज्ञान के करण को प्रमाण के रूप में एक मत से स्वीकार किया है। शब्दव्युत्पत्ति के दृष्टि से प्रमाण शब्द प्रमा एवं उसके करण का वाचक होता है। फलतः प्रमाण मीमांसा के प्रसङ्ग में प्रमा एवं प्रमाण दोनों को केन्द्र में रखकर चर्चा की गयी है। प्रस्तुत आलेख भारतीय दर्शन की अतिविशिष्ट शाखा माध्वदर्शन की प्रमाणमीमांसा को सामान्यरूप से प्रकाशित करने का एक प्रयास है।

माध्वदर्शन में **'यथार्थं प्रमाणम्'** कहते हुए प्रमाण का सामान्य लक्षण

प्रस्तुत किया गया है। 'यथार्थ' यह शब्द दो शब्दों से निष्पन्न हुआ है- यथा एवं अर्थ। इनमें से यथा शब्द अनतिक्रमण का बोधक है एवं अर्थ शब्द ज्ञेय का वाचक है, अर्थात् विषय को अन्य रूप से ग्रहण न करते हुए यथावस्थित रूप में ही ग्रहण करने वाला प्रमाण कहलाता है। इस मत में प्रमाण को दो भागों में विभक्त किया गया है- केवल प्रमाण एवं अनुप्रमाण। अन्य दर्शनों में जिसे प्रमा के रूप में स्वीकार किया जाता है उसे यहाँ केवल प्रमाण शब्द से बतलाया गया है जबकि उसके साधन को अनुप्रमाण के रूप में स्वीकार किया है।

केवल प्रमाण को चार भागों में विभक्त किया गया है- ईश्वरज्ञान, लक्ष्मीज्ञान, योगिज्ञान एवं अयोगिज्ञान। यथार्थ ज्ञानों का इस प्रकार का विभाग अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता है। यह विभाग ज्ञान में विषय की स्पष्टता को दृष्टि में रखकर किया है। यहाँ स्वीकृत ईश्वरज्ञान नैयायिकों द्वारा स्वीकृत ईश्वरज्ञान के समान ही है, क्योंकि इसे भी सर्वविषयक, नियमेन यथार्थ, नित्य, स्वतन्त्र एवं निरतिशय स्पष्ट कहा गया है। जबकि लक्ष्मीज्ञान सर्वविषयक, नियमेन यथार्थ एवं नित्य होते हुए भी ईश्वरज्ञान से इसलिए भिन्न है कि वह पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं है अपितु ईश्वर के अधीन है। साथ ही उसमें ईश्वर ज्ञान की अपेक्षया कुछ कम स्पष्टता होती है। जिस ज्ञान में योग प्रभाव से अतिशय अथवा वैशिष्ट्य की उत्पत्ति होती है उसे यौगिक ज्ञान कहा जाता है। इसे तीन भागों में विभक्त किया गया है- ऋजु योगिज्ञान, तात्त्विक योगिज्ञान तथा अतात्त्विक योगिज्ञान। इन तीनों ही ज्ञानों का सम्बन्ध जीवों से है। जो जीव ब्रह्मत्व को प्राप्त करने की योग्यता धारणा करते हैं उन्हें ऋजुयोगी कहा जाता है। इनसे भिन्न तथा तत्त्वाभिमानी देवताओं को तात्त्विक योगी की श्रेणी में रखा गया है तथा इन दोनों से ही भिन्न जीवों को अतात्त्विक योगी की श्रेणी में रखा गया है। उपर्युक्त तीनों प्रकार के योगियों से भिन्न जीव आयोगी कहे जाते हैं- इन्हें भी तीन श्रेणियों में रखा गया है- मुक्तियोग्य, नित्य संसारी तथा तमोयोग्य।

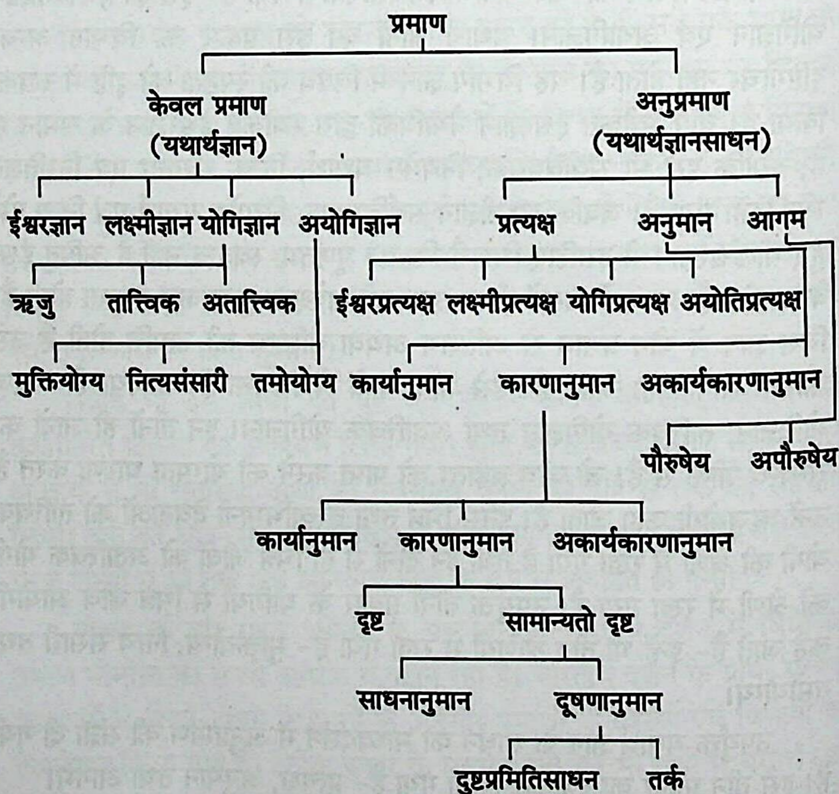
उपर्युक्त यथार्थ ज्ञान के साधन को माध्वदर्शन में अनुप्रमाण की संज्ञा दी गयी है। इसे तीन प्रकार का स्वीकार किया गया है- प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम।

उपर्युक्त रीति से ही प्रत्यक्ष के चार भेद स्वीकार किये गये हैं- ईश्वर प्रत्यक्ष, लक्ष्मी प्रत्यक्ष, योगि प्रत्यक्ष तथा अयोगि प्रत्यक्ष। इनके स्वरूप के सम्बन्ध में विवेचन पूर्व में हो कर दिया गया है। अतिदूरत्व आदि दोषों से रहित इन्द्रिय सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष कहा गया है।

दोषरहित हेतु अनुमान होता है। इसे तीन भागों में विभक्त किया गया है-

कार्यानुमान, कारणानुमान तथा अकार्यकारणानुमान। इन तीनों ही प्रकार के अनुमानों को एक अन्य रीति से भी दो भागों में विभक्त किया गया है। दृष्ट एवं सामान्यतो दृष्ट। इनके दो अन्य भेद भी प्रदर्शित किये गये हैं– साधनानुमान तथा दूषणानुमान। दूषणानुमान के भी दो भेद स्वीकार किये गये हैं– दुष्टप्रमितिसाधन एवं तर्क।

तृतीय अनुप्रमाण आगम पौरुषेय एवं अपौरुषेय भेद से दो प्रकार का स्वीकार किया गया है। प्रमाण के इस विभागोपविभाग को अधोलिखित रेखाचित्र से व्यक्त किया जा सकता है।



माध्वदर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण की अपेक्षया अनुमान प्रमाण के विवेचन में अनेक विशेषताएँ एवं नवीनता परिलक्षित होती है। नैयायिकों द्वारा स्वीकृत षट् इन्द्रियों घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र एवं मन को यहाँ प्राकृत इन्द्रिय की संज्ञा दी गयी है। इसके अतिरिक्त आत्मस्वरूप, आत्मा के गुण, अविद्या, मन, मनोवृत्ति, सुख आदि के प्रत्यक्ष के लिए साक्षी की कल्पना की गयी है जिसका उल्लेख

वेदान्त की अन्य शाखाओं में भी उपलब्ध होता है। अंतः अनुमान प्रमाण से सम्बन्धित विवेचन पर किञ्चित् प्रकाश अपेक्षित है।

अनुमान की प्रक्रिया में तीन तथ्य सर्वमान्य हैं जिनके कारण से अनुमान को निर्दोष माना जाता है– १. साधन का पक्ष पर रहना, २. हेतु का पक्ष पर रहना, ३. साध्य एवं हेतु का किसी एक स्थलपर नियमेन साथ–साथ रहना। किन्तु प्रथम एवं द्वितीय में इतना अन्तर अवश्य है कि पक्ष पर साध्य का होना आवश्यक होते हुए भी अनुमिति के पूर्व उसका पक्ष पर निश्चय नहीं होना चाहिए। यदि ऐसा होता है तो अनुमान की समस्त प्रक्रिया निरर्थक हो जायेगी, क्योंकि उस प्रक्रिया के द्वारा पक्ष पर साध्य की सिद्धि ही अभिप्रेत है। यदि वह सिद्धि अनुमान से पूर्व ही हो जाती है तो अनुमान अनावश्यक हो जाता है। पक्ष पर साध्य का सिद्ध न होना दो स्थितियों में सम्भव है– या तो पक्ष पर साध्य का संशय हो अथवा किसी प्रकार का ज्ञान (निश्चय अथवा संशय) न हो। न्याय दर्शन में इन दोनों ही स्थितियों का उल्लेख प्राप्त होता है। साध्यसंशय को अनुमिति के प्रति प्राचीन आचार्यों ने कारण के रूप में स्वीकार किया है जबकि नवीन आचार्य इससे सहमत नहीं हैं। वे सामान्य रूप से साध्य के निश्चय के अभाव को अनुमिति के प्रति कारण मानते हैं। दोनों ही मतों में पक्ष पर साध्य का निश्चित न होना आवश्यक माना गया है। किन्तु इसके विपरीत हेतु का पक्ष पर अनुमिति के पूर्व में ही निश्चित होना आवश्यक है। अन्यथा उसके आधार पर पक्ष पर साध्य का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो सकेगा। तीसरी आवश्यकता है साध्य एवं हेतु का किसी एक आश्रय पर ज्ञान होना है। इसे ही व्याप्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। यह दो पदार्थों के मध्य एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है, जिसके कारण ही एक पदार्थ के द्वारा दूसरे पदार्थ का अनुमान किया जाता है। दो पदार्थों की सहवृत्तितता के सम्बन्ध में अधिकाधिक चार स्थितियाँ सम्भावित हैं–

१. दो पदार्थ सर्वत्र एक साथ रहते हैं। उदारहणार्थ यथा–निवद्धत्व एवं पाप साधनत्व ये दोनों धर्म समनियत हैं– अर्थात् जो कार्य पाप का साधन है वह अवश्यमेव निषिद्ध है तथा जो निषिद्ध है वह अवश्यमेव पाप का साधक है। अतः इन दोनों के बीच सर्वदा व्याप्ति रहती है। फलतः निषिद्धत्व के द्वारा पापसाधनत्व एवं पापसाधनत्व के द्वारा निषिद्धत्व का अनुमान किया जा सकता है।

२. दो धर्म कहीं–कहीं साथ रहते हैं– उदाहरणार्थ धूम एवं अग्नि, ये दोनों महानस पर साथ–साथ रहते हुए भी अयोगोलक पर सहवृत्ति नहीं होते हैं। किन्तु

इनकी एक विशेषता है कि इन दोनों में एक ऐसा धर्म है जो दूसरे के बिना नहीं रहता यद्यपि वह दूसरा धर्म उसके बिना रह सकता है। यथा- धूम अग्नि के बिना नहीं रह सकता जबकि अग्नि धूम के बिना भी अयोःगोलक में रह सकता है। जिसकी स्थिति जिसके बिना सम्भव नहीं है उसके द्वारा उसका अनुमान सम्भव है। अतः धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान किया जाता है, जबकि अग्नि धूम के बिना भी रह सकता है, अतः उसके द्वारा धूम का अनुमान सम्भव नहीं है।

३. दो धर्म ऐसे हैं जो किसी आश्रय विशेष में एक साथ रहते हुए भी अन्य आश्रयों में स्वतन्त्र रूप से भी रहते हैं यथा- पुरुषत्व एवं पाचकत्व। कुछ पुरुष पाचक होते हैं जबकि कुछ पुरुष ऐसे भी हैं जो पाचक नहीं हैं। उसी प्रकार कुछ पाचक पुरुष अवश्य होते हैं किन्तु कुछ ऐसे भी पाचक हैं जो पुरुष नहीं होते। इस प्रकार दोनों ही धर्म एक दूसरे के बिना स्वतन्त्र रूप से भी रह सकते हैं। अतः इनमें से किसी एक के भी द्वारा दूसरे का अनुमान सम्भव नहीं है।

४. दो धर्म ऐसे हैं जो कभी भी एक साथ नहीं रहते। यथा- गोत्व एवं अश्वत्व। इन दोनों के मध्य व्याप्ति सम्बन्ध कथमपि सम्भव नहीं है।

जिन दो पदार्थों के मध्य व्याप्ति सम्बन्ध सम्भव है उनके सम्बन्ध में कुछ रोचक तथ्य अवश्य ज्ञातव्य हैं-

१. कुछ ऐसे दो धर्म होते हैं जिनका आश्रय देश एवं काल समान होता है। यथा-जब हम रस के द्वारा किसी द्रव्य में रूप का अनुमान करते हैं तो हम देखते है कि रसरूपी हेतु एवं रूपरूपी साध्य का आश्रय (फल आदि) तथा काल दोनों ही समान होते हैं। जिस आश्रय में रस रहता है उसी आश्रय पर रूप भी रहता है तथा दोनों एक ही फल के गुण होने कारण दोंनों की उत्पत्ति भी एक काल में होती है। अतः दोनों के देश एवं काल समान होते हैं। किन्तु रस ही रूप का अनुमापक है न कि रूप रस का, क्योंकि रस के समस्त आश्रयों पर रूप अवश्य रहता है किन्तु रूप रस के बिना भी (तेज में) रह सकता है।

२. कुछ स्थितियों में ऐसे दो पदार्थ देखे जाते हैं जिनका आश्रय देश एक होते हुए भी काल भिन्न होता है। यथा- धूम और अग्नि के आश्रय पर्वत आदि यद्यपि समान हैं तथापि दोनों की उत्पत्ति का काल भिन्न-भिन्न होता है। धूम का जनक होने के कारण वह्नि की उत्पत्ति स्वभावतः धूम से पूर्व होती है।

३. कुछ ऐसे दो धर्म होते हैं जिनका काल समान होते हुए भी आश्रय देश

भिन्न होता है, ज्योतिष शास्त्र के अनुसार रोहिणी नक्षत्र एवं कृत्तिका नक्षत्र का उदय यद्यपि भिन्न-भिन्न स्थानों पर होता है तथापि एक काल में उदित होने के कारण एक के द्वारा दूसरे का अनुमान किया जाता है।

४. कुछ स्थितियों में दो धर्म ऐसे भी होते हैं जिनके देश एवं काल दोनों ही भिन्न होते हैं तथापि उनके मध्य व्याप्ति सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है। यथा-नदी में वृद्धि को देखकर पर्वत आदि ऊर्ध्व देश में वृष्टि का तथा उस वृष्टि के द्वारा नदी में वृद्धि का अनुमान किया जाता है। जबकि दोनों के काल एवं देश दोनों ही भिन्न होते हैं।

इस प्रकार के अनेक रोचक तथ्य व्याप्ति के सम्बन्ध में माध्व दर्शन में प्रतिपादित किये गये हैं। जैसा कि पूर्व में संकेत किया गया है कि अनुमान साधनानुमान एवं दूषणानुमान के भेद से दो प्रकार का होता है। हेतु के प्रमात्मक ज्ञान से जब साध्य का प्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है तो उस स्थिति में अनुमान को साधनानुमान कहा जाता है। इसके विपरीत साध्य के अप्रमात्मक ज्ञान को उत्पन्न करने वाला अनुमान दूषणानुमान की श्रेणी में आता है। इसके अतिरिक्त तर्क को भी दूषणानुमान की श्रेणी में रखा गया है। इसमें प्रमुख रूप से पाँच अङ्ग बतलाये गये है। १. आपाद्य एवं आपादक के मध्य व्याप्ति, २. प्रति तर्क के द्वारा अप्रतिघात, ३. आपाद्य की अनिष्टता, ४. आपाद्य का विपर्यय में पर्यवसान तथा ५. प्रतिपक्षी के लिये अनुकूल न होना।

उपर्युक्त विवेचन के द्वारा स्पष्ट किया गया है कि दो धर्म तभी साध्य एवं हेतु कहे जाते हैं जब उनके मध्य सहवृत्तिता या साहचर्य का नियम हो। यदि यह नियम बाधित होता है तो वहाँ हेत्वाभास अर्थात् हेतु दोष उपस्थित हो जाते हैं। फलतः वह हेतु दोष रहित न होने के कारण अनुमान की कोटि में नहीं आ पाता है। हेत्वाभास, जाति, निग्रहस्थान आदि के सम्बन्ध में इस दर्शन में उपलब्ध विवेचन प्रायः अन्य दर्शनों के समान ही है। केवल प्रस्तुति में विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है।

तीसरा प्रमाण आगम स्वीकार किया गया है जिसे इस दर्शन में 'निर्दोष शब्द' के रूप में प्रतिपादित किया गया है। शब्द के अनेक दोष होते हैं यथा-अबोधकत्व, विपरीतबोधकत्व, ज्ञातज्ञापकत्व, अनधिगतप्रयोजनत्व, अप्रयोजनत्व किसी अशक्त साधन का प्रतिपादन एवं किसी कार्य को सम्पादित करने के लिए

लघु उपाय के रहते हुए भी गुरु उपाय का प्रतिपादन करना आदि। इन दोषों से मुक्त शब्द आगम प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। यहाँ 'शब्द' पद का तात्पर्य पद समूहात्मक वाक्य से है न कि पद से। इस दर्शन में व्याकरण सिद्धान्त की तरह ही विभक्त्यन्त वर्णों को पद की संज्ञा दी गयी है। तथा आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि से युक्त ऐसे पदों के समूह को वाक्य कहा गया है। अन्य दर्शनों की भाँति यहाँ भी आकांक्षा को इच्छारूप होने के कारण चेतन-धर्म स्वीकार किया गया है। यहाँ यह अवश्य ज्ञातव्य है कि नव्यन्याय के प्रवर्तक गङ्गेशोपाध्याय ने पूर्व मान्यता के विपरीत आकांक्षा को वाक्यधर्म के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार वाक्य के द्वारा वाक्यार्थ बोध भी प्रक्रिया में श्रोता की जिज्ञासा का कोई स्थान नहीं है। उसके बिना भी वाक्यार्थ बोध सम्भव है। अतः उन्होंने आकांक्षा का पारिभाषिक अर्थ स्वीकार किया है। तदनुसार एक पद जब दूसरे पद के बिना अर्थ बोध कराने में समर्थ नहीं होता है तो उन दोनों पदों के मध्य आकांक्षा होती है। यथा-'गामानय' इस वाक्य में केवल गाम् यह पद अर्थ बोध नहीं करा सकता यदि उसके साथ आनय पद का प्रयोग न किया जाये। अतः इन दोनों पदों के मध्य आकांक्षा होती है। योग्यता और सन्निधि के स्वरूप अन्य दर्शनों की तरह ही यहाँ भी स्वीकार किये गये हैं। इस सिद्धान्त में केवल व्यक्ति को ही पद का शक्य माना गया है तथा शक्ति के निर्धारक के रूप में सादृश्य को स्वीकार किया गया है। यह दर्शन अन्विताभिधानवादी दर्शन के रूप में मान्य है।

इस प्रकार माध्व दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम ये तीन प्रमाण स्वीकार किये गये हैं तथा उपमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव इन्हीं तीनों में किया गया है। इन प्रमाणों के आधार पर पदार्थों की शाश्वतता एवं अशाश्वतता का निर्धारण किया जाता है, जिससे अशाश्वत विषयों से विरक्ति होती है तथा क्रमेण शम, दम आदि की प्राप्ति कर जीव भगवान् वासुदेव की शरण प्राप्त करता है। तत्पश्चात् वह भगवद् विषयक श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि का दीर्घकाल पर्यन्त अनुष्ठान करते हुए भगवत्साक्षात्कार की प्राप्ति करता है, जिससे समस्त अनिष्ट की निवृत्तिः होती है तथा उसे आनन्दस्वरूप के आविर्भावरूपी मुक्ति की प्राप्ति होती है। अतः प्रमाण का विवेचन परम्परया परमपुरुषार्थ मोक्ष का साधन होता है।

***

तन्त्रागमीय प्रमाण-विमर्श

प्रो० शीतलाप्रसाद पाण्डेय
प्रोफेसर, धर्मागम विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वारणसी।

भारतीय संस्कृति के अन्तःस्तल में प्रवाहित होने वाली ज्ञानसलिला के अपरिमेय दो स्रोत हैं- निगम, आगम या तन्त्र। इतिहासकार आज तक यह निर्णय नहीं कर सके कि इसमें प्राचीन कौन है? किन्तु अधिकांश विद्वानों का यह मानना है कि जिस प्रकार तर्कशास्त्र में निगमन तथा आगमन एक दूसरे के पूरक हैं उसी प्रकार निगम और आगम एक दूसरे को पूर्णता प्रदान करते हैं। निगम द्वारा प्रकाशित सत्य का साक्षात्कार करने का साधन है आगम। निगम सिद्धान्त पक्ष है तो आगम उसका क्रियात्मक पक्ष।

आगम शब्द 'आ' उपसर्ग के साथ 'गम्' धातु से निष्पन्न है, अर्थात् 'आ समन्ताद् अर्थं गमयति इति आगमः।'[१] इसी प्रकार 'निगम' भी 'नि उपसर्ग के साथ 'गम' धातु से निष्पन्न होने के कारण 'निःशेषेण अर्थं गमयति इति निगमः' दोनों का ही अर्थ किसी ज्ञान की पूर्ण अभिव्यक्ति है। 'गम्' धातु गत्यर्थक होने के साथ ही साथ ज्ञानार्थक भी हैं- 'ये गत्यर्थाः धातवः ते ज्ञानार्थाः।' 'आ' उपसर्ग का अर्थ पूर्णता है। इस प्रकार आगम का अर्थ हुआ पूर्णज्ञान, पवित्र स्वतः स्फूर्तज्ञान, विमलज्ञान, निराकुलज्ञान, गुह्याद्गुह्यतरज्ञान, शिवज्ञान, दिव्यशास्त्र, अवबोधरूपज्ञान और सिद्धान्त आदि।[२] इस प्रकार 'आगम' वह शास्त्र है, जिसके द्वारा सभी कुछ ज्ञात हो जाता है। वाचस्पतिमिश्र ने अपनी तत्त्ववैशारदी में यह प्रतिपादित किया है कि आगम यह बताने की प्रक्रिया है कि मनुष्य किस प्रकार इस लोक में सुख प्राप्त करते हुए भी मुक्ति प्राप्त करता है।[३] 'उपासकाध्ययन' में आगम शब्द को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि हेय तथा उपादेय रूप से धर्मार्थकामादि

चतुर्वर्ग समाश्रय पूर्वक त्रिकालगत अर्थों का ज्ञान कराने वाली विद्या आगम है।[४]

देवसूरि ने अपने 'प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार' में आगम की परिभाषा देते हुए बताया है कि 'आप्तवचनाद् आविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः।'[५] अर्थात् किसी आप्त पुरुष द्वारा अर्थ विशेष का परिज्ञान करने वाले ज्ञान का नाम आगम है। यहाँ आप्त पुरुष का अभिप्राय है स्वदृष्ट ज्ञान का उपदेशक, क्योंकि 'सांख्यसप्तति' की जयमङ्गला व्याख्या में यह कहा गया है कि रागद्वेष से रहित अपने कर्म में लगे हुए अजातशत्रु तथा सज्जनों द्वारा पूजित व्यक्ति को ही आप्त कहते हैं।[६] इसमें 'स्वकर्मणाभियुक्तो'शब्द महायान बौद्धधर्म के 'महायानार्थकोविदम्' विशेषणधारी कल्याण मित्र की भाँति है। चरक संहिता में कहा गया है कि "जिनका सर्वविषयों में तर्करहित, निश्चयात्मक ज्ञान रहता है, जो त्रिकालदर्शी है, जिनकी स्मरणशक्ति कदापि नष्ट नहीं होती हो, जो रागद्वेष के वश में नहीं होते और पक्षपातशून्य हैं, वे ही आप्त हैं"[७] इन वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि निगम का व्यवहार पक्ष ही आगम है। वस्तुत आगम विमर्शरूप है।८ 'आगम' का एक दूसरा पक्ष प्रचलित भाषा में 'तन्त्र' कहा जाता है। अजितागम में तत्त्व तथा मन्त्र के विस्तार बताने वाले ज्ञान को 'तन्त्र' माना गया है।[९] विष्णुसंहिता में तन्त्र का अर्थ भय से रक्षा करना है।[१०] वस्तुतः तन्त्र है शक्ति का नामात्मक प्रकाश, यन्त्र रूपात्मक अभिव्यक्ति तथा मन्त्र क्रियात्मक पद्धति है। इसीलिए मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र का नाम-रूप तथा क्रिया के द्वारा समस्त साधनाएँ पूर्ण होती हैं।

आगम साहित्य अत्यन्त विशाल है। उनके दो प्रधान प्रकार हैं- १. वेदानुकूल या वेद के अविरुद्ध तथा २. वेद बाह्य। कुछ आगमों एवं उनके आचारों का मूल स्रोत वेदों से ही प्रवाहित होता है। समयाचार की इन्हीं में गणना है। पाञ्चरात्र एवं शैवागम के कतिपय सिद्धान्त वेदमूलक अवश्य हैं तथापि इन्हें वेदबाह्य माना जाता है। एक अन्य प्रकार से आगमों का विभाजन वैष्णवागम, शैवागम, शाक्तागम, जैनागम एवं बौद्धागम में किया जाता है। वैष्णवागम के वैखानस एवं पाञ्चरात्र दो भेद हैं। इनमें पाञ्चरात्र की प्रसिद्धि एवं प्रचलन अधिक हैं। वैखानस आगम का अधिक प्रचलन दक्षिण में है और वहीं से इसका प्रचुर साहित्य भी प्रकाशित हैं।

ज्ञान-मीमांसा शब्द वास्तव में भारतीय दर्शन का पारिभाषिक शब्द नहीं है, बल्कि यह पाश्चात्य दर्शन की पारिभाषिक शब्दावलियों के हिन्दी रूपान्तरित शब्दों की श्रेणी में आता है। बाह्य अस्थिर जगत् में स्थिर पदार्थ क्या है? या सत्य क्या

है? तथा उसे कैसे जाना जाता हैं? इसी विषय की स्थापना तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा में की जाती है। इसके दो प्रकार के स्वरूप माने गये हैं- पहला नित्य पदार्थ जिसे अंग्रेजी में सब्स्टेन्स व्यू तथा दूसरा अनित्य पदार्थों का सन्तान प्रवाह जिसे काण्टीनुअम व्यू कहा जाता है। प्रथम दृष्टिकोण को मानने वाले आस्तिक दार्शनिक माने जाते हैं तथा दूसरा पक्ष बौद्धों का है। आगमतन्त्र आस्तिक दर्शन के अङ्ग हैं, क्योंकि कुल्लूकभट्ट ने "श्रुतिस्तु द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी चेति" कह कर इन्हें श्रुति के समान ही आदृत किया है। भगवान् मनु ने बताया है कि-

प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मसिद्धिमभीप्सुना।।[११]

अर्थात् तत्त्वतः धर्म के स्वरूपज्ञान की कामना वाले मनुष्य को चाहिए कि वह प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अनेक आगमों से युक्त शास्त्र (शब्द) को अच्छी तरह से जाने।

निगमागमीय चिन्तन में निगम से गहरा सम्बन्ध वैखानस आगम का है और यह वैदिक वर्णाश्रम के अन्तर्गत तृतीय वानप्रस्थ आश्रम से निकट का सम्बन्ध रखता है। वैखानस आगम अपनी उत्पत्ति की महत्ता को रेखांकित करते हुए कहता है-

वैखानसं महाशास्त्रं सर्ववेदेषुद्धृतं सर्ववेदार्थसारभूतं अप्रतर्क्यमनिन्दितं वैदिकैरूपसेवितं विष्णोराराधनं सर्वभूताहितार्थाय शाब्दं प्रमाणामवलम्ब्य विष्णुना विखनस उक्तम्। विखनसा भृग्वादीनामुक्तम् ...।[१२]

उपर्युक्त कथन से इतना सुस्पष्ट है कि आगम शास्त्र शब्द-प्रमाण पर अवलम्बित है।

शब्द-ब्रह्म में परिपूर्णता प्राप्त कर ब्रह्म, आत्मदर्शन, दिव्य ज्ञान और अद्वयत्व का बोध होता है- शिव-शक्ति के सामरस्य का। यही शास्त्रोक्त भूमा तत्त्व है, जिसके लिए श्रुति कहती है कि "भूमा ही अमृत है।" सनत्कुमार ने नारद से कहा था, "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखं भूमात्वेवविज्ञा, सितव्य इति। भूमानं भगवो विजिज्ञास इति।"[१३]

भारती प्राज्ञ-पुरुषों ने वाक् को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। यह वाक् तत्त्व सहस्र प्रकार से व्याप्त है। जहाँ तक ब्रह्मतत्त्व है, वहाँ तक वाक् भी। वाक् ही वह दीप है जो सभी चीजों को आलोकित या प्रकट करता है। तीनों भुवन गहन

अन्धकार में डूब जाते, यदि सारे संसार में यह शब्द या वाक् रूप ज्योति प्रदीपित नहीं रहती।[१४]

गोपीनाथ जी कविराज ने वाक् के चार रूपों की गंभीर व्याख्या की है। "सृष्टि की धारा में परावाक् से पश्यंती, इसके पश्चात् मध्यमा और सबसे अंत में वैखरी वाक् प्रकट होती है। इंद्रिय गोचर स्थूल पदार्थों का आविर्भाव और वैखरी का उदय समकालीन है। पदार्थ का इंद्रिय ग्राह्य जब होता है तब वैखरी वाक् का उदय होता है। चित्शक्ति के उन्मेष से ही वैखरी से मध्यमा से प्रवेश होता है। वैखरी में शब्द और अर्थ भिन्न (मित्र) रहते हैं, मध्यमा में दोनों का भेदाभेद संबन्ध होता है, पश्यंती में अभेद और जीव ऊपर उठ जाता है, ज्योतिः स्वरूप हो जाता है। शब्द ब्रह्म (परावाक्) भगवान् का स्वतंत्र शक्ति स्वरूप है। इसके गर्भ में विश्व अव्यक्त रहता है, सृष्टि के समय इसकी गति बहिर्मुख होती है महाज्ञान का पूर्ण विकास होता है। पर ब्रह्म का बाहरी प्रकाश ही शब्द ब्रह्म है। वैखरी में जीव की बद्धावस्था है और परावाक् में मुक्तावस्था।"

भास्कर राय कहते हैं, "शब्द ब्रह्मरूप बीज की उच्छन्नावस्था परा है, स्फुटिक अवस्था पश्यंती, मुकुलित अव्यक्त मध्यमा और विकसित अवस्था वैखरी है।[१५] आचार्य रामेश्वर झा के शब्दों में परा, पश्यंती, मध्यमा तथा वैखरी के स्वरूप का अभिधान इस प्रकार है–

उल्लिसिषयाऽयुक्ता परायां त्रिपुराभिधा।
सन्निविष्टा परा शान्ताऽपीच्छाज्ञानक्रियात्मिका।।
अनुत्तरस्वरूपैव निराकाङ्क्षा तु या परा।
ज्ञानशक्त्युन्मुखा सैव पश्यन्ती परिभण्यते।।
स्थितौ तस्याः क्रिमाशक्त्यौन्मुख्ये सैवास्ति मध्यमा।
पुनस्तत्रैव तस्या या स्थितिः सैवास्ति वैखरी।।
अघोरशक्तिः पश्यन्ती घोराघोरा तु मध्यमा।
वैखरी घोरशक्तिः स्यादिच्छाज्ञानक्रियात्मिका।।[१६]

वाग् श्रुति ही किसी भी महापुरुष की साधना की चरम विभूति होती है। इसकी उपेक्षा से कोई भी राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता, क्योंकि अनुभूतात्मक साधना ही सहृदय साधकों की उपासना होती है। शब्द और अर्थ की परम श्लाघनीय मनोहर स्थिति ही सामरस्य है, न किसी की न्यूनता और न आधिक्य

ही। जिस युगनद्ध अथवा अर्धनारीश्वर की चर्चा की जाती है, उसके अनुसार वाक् शक्तिरूपा पार्वती है और अर्थ आनन्दघन शिव। अहिर्बुध्न्य ने कहा है कि- यह जो परमात्मा सनातन नारायण देव हैं उनके समान धर्म वाली उनकी अहंभावात्मिका शक्ति है। वे दोनों एक ही कहे गये हैं तथापि शास्त्रों में भेद्य भेदक (विशेष्य-विशेषण) भेद से जगत् का कारण होने से उन्हें पृथक्-पृथक् रूप से कहा है। शक्ति के बिना कोई शक्तिमान् कारण नहीं हो सकता और शक्तिमान् के बिना शक्ति अकेली नहीं रह सकती-

> योऽसौ नारायणो देवः परमात्मा सनातनः।
> अहंभावात्मिका शक्तिस्तस्य तद्धर्मधार्मिणी।।
> ताविमावेकधैवोक्तौ भेद्यभेदकभावतः।
> पृथक्त्वेन च शास्त्रेषु जगद्धेतुतयोदितौ।।
> नैव शक्त्या विना कश्चिच्छक्तिमानस्ति कारणम्।
> न च शक्तिमता शक्तिर्विनैका व्यवतिष्ठते।।[१७]

सृष्टि के मूल में दो ही प्राथमिक अवस्थाएँ परिलक्षित हैं-

१. अंतर्लीन चैतन्य (प्योर कॉन्शसनेस)

२. बहिः मुख चैतन्य (वर्ल्ड कॉन्सनेस)

प्रथम शिव की प्रकाश मात्र 'तनु' अवस्था है और द्वितीय भावि चराचर बीज शिव रूप विमर्श निर्मलादर्श की। प्रकाश चिदाकाश की अवस्था है और विमर्श परमाकाश की। दोनों ही एक अनुभूति के अविभाज्य अंग हैं। स्थूल वर्णों द्वारा उसका केवल संकेत भर दिया जाता है। शारदातिलक के अनुसार-

> निर्गुण सगुणश्चेति शिवोज्ञेयः सनातनः।
> निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः।।
> सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
> आसीच्छक्तिस्ततो नादोनादाद बिन्दूसमुद्भवः।।
> परः शक्तिमयः साक्षात् त्रिधाऽसौभिद्यते पुनः।
> बिन्दुर्नादौ बीजमति तस्य भेदाः समीरिताः।।
> बिन्दु शिवात्मको बीज शक्तिनदिस्तयोर्मिथः।
> समवायः समाख्यातः सर्वागमविशारदैः।।[१८]

वाक् और अर्थ नित्ययुक्त हैं, सम्पृक्त। तुलसीदास ने भी कहा-

गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।

तन्त्रागमों में नादोपासना में ज्योति दर्शन के विभिन्न रूप वर्णित है, कला रूप, बिंदु रूप, आत्मरूप आदि।[१९] कालिदास ने रघुवंश में जगत् के जनक तथा जननी के रूप में इस युग्म या युगल की वन्दना की है।[२०] भर्तृहरि का अभिमत है-

वाग्रूपता चेदुत्क्रमादेव बोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रात्यवमर्शिनी।।

इसी कारण करण से कहा जाता है कि शक्ति के बिना शिव केवल शव मात्र है।

वर्तमान में आधुनिक वैज्ञानिक खोजें तान्त्रिक तत्त्व के अधिक निकट आ गयी हैं। नर-नारी में इसे ही 'सितशोण बिन्दु समरसी भूतः' कहा गया है। काल ही विमर्श शक्ति है, अग्नि सोमरूपिणी नादात्मिका। यह जगत ही 'अग्निषोमात्कम्' है।[२१] भास्करराय ने इसी को 'शब्दब्रह्ममयी विभु' कहा है।

पर ब्रह्म की उपलब्धि शब्दब्रह्म के साक्षात् होने से ही होता है। शब्दातीत पर ब्रह्म का साक्षात्कार करना हो तो शब्द के आश्रय से शब्द राज्य का भेद कर होता है। समस्त विश्व शब्द से ही उद्भूत है तथा विधृत है-

शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी।

आगमशास्त्र को दार्शनिकों ने प्रमेय की सिद्धि के लिए एक सफल प्रमाण के रूपमें प्रतिष्ठित किया है। परवर्ती बौद्धों ने भी कुछ वचन को आगम कहकर इसे प्रामाणिक माना है।[२२] इस प्रकार आस्तिक तथा नास्तिक दोनों ही प्रकार के दार्शनिकों ने इसे एक ऐसे प्रबल प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया है, जहाँ प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणों की गति नहीं है।[२३] सम्प्रदायसिद्ध अनेक विद्वानों ने इसी आधार पर इसे सभी प्रकार के ज्ञान प्राप्त कराने के साधन के रूप में स्वीकार किया है।[२४] दार्शनिक प्रस्थानों के अन्तर्गत प्रमाणों की परिगणना के प्रसंग में आगम का आप्तोपादेशव के रूप में न केवल उल्लेख ही हुआ है, अपितु उसकी अनिवार्य स्वीकृति भी देखी जाती हैं। आगम की व्याख्या चार प्रकार से सम्भव है- १. आप्तोपदेशात्मक आगम, २. अनिबद्ध प्रसिद्धि रूप आगम, ३. निबद्धप्रसिद्धि रूप आगम एवं ४. प्रतिभात्मक आगम। सामान्य जन की प्रज्ञा मलिन मान्यताओं एवं पक्षपात से संवलित होने के कारण जनता के जीवन में प्रमाण रूप से

प्रतिष्ठित नहीं होती, किन्तु वक्तव्य वस्तु का जिसे निर्बाध एवं पूर्ण बोध है, उस आप्त के उपदेश की प्रामाणिकता के प्रति किसी को सन्देह नहीं होता।[२५] पृथक्-पृथक् प्रसिद्धियों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् आप्तता देखी जाती है। पाणिनी और वररुचि आदिकों की आप्तता व्याकरण में प्रसिद्ध है, किन्तु अक्षपादादिकों की नहीं। इस प्रकार ज्ञान कर भिन्न-भिन्न शाखाओं में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की आप्तता प्रसिद्ध है। यही चरणाप्तवाद या शास्त्राप्तवाद है। पुरुषाप्तवाद की व्याख्यागत उपलब्धियों को जब लोक में पूर्ण समादर प्राप्त हो जाता है। 'आगम' शब्द के मूल में 'परम्पराख्याति' की प्रधानता है। इन सबाक आदि स्रोत प्रतिभा अथवा पराशक्ति का विमर्श है।[२६] प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण विवेचन के लिए आचार्य नवजीवन रस्तोगी की सद्यः प्रकाशित कृति विशेषरूप से अवलोकनीय है।[२७] महामहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त की मङ्गलस्तुति से अपने को विराम देता हूँ-

प्रमाणानि प्रमावेशे स्वबलाक्रमणक्रमात्।
यस्य वक्त्रावलोकिनि प्रमेये तं संस्तुमः।।
एवमनुत्तररूपात् प्रभृति त्रिकशक्तिपूरितानन्दम्।
अमृतास्यमस्य जगतः प्रमाणभूतं शिवं वन्दे।।[२८]

सन्दर्भा

१. जर्नल ऑफ कर्नाटक यूनिवर्सिटी ह्यूमनिटीज-१९६०, पृ.२९
२. जर्नल ऑफ कर्नाटक यूनिवर्सिटी ह्यूमनिटीज-१९६०, पृ.३०
३. "आगमच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति, यस्माद् अभ्युदयनिः श्रेयसोपायाः स आगमः।"
तत्त्वैशारदी १-६
४. हेयोपादेयरूपेण चतुर्वगसमाश्रियात्।
कालो भयागतानार्थन् गमयत्यागमः स्मृतः।। उपासकाध्ययन, श्लोक १००
५. प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार, ४-१
६. स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः। निर्वैरः पूजितः सद्भिः आप्तो ज्ञेयः स तादृशः।।
सांख्यकारिका ५, टीका जयमंगला
७. चरकसंहिता, विमानस्थान ४/४
८. आन्तरं चित्स्वभावस्य शब्दनं यद्विमर्शनं।
अन्तरङ्गस्वरूपं तत् प्रत्यक्षस्यापि जीवितम्।
यद् यद् विमृश्यते तेन तत्तदेव भवेद् ध्रुवम्।
आगमः स विमर्शो हि प्रोच्यते मुख्यतो बुधैः।।
उपयोगितया तत्र उपचारेण कथ्यते।

शब्दोप्यागमशब्देन विमर्शजनकत्वातः।। सन्मार्ग, आगमविशेषङ्कः, पृ.६०

९. अजितागम, भाग-१, क्रियापाद पटल-१, श्लोक ११५

१०. विष्णुसंहिता, २/१०

११. मनुस्मृति, १२/१०५

१२. विमानार्चनकल्प, पटल १०१

१३. छान्दोग्य उपनिषद् : सप्तदश खण्ड,

१४. इदमन्धतमं कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।। काव्यादर्श - १/४

१५. वरिवस्या रहस्य-४९

१६. पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा, श्लोक ३७६-३७९

१७. अहिर्बुध्न्यसंहिता, अध्याय-६, श्लोक-१-३

१८. शारदातिलक, १/३-६

१९. महायोगविज्ञान : योगेन्दि विज्ञानी

२०. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती पार्वतीपरमेश्वरौ ११, रघुवंश १/१

२१. जयाख्यसंहिता ६/१०

२२. बोधिचर्यावतार ९/४२ टीका प्रज्ञाकरमति।

२३. प्रत्येक्षणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एत विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।
तैत्ति.भाष्यभूमिका।

२४. आज्ञावस्तु समन्ताच्च गम्यते त्यागमो मतः। पिंगलमत, पाण्डुलिपि, दरबार पुस्तकालय, नेपाल, उद्धृत टी.एस.आर.एल., पृ.२

२५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग-२, वि.२, पृ.१०२.

२६. प्रतिभानलक्षणा इयं शब्दभावनाख्य आगम ए वेति ई.प्र.वि.वि., पृ.९३

२७. काश्मीरशिवाद्वयवाद में प्रमाण-चिन्तन, प्रो. नवजीवन रस्तोगी, सम्पादक श्री जितेन्द्र बी. शाह, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद-००९, २०१३ ई. पृ.७९-१३५

२८. ईश्वरप्रत्याभिज्ञाकारिका एवं विमर्शिनी क्रियाधिकार, तृतीय आह्निक, मङ्गलश्लोक।

***

साहित्यशास्त्रे प्रमाणविमर्शः

प्रो० कौशलेन्द्रपाण्डेयः
आचार्य, साहित्य विभाग, संस्कृत विद्याधर्मविज्ञान संकाय,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

साहित्ये प्रमाणविमर्शावसरे भवत्यैतद्विचारणीयं यत्कुत आरभ्य प्रमाणविमर्शःकरणीयः यतोहि, शास्त्रात्तरेभ्यः साहित्यस्म साहित्यशास्त्रस्य वा कापि स्थितिरन्यैव। इह तादत् द्वौ मुनी स्तः, अन्यत्र कोप्येक एव प्रवर्तकाचार्य ऋषिर्वामुनिः। किन्तु साहित्यक्षेत्रे आदिकविर्वाल्मीकिः भरतमुनिस्य उभौ वर्तेत। वाल्मीकिनाऽपि यदारभ्यते रामायणमहाकाव्यं तदा तत्रापि प्रमाणचिन्ता दृश्यते। कीदृशी सा प्रमाणचिन्ता, सा तु वर्तते, लोकस्य कृते प्रमाणभूतः अनुकरणीयः, महापुरुषः कः एतद्विषयिणी। तद्यथा–

कोऽन्वस्मिन् साम्प्रते लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः।।

इत्याद्यारभ्य– महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवं विधं नरम्। इति पर्यन्तम्।

एवमेव नाट्यशास्त्रेऽपि आत्रेयप्रभृतिभि ऋषिभिः नट्यवेदविषये–

योऽयं भगवता सम्यग्भाषितो वेदसम्मितः।
नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पत्रः कस्य वा कृति।।
कत्यङ्गः किंप्रमाणाश्च प्रयोगचास्य कीदृशः।
सर्वमेतद्यथातत्त्वं भगवन् वक्तुमर्हति।।

इति क्रियते पृच्छा। अत्र पञ्चमवेदविषये प्रमाणजिज्ञासा। अत्र 'ग्रथितः' इत्यनेन नाट्यस्यास्य प्रत्यक्षीकरणं जातं तेन प्रत्यक्षप्रमाणस्यायविषयः पञ्चमोऽयं नाट्यवेदः। उक्तं यथा अभिनव भारत्यां–

"तेन भरतमुनिना यो ग्रथितः सुन्दरतमवस्तु समाहरणयोजनया गुम्फितः कोऽप्ययं वस्तुविशेषः स तावत्प्रयोगसमयेऽस्माभिर्दृष्ट इति प्रत्यक्षत्वेन अयमिति परामर्शः।" इति।

किन्तु– नाट्यवेदस्यास्य सम्यग्ज्ञानाभावात् प्रत्यक्षमपि अप्रत्यक्षमिव– "अविदितान्त–

स्सारतया चास्माकं प्रत्यक्षोऽप्यप्रत्यक्षकल्प इति" अतः सत्मपि प्रत्यक्षीकरणे तथाभूतस्य प्रमाणस्यापेक्षा वर्तते येन विदिन्तास्सारताऽपि स्यादिति। इत्थं बहुलिखितमत्र विषये तत्राभिनवभारत्यां परं योऽस्ति प्रश्नः मुनीनां– किं प्रमाणश्चेति अनेन नाट्यशास्त्रविषये प्रमाणचित्तनं समीचीनम्। ज्ञायते एव यत सर्वेन्देक सर्वेष्वेव शास्त्रेषु तत्तच्छास्त्रमर्यादियैव सर्वं विचार्यते तदत्रापि साहित्यशास्त्रविषये साहित्यशास्त्रमर्यादामवलम्ब्यैव विचारः। पूर्वं नाट्यविषये यन्तिगछितं यत् एतत तु प्रत्यभीऽम् तदेव पुनरुच्यते। अभिनवगुप्तपादाचार्यैः ननु प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धत्व तान्नादयस्य। यद्वक्ष्यति– दुश्यं श्रव्यं यत् इति। श्रेयः प्राप्तयुपायज्ञापकत्वमपि मुनीनां स्वसं वेदनसिद्धम्। अन्यथा तु विचार्यत्वमेवास्य न स्यादित्युक्तम्। तत्कोऽयं प्रश्नः? सत्यम् किन्तु यान्यङ्गानि कानि चित्तानि यदि विज्ञेयानि येन प्रमाणे न किमङ्गता ज्ञायते। तेत किंप्रमाणाङ्ग इति। तथा केन प्रमाणेनाङ्गाङ्गीभावनियमो ज्ञेयः प्रमाणमन्त्र निश्चयजकम्।

अन्ये तु नाट्यगतानां रूपकदीनां पाठ्याभिनयरसगीतानां च किं प्रमाणं का संख्येति विभागविषयोऽयम् इत्याचक्षते इत्थमग्रेऽपि प्रमाणमधिकृत्य विवेचनं कृतुं वर्तते, किन्तु तदत्र न स्थाप्यते। सारतया वक्तुं शक्यतैतत् यत् साहित्यसरयते नाट्यशास्त्रे प्रथमतया शास्त्रमधिकृत्य प्रमाणचर्चाकृता भरतमुनिना। वाल्मीकिना यत् कृतं तत् तु अन्यत्। साक्षाद् ब्रह्म एव तत्र प्रमाणीक्रियते।

साहित्यशास्त्रे प्रमाणविमर्शस्य मुख्यतया त्रीणिस्थानानि भवन्ति। प्रथमं नाट्यं द्वितीयं शब्दवृतिप्रश्नः तृतीयन्तु अलङ्काराः।

शब्दव्यापारविषये आलङ्कारिकैरचार्यैः बहुमथितम्। अभिधालक्षणाव्यञ्जना-प्रपञ्चचर्चामुखेनैतद् कृतमस्ति। अभिधाप्रसङ्गे सङ्केतग्रहप्रकरणे–

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान कोशाप्रवाक्याद् व्यवहारतश्च।

वाक्यस्यशेषाद् विवृतेर्वदन्ति सनिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।। इति।

इत्थं शब्दव्यपारदृष्ट्या बहुप्रतिपादितयस्ति। तदत्र न वर्ण्यते। किन्तु अलंकारनिरूपणे प्रमाणानां यथाङ्गत्वं वर्तते तदत्र स्थालीपुलाकयेन निरूप्यते। काव्यप्रकाशे अनुमानालङ्कारः यथा निरूपितः स एवात्रोदाह्रियते आलङ्कारिकैराचार्यैरलंहाकाराणंनिर्वचनं विवेचनञ्च यत्कृतमस्ति तत्र तेषामलङ्काराणां मूलभावाः विद्यन्ते। तेषु केचनालङ्काराः न्यायमूलका अपि वर्तन्ते। एतेषु कथमत्र प्रमाणापेक्षा तदत्र प्रतिपादयामः परं ततः पूर्वं कथमेतेषामलङ्काराणां भावविशेषमूलकता तन्निर्देशोऽत्र दिङ्मात्रेण क्रियते। येन निरूप्यमाणानामलङ्काराणां विषये किमपि सौकर्य भविष्यति। तत्र सन्ति भेदा :–

१. सादृश्यगर्भालङ्काराः

१. भेदाभेदतुल्यप्रधानसादृश्यगर्भालङ्काराः।

२. अभेदप्रधानसादृश्यगर्भालङ्काराः।

३. गम्यमानौपम्यसादृश्यगर्भालंङ्काराः।

२. विरोधगर्भालङ्काराः।

३. शृङ्खलामलूलङ्काराः।

४. न्यायमूलालङ्काराः।

तर्कन्यायमूलालङ्काराः।

क- काव्यलिङ्गालङ्कारः।

ख- अनुमानलङ्कारः।

वाक्यन्यायमूलालङ्काराः अथवा काव्यन्यायमूलालङ्काराः।

क- यथासंख्य　　ख- पर्यायः　　ग- परिवृत्तिः

घ- अर्थापत्तिः　　ङ-विकल्पः　　च- परिसंख्या

छ- समुच्चयः　　ज- समाधिश्चेति।

लोकन्यायमूलालङ्काराः-

क- प्रत्यनीकम्　　ख- प्रतीपम्　　ग- मीलितम्

घ- सामान्यम्　　ङ- तदगुणः　　च- अतदगुणः

छ- उत्तरम्

५. गूढार्थप्रतीतिमूलालङ्काराः।

६. विशेषणवैचित्र्यमूलालङ्कारा।

एवमेवात्र केचनभेदाः प्रदर्शिताः ! एतद्विषये आचार्याणां मतैक्यं नास्ति, तेषां भिन्नभिन्नमेव प्रकल्पनं तदत्र नायं तत्सर्वप्रपञ्चविवेचनस्यावसरः। केवलं न्यायमूलाः येऽलङ्काराः तेष्वेव द्वित्राः विवेच्यन्ते। तर्कन्यायमूले अनुमानलङ्कारः। प्रमाणेषु अनुमानप्रमाणं प्रसिद्धमेव। काव्येऽपि अनुमानस्यावश्यकता सौन्दर्योपस्थापनायभवत्यतअस्य प्रयोगोऽपि काव्यमर्यादयै भवितुमर्हति, किन्तु चेदनुमीयतेऽर्थःकाव्ये दर्शने वा तर्हि तत्र अनुमानप्रपञ्चस्यैवानुसरणं समीचीनमितिरीत्या अनुमानालङ्कारे कथं ततसर्वंघटते इत्यत्रनातिविस्तरेण संपाद्यते। तथापि अनुमानलङ्कार उदाह्रियते-

अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः। (का. प्र. १० उल्लासः) पक्षधर्मान्वय-व्यतिरेकित्वेन त्रिरूपो हेतुः साधनम्। धर्मिणि अयोगव्यच्छेदो व्यापकस्य साध्यत्वम्। अत्र एव बोध्यं यत् साधयितुं योग्यं साध्यम्। किं साध्यते? वह्नयादिः साध्यते। वह्नयादिः साध्यते

अनेनेति साधनम्। हेतुर्धूमादिः। इत्थं तयोः साध्यसाधनयोर्यद्वचः वचनं वा तदनुमानम् इति, काव्योपकारकत्वादत्रास्यालङ्कारत्वम्।

अत्राशङ्क्यते यत् पक्ष–साध्य–हेतु–दृष्टान्ताद्यनुमानम् अत्र तु काव्ये अनुमानलङ्कारपरिकल्पने कथं साध्यसाधनयोवचनमात्रमुक्तम्? तर्हि समाधत्ते ग्रन्थकारः वृतिमुखेन तदत्र व्याख्यायते पक्षधर्मत्वेन अन्वयित्वेन व्यतिरेकित्वेन च त्रिरूपहेतुः साधनमित्युच्यते। त्रिरूपः पक्षसत्त्वसपक्षसत्व–विपक्षसत्वानीति त्रीणिरूपाणि यत्रकुत्रचिदपि वाक्ये अनुमिनोति स पक्षः यथा पर्वतादिः। अथ च हेतोर्वृत्तित्वं पक्षधर्मत्वम् सपक्षत्वं वा, सपक्षे निश्चितसाध्यवति महानसादौ हेतोर्वृत्तित्वम्। अन्वयित्वम्, विपक्षेनिश्चितसाध्यभाववति ह्रदादौ हेतो खृत्तित्वम् व्यतिरेकित्वम् इत्थं केवलं साध्यसाधनयोर्ग्रहणादेव पक्षादीनां सर्वेषामेव संग्रहः। पुनश्च साध्यं हि नाम पक्षे धर्मिणि पर्वतादौ, वह्नयादेः नियतः अयोगव्यवच्छेदः सिबन्धः, इति। इत्थं पक्षे पर्वतादौ वह्निरूपसाध्यस्य सिद्धिफलमेवानुमितिरिति। उदाहियते–

> यत्रैतालहरीचलाचलदृशो व्यापारयन्ति भ्रुवं
> यत्तत्रैव पतन्ति सन्तममी मर्मस्पृशोमार्गणाः।
> तच्चक्रीकृतचापमंचितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो
> धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्यं सदाऽऽसां स्मरः।।

अत्रायमाशयः– पुरो दृश्यमानाः एताः तरङ्गवदाचरन्त्यः चञ्चलाक्ष्यः यस्मिन्नपि कस्मिन् तरुणे तरुणविशेषे कवाटपातमाचरन्ति तदा तस्मिन्नेव तरूक्षविशेषे अनुभूतप्रकर्षाः मर्मभेदिनः कामबाणाः अनारतं पतन्ति इति, अस्माद्धेतोः शासनधरः योषितामाज्ञाकारी अतएव कोपशीलः अतएव चक्रीकृतश्चापः यस्मिन्कर्मणि तत्तु वर्तते येन केनापि प्रकारेण अञ्चितेषु धनुषि योजितेषु बाणेषु निरन्तरचलद्धस्तः स्मरः कामदेवः आसां सुन्दरीणां अग्रतः सत्यमेव नित्यमेव धावतीति। अत्र नागेशभट्टः– अत्र पूर्वार्धे सन्ततनिपतन्मर्मभेदिबाणकलसद् भ्रूव्यापारकस्थानकत्वं साधनं पक्षवृत्तित्वेनोक्तम् परार्धे अग्रतस्तादृशमदनधावनरूपं साध्यमुक्तं यत्तदभ्यां व्याप्तिः सूचिता तत्र वस्तुतो व्याप्त्यसत्त्वेऽपि कविप्रौढाक्तया तथाऽभिधानम् अनुमानप्रयोगश्चेत्थम् एताः स्त्रियः चक्रीकृतचापं यथा तथा सदा पुरोधावदञ्चितशरत्वादिविशिष्ट मनोवाः सन्ततनिपतन्मर्मभेदि-बाणकलसद्भूव्यापारकस्थानत्वादिति। ननु साध्यसाधनयोः पौर्वापर्यविपर्ययस्यात्रावश्यं सम्भवादनुमानालङ्कारस्य द्वैविध्यं कथं नोक्तमतआह– "साध्यसाधनयोः पौर्वापर्यविकल्पे न किञ्चिद्वैचित्र्यमिति न तथा दर्शितम्।" विकल्पे विपर्यये वैचित्र्यं चमत्कारः। इत्यनुमानम्।

इत्थं तर्कन्यायमूलालङ्कारप्रमाणचर्चा कर्तु शक्यते। अतः परं ये सन्ति वाक्यन्यायमूला-लङ्काराः अथवा काव्यन्यायमूलालङ्काराः यथा संख्यपर्यायार्थापत्तिप्रभृतयः तेष्वपी प्रमाणमपेक्षते। यतोहि लोकव्यवहारप्रवर्तनाय कुत्रचित् शास्त्रप्रमाणं कुत्रचिच्चलोकप्रमाणं स्पृह्यते। लोकप्रमाणं

नाम लौकीपरम्परा लोकानाञ्चबुद्धिवैभवजनितानिर्णयलक्षणम्। लौकिकन्यायानां या स्वीकृतिः तत्र तथाभूतानां व्यवहाराणां सार्वभौमसिद्धिः तत्रापवादाभावोऽपि प्रायशः भवत्येव, अतएव तेषां प्रमाणव्यवहाररूपेण स्वीकृतिर्लोके दृश्यते। अर्थापत्त्यादिषु मूलतः एवम्भूतया परम्परयैव मानबोधः। वस्तुतः सर्वत्र प्रमाणेषु अवश्यमेव कापि अविच्छिन्नपरम्पराभवत्येव। एतदविच्छिन्नता एव तथाविधेषु विश्वासं जनयति विश्वासादेव तत्र प्रमाणभावावतारः जायते। अस्मादेव सन्निकर्षस्य किंवा अवच्छेदकदीनामपि आविष्कारः सञ्जातः।

साहित्यं सर्वशास्त्राणां सारशास्त्रं, सर्वविद्यानां सारविद्या किञ्च केवलं साहित्यमेव दृश्यश्रव्यकाव्यात्मकं यत् वर्तते तदेव मनुष्यमानसविकल्पान् मानैर्भावयति। अत्र सर्वत्र वाङ्मये सकलमेव जागतिकं विधिविधानं प्रत्यक्षात्मकं परोक्षात्मकं किञ्च ब्रह्मलक्षणात्मकं बहुप्रकारैः बहुचिन्तितम्। परं कुत्रापि मानवमनोविगलिताः भावाः नोपदिष्टाः। प्रमाणानां यापेक्षा, तद्द्वारा सकलमेव लौकिकं जगत् प्रमाणीक्रियते, किन्तु लोकैः लोकेएवस्थीयमानैः अलौकित्वं रसब्रह्ममुखेनानुभूयते, सहृदयत्वेन च प्रमाणीक्रियते इति तु साहित्ये एव सम्भवति नान्यत्र। पुनश्च यानि सन्ति सर्वाण्येव प्रमाणानि तत्रापि सहृदश्य एव भवति प्रमाणम्। सहृदयं विना कथं प्रमाणसिद्धिः। अतः साहित्ये सर्वेषामेव प्रमाणानां सादरमुपस्थापनं विद्यते। प्रमाणानां यास्ति शास्त्रपरम्परा सैवात्र समादृता। साहित्यं हि नाम सम्मेलनं शब्दार्थादीनामतः प्रमाणानामखिलानां प्रामाणि कत्वं सर्वाङ्गतया सर्वकालतया च भवति साहित्ये एव, तदेव महाकविनंकालिदासेन–

वागर्थाविवसंपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौवन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।

इत्यनेन समुद् घोषितमस्ति।

। इतिशम् ।

ज्योतिषशास्त्रे प्रमाणविमर्शः

प्रो. रामचन्द्रपाण्डेयः
पूर्व अध्यक्ष, ज्योतिष विभाग, संस्कृत विद्याधर्मविज्ञान संकाय,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

प्रमाणस्य प्रयोगः न केवलं शास्त्रेष्वेव वर्तते अपि तु लोके व्यवहारेऽपि दृश्यते। सन्देहावसरे समान्याः जना अपि प्रमाणं वाञ्छन्ति। अतः प्रमाणानि प्रत्ययसाधनानि। न्यायशास्त्रे तु प्रमाणाभावेन न्यायाधीशः रहस्यं जानन्नपि दण्डविधानं न विदधाति। अतोऽस्योपयोगस्तु सर्वत्रैव दृश्यते नास्त्यत्र कश्चन सन्देहः। परं सर्वेषु शास्त्रेषु प्रमाणस्य स्वरूपं किञ्चिद् भिन्नं भिन्नं भवति। ज्योतिषे तु सर्वथा भिन्नमेव। प्रत्यक्षे किं प्रमाणमिति सुप्रसिद्धा लोकोक्तिः सुविदिता एव। उक्तमपि वर्ततेअप्रत्यक्षाणि शास्त्राणि विवादस्तत्र केवलम्। प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रं चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ।

एवम् भूते प्रत्यक्षे ज्योतिषे शास्त्रेऽपि प्रत्यक्षं प्रमाणरूपेण सर्वथा न स्वीकृतम्। यद्यपि भारतीयदर्शनशास्त्रमपि प्रत्यक्षं प्रमाणं भ्रान्तिमूलकमेव स्वीकरोति। तत्र प्रत्यक्षे दृष्टिदोषजन्यज्ञानात् प्रतिभाजन्य-ज्ञानमेव भ्रममुत्पादयति। रज्जौ यथाहेर्भ्रम इति सुप्रसिद्धमस्योदाहरणं। व्यवहारेऽपि दृश्यते। कदाचित् सर्वसाधारणैरपि रज्जौ सर्पस्य भ्रममनुभूयते। भ्रमोऽयं कदाचित् दृष्टिदोषात् प्रातिभादोषाद्वा भवति। एतादृशी स्थितिः ज्योतिषशास्त्रेऽपि पदे पदे दृश्यते। रात्रौ यदा आकाशस्थानां ग्रहनक्षत्राणामवलोकनं क्रियते तदा सर्वे ग्रहाः नक्षत्राणि च एकस्मिन्नेव क्षितिजे सहैव दृश्यन्ते। परमिदं वास्तविकदृष्ट्या सर्वथा असम्भवम्। एतादृशी स्थितिः भूमावपि दृश्यते यथा दूरस्थाः उद्यानस्थाः वृक्षाः एकस्यामेव पंक्तौ दृश्याः भवन्ति परं तेषां वास्तविकी स्थितिः भिन्ना भवति। ते वृक्षाः वस्तुतः परस्परमग्रे पृष्ठे च स्थिताश्च भवन्ति। तथैवानन्ताकाशेऽपि स्थिताः ग्रहनक्षत्रादयः परस्परं अधोऽधस्थाः परस्परमतिदूरस्थाः भवन्ति। यथोक्तं सूर्यसिद्धान्ते-

> ब्रह्माण्डमध्ये परिधिः व्योमकक्षाभिधीयते।
> तन्मध्ये भ्रमणं भानमधोऽधः क्रमशस्तथा।
> मन्दामरेज्यभूपुत्रसूर्यशुक्रेन्दुजेन्दवः।
> परिभ्रमन्त्यधोधः स्थाः सिद्धा विद्याधराः घनाः।। भू.अ.३१

अर्थात् सर्वोपरि आकाशकक्षा वर्तते सा एवास्य ब्रह्माण्डस्य परधिरूपा। ततोऽधोऽधः क्रमेण नक्षत्रकक्षा, ग्रहाणां कक्षा, ततः सिद्धविद्याधरमेघानां च स्थानानि भवन्ति। ततो नक्षत्रकक्षा लिखिता वर्तते परं नक्षाण्यपि एकस्यामेव तले एककक्षायां न भवन्ति। तेऽपि परस्परमधोऽधस्था एव। ग्रहाणां विषये तु सुस्पष्टमेवोक्तं वर्तते यत्- क्रमेणाधोऽधः मन्दामरेज्यभूपुत्रसूर्यशुक्रेन्दुजेन्दूनां कक्षा वर्तते। क्रमेण सिद्धविद्याधरमेघानां स्थानानि सन्ति यथा क्षेत्रेण प्रदर्श्यते।

एवमाचार्यभास्कारेणाप्युक्तम्-

भूमेः पिण्डः शशाङ्कज्ञः कविरविकुजेज्यार्किनक्षत्रकक्षा-
वृत्तैर्वृतो वृतः सन् मृदनिलसलिलव्योमतेजोमयोऽम्।।
नान्याधारः स्वशक्त्या वियति नियतं तिष्ठतीहास्य पृष्ठे-
र्निष्ठं शश्वत् सदनुजमनुजादित्यदैत्यं समन्तात्।। (सि.शि.भु.को.)

अत्र स एव कक्षाक्रमः भूमेः सकाशाद् ऊर्ध्वोर्ध्वक्रमेण कथितो वर्तते। यथा शशाङ्कज्ञकविरविकु-जेज्यार्किनक्षत्राणां च क्रमेणोपर्युपरि कक्षा वर्तते। अत इदं सुस्पष्टं यत् परस्परं लक्षाधिकक्रोशान्तरे स्थितानां ग्रहनक्षत्राणाञ्च एकस्मिन् क्षितिजे युगपत् स्थितिरसम्भवा परमतिदूरत्वादाकाशे स्थिताः ग्रहाः नक्षत्राणि च स्वनग्रचक्षुषा दृष्टिदोषाद् स्वस्थानाद् भिन्नस्थाने एकस्मिन्नेव दृश्यक्षितिजे सहैव दृश्यन्ते। अतः प्रत्यक्षरूपेण दृश्याः ग्रहा अवास्तविकाः। अत एव प्रत्यक्षस्याप्रमाण्यं सिद्यति।

सैद्धान्तिकदृष्टया गणितागताः ग्रहाः क्रान्तिवृत्तीया राश्यादिका भवन्ति। एवमपि वक्तुं शक्यते यदेते साधिताः ग्रहाः स्थानीयाः राश्यादिकाः भवन्ति। स्थानीयं नाम ग्रहविम्बोपरिगतकदम्बप्रोतवृत्तं क्रान्तिवृत्ते यत्र लगति तद् ग्रहस्थानम्। वास्तविकस्य ग्रहस्य ग्रहविम्बस्य वा स्थितिः ग्रहाणां स्व स्व विमण्डले कक्षायां वा भवति। तेषां वास्तविकं ज्ञानं दृक्कर्मसंस्कारेण भवति। अत्रेयं शंका जागर्ति यत् किं नाम दृक्कर्म। अतोऽत्र समासेन दृक्कर्मणः परिचयो दीयते। दृशः कर्म दृक्कर्म। वस्तुतः ग्रहस्थानस्य यदा क्षितिजे उदयो भवति तदानीं वास्तविकं ग्रहविम्बं तत्र क्षितिजे न भवति। तदा ते विम्बीयाः ग्रहाः स्व स्वशरेणान्तरितास्तिष्ठान्ति। गणितागतग्रहेषु दृक्संस्कारदानेन तेषां विम्बीयौ वास्तविकावुदयास्तौ भवतः। अर्थादनेन संस्कारेण संस्कृताः ग्रहा स्थानीयाद् विम्बीयाः भवन्ति। ग्रहस्थानस्योदयानन्तरं पूर्वं वा ग्रहविम्बस्योदयो भवति। गणितागतं राश्यादिकं ग्रहस्थानमेव क्षितिजे दृश्यं भवति। यथोक्तमाचार्यभास्करेण गोलाध्याये-

क्रान्तिवृत्तग्रहस्थानचिन्हं यदा स्यात् कुजे नो तदा खेचरोऽयं यतः।
स्वेषुणोत्क्षिप्यते नाम्यते वा कुजात् तेन दृक्कर्म खेटोदयास्ते कृतम्।। उ.अ.१

अयं संस्कारे द्विविधः आयनं दृक्कर्म आक्षजं दृक्कर्म चेति। ध्रुवप्रोत-समप्रोत-

वृत्तयोरन्तरमाक्षजं दृक्कर्म नाम। एवमेव ध्रुवप्रोतकदम्बप्रोतवृत्तयोरन्तरमायनं दृक्कर्म नाम। उभयोः संस्कारेण समप्रोतकदम्ब-प्रोतवृत्तयोरन्तरं स्फुटं दृक्कर्म। अनयो र्विवेचनं विस्तरभयान्नात्र क्रियते। अनया रीत्या स्फुटदृक्कर्मसंस्कारेण गणितागतस्य ग्रहस्य प्रत्यक्षीकरणं क्रियते। एतेनातिदूरस्थानां चर्मचक्षुषा दृश्यानां परं रहस्यपूर्णानां ग्रहाणां रहस्यं परिज्ञातो भवति। तथा च दृश्यादृश्ययोः वास्तविकावास्तविकयोरन्तरमपि स्फुटतया समक्षमायाति येनास्य प्रमाणमिति सिद्यति। अत्रायमेवाशयो यत् क्षितिजे ग्रहस्थानस्योदयेनैव ग्रहस्य प्रतीतिर्भवति न तु ग्रहविम्बस्य।

ज्योतिषशास्त्रस्य महत्वप्रतिपादनप्रसंगे प्रयुक्ता "अप्रत्यक्षाणि शास्त्राणि विवादस्तत्र केवलम्।" इत्यादि पूर्वोक्ता उक्तिरपि प्रासंगिकी एव। यतो हि जगत्प्रकाशको दिवानाथः सूर्यः निशानाथश्च चन्द्रः स्वस्वोपस्थित्या जगतः समक्षं स्वीयं साक्षित्वं प्रभुत्वञ्च प्रदर्शयति। समयेनानुदिनं अनयोरुदयास्तयोः प्रत्यक्षीकरणं न केवलं दैवज्ञैरपि तु सर्वैः क्रियते। सूर्योदयकाले सूर्य्यस्य पूज्यत्वं प्रदर्शयन् आचार्यवराहेणोक्तम्-

यस्योदयास्तसमये सुरमुकुटनिघृष्टचरणकमलोपि।
कुरुतेञ्जलिं त्रिनेत्रः स जयति धाम्नां निधिः सूर्यः।।

अत एवानयोः साक्षित्वं ज्योतिषस्य विवादरहितं प्रमाण्यं सूचयति। यतो हि प्रत्यहमस्माभिस्सूर्या-चन्द्रमसो उदयास्तयोः प्रत्यक्षीकरणं स्वनग्रचक्षुषा एव क्रियते। तेनोदयेनैव सहैव सर्वाः क्रियाः प्रचलन्ति। तत्र किमपि भ्रान्तिमूलकं नास्ति। चन्द्रोपरागे यादृशी स्थितिर्दृश्यते तादृशी एव भवति एवमेव चान्द्रतिथ्या सह चान्द्रकलानां ह्रासवृद्धी, शृङ्गोन्नतिप्रभृतयः दृश्या वास्तविका एव भवन्ति। परमत्र उदयास्तयोः प्रत्यक्षीकरणे कालसम्बन्धि किञ्चिदन्तरं भवति तथा चात्र उदयास्तयोरेव प्रत्यक्षीकरणं न तु सूर्याचन्द्रमसोः वास्तविकविम्बस्य प्रत्यक्षीकरणं भवति। एवमेव सूर्योपरागेऽपि प्रत्यक्षत्वेऽपि भ्रमः। यतो हि सूर्यः तैजसपिण्डः। तेजः अन्धकारेणाच्छादितो न भवति। तत्र या कालिमा दृश्यते सा चन्द्रमण्डलस्याप्रकाशितो भागः कालिमा रूपेण दृश्यते। उपरागकालेऽपि सूर्यस्य प्रकाशः विनष्टो न भवति अपि तु चन्द्रपिण्डेनावरुद्धो भवति। सूर्योपरागकाले सूर्ये विम्बे वा न किमप्यन्तरमायाति। सूर्योऽविकृतस्तिष्ठति। सूर्योपरागकाले वस्तुतः पृथिव्युपरागो भवति न तु सूर्यस्य। यथोक्तं कमलाकरेण-

किञ्चेन्दुविम्बस्य रविग्रहे या छाया पृथिव्यां पतितास्ति दृष्टा।
तत्सम्मुखेन्दुस्थितदृग्वशाच्च बुधैः प्रकल्प्यं ग्रहणं पृथिव्याः।। सि.त.वि.

परं भूस्थाः जनाः पृथिव्यपरागं नानुभवन्ति ते जानन्ति यत सूर्यस्योपरागो वर्तते। एतत् सर्वं प्रत्यक्षे भ्रमः।

एवमेव व्यक्तगणितेऽव्यक्तगणिते रेखागणिते च प्रमाणं किञ्चिद्भिन्नं भिन्नं वर्तते। व्यक्तगणिते अँकगणिते वा प्रमाणशब्दः पारिभाषिकी संज्ञा वर्तते। उक्तञ्च लीलावत्याम्-

प्रमाणमिच्छा च समानजाती आद्यन्तयोस्तत्फलमन्यजातिः।
मध्ये तदिच्छाहतमाद्यहृत् स्यादिच्छाफलं व्यस्तविधिर्विलोमे।। भि.प.७

अत्र प्रमाणशब्दः जातिवाचकोऽङ्कः त्रैराशिकगणिते चतुर्णां राशिनामुपयोगो भवति। ताश्चैवम्–

१. प्रमाणम्, २. प्रमाणफलम्, ३. इच्छा, ४. इच्छाफलम् आसु राशिषु प्रमाणस्य इच्छायाश्च समानजातिः प्रमाणफलेच्छाफलयोः भिन्ना जातिर्भवति। उदाहरणेन स्फुटीक्रियते।

कल्प्यते विंशति रुप्यकैः पञ्चाम्रफलानि तदा चत्वारिंशत् रुप्यकैः कियन्ति आम्रफलानि इति।

उत्तरम्–दस।

अत्र विंशतिः प्रमाणम्, पञ्च प्रमाणफलम्, चत्वारिंशत् इच्छा, दश इच्छाफलम्। उक्तपद्यानुसारं अत्र प्रमाणम् २०, इच्छा ४० उभौ द्रव्यसूचकौ अतः समानजाती इच्छाफलमवस्तुत्वेनान्यजातिरिति स्पष्टम्। अनया रीत्या गणितद्वाराऽपि यत् किमपि सिद्ध्यति तत् सर्वं प्रत्यक्षममिति। अतः गणिते प्रत्यक्षस्य प्रमाणत्वेनैव ग्रहणं भवति।

अनुमानम्– गणिते अनुमानस्यापि आवश्यकता भवति। अंकगणिते किञ्चित् इष्टकर्म वर्तते। तत्र अभीष्टराशिज्ञानाय कस्यचित् संख्यायाः अनुमानं क्रियते। तदनन्तरं तस्याधारेण वास्तविकसंख्यायाः अन्वेषणं क्रियते। अस्यानुमानस्य इष्टं नाम गणिते वर्तते। उदाहरणम्–

पञ्चघ्नः स्वत्रिभागानां दशभक्तः समन्वितः।
राशित्र्यंशार्धपादैः स्यात् को राशिर्द्व्यूनसप्ततिः।। लीलावती, इ.क.उ.१

का इयं संख्या? यस्यां पंचगुणनेन स्वतृतीयांशविशोधनेन शेषं दशभक्तेन लब्धसंख्यायां इष्टसंख्यायाः अर्धं तृतीयांशं चतुर्थांशं च योजनेन संख्यामानम् = ६८ भवति।

अत्र अज्ञातसंख्यायाः ज्ञानार्थमनुमानं क्रियते। तत्र सूत्रं वर्तते येनास्य ज्ञानं भवितुमर्हति–

उद्देश्यकालापदिष्टराशिः क्षुण्णोहृतोंशैः रहितो युतो वा।
इष्टहतं दृष्टमनेन भक्तं राशिर्भवेत् प्रोक्तमितीष्टकर्म।। लीलावती. ई.क.सू.१

सुत्रानुसारं कल्प्यते अनुमीयते वा राशिः = ३

३× ५=१५, अस्य त्रिभागः १५/३=५, १५+५ = १०, दश भक्तः १०/१० = १

कल्पिता राशिः=३, अस्य १/३/+१/२+१/४ योजनेन जातम्=१+३/३+३/२+३/४=५१/१२=१७/४ सूत्रानुसारमिष्टेन संगुण्य दृष्टेन भक्ते सति जाता अभीष्ट संख्या=३ × ६८ = २०४ इयं संख्या योगेन १७/४ एतेन भक्ते सति जातं २०४/१७ /४=१२ ४=४८

इयमेवाभीष्ट संख्या। अत्र संख्याज्ञानमनुमानेनैव जातम्।

एवं सिद्धान्तज्योतिषदृष्ट्या प्रत्यक्षस्यानुमानस्य च यथामति प्रतिपदितनं विहितम्। अग्रे संहिता-फलितयोराधारेण किञ्चिदुपस्थाप्यते-

शिल्पशास्त्रे प्रमाणम्- प्रतिमानिर्माणप्रसंगे मान-प्रमाण-उन्मान-परिमाण-उपमान-लम्बमानाख्याः शब्दाः पारिभाषिकाः विभिन्नपरिमाणसूचकाः सन्ति। यथा-

१. मानम् - आयामः, आयतो वा, २. प्रमाणम्- विस्तारः, विष्कम्भश्च।, ३. उन्मानम्- उच्छ्रायः, निर्गमोद्गमश्च, ४. परिमाणः-परिणाहः, वृत्तिः आवृत्तिर्वा।, ५. उपमानम्-तीव्रः, अन्तरम्।, ६. लम्बसूत्रम्, उन्मितिः।

एतेषां मानादीनामुपयोगार्थ कानिचित् प्रमाणानि परिभाषातानि सन्ति। तानि चैवम्-

एकाङ्गुलं भवेनमात्रा द्वे मात्रे गोलकं कला। त्रिमात्रमर्द्धाध्यर्द्धकला भागश्च चतुरङ्गुलम्।

त्र्ययो भागा वितस्तिः स्याद् वितस्तिस्ताल उच्यते।। इत्यादिः (मानसोल्लासे)

आप्तप्रमाणम्- फलितज्योतिषे आप्तप्रमाणानां बाहुल्यम्। तत्र अनेके प्रसंगाः सन्ति येषां समुचिता उपपत्तिर्न लभ्यते। परं व्यवहारे तेषां ग्रहणं भवति। तत्रोपलब्धिरेव वासना इति तर्केण आर्षत्वाच्च तेषां मान्यता वर्तते। यथा ग्रहाणां स्वरूपं तेषां गुणधर्माः आर्षत्वेनैव स्वीकृताः। परं तेषामाधारेणैवोक्ता प्रभावाः जातकानामुपरि व्यवहारे प्रायशः दृश्यन्ते। न केवलं जातकानामुपर्येव अपि तु वायुवर्षातपरूपेण प्रकृतौ अपि दृश्यन्ते। संहिताग्रन्थेषु वायुवृष्टिभूकम्पाशनिपातकृषिप्रभृतीनां विविधकार्याणां घटनानां वा विवेचनं ग्रहचारवशादेव कृतो वर्तते। परं तत्र फलप्राप्तये न कश्चन हेतुः प्रदर्शितः। प्रमाणाभावेऽपि ग्रहचारफलानि लोकैरनुभूयन्ते। अत आप्तप्रमाणमपि ज्योतिषे बाहुल्येन स्वीकृतो वर्तते। अनेन विवेचनेन ज्ञायते यत् ज्योतिष शास्त्रेऽपि प्रत्यज्ञानुमानशब्दा इत्येव प्रमाणत्रयं सांख्यशास्त्रसिद्धमनुन्यन्ते इति शम्।

***

शाब्दिकनये प्रत्यक्षप्रमाणमीमांसा

डॉ० रमाकान्त पाण्डेयः
सहायक आचार्य,
व्याकरण विभाग, संस्कृत विद्याधर्मविज्ञान संकाय,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

यद्यपि शाब्दिकनये स्वातन्तन्त्र्येण प्रमाणचर्चाकुत्रापि नोपलभ्यते। तथापि अनेकेषु व्याकरणग्रन्थेषु सामान्यप्रमाणसहितविशेषप्रमाणगोल्लेख; बहुत्र विद्यते, तेषां सङ्कलनबुद्ध्याविश्लेषणं पाणिनिकल्पैरस्मद्गुरुवर्यैः "प्रमाणसमीक्षा" इति ग्रन्थविशेषो व्यरचि। सामान्यनिरूपणपूर्वकमेवविशेषनिरूपणं करणीयमिति कृत्वा सर्वं प्रथमं प्रमाणसामान्यस्वरूपं संक्षेपेणोपस्थापायन् प्रत्यक्षस्वरूपविशेषप्रमाणनिरूपणं लक्षणप्रयोजनपुरस्रं करिष्ये। प्रपूर्वक माङ् माने इति धातोःकरणे ल्युटि सति प्रमाणशब्दो निष्पद्यते, यस्यार्थः – प्रकर्षेण मीयते वस्तुतत्त्वं येन तत् प्रमाणमति। अत्र व्युत्पत्तौ त्रयोऽशाः प्राप्यन्ते तत्र सर्वेषु विचारआवश्यक; अन्यथा प्रमाणस्य परिष्कृतं स्वरूपं नैव प्राप्तं भविष्यति। अत्र– 'प्र' उपसर्गः 'मा' धातुः करणार्थको ल्युट् प्रत्यय; इति त्रयोऽशाः 'प्र' इत्यास्यार्थः प्रकृष्टम् 'मा' इत्यस्यार्थो ज्ञानमिति ल्युट् प्रत्ययस्यस्तु करणमिति। अत्र धातूपस्थाप्यस्वज्ञानस्यसविषयकत्वेन विषयोऽपि तत्र भासते एतावता प्रकर्षः ज्ञानगतो वा विषयगत अथवा साधनगतो विवक्षितः। सर्वैः दार्शनिकैः प्रायः ज्ञानगतस्य प्रकृष्टत्वमङ्गीक्रियते गृह्यते च तथा प्रकृष्टं ज्ञानमिति प्रमा शब्दस्यार्थः। ज्ञानगतप्रकर्षेण संशयविपर्यादिः व्यावर्तनं भवति। एवञ्च यदज्ञानं संशयविपर्ययादिभिन्नतदेव प्रमाणपटकप्रमापदेन ग्रहीतव्यम्। तमेव मनसिकृत्य सर्वे दार्शनिकाःप्रमायाः स्वरूपं भिन्नं-भिन्नं निगदन्ति। ज्ञानगतप्रकर्षणनिरूपणानन्तरं साधनगतप्रकर्षस्यचर्चा करिष्यते। तथा चादौ न्यायदर्शनसम्मतप्रमाप्रमाणस्वरूपञ्च निरूप्यते।

न्यायमतम् – न्यायदर्शने बुद्धेः द्विविधं भेदं स्वीकृतं विद्यतेऽनुभवः स्मृतिश्च तत्रानुभव चतुर्विधः। तत्र प्रत्यक्षानुभवस्य स्वरूपं तैरूक्तम तदवति' तत् प्रकारकं ज्ञानं प्रमेति। अत्र तदवति इत्यत्र सप्तम्यर्थो विशेष्यस्तपदेन प्रकारीभूतो धर्म धर्तव्यः। तथा च तदवति इत्यत्र सप्तम्यर्थो विशेष्यस्तपदेन प्रकारीभूतो धर्म धर्तव्यः। तथा च

रजतत्वन्निष्ठविशेष्यतानिरूपितरजतनिष्ठप्रकारतातच्छाक्तिज्ञानमिदं रजतमिति ज्ञानं प्रमेति। एवम्भूतप्रमाया; लक्षणस्वीकारे रजते रजतत्वमिति प्रमात्मकज्ञानेऽव्याप्तिः। यतोहि विशेष्यीभूते रजतत्वे रजतस्यासत्वाल्लक्षणसमन्वयो दुशकः। तद्दोयवारयितुमेव लक्षणे तद्वति इत्यस्यार्थ-स्तत्सम्बन्धवति तत्प्रकारकत्वमिति प्रमात्वमिति वाच्यम् तथा च रजतत्वे रजतस्याभावेऽपि रजतीयाधेयत्वरूपसम्बन्धवन्निष्ठविशेष्यकत्वसत्वात् नाव्याप्तिः एतादृश्याः प्रमायाः करणमिन्द्रियमेव। इन्द्रियादिषु व्यापारस्यसत्वात्। अयं घट इत्याकारिकायाः प्रत्यक्षप्रमायाःकरणं च क्षुरिति। तत्र व्यापारि सन्निकर्षरूपः। अत्रेन्द्रियासन्निकर्ष एव व्यापारो ग्रहीतव्य स च न्यायमते षट्बिधः

(१) संयोगः

(२) संयुक्तसमवायः

(३) संयुक्तसमवेतसमवायः

(४) समवायः

(५) समवेतसमवायः

(६) विशेषणविशेष्यभावश्चेति षड्बिधाः सन्निकर्षाः इन्द्रियेषु वर्तन्ते।

एत दव्यापारद्वारैव घटादीनां प्रत्यक्षो भवति। न्यायसम्मतप्रमाणभेदोऽपि विचारणीयो भवति। तद्वन्निष्ठविशेष्यता निरुपितेत्यत्र तद्पदेन सम्बन्धस्यग्रहणेऽपिसंयोगेन कपाले घटः इत्यादावतिव्याप्तिः यतोहि तत्पदेन कपालो गृह्यते तत्सम्बन्धीय प्रकारता संयोगेन घटे इतिकृत्वातिव्यारितिः। अत तदेवदच्छेदकसम्बन्धवछिन्नाप्रकारता ग्राह्या तथा च कपालीय सम्बन्धस्य घटे सत्वेऽपि तदवदवच्चेदकसम्बन्धः समवायसम्बन्धस्तत् सम्बन्धेन कपालवृत्तित्ववत्ता घटेऽभावात् नातिव्याप्तिस्तथा च लक्षणस्वरूपम् येन सम्बन्धेन तत्प्रकारकस्यानुभवस्य यथार्थं तत्सम्बन्धेन तदवन्निष्ठविशंष्यतानिरूपिततत्सम्वन्धावछिन्न-प्रकारतानिरुपितप्रकारताशालित्वे सति ज्ञानत्वमिति प्रमात्वमिति स्वीकारेनतिव्याप्तिः।

व्यापार विमर्शः (संयोगः) प्रत्यक्षीयज्ञानजनकता, इन्द्रियादिषु न्यायमते स्वीकृतस्त्र व्यापारस्तु संयोगादिषड्विधसम्बन्धः। तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वरूपो व्यापारोऽङ्गीकृतोविद्यते। तत्रादौ चक्षुरिन्द्रियस्य घटादिविषयेन साकं संयोगः सस्सचक्षुरिन्द्रियजन्य तजन्यघटादिजनकस्तथासति संयोगे इन्द्रियव्यापारता तथा चऽलौकिकविषयतासम्बन्धेन चाक्षुछत्वाषिन्नं प्रति चक्षुःसयोगस्य कारणत्वं सिद्धं भवति।

संयुक्तसमवायः– घटे समवायेन वर्तमानस्य रूपस्यप्रत्यक्षे इन्द्रियव्यापारः संयुक्तसमवाय रूपस्तथा च द्रव्यसमवेतवृत्तिलौकिकविषयतासम्बन्धेन चाक्षुषत्वाछिन्नं प्रतिसंयुक्तसमवायस्यैव कारणत्वमितिकृत्वासर्वत्र कार्यकारणभाव अवसेयः।

घटगतरूपवृत्तिरूपत्वस्यप्रत्यक्षे, चक्षुसंयुक्तसमवेत समवायस्यैव व्यापारत्वम्। इतिरीत्या

त्रीणि इन्द्रियाणि स्त्वग् द्रव्यग्राहकाणि घ्राणरसनाश्रोत्राणि गुणग्राहकाणि सन्ति, अतएव शब्दस्य प्रत्यक्षे समवायः सन्निकर्षस्तथैवशब्दत्व प्रत्यक्षे समवेत समवायसन्निकर्षः। तत्रापि संयुक्तसमवायादिचर्तुविधसन्निकर्षेषु इन्द्रियजन्यत्वं नास्ति बाह्यप्रत्यक्षंप्रति केवलं एकविधव्यापारेः स्वीकर्तव्यः स चेन्द्रियमनः संयोग एव तस्यैव व्यापारपदेन ग्रहणं करणीयं भवति। मानसप्रत्यक्षे जननीये आत्ममनः संयोगस्य व्यापारताग्रहीतव्या। ईश्वरीयप्रत्यक्षस्येनिद्रयाजन्यत्वात् तत्र लक्षणस्या कृत्वा साधारणलक्षणन्तु ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षमिदमेव वक्तव्यम् अनुमितिकरणाव्याप्तिज्ञाने, उपमितिजनकता सादृश्य शाब्दबोधजनकता परताज्ञाने एवञ्चत्याकरकं सर्वविधज्ञानं यत् किञ्चितकरणकं किन्तु ज्ञानं कस्यापिज्ञानस्यकरणं न भवतीति कृत्वा ज्ञानाकरणकं ज्ञानमीश्वरस्यसत्वात् नास्ति दोषः।

प्रमाविषयकव्याकरणमतम्– वैयाकरणैः प्रमायाः किं स्वरूपं स्वीक्रियते इत्यत्र विचारः कर्तव्यः। तैरपि प्रशब्दवाच्यप्रकर्षपदेन संशयविपर्यपादेः व्यावृत्तिःक्रियते। प्रकृष्टज्ञानमेव प्रमा, तत्करणमपि प्रकृष्टं बोध्यमिति वैयाकरणैः विशेषसिद्धान्तः सर्वप्रथमं ज्ञाने आगमिष्यमाण-संशयविपर्ययादेः संक्षिप्तचर्चा क्रियते, येन ज्ञानस्यैव शुद्धत्वं प्रतीतं स्यात्।

संशयः– एकधर्मिकविरुद्धकोटिद्वयावगाहिज्ञानं संशयः। यथा स्थाणुत्वतदभावन्नवेति, पुरुषत्वतदभाववान्नवेति संशयः। स्थागुरूपधार्मिणि स्थाणुत्वतद्विरुद्धतदभावरूपकोटिद्वय-सावग्राहनं भवति। तस्मात् पुरुषो वां नवेति संशयः। विपर्ययः शङ्खः पीतशङ्खः देहे आत्मा" इत्यत्र शङ्खे पीतत्वप्रकारकोनिश्चयो विपर्ययः देहे आत्मत्वप्रकारकनिश्चयः विपर्ययः। एतदुपरहितमे व ज्ञानं प्रमापक्षे ग्रहीतं भवतीति कृत्वा वैयाकरणैः सर्वप्रथमं प्रपदार्थस्य व्यावर्त्यं प्रदर्शितम्। ज्ञानगतप्रकर्षविषये महाभाष्यकृताऽपि निगदितम्। उपमानानि सामान्यवचनैः अत्रसूत्रे उपमानपदं साऽश्यं बोधयीत, अर्थात् सादृश्यबोधकानि सुबन्तानि इत्यर्थः। तानि साधारणधर्मप्रतिपादकैः सुबन्तैः सहसमस्यन्ते। अत्र उपपूर्वकमा धातुः सादृश्यं बोधयति, उपसर्गबलात् भगवानभाष्यकारः प्रच्छति यदेवोपमानं तदेवोपमेयम् अन्यदेवोपमानमन्यदेवोपमेयमिति। यदि भिन्नमुपमानं भिन्नचोपमेयं तदा सामान्यविशेषाभ्यां व्यम्। अर्थात् वस्तुतः परिच्छेदनं सामान्यतया विशेषत्वेन करणीयम् यतोहि मानं नाम–"अनिर्ज्ञातज्ञानार्थमुपादीयते"

तत्रैवोघोते– अनिर्ज्ञातस्वार्थस्य साकल्येन ज्ञलकत्वम् तथैवाग्रे भाष्यकारो ब्रूते यः अत्यन्यापमिमीते इति, अत्रात्यन्तपद्मव्ययम् तस्यार्थ अत्यन्तम अर्थात संशयादिरहितं ज्ञानमिति। अनेन भाष्येन ज्ञानस्यप्रकृष्टत्वं सिद्धं भवति। साकल्यशब्दे स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः अर्थात् सकलमित्यर्थस्तथा च अनिज्ञातार्थविषयकत्वे सति सामान्यविशेषसकलधर्मप्रकारकत्वे सति ज्ञानत्वमिति शाब्दिकमते प्रमा, यथा अयं घटः इत्यत्र घटप्रत्यक्षे इदन्त्वं सामान्यं तद्घटत्वं विशेषत्वेन भासते। अतोऽत्र प्रमासङ्घटते। पर्वतो वह्नियान् इत्यनुमितावपि बह्नित्व विशेषधर्मः पर्वतीयत्वं सामान्यधर्मः। शाब्देऽपि पदार्थस्य सामान्यतया पदार्थेतरसम्बन्धो विशेषतया भासते। उपमितो केवल सामान्यधर्मस्यैव प्रतीतिः न कश्चिद् विशेषधर्मो भासते। अतएव

भाष्यकारो वदाति कतिभिरेव धर्मैः वाक्यमुपादीयते इति कृत्वा विशेषात्मना प्रतीतेरभावात् नोपमानस्य प्रामाण्यमिति शाब्दिकाः। वैयाकरणमते इदं विशेषतया भासते यत् न केवल ज्ञानस्यैव शुद्धता ग्रहीतव्या अपितु तज्जनकस्यापि निदुर्ष्टताऽपेक्षिता। दुष्टकारणं दुष्टमेव कार्यं जनयति। तद्या भाष्ये– कश्चन वाक्तत्वज्ञः साधुशब्दप्रयोगद्वारा जयमपरमितिसुखविशेषं प्राप्नोति। कि भोः श्लोकाः अपि प्रमाणम्, किञ्चतःश्लोकाः अपि प्रमाणं भवति। तर्हि अयमपि श्लोकः प्रमाणम्–

यदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत् ।
पीतं न गमयेत् स्वर्गं किन्तत् क्रुतुगतं नयेत्।।

एष प्रमत्तगीतः यस्तु अप्रमत्तगीतः स प्रमाणम् प्रमाजनके श्लोके प्रमादराहित्यमपेक्षित तदैव प्रमाणम् अन्ते साधनस्यऽपिप्रकृष्टत्वं भाष्यकृताः प्रत्यपादि। अतएव भट्ट पादमीमोसकेरुच्यते– अदुष्टकरणजन्यानुपलबधावाधितार्थविषयकं ज्ञानप्रमोति। एतल्लक्षेनेदं व्यङ्ग्यं भवति, यत् मीमांसकैःसाकं वैयाकरणनामप्यैकमत्यम्। पाणिनिसम्मतिः– भगवानपाणिनिरपि सामान्यप्रमाणविषयेऽष्टाध्यायां ब्रूते तथाहि–

(१) लुपियुक्तवद् व्यक्ति वचने

(२) तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्

(३) प्रधानप्रत्यार्थवचनस्यार्थस्यान्यप्रमाणत्वात्।

इति सूत्रद्वये प्रमाणसामान्यपदमुपात्तम्। पूर्वसूत्रस्यखण्डनाय प्रधानप्रत्ययार्थ वचनस्य च खण्डनाय, सूत्रकृता वारद्वयं प्रमाणपदमभिहितम्। तस्येदं तात्पर्यम् – ज्ञानपदार्थकप्रत्ययस्यलुपि सति, व्यक्तेःलिङ्गस्य वचनस्य संख्यायाश्च इत्यतिदेशः कर्तव्यः। यथा पञ्चालानां निवासः पञ्चालाः बङ्गानांनिवासः बङ्गाः कलिङ्गानां निवासः कलिङ्गाः अर्थात पञ्चालाः अङ्गाः बङ्गाः कलिङ्गाः इत्युदाहरणानि भवन्ति। प्रकृतिगतलिङ्गवचनचाति देष्टव्यमि कथं पुलिङ्गः बहुवचनतमिति पुनराशङ्क्य सूत्रकृतोत्तरितं संज्ञाप्रमाणत्वात्। तस्यायं भावः सर्वेऽपि संज्ञाभूताः बहुवचनान्ता एव तेष्वेव प्रकृतिगतलिङ्गसंख्याविषयकाप्रमाजनकत्वं नैकद्विवचयोः तस्माद् अतिदेशो नावश्यकः। यथा आपः दाराः इत्यादौ नहि शास्त्रेण लिङसंख्येऽतिदिश्येते तेषां प्रयोगः प्रकृत्यैव भवति तथैव प्रकृतावपि नातिदेश आवश्यकः। अनेनसिंद्धं भवति, यत् निज्ञातिर्थस्य साकल्येन ज्ञानजनकत्वं बहुवचननान्तसंज्ञशब्देष्वेवेति। एतावता निष्कृतया प्रमालक्षणं व्याकरणमते– अदुष्टकरणजन्यानिर्ज्ञातार्थस्य साकल्येन ज्ञापकत्वयमिति। वेदान्तिमतेऽपि व्याकरणभिमतमेव प्रमास्वरूपं स्वीकृतं भवति, अतएव वेदान्तपरिभाषायां धर्मराजाधुरीन्द्रचार्यो ब्रूते–

अनाधिगताबाधितार्थविषयकं ज्ञानं प्रमेति।

अथ लक्षणेऽनधिगतपदंतथैवास्मन्मतेऽनिज्ञातपदंविद्यते, अस्यापि समानार्थकत्वे

तथैवावधितपदसमानार्थकपदं साकल्यपदं व्याकरणमते विद्यते, केवलं वेदान्तसिद्धान्ते करणे किमपि विशेषणं नास्ति, किन्तु अदुष्टादिविशेषणं विद्यतं एवेति भाव तस्मात् मीमांसावेदान्तभिमतप्रमास्वरूपं वैयाकरणैः स्वीक्रियते इति संक्षेपः। तादृश्याः प्रमायाः करणं किपव्याकरमते इत्यमपि विचार आवश्यक प्रमाप्रमाणविषये भगवान् पाणिनिः सूत्रद्वयं चकार। परोक्षे लिट् अपरोचेति पञ्चना अपरोक्षत्वेनं प्रत्यक्षो गृह्यते, वैयाकरणमते पञ्चप्रमाणानि सन्ति। व्याकरणमते उपमानप्रमाणस्यखण्डनं कृतं विद्यते। अर्थापत्तिप्रमाणस्यापि अनुमानुमाणेन गतार्थत्वं सिद्धयति। वैवाकरणनां मते प्रत्यक्षज्ञानस्य करणत्वं क्वास्ति इत्यत्र विचारः क्रियते तैजसमन्तःकरणं इन्द्रियप्रणालात्मिकया विषयदेशे गत्वा तदाकाराकरितचित्त वृत्तिर्भवति तत्र प्रतिबिम्बतं चैतन्य प्रत्यक्ष प्रमा–तस्याकरणत्वं साक्षात वृत्तौ, यद्यपि चैतन्यनादि तस्य करणत्वं कथं इन्द्रियादिषु भविष्यति। तस्माद् आभिव्यक्तिः गृह्यते इन्द्रियसन्निकर्षेण जायमानायाःवृत्तेः चैतन्यमभिव्यक्तं भवति। वृत्तिविशिष्टं चैतन्यमादिमदुच्यते। अतः तत्करणत्वेऽपि नैव क्षतिः. चैतन्यस्यैकत्वेऽपि व्यञ्जकान्तःकरणभेदात् चतुर्धा व्यपदेशो भवति–

प्रमाप्रमाणप्रमेयाश्चा।

चैतन्यस्य स्वरूपतः जन्यत्वेऽपि वृत्तिचैतन्ययोस्तादात्म्याध्यासेन वृत्तिधर्मस्य जन्यत्वस्य चैतन्येऽध्यासति, प्रमारूपस्य तत्रापि जन्यत्वमारोपितं भवति। एवमेव व्याकरणेऽपि चैतन्यस्य प्रमात्वास्वीकारात् । न्यायमते प्रत्यक्षं षड्विधमिन्द्रियरूपकरणभेदात् तथापि वेदान्तादियते ज्ञानगतप्रत्यक्षस्य एवं विषयातप्रत्यक्षस्य च चर्चा प्राप्यते। प्रत्यक्षशब्दस्य व्यवहारः प्रत्यक्षात्मके ज्ञाने तद्विषयेप्रमाणे चोपलभ्यते, यथा प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रत्यक्षो विषयः प्रत्यक्षं प्रमाणमिति। तेषु प्रमाणगतप्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजकं प्रत्यक्षप्रमाकरणत्वम् । तस्यप्रसिद्धत्वात तद्विषयेग्रन्थकारेण जिज्ञासा नैवोस्थापिता। ज्ञानगतविषयातप्रत्यक्षयोविषये जिज्ञासा ग्रन्थकदक्षिरूपस्थापिता। नैयायिनानां मते इन्द्रिपजन्यत्वमेव ज्ञायगतप्रत्यक्षे प्रयोजकम् । प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वं विषयगतप्रत्यक्षप्रयोजकमिति। वेदन्तिनां मते किमपि भिन्नं प्रयोजयकुमुभयोः प्रत्यक्षत्वे। ज्ञानगतप्रत्यक्षं प्रति प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभेद एकप्रयोजकम्। अर्थात चैतन्यं द्विधं भवति।

(१) घटावच्छिन्नचैतन्यं विषयावाछिन्नचैतन्यमेकम्।

(२) वृत्यवच्छिन्न चैतन्यप्रमाणचैतन्यं द्वितीयम्।

(३) अन्तकरणवच्छिन्नचैतन्यं तृतीयम्।

वृत्तिः– अत्र सिद्धान्ते वृत्तिः अन्तःकरणस्यपरिणाम इति तच्चान्तःकरणं तैजसं शीघ्रगामित्वात रविकिरणवत् । तच्च चक्षुरादिइन्द्रियद्वारा निर्गत्यघटादिविषयदेशं गत्वा तदाकारकारेण परिणमते। स एव परिणामो वृत्तिरित्युत्यते। तथा चायं घट इत्यादि प्रत्यक्षस्थत्वे घटादिविषयस्य वृत्तेश्च एकत्रदेशे समवधानात् चैतन्यमप्येकं भवति। उपाधीनामेकदेशत्वादुपधिप्रस्थाय एकरूपत्वं भवति। अत एवोक्तं भवति, विभाजकयोरैक्येविभजेयोरैक्यं भवत्येवेति। यद्यप्युपाधानीमेकदेश-त्वनोपाधेस्यवैक्यं स्वीक्रियते तदा अन्तःकरणस्थितसुखादिस्मरणस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्तिः।

स्मरणप्रत्यक्षस्य न कस्यापि सम्मतेति। अत्रोच्यते भिन्नकालोपाधिनामेकदेशस्थत्वे, उपाधयेस्कैक्यं न भवति। अहं सुखी इत्याकरकसुखप्रत्यक्षे सुखाकारवृत्यवछिन्नचैतन्यं एव सुखविषयरूप-श्चापेधेरूपाधेरेकदेशस्थत्वादुपधयेयोरैक्यं प्राप्तं किन्तु वृत्तिः वर्तमानकालिकी सुखमतीकालिकोमेतिवृत्वा कालभेदात् नोभयोरैक्यम् तथा च विषये वर्तमानत्वं योग्यत्वञ्च विशेषणं देयम् । विषयावछिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्येन सहाभेदएव विषय प्रत्यक्षं प्रतिकारणतया प्रमातृचैतन्यन्नाम अन्तःकरणावछिन्नं चैतन्यमिति। तथा च घटादिप्रमेयपदार्थानां प्रयादचैतन्येन सहाभेदः कथं भविष्यति। अत्र घटावाछिन्नचैतन्यस्य अन्तःकरणावछिन्नचैतन्यस्याभेदो न विवक्ष्यते, अपितु विषयस्य प्रमातृसत्ताप्तिरिक्तसत्ताकत्वाभावो विवक्ष्यते। तथा च न कुत्रचित् दोषः।

शाब्दिकमतम्– शाब्दिकमते परोक्षाऽपरोक्षाभेदेन प्रमाणस्य द्वैविध्यं मूलकृता प्रतिपादितम्। प्रत्यक्षविषयको विचार महाभाष्यादिग्रन्थेषु वेदान्तवत् प्राप्यते। अतएवचोक्तम्– आत्माबुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।

मनः कायाग्नि माहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। अन्तःकरणस्य परिणामविशेषो वृत्तिरिति सूचितम्। आत्मा=अन्तःकरणं स्वसमेत्य अर्थान् विषयान् विवक्षणया मनोयुङ्क्ते। अत्र बुद्धिःअन्तःकरणस्यवृत्तिरि। स च विषयाकारपरिणामविशेषः। एवं रीत्या वेदान्तसिद्धान्तसिद्ध-प्रत्यक्षप्रमाणस्वरूपं शाब्दिकैः स्वीक्रियते। यथा–

मनोबुद्धिरहङ्कारश्चितं करणान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे।।

शाब्दिकमतेप्रत्यक्षज्ञानोत्प्रतिप्रकारः– आत्मना बुद्धिः संयुज्यते। बुद्ध्यामहाङ्कारस्तेन मनः एवमेवेन्द्रियाणि इति रीत्या प्रत्यक्षज्ञानंमुत्पद्यते। एवं क्रमेण प्रत्यक्षविषये बहुविचारः वैयाकरणानां मते सर्वत्र प्राप्यते, किन्तुलेखविस्तरभिया संक्षेपेण सर्वं प्रस्तुतमिति।

***

सन्दर्भा

१. तर्कसंग्रहः प्रत्यक्षनिरूपणम् न्यायबोधिनी
२. पा० सू० २/१/३
३. महाभाष्यम् द्वितीय अध्याय सू० ५२
४. उद्योते तत्रैव
५. य० मा० तदेव
६. पा० शिक्षा
७. वेदान्त परिभाषा

***

व्याकरणशास्त्रेऽनुमानप्रमाणम्

प्रो. जयशंकरलालत्रिपाठी
पूर्व अध्यक्ष एवं आचार्य
संस्कृत विभाग, कला संकाय,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

प्रमाण-पदार्थविवेचनम्

'प्रमाणविचारः' इति विषयविवेचनप्रसङ्गे बह्वर्थकस्य 'प्रमाण' शब्दस्य कोऽर्थोऽत्राभिप्रेत इति प्रथमं विचार्यते।

ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः।
आयामस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या भिन्ना तु सर्वतः।।[१]

इति 'आयामार्थकः' कारिकायाम् 'पृथिव्यां स्वामिभक्तानां प्रमाणे परमे स्थितः।'[२] इत्यत्र मानार्थकः। 'आर्यमिश्राः प्रमाणमम्।'[३] 'देवः प्रमाणम्।' इत्यादौ निर्णायकार्थकः' 'त्वं मह्यमेतावद्धनं दत्तवानित्यत्र किं प्रमाणम्?' इत्यत्र 'साक्ष्यर्थकः'-

प्रमाता येनार्थं प्रमिणोति।[४]

इत्यत्र प्रमितिकरणार्थकः।

"वृद्धिरादे च" इति सूत्रभाष्ये- "संज्ञाधिकारः कर्तव्य" इति प्रसङ्गे तदभावे सूत्रवैयर्थ्यं स्यादिति शङ्कायां भाष्यकृता उक्तम्-

"न यथा लोके तथा व्याकरणे। प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचावकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयलन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम् किं पुनरियता सूत्रेण।"[५]

इत्यत्र प्रामाण्यं प्राप्त इत्यर्थकः प्रमाणशब्दः "भू प्राप्तौ इति चुरादिगणीयस्य। 'आधृषाद् वा' (गणसूत्रम्) इति णिजभावपक्षे रूपम्।

एवञ्च बह्वर्थेषु प्रयुज्यमानस्य प्रमाणशब्दस्यार्थो निर्णेतव्य इति चेत्, प्रमाकरणम्,

प्रमात्मकज्ञान जनकासाधारणं कारणममित्येतदर्थक एव प्रमाणशब्दो विचारणीयः, अत्रैवार्थे शास्त्रकाराणां मतभेददर्शनात्।

प्रमाणाना संख्या

वैयाकरणाः कति प्रमाणानि स्वीकुर्वन्तीति भाष्यादौ एकत्र न स्पष्टमुपलभ्यते किन्तु विविध- ग्रन्थानामालोचनया कैश्चिद् वैयाकरणैः (१) प्रत्यक्षम् (२) अनुमानम् (३) शब्दः (४) अर्थापत्तिश्चेति चत्वारि एव प्रमाणानि स्वीकृतानीति प्रतीयते। नागेशभट्टेन परमलघुमञ्जूषायामादावेव "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणम्"[६] इत्युपस्थापितं किन्तु एतेषु तत्र शब्दस्यैव प्रमाणत्वेन प्रतिपादन कृतम् । नैतान सर्वारणि चत्वार्प्यप्यभिमतानि नागेशस्येति केचित्कथयन्ति। चार्वाकाः केवलं प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं स्वीकुर्वन्ति, तान्त्रिका नव प्रमाणानि स्वीकुर्वन्तीति रीत्या प्रमाणसंख्याविषये महान् मतभेदो दृश्यते।

वैयाकरणमतानुसारमनुमान विवेचनम्

वैयाकरणाः प्रत्यक्षमनुमानं शब्दोऽर्थापत्तिश्चेति चत्वार्येव प्रमाणानि स्वीकुर्वन्ति। एतेषु च भाष्यकाररीत्या[७] वैयाकरणेषु शब्दस्य प्रामाण्यं प्रधानम्। अनुमानप्रमाणविषये भर्तृहरेः कथनं सम्यग् विचारणीयं विद्वद्भिः–

न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्।।[८]
धर्मस्य चाव्यवच्छिन्नाः पन्थानो ये व्यवस्थिताः।
न ताँल्लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित्तर्केण बाधते।।
अवस्था-देशकालानां भेदाद्भिन्नासु शक्तिषु।
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरति - दुर्लभा।।[९]
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ।।
परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते।
मणिरूप्यादिविज्ञानं तद्विदां नानुमानिकम्।।
प्रत्यक्षमनुमानं च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः[१०]
पितृरक्षःपिशाचानां कर्मजा एव सिद्धयः।।[११]
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते।
चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्तते।
आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते।।

हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमें पथि धावता।।
अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः।।[१२]

परन्तु व्याकरणग्रन्थेषु क्वचित् सङ्केतरूपेण क्वचिच्च प्रतिपदोक्तरूपेणानुमानस्य प्रतिपादनं प्राप्यते इत्यनुमानस्य प्रामाण्यं शाब्दिकसम्मतमेव बोध्यम् ।

(१) तत्रादौ पाणिनेरिदं सूत्रं द्रष्टव्यम्–

इन्द्रियमिन्द्रासिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा।[१३]

अस्य सूत्रस्य भाष्यं नास्ति। अत्र काशिकाकारः– इन्द्रशब्दात् षष्ठीसमर्थात् लिङ्ग-मित्येतस्मिन्नर्थे घच् प्रत्ययो भवति। इन्द्रस्य लिङ्गम्– इन्द्रियम् । इन्द्रः आत्मा स चक्षुरादिना करणेनानुमीयते नाकर्तृकं करणमस्ति।[१४]

अत्र न्यासकारः– इति करणो हेतौ। यस्मात् करणादीनां प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा कर्त्रधीना, तस्माद् यत्र तानि तत्रावश्यं कर्त्रा भवितव्यम् चक्षुरादिना करणेनाविनाभावेन लिङ्गेनात्मानुमीयते।[१५]

अत्र भट्टोजिदीक्षितः– "इन्द्रः आत्मा तस्य लिङ्गम्, करणेन कर्तुरनुमानात्।"[१६]

अत्र– "बालमनोरमाकारः। आत्मनोऽनुमापकमित्यर्थः।"[१७]

अत्रानुमानस्य प्रमुखं तत्त्वं लिङ्गं स्पष्टमुल्लिखितम् ।

द्वितीयं सूत्रम्

(२) द्वितीये चानुपाख्ये[१८]

अस्यापि भाष्यं नास्ति।

काशिकाकारो लिखति– "उपाख्यायते =प्रत्यक्षत उपलभ्यते यः स उपाख्यः, उपाख्यादन्योऽनुपाख्यः = अनुमेयः, तस्मिन् द्वितीयेऽनुपाख्ये सहस्य स इत्ययमादेशो भवति।"[१९]

भट्टोजिदीक्षिताः– "अनुमेये द्वितीये सहस्य सः। सदाक्षसीका निशा।"[२०]

अत्र अनुमेय इत्यर्थदर्शनादनुमानस्य सिद्धिर्बोध्या।

तृतीयं सूत्रम्–

(३) लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे।[२१]

इति सूत्रभाष्ये– "अथवाऽऽदेशेन सामानाधिकरण्यं दृष्ट्वाऽनुमानाद् गन्तव्यं प्रकृतेरपि सामानाधिकरण्यं भवती'ति। तद्यका धूमं दृष्ट्वा आग्निरत्र इति गम्यते। त्रिविष्टब्धक[२२] दृष्ट्वा परिव्राजक इति।"

अत्रैव अग्रे– "भवति वै प्रत्यक्षादपि अनुमानबलीयस्त्वम्, तद्यथा– अलातक्रः प्रत्यक्षं दृश्यते, अनुमानाच्च गम्यते न तदस्ती'ति।[२३]

अत्र सूत्रे तत्त्वबोधिनीकारः– "यद्याप्यादेशरहितस्य लटःप्रयोगाभावात् सामानाधिकरण्यं

दुर्लभम्, तथापि शतृशानचोस्तद् दृष्ट्वा स्थानिन्यपि सामानाधिकरण्यं कल्प्यते।"[२४]

चतुर्थं सूत्रम्–

(४) भूवादयो धातवः।।[२५]

इति सूत्रभाष्ये – "क्रिया नामेयमत्यान्तपरिदृष्टऽशक्या पिण्डीभूता निदर्शयितुम्, यथा गर्भो निर्लुण्ठितः। साऽसावनुमानगम्या।"

"कोसावनुमानः"[२६] अत्र कैयट– "यो भावे ल्युट्, स नपुंसकः। अन्यत्राभिधेय-वशादनियतलिङ्गः।[२७]

पञ्चमं सूत्रम्–

(५) "न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्।"[२८]

इति सूत्रभाष्ये– "नैष दोषः। स्तावदच्यते– उच्यमानेप्येतस्मिन् कुत एतत्परस्य भविष्यति न पूर्वस्येति। इहेङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्रप्रबन्धेनाचार्याणामभिप्रायो गम्यते।"[२९]

अत्र 'गम्यते' इत्यस्य 'अनुमीयते' इत्यर्थ इति प्रामाणिकाः। एवमेव बहुत्र 'गम्यते' इत्यस्य 'अनुमीयते' इत्यर्थः एतेन पाणिनिभाष्यकारयोरुभयोः सम्मतमनुमानमिति बोध्यम्। भाष्ये च वार्त्तिकानां व्याख्यानाद् वार्त्तिककारसम्मतमाप्यनुभावमिति स्पष्टम्।

भाष्ये अनुमानस्य उदाहरणानि अर्थवन्तो वर्णाः, धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णाना-मर्थदर्शनात्।[३०]

अत्र 'वर्णा' पक्षः, अर्थवत्त्वं साध्यम्, धातु-प्रातिपदिक-प्रत्ययनिपातानामेकवर्णाना-मर्थ दर्शनात्- इति हेतुः।

एवमेव 'अनुबन्धा एकन्ताः, शास्त्रे तत्रोपलम्भादन्यत्रानुपलम्भाच्च।[३१] इत्यादि स्थलेष्वपि अनुमानवाक्यकल्पना करणीया।

अनुमानस्य सामान्यं लक्षणम्

अनुमानस्य प्रामाण्ये स्वीकृते सति जज्ञासेयं भवति यत् शाब्दिकानां मतेऽनुमानस्य किं लक्षणम्?

सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ।[३२]

इति सूत्रभाष्ये- "आकृत्यभिधानपक्षेः 'प्रख्याऽविशेषात्' इत्येकं वार्तिकं प्रस्तूय 'अव्यपवर्गगतेश्च' इति द्वितीय-वार्तिक-व्याख्यानावसरे तस्यैवोद्‌बलकमेतत्"[३३] इति भाष्यकृता उक्तम्। अत्र प्रदीपकारः कैयटो लिखति– "उद्गतं बलं = प्रत्यक्षम् तत्पूर्वकत्वादनुमानस्य। उद्‌बलस्य समीपमनुमानमित्यर्थः।[३४] अत्रं उद्द्योतकारो नागेशः– "प्रत्यक्षशब्देन शाब्दमप्यत्रोच्यते।।"[३५]

एवञ्च प्रत्यक्षाद अनु (=पश्चात्) मीयतेऽनेनेत्यनुमानमिति व्युत्पत्तिः स्वीकृता। नन्वेतादृशार्थे स्वीकृते शाब्दज्ञानेऽप्यतिप्रसक्तिः, तस्यापि पदप्रत्यक्षपूर्वकत्वादिति चेन्न, प्रत्यक्षपदेन लिङ्गप्रत्यक्षस्यैव ग्रहणात्। लिङ्ग च पञ्चरूपोपापन्नमेव गृह्यते। तानि पञ्चरूपाणि- (१) पक्षसत्त्वम् (२) सपक्षसत्त्वम् (३) विपक्षव्यावृत्तिः (४) अबाधितविषयत्वम् (५) असत्प्रतिपक्षत्वञ्चेति।[३६]

एतानि पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वादित्यादौ अन्वयव्यतिरेकिणि हेतौ विद्यते। तथाहि– धूमवत्त्वं पक्षस्य = पर्वतस्य धर्मः, पर्वते तस्य विद्यमानत्वात्। एवं सपक्षे सत्त्वम्– सपक्षे महानसे तद् विद्यत इत्यर्थः = एवं विपक्षात्। महाह्रदाद् व्यावृत्तिः, तत्रेदं नास्तीत्यर्थः। एवमबाधिताविषयं च धूमवत्त्वम्, तथाहि धूमवत्त्वस्य हेतोः विषयः – साध्यधर्मः, तच्चाग्निमत्त्वम्, तत् केनापि प्रमाणेन न बाधितम् = न खण्डितमित्यर्थः। एवमसत् प्रतिपक्षत्वम् असन् प्रतिपक्षोऽस्येव्यसत्प्रतिपक्षं धूमवत्त्वं हेतुः। तथाहि– साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं प्रतिपक्ष इत्युच्यते। स च धूमवत्त्वे हेतौ नास्ति एव, अनुपलम्भात् । तदेवं पञ्चरूपाणि धूमवत्त्वे हेतौ विद्यन्ते। तेनेदं धूमवत्त्वमग्निमत्त्वस्य गमकम् = अग्निमत्त्वस्य साधकम्।

एतानि पञ्च शब्दे न सन्तीति तत्र नातिप्रसङ्गः। यदि क्वचित् शब्देऽपि एतानि पञ्च भवन्ति तत्र शब्देऽपि अनुमानत्वं वैयाकरणान मिष्टमेव। तथा चोक्तं चार्थे द्वन्द्वः[३७] इति सूत्रे भाष्ये– "युगपदधिकरणताया उपोद्बलकम्।"[३८] तत्र प्रदीपकारः "उपोद्बलकमिति उत्कृष्टं बलमुद्बलम् प्रत्यक्षम् तत्समीपमनुमानमुपोद्बलकम्" आगसस्यानुमानत्वे नोपन्यासात्।[३९]

भाष्येऽत्र "द्यावा ह क्षामा, द्यावाचिदस्मै पृथिवी सन्नमेते?" इत्यागमस्य पृथिवीत्वरूपपक्षे द्रव्यर्थत्वसाधनेऽनुमानत्वमुपन्यस्तम्।

पाणिनिना "इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम्।"[४०] इत्यादिसूत्रे 'लिङ्ग' मित्येवोक्तम्, भाष्यकारेण नैतद् व्याख्यातं तथापि तत् स्वरूपसत् नानुमानम् , नापि ज्ञायमानम्, अपितु तज्ज्ञानमेवानुमानम्। अत एवोक्तं भाष्यकृता 'धूमं दृष्ट्वा अग्निरत्रे'ति गम्यते।"[४१]

अत्रेदं ध्येयम् – केवलं लिङ्गं प्रत्यक्षपूर्वकमेव नानुमानम् अपितु व्याप्तिरूपसम्बन्ध-प्रत्यक्षमपि ततो नियमतः पूर्वं भवतीति एतत्प्रत्यक्षद्वयपूर्वकमनुमानमिति लक्षणं पर्यवस्यति।

एतदविषयेऽपि "लटःशतशानचा"[४२] वितिसूत्रभाष्ये– "प्रत्यक्षस्तेनाग्निधूमयोरभिसम्बन्धः कृतो भवति, त्रिविष्टब्धकपरिव्राजकयोश्च। स (ननु) तद् विदेशस्थमपि दृष्टवाऽध्य[४३] वस्यति अग्निरय परिव्राजकोऽत्रेति। भूवादि।

(३/१/१) सूत्रस्थं भाष्यं व्याचक्षाणः कैयटोप्याह ननु प्रत्यक्षाप्रवृत्तौ सम्बन्धग्रहणाभावात् कथं क्रियाविषयमनुमानं प्रवर्तते।[४४]

एतेनेदं फलति यत् येन सपक्षे (महानसादौ) लिङ्गम् धूमादिः तस्य साध्यसम्बन्धश्च

(व्याप्तिः) पूर्वं प्रत्यक्षीकृतः तेनैव पश्चात् पक्षे (पर्वतादौ) लिङ्गस्य दर्शनेन साध्यस्य स्मरणं कृत्वा तस्य (साध्यस्य) अनुमितिः क्रियते।

ननु प्रत्यक्षातिरिक्तव्याप्तिरूपसमबन्धपूर्वकत्वमपि स्वीक्रियते तदा प्रत्यक्षमात्रपूर्वकत्वं कथनमयुक्तमिति चेन्न, अनुमितिमूले सर्वत्रापि यथाकथञ्चित् प्रत्यक्षस्य सत्ताया अवश्यम्भावित्वात्। यत्रापि लिङ्गस्य शाब्दज्ञानादिकं तत्रापि लिङ्गबोधकशब्दस्य श्रावणप्रत्यक्षम् लिङ्गरूपार्थस्य च चाक्षुषप्रत्यक्षादिकं वा पूर्वं भवत्येव।[५५]

अनुमितौ पक्षधर्मताज्ञानस्यापि हेतुत्वम्

महानसादिषु धूमं (लिङ्गं) त्राग्निसम्बन्धं च पूर्वं पश्यति, तदनन्तरं स एव जनः कदाचित् पर्वतादौ गतः धूमं पश्यति, शब्दादिना वा धूमं जानाति, ततोऽग्निसम्बन्धं स्मृत्वा तत्र पर्वतादौ अग्निमनुमिनोति। इति पक्षे लिङ्गस्य (हेतोः) यत् प्रत्यक्षं शाब्दादिकं वा ज्ञानं भवति तदेव पक्षधर्मताज्ञामित्युच्यते। अस्यापि पक्षधर्मताज्ञानस्यान्वयव्यतिरेक–सहचारबलाद् अनुमितिहेतुता युक्ता।

शाब्दिकमतम्

लिङ्गदर्शनात् अनु (पश्चात्) जायमानं व्याप्तिरूपसम्बन्धस्मरणेव उपोद्बलकपदेन गृह्यमाणमनुमानमित्युच्यते शब्दतत्त्वविद्भिः। महाभाष्यादिपरिशीलनेन व्याप्तिरूपसम्बन्धस्य स्मरणमनुमानमिति स्पष्टं भवति। तथा च लटः शतृशानचा[५६] विति सूत्रे भाष्यकृता– "प्रत्यक्षस्तनाग्निधूमयोरभि-सम्बन्धः कृतो भवति त्रिविष्टब्धक परिव्राजकयश्च।[५७] अत्र 'सम्बन्धः कृतः प्रत्यक्षः' इति कथनेन प्रत्यक्षे=महानसादौ पूर्वकालिकं प्रत्यक्षमुच्यते। विदेशस्थं पक्षस्थं (पर्वतादिस्थं) तद् धूमादिलिङ्गं दृष्ट्वा जानाति अग्निरत्र इति, अनेन पक्षे लिङ्गदर्शनमुच्यते हेतुतायाः। किन्तु कस्य लिङ्गस्य? यस्य लिङ्गस्य साध्येन सह सम्बन्धः पूर्वं प्रत्यक्षीकृतः इदानीं तु स्मृतः, तस्य लिङ्गंस्य दर्शनमुच्यते।

एवञ्च व्याप्तिरूप- सम्बन्धस्मरणमनुमानमिति भाष्यकृता ध्वनितम्।

अनुमानस्य लक्षणानन्तरं तस्यौचित्यञ्च

अनुमीयतेऽनेन इति करणव्युत्पत्त्या (१०८८)माङ् मानेशब्दे चेति जुहोत्यादिगणीयात् अनुपूर्वात् अथवा (१२५१) वडुमिञ् प्रक्षेपणे इति स्वादिगरणेयात् अनुपूर्वात् करणेल्युट् इति अनुमितिकरणत्वमपि अनुमानस्य सामान्यं लक्षणमपि शब्दशास्त्रे स्वीकृतम्। अतएव भूवादि (१/३/१) सूत्र भाष्ये क्रियायाः स्वरूपविवचनप्रसङ्गे भाष्यकारेणाक्तम् "साऽसावनु-मानगम्या।"[५८] अत्र अनुमानपदे करणार्थे एव ल्युट् बोधव्यः न तु भावे कोऽसावनुमानाः इत्युत्तरभाष्ये पुँल्लिङ्गप्रयोगदर्शनात्। अतएव कैयटोनोक्तम् – "यो भावेल्युट् स नपुंसकः।" अन्यत्र (=करणेऽर्थे) अभिधेयवशादनियतालिङ्गः।[५९] नागेशेन चतत्र तथा च करणे ल्युडिति

भावः[५०] इति व्याख्यातम्।

अनुमितिकरणमित्यस्य किंपदकृत्यम्? यदि केवलं करणमित्येव स्यात्तदा घटादिकरणत्वं दण्डादावप्यस्तीत्यत्रापि अतिप्रसक्ति स्यात्। अनु इत्युपसर्गग्रहणस्य किं फलम्? मितिकरणमित्युच्यमाने चक्षुरादावतिप्रसङ्गः। मितिरहितम् अनुकरणम् इत्येवं स्यात्तदा गावित्यमाह इत्यादावनुकरणे एव संगच्छेत न तु सर्वत्र यदि करणपदं न स्यात्तदा अनुमितिः = अनुमानम् इति अनुमितिरूपे कार्ये एव लक्षणं संगच्छेत न तु अनुमानरूपे लक्ष्ये। अतः सर्वेषां पदानां ग्रहणमावश्यकम्।

वैयाकरणाभिमतं करणलक्षणम्

पाणिनिना "साधकतमं करणम्"[५१] इत्यति सूत्रेण क्रियायाः प्रकृष्टं साधकं करणमिति प्रदर्शितम्। अत्र भर्तृहरिणा वाक्यपदीये- यद्वृत्ति-व्यापाराव्यवहितोत्तरं फलनिष्पत्तिस्तत् करणमिति प्रतिपादितम्-

क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यदव्यापाराऽनन्तम्।
विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत्तदा स्मृतम्।।[५२]

'क्रियाणाः' इत्यस्य 'फलात्मिकायाः' इत्यर्थ इति नागेशः।[५३] सिद्धान्तकौमुद्यां दीक्षितश्च- करणं च क्रियामात्रविषयं व्यापारनियतं च[५४] इति। करण-कारणयोरेकार्थता न स्वीकृता व्याकरणशास्त्रे। अतएव नैयायिकादिभिरपि- "व्यापारवदसाधारणं कारणं करणमिति[५५] स्वीकृतम्।

अनुमितिकरणमनुमानमित्यत्र अनुमितिपदस्य कोऽर्थः? परागमर्शरूपव्यापारजन्यत्वे सति ज्ञानत्वम्। यद्यप्येतन्न्यायशास्त्राभिमतं तथापि शाब्दिकैरपि स्वीकरणीयम्।

अनुमितिर्द्विविधा

शाब्दिकानां मते परामर्शो द्विविधः तेनानुमितिरपि द्विविधा- (१) पक्षे (पर्वतादौ) साध्यव्याप्यः (धूमादिः) इत्याकारा, अथ च (२) पक्षः साध्यवान् इत्याकारा च।[५६]

अनुमानं द्विविधम्- (१) स्वार्थम् (२) परार्थञ्च। स्वार्थम् स्वप्रतिपत्तिहेतुः। तथाहि स्वयमेव महानसादौ विशिष्टेन प्रत्यक्षेण धूमाग्न्योर्व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतस्तद्गते च सन्दिदहानः पर्वतवर्तिनीमविच्छिन्नमूलामभ्रंलिहांधूमशिखां पश्यन् धूमदर्शनाच्चोद्भूतसंस्कारो व्याप्तिस्मरति- यत्र धूमस्त्रमाग्नितिति। तत्रोऽत्रापि धूमऽस्तीति प्रतिपद्यते। तस्मादत्र पर्वतेऽग्निरप्यस्तीति स्वयमेव प्रतिपद्यते, एतत् स्वार्थानुमानम्।

यत्तु कश्चित् स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं बोधयितुं पञ्चावेयवमनुमानवाक्यं प्रयुङ्क्ते तत् परार्थानुमानम् तद्यथा- (१) पर्वतोऽग्निमान् (२) धूमवत्त्वात् (३) यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा- महानसः (४) तथा चायम् (५) तस्मात् तथा (अग्निमान)। अत्र क्रमशः प्रतिज्ञा हेतु दाहरणोपनयनिगमानि बोध्यानि।[५६]

व्याकरणशास्त्रे बहुत्र वाक्यद्वयस्यैव प्रयोगः कृतः, क्वचित्तु वाक्यत्रयस्य क्वचिच्च तत्पञ्चकस्यापि। भाष्ये, वाक्यपदीये परिभाषेन्दुशेखरादौ च एतेषां प्रयोगो दृश्यते।

प्रकारान्तरेणानुमानं त्रिविधम्

(१) पूर्ववत् (२) शेषवत् (३) सामान्यतो दृष्टञ्च।

एतेषामपि वर्णनं शब्दशास्त्रे यत्र तत्र दृश्यते।[५७]

केवलान्वयि- केवलव्यतिरेकि- अन्वयव्यतिरेकि- भेदेन हेतोस्त्र्यविध्यमाश्रित्यानुमानस्य त्रैविध्यमपि शब्दशास्त्रे यत्र तत्र दृश्यते।[५८]

पञ्च हेत्वाभासाः

उक्तत्रिविधहेतुभ्योऽन्ये हेत्वाभासाः। हेतुवदाभासन्ते इति व्युत्पत्तौ आङ् पूर्वकाद् भास[५९] धातोःकर्तरि पचाद्यचि[६०] आभासाः— हेतूनामाभासाः इति हेत्वाभासाः। ते च पञ्च— "असिद्ध-विरुद्धानैकान्तिक- प्रकरणसमकालात्ययापदिष्टभेदात्।

(१) तत्र लिङ्गत्वेनासिद्धो हेतुरसिद्धः।

(२) साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः।

(३) सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः।

(४) यस्य हेतोः साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते स प्रकरणसमः।

(५) प्रमाणान्तरावधृत-साध्याभावो हेतुबाधितविषयः।

यद्यपि हेत्वाभासपदस्योल्लेखतो न दृश्यते शब्दशास्त्रे किन्तु अनेकत्र विवेचने भाष्यकृता एते प्रयुक्ताः अतः शाब्दिकैरेते स्वीकार्याः।

नागेशाभिमतमनुमानम्

बौद्धपदार्थस्य प्रबलसमर्थकेन नागेशन लघुमञ्जूषायां प्रत्यक्षानुमानशब्दानां बौद्धत्वं साधु प्रतिपादितम्। तदनुसारम्- व्याप्याकारा = धूमाद्याकारा या अन्तःकरणवृत्तिः तस्याः यत् चैतन्यप्रतिविम्बनं तदेव धूमादिव्याप्यज्ञानम्। तत्प्रयोज्यं यद् बौद्धव्यापक- वह्न्याकारवृत्तिः तस्याः चित्प्रतिविम्बनं, चैतन्यप्रकटनम्, तत्प्रतिफलनमिति यावत्। इयमेवानुमितिः।[६१]

अत्र पक्षे हेतोः प्रत्यक्षत्वस्थले तस्यापरोक्षा वृत्तिः, ततो व्याप्तिरूपसम्बन्धस्य परोक्षावृत्तिः। हेतोः परोक्षत्वस्थले तु द्वयोरपि परोक्षैव वृत्तिः, नियतसम्बन्धविषयिणी परोक्षा वृत्तिरेवानुमानम्- 'एतत्त तत्प्रयोज्यमि'ति कथनेन सूचितम्' अन्यथा तज्जन्यमि'ति वक्तव्यं स्यात्।

एवञ्च धूमादिलिङ्ग- विषयकवृतिः व्याप्तिरूपसम्बन्धविषयकवृत्तिद्वारा हेततां याति। मध्ये व्याप्तिविशिष्टस्य पक्षवृत्तित्वविषयापि वृत्तिः व्यापारतया स्वीकार्येत्येलम्।

सन्दर्भाः

१. सि० की० ४८० अपरिमाण १४/१/१२ इति सूत्र व्याख्यासु उद्धृतः।
२. मुद्राराक्षसम् २/२१।
३. शाकुन्तलम् १/२२।
४. न्यायभाष्यम् १/१/२१
५.५ भ.भा. १/१/१ प्रदीपः १/१/१
६. न्यायसूत्रम् १/१/३
७. नैष दोषः, शब्दप्रमाणका वयम् यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम् म० भा० पस्पशा०
८. वा० प० १/३०
९. वा० प० १/३०-३१
१०. वा० प० १/३४-३६
११. वा० प० १/३८
१२. वा० प० १/४१-४२
१३. पा०सू० ५/२/९३
१४. काशिका ५/२/९३
१५. न्यासः ५/२/९३
१६. सिद्धान्तकौमुदी सू० १८९३।
१७. बालमनोरमा टीका सू० १९९३।
१८. पा. सू. ६/३/८०।
१९. काशिका ६/३/८०।
२०. सि० कौ० सू० १०,११।
२१. पा० सू० ३/२/२४।
२२. त्रयो दण्ड विष्टब्धा=परदस्पराश्रयेण विधृता यत्रेति योगरूढ्याश्रयणेन त्रिदण्डमित्यर्थः इति रघुनाथशर्माणः।
२३. म० भा० ३/२/२४।
२४. सि० कौ० सू० ३१००।
२५. पा० सू० १/३/१
२६. म० भा० १/३/१
२७. प्रदीप १/३/१।
२८. पा० सू० ६/१/१३७
२९. म. भा० ६/१/१३७
३०. म० भा० प्रत्याहाराह्निके हयवरट् मा० सू० ५।
३१. परिभाषेन्दुशेखर १/४-५
३२. पा० सू० १/२/६४
३३. म० भा० १/२/६४

३४. प्रदीपः १/२/६४
३५. उद्योतः १/२/६४
३६. तानिपञ्चरूपाणि १ पक्षसत्त्वम् २ सपक्षसत्त्वम् ३. विपक्षव्यावृत्तिः, ४. आबाधितविषयत्वम् , ५.असत्प्रतिपक्षत्वं चेति। तर्कभाषा अनुमाननिरूपणे।
३७. पा० सू० २/२/२९
३८. म० भा० २/२/२९
३९. कैयटप्रदीप २/२/२९
४०. पा० सू० ५/२/९३
४१. पाणिनीव्याकरणे प्रमाणसमीक्षा पृ० १०४
४२. पा० सू० ३/२/१२५
४३. ण- भा० ३/२/१२५
४४. कैयटप्रदीपः १/३/१
४५. यत्राप्यनुमिताल्लिङ्गिनि ग्रहणं भवेत् तत्रापि मौलिकलिङ्गं प्रत्यक्षादेव गम्यते। न्यायमञ्जरी पृ० १२४
४६. पा० सू० ३/२/१२४
४७. म० भा० ३/२/१२४
४८. मभा० १/३/१
४९. प्रदीपः १/३/१
५०. उद्द्योतः १/३/१
५१. पा० सू० १/४/४२
५२. वा० प० ३/७/९०
५३. परमलघुमञ्जूषा पृ० २४९
५४. सि० कौ० हेतौ (सू० ५६८) इति सूत्रे।
५५. न्यायमञ्जरी पृ० २
५६. तर्कभाषा पृ० ७९-८०
५७. पा० व्या० प्रमाणसमीक्षा पृ० १५२
५८. पा० व्या० प्रमाणसमीक्षा पृ० १५५
५९. ६२४ भासृदीप्तौ, भ्वादिगणीयः
६०. नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः पा० सू० ३/१/१३४
६१. लघुमञ्जूषा रत्नप्रभा, पृ० ३१६
६२. पा० व्या० अनुमानसमीक्षा पृ० ११३

***

वाक्यपदीयरीत्या प्रमाणविमर्शः

प्रो० भगवत् शरणशुक्लः
व्याकरण विभागः
संस्कृतविद्याधर्म विज्ञान सङ्कायः
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय वाराणसी

आचार्यभर्तृहरिः परमशाब्दिको यो महाभाष्यतत्त्वानि सम्प्रकाश्य शब्दशास्त्रजिज्ञासूनुपाकर्तुं महाभाष्यदीपिककाख्यां टीकां रचितवान्। किञ्च यानि शब्दशास्त्रस्य दार्शनिकतत्त्वानि तानि स्थापयितुं वाक्यपदीयग्रन्थं रचयित्वा परमशाब्दिकतव्याडिविहितसंग्रहस्थसिद्धान्तान् संक्षिप्य तत्र स्थापितवान्। वाक्यपदीयग्रन्थोऽयं काण्डत्रयात्मक;। तत्र प्रथमकाण्डः शब्दपरिचयात्मकः। यत्र स्फोटात्मकश्शब्दश्शब्दब्रह्मत्वेन प्रतिपादितः। तत्रैव यथा संस्कृतभाषायाः साधुशब्दाः अर्थावबोधकाः साक्षाद् भवन्ति, तथैव संस्कृतेतरभाषाशब्दा अपि साक्षादर्थबोधका न तु साधुशब्दस्मरणमाध्यमेनेति सिद्धान्तोऽपि शाब्दिकानां नैपुण्येन स्थापितः। अत्रैव ब्रह्मकाण्डे प्रमाणानां चर्चाप्रसङ्गे प्रत्यक्षानुमानागमादृष्टाभ्यासप्रमाणानां नाममात्रेणोल्लेखं कृतवान्। यद्यपि प्रमाणसामान्यलक्षणस्य न कापि चर्चात्र वाक्यपदीये ब्रह्मकाण्डे समागता तथापि महाभाष्ये तत्कृतदीपिका टीकायां वाक्यपदीयवृत्ति समुद्देसे च प्रमाणसामान्यलक्षणविषयेऽपि विचारो विहितो दृश्यते।[१]

"उपमानानि सामान्यवचनैः" इति सूत्रे महाभाष्यकारः कथयति "मानं हि नाम अनिर्ज्ञातज्ञानार्थमुपादीयते, अनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामि इति। तत् समीपे यन्न अत्यन्ताय मिमीते तदुपमानम्" इति[२]। अत्रैव कैयटः "यथा प्रस्थादि। तेन हि साकल्येन मेयं परिच्छिद्यते" इत्याह।[३] नागेशश्चात्र "अनिर्ज्ञातस्य साकल्येन ज्ञापकत्वं हि तत्त्वम्। यथा प्रस्थाद्यज्ञातस्य परिमणारूपार्थस्य साकल्येन ज्ञापकं न तथोपमानमिति" प्रतिपादितवान्।[४] लक्षणेऽस्मिन् यः साकल्यशब्दस्तत्र सकलशब्दात् "चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्"[५] इति वार्तिकेन स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययो विद्यते। 'साकल्येन' इत्यत्र तृतीयाविभक्तेरर्थः प्रकारता, "प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्"[६] इति वात्तिकेनात्र तृतीयाविभक्तिरस्ति। 'अनिर्ज्ञातार्थस्य' इत्यत्र षष्ठ्यर्थो विशेष्यत्वम् तेन अनिर्ज्ञातार्थविशेष्यकं सामान्यविशेषधर्मादिरूपसकल–सम्भावितधर्मप्रकारकं ज्ञानं प्रमा तत्करणं च प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणं सिध्यति। फलतः सामान्यविशेषधर्मादिरूपसकलसम्भावित–

धर्मावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितानिर्ज्ञातनिष्ठविशेष्यताकज्ञानकरणत्वं प्रमाणत्वमिति निष्कृष्टप्रमाण-सामान्यलक्षणं शाब्दिकमते सम्पद्यते।[७] भाष्यस्थ 'साकल्येन' इति पदमबाधितार्थविषयकत्वं गमयति तस्यैवार्थौ सामान्यविशेषधर्मौ विद्येते। सामान्यधर्ममात्रग्रहणे विपर्ययः संशयो वा सम्भवेद् विशेषधर्मग्रहणे तु तद् बाधः स्यात् यतो हि विशेषजिज्ञासा सामान्यज्ञानपूर्विकैव भवति। अतएव पस्पशाह्निके "विशेषजिज्ञासायाः सामान्यज्ञानपूर्विकत्वादित्यन्ये" इत्युक्तवानुद्योते नागेशः।[८]

भर्तृहरिरपि एतत् तात्पर्यकमेव प्रमाणसामान्यलक्षणं विदधाति वाक्यपदीयवृत्तिसमुद्देशे–

"अनिर्ज्ञातस्य विज्ञानं येन तन्मानमुच्यते।
प्रस्थादिकेन मेयात्मा साकल्येनाभिधीयते।।
अर्निर्ज्ञातं प्रसिद्धेन येन तद् धर्म गम्यते।
साकल्येनापरिज्ञानादुपमानं तदुच्यते।।"[९]

इदं वाक्यपदीयप्रमाणलक्षणमनुसृत्यैव पूर्वोक्तभाष्यस्य प्रदीपोद्योतव्याख्याने विद्येते।

भर्तृहरिः प्रमाणविषये वाक्यपदीयब्रह्मकाण्डे प्रसङ्गात् चर्चां विदधाति। स च तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाभ्यासादृष्टप्रमाणानि चर्चितवान्। भर्तृहरिर्मन्यते यद् यागादिधर्मो न तर्केण जायतेऽपितु आगमेनैव स ज्ञायते। ऋषीणामपि ज्ञानमागमपूर्वकमेव। एतस्य धर्मस्य पारम्परिका मार्गा लोकपरम्परायां स्थापितत्वात् प्रसिद्धा न हि कुतर्केण बाधिता भवन्ति। यतोहि भावानामवस्थाभेदाद, देशभेदात् , कालभेदाच्च शक्तयो भिन्ना-भिन्ना भवन्ति। यथा धान्यबीजानाम् अङ्कुरजननशक्तिः मूषिकाघ्रातावस्थायां हीयते। हरिता पिप्पल्यौषधिः कफदोषकरा, शुष्कावस्थायां सैव त्रिदोषहरा। युवावस्थायामधिकं बलं यस्मिन् शरीरे वृद्धावस्थायां तस्मिन् शरीरे न भवति अवस्थाभेदात् । हिमवद् देशे जलं शीतं तत्रैव बलाहकाग्निकुण्डादिषु उष्णं भवति देशभेदात्। कूपजलं हेमन्ते चोष्णं ग्रीष्मे च शीतं भवति कालभेदात् । उक्तं च तथा–

"कुपोदकं वटच्छाया श्यामा स्त्री चेष्टिकागृहम्।
शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले च शीतलम्।।"[१०]

एतेषां ज्ञानं नानुमानेन भवति। अनुमानेन सिद्धोऽर्थः प्रतिष्ठितो न भवति। यतोहि पूर्वसिद्धान्तापेक्षया प्रबलतर्कैरन्यः सिद्धान्तः प्रतिष्ठितो भवति। अतएवोक्तं तर्कोऽप्रतिष्ठितो भवति। एवमेव परेषाम् असमाख्येयं मणिरूप्यादिविज्ञानं तद्विदामभ्यासादेव समुत्पद्यते न तु अनुमानेन संजायते। अर्थात् मणिपरीक्षणस्य रूप्यसुवर्णादिसद्धातुपरीक्षणस्य षड्जादिस्वराणां परीक्षणस्य ज्ञानमभ्यासप्रमाणेनैव भवति न त्वनुमानेन। एवमेव पितृरक्षःपिशाचाः अलौकिकसिद्धिमाध्यमेन आश्चर्यजनकान् विषयान् दर्शयन्ति। ताः सिद्धयो न हि प्रत्यक्षेण अनुमानेन वा ज्ञातुं शक्यन्ते। तत्र कर्मविशेषैः संजाता अदृष्टरूपसिद्धयः एव प्रमाणत्वेनाङ्गीकर्तुं शक्यन्ते। भूतभविष्यज्ज्ञानसम्पन्ना महर्षयोऽपि यया सिद्ध्या सर्वमतीन्द्रयमपि विषयं जानन्ति तत्रापि आर्षज्ञानरूपमदृष्टसामर्थ्यं प्रमाणं भवति न तु प्रत्यक्षमनुमानं वा इत्येवं भर्तृहरिरेतानि

प्रत्यक्षादिप्रमाणानीत्थं दर्शयति–

"न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम् ।।
धर्मस्य चाव्यवच्छिन्नाः पन्थानो ये व्यवस्थिताः।
न ताँल्लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित्तर्केण बाधते।।
अवस्थादेशकालानां भेदाद् भिन्नासु शक्तिषु।
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरतिदुर्लभा।।
निर्ज्ञातशक्तेर्द्रव्यस्य तां तामर्थक्रियां प्रति।
विशिष्टद्रव्यसम्बन्धे सा शक्तिः प्रतिबद्ध्यते।।
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ।।
परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते।
मणिरूप्यादिविज्ञानं तद्विदां नानुमानिकम् ।।
प्रत्यक्षमनुमानं च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः
पितृरक्षः पिशाचानां कर्मजा एव सिद्धयः।।
आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते।।
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते।।
यो यस्य स्वमिवज्ञानं दर्शनं नातिशङ्कते।
स्थितं प्रत्यक्षपक्षे तं कथमन्यो निवर्तयेत् ।।"[११]

इत्थं वाक्यपदीयग्रन्थे दर्शितानां प्रत्यक्षादिप्रमाणानां क्रमशः विवरणमेवमस्ति–

(१) प्रत्यक्षप्रमाणम् –

प्रत्येकं चक्षुरादिभिरिन्द्रियैर्यस्य ज्ञानं क्रियते तत् प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षप्रमाणं भवति, अक्षि, अक्षि प्रति प्रत्यक्षम् इति वीप्सार्थेऽव्ययीभावसमासः। अत्राक्षिशब्द इन्द्रियमात्रस्योपलक्षकः तेन इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्याया वृत्तिः तया प्रतिबिम्बितं यच् चैतन्यं, प्रत्यक्षप्रमा वा तत् करणं प्रत्यक्षप्रमाणं भवति। किञ्च ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षं तत्करणं प्रमाणं प्रत्यक्षं कथ्यते। यथा अनुमितौ व्याप्तिज्ञानम्, उपमितौ सादृश्यज्ञानम्, शाब्दबोधे पदज्ञानम् इत्येवं सर्वत्र किञ्चित् कारणं भवति तथा न प्रत्यक्षविषये किमपि कारणं भवति, तत्र च इन्द्रियार्थसन्निकर्ष एव कारणमङ्गीक्रियते।

प्रत्यक्षविषये नैयायिकप्रभृतयो दार्शनिकाः संयोगः संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवाय; संयुक्तसमवेतसमवायः समवायः समवेतसमवायः विशेष्यविशेषणभावः इत्येवं षड् विधान्

सन्निकर्षान् मन्यन्ते। शाब्दिका अपि यद्यपि एतान् सन्निकर्षान् अङ्गीकुर्वन्ति तथापि विषयेऽस्मिन् तेषां दृष्टिः काचित् सूक्ष्मा विद्यते। यद्यपि संयोगसमवायसम्बन्धौ भर्तृहरिर्नाङ्गीकरोति, तयोः स्वतन्त्रपदार्थत्वेन नैयायिकैः स्वीकारात् सम्बन्धस्य च परार्थत्वात्[१२] तथापि आरोपितसम्बन्धत्वं तत्रापि स्वीकरोत्येव। अतएव 'निमित्तात् कर्मयोगे इति वार्त्तिके कौमुदीकारः "योगः सम्बन्धः संयोगसमवायात्मकः" इत्यनेन तत् सम्बन्धद्वयं स्वीकरोति[१३] तथैव महाभाष्यकारोऽपि "प्राग्दिशो विभक्तिः" इति सूत्रस्थेन

"स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम् ।
समवेतस्य च वचने लिङ्गं वचनं विभक्तिं च।।"[१४]

इति स्वकीयवचनेन समवायसम्बन्धमङ्गीकरोति। वैयाकरणानां सिद्धान्ते प्रत्यक्षप्रमाविधाने या सूक्ष्मा पद्धतिः सा एवम्भूता–आत्मना बुद्धिः संयुज्यते, बुद्ध्या अहङ्कार; अहङ्कारेण मनः, मनसा च सह चक्षुरादीनीन्द्रियाणि तैश्च सह विषयाः सम्बद्ध्यन्ते। तदैव पञ्चमक्षणे प्रत्यक्षप्रमोपपत्तिर्भवति। एतदाधारेण इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्या बुद्धिवृत्तिः सा, तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यं वा प्रमा, तत्करणं प्रत्यक्षं प्रमाणमिति नागेशप्रभृतिशाब्दिकाः स्वीकुर्वन्ति।[१५] सरणिरियं सांख्यदर्शने[१६] योगदर्शने[१७] चापि स्वीकृतास्ति। अत्र इन्द्रियशब्दः इन्द्रः=आत्मा तस्य लिङ्गम् = (करणम्) साधनम् इन्द्रियं भवति इत्येवं "इन्द्रियमिद्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्त- मिति वा" इति सूत्रेण[१८] निपातनात् घप्रत्ययविधानेन इन्द्रियशब्दो व्युत्पादितः। सांख्यतत्त्वकौमुद्यामात्मलिङ्गत्वेन[१९] महदहङ्कारयोरपि व्युत्पत्त्या ग्रहणात् इत्युक्त्या तत्र इन्द्रियशब्दः चक्षुरादिषु योगरूढोऽतस्तत्र दोषो न भवति। अथवा महदहङ्कारचेष्टाभिन्नत्वे सति प्रत्येकं जीवच्छरी- रस्थात्मतत्त्वानुमापकत्वमिन्द्रियत्वमिति इन्द्रियसामान्यलक्षणाङ्गीकारे न दोषः। एतानीन्द्रियाणि च रोगदुष्टान्यपि भवन्ति। तदा पीतः शङ्खः कटुः गुडः इत्याकारकमपि प्रत्यक्षम् अप्रमात्मकं जायेत। अतस्तद्दोषवारणाय "आत्मनिरूजेन्द्रियार्थमनोऽर्थसन्निकर्षजन्या या बुद्धिवृत्तिः सा, तत् प्रतिबिम्बितं चैतन्यं वा प्रमा तत्करणं प्रत्यक्षमिति निष्कृष्टलक्षणं प्रत्यक्षप्रमाणस्याङ्गीक्रियते।

वैयाकरणमतेऽपि सन्निकर्षोऽनेकविधः। तद्यथा– घटप्रत्यक्षे संयोगसन्निकर्षः, घटगतधर्मजातिगुणप्रत्यक्षे स्वसंयुक्तसमवायसन्निकर्षः, घटाभाववद् भूतलमित्यत्र स्व संयुक्त- विशेषणतासन्निकर्षः भूतलानुयोगिकघटप्रतियोगिकाभावप्रत्यक्षे च स्वसंयुक्तविशेष्यतासन्निकर्षः। एवमेव संख्यादौ रूपाद्यभावप्रत्यक्षे स्वसंयुक्तसमवेतविशेणतासन्निकर्षः। संख्यात्वव्याप्यैकत्वादौ रूपाद्यभावप्रत्यक्षे च स्वसंयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणतासन्निकर्षो भवति। चेदत्र सा विशेषणता विशेषणतावच्छेदकसम्बन्धेन एकैव गृह्यते तदा तथैव सर्वासां विशेषणतानामनुगमात् अयम् एवम्भूता अन्ये वा सन्निकर्षा नाङ्गीकरणीयाः। इयमेव सरणिः रासनप्रत्यक्षे, घ्राणजप्रत्यक्षे स्पार्शनप्रत्यक्षे चाङ्गीकरणीया। शब्दप्रत्यक्षे च समवायसन्निकर्षः तद्गतजातिधर्मानुपूर्वीप्रत्यक्षे च स्वसमवेतसमवायसन्निकर्षो भवति। इति सरणिः ध्वन्यात्मकशब्दप्रत्यक्षे नैयायिकरीत्या विद्यते। शाब्दिकमते तु स्फोटात्मकशब्दोऽर्थबोधको वैखरीध्वनिस्तु तद् व्यञ्जकः। वैखरीध्वनिः

समवायेन कर्णवच्छिन्नाकाशे विद्यते तद्व्यङ्ग्यश्च स्फोटात्मकश्शब्दस्तेनात्र स्वसमवेतध्वनिव्यङ्ग्यत्वसन्निकर्षः स्फोटात्मकशब्दप्रत्यक्षे, तद्गतजातिधर्मादिप्रत्यक्षे च स्वसमवेतध्वनिव्यङ्ग्यसमवायसन्निकर्षो भवति।

अत्रेदमपि विचारणीयं यत् समवायश्चेत् सम्बन्धत्वेन नाङ्गीक्रियते तदा तत्र सर्वत्र समवायशब्दस्तादात्म्यबोधकः स्वीकरणीयः। तेन समवायशब्दस्थाने तादात्म्यशब्दो वा पठनीयः। अत्र प्रमाणं च–

"ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा नियता योग्यता यथा।
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयोः।।[20]

इति भर्तृहरिकारिका वाक्यपदीयस्था विद्यते।

इदं प्रत्यक्षप्रमाणं द्विविधम् लौकिकम् अलौकिकम् इति भेदात्। लौकिकं तूक्तमेव। अलौकिकं च प्रत्यक्षं सामान्यलक्षणज्ञानलक्षणयोगजेति सन्निकर्षत्रयजन्या या प्रमा तत् करणकम् भवति। एतस्मिन् विषये नैयायिकाः धूमत्वेन सकलधूमज्ञानं सामान्यलक्षणसन्निकर्षेण कुर्वन्ति। सुरभि चन्दनम् इत्यत्र स्वसंयोगसन्निकर्षरूपलौकिकसन्निकर्षेण चन्दनस्य, चक्षुरिन्द्रिय संयुक्तमनः संयुक्तात्मसमवेतज्ञानरूपालौकिकसन्निकर्षेण सौरभांशस्य च प्रत्यक्षं भवति। एवं अतीतानागतदूरस्थवस्तुनः योगाभ्यासजनितधर्मविशेषात्मस्थालौकिकसन्निकर्षेण प्रत्यक्षं भवति। वैयाकरणाः घटत्वादिजात्यवच्छिन्ने घटादौ धूमावच्छिन्ने धूमादौ शक्तिमङ्गीकुर्वन्ति। तेन तेषां सिद्धान्ते सामान्यलक्षणारूपालौकिकसन्निकर्षस्य नोपयोगिता। कथयति च तथा भट्टोजिदीक्षितश्शब्दकौस्तुभे[21] "सामान्यलक्षणानभ्युपगमपक्षे तु अत्वाजातौ शक्तिग्रहात् शक्त्यनुभवपदार्थस्मरणवाक्यार्थबोधानां समानप्रकारकत्वेनैव (कार्यकरणभावाभ्युपगमे) अतिप्रसङ्गभङ्गाभ्युपगमाद् वा। अन्यथा गेहे घटोऽस्ति वाक्याद् अपूर्वव्यक्तिर्न गृह्येतेतिदिक्"[22] इति। एवमेवात्रैव "वृद्धिरादैच्" सूत्रे "सतो वृद्ध्यादिषु संज्ञाभावात्तदाश्रय इतरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः" इति वार्त्तिकस्य" तत्राप्यन्ततः सूत्रकं भवति" इति भाष्यस्य च व्याख्याने नागेशः 'समान्यलक्षणानाङ्गीकारेऽपि शक्तिग्रहबोधादीनां समानप्रकारकत्वेनैव कार्यकारणाभ्युपगमान्न दोषः" इत्याद्याह इत्थमेव लघुमञ्जूषायां नागेशभट्टो ज्ञानलक्षणसन्निकर्षमपि निराकृतवान् स कथयति यत् ज्ञानलक्षणे प्रतियोगित्वानुयोगित्वनिरूपकत्वाभावे उभयवृत्तित्त्वाभावात् तस्य सम्बन्धत्वमेव नास्ति। तेनात्र यत्र यत्र चन्दनत्वं तत्र तत्र सुरभित्वम्। यथा केशरादौ इति व्याप्तेः सत्त्वात् चन्दनत्वेन सुरभित्वानुमानमेवादरणीयम्।[23]

योगजसन्निषकर्षं वैयाकरणा अपि स्वीकुर्वन्ति। स च सन्निकर्षः स्वसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मवृत्ति योगजन्यधर्मविशेषरूपः। विषयेषु तादृशधर्मवत्ता च स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धेन विषयतासम्बन्धेन वा बोध्यते। योगजप्रत्यक्षपि युक्तयुञ्जानभेदाद् द्विविधं भवति। युक्तो योगी ईश्वरानुग्रहविशिष्टमनःप्रसादसम्पन्नो मनसा आकाशपरमाण्वाद्यखिलपदार्थगोचरं ज्ञानं सर्वदैवाधिगच्छति। युञ्जानो योगी तु कदाचित् तथा ज्ञानं लभते, तस्य तु चिन्ताविशेषोऽपि सहकारी भवति।

(२) अनुमानप्रमाणम्–

अनुमानप्रमाणं यद्यपि वैयाकरणा अपि नैयायिकतुल्यमेवाङ्गीकुर्वन्ति। व्याप्तिज्ञानजन्यं ज्ञानमनुमितिस्तत्करणमनुमानमिति लक्षणमनुमानस्य विद्यते। तथापि अनुमितिविषये शाब्दिकानां काचन नूतना दृष्टिर्विद्यते। तद्यथा– 'पर्वतो बह्निमान् धूमात्' इत्यत्र वह्निव्याप्यधूम इति व्याप्तिज्ञानम्, बह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः इति परामर्शः, वह्निमान् पर्वतः इति अनुमितिश्च भवति। अत्र वह्निव्याय्यधूमाकारा या अन्तःकरणवृत्तिः तत्प्रतिबिम्बनमेव धूमादिव्याप्तिज्ञानम्। तज्ज्ञानप्रयोज्यं यद्बौद्धव्यापकबाह्याकारवृत्तौ चित्प्रतिबिम्बनं चैतन्यप्रकटनं तत्प्रतिफलनम्, तदेव बाह्यानुमितिः। तत्रापि पर्वतादिपक्षे हेतोः प्रत्यक्षत्वस्थले तस्य अपरोक्षा वृत्तिः ततो व्याप्तिरूपसम्बन्धस्य परोक्षावृत्तिः। हेतोः परोक्षत्वस्थले तु द्वयोरपि परोक्षैव वृत्तिः, नियतसम्बन्धविषयिणी परोक्षावृत्तिरेवानुमानं भवति। एवञ्च धूमादिलिङ्गविषयवृत्तिः व्याप्तिरूप सम्बन्धविषयवृत्तिद्वारा हेतुर्भवति। मध्ये व्याप्तिविशिष्टस्य पक्षवृत्तित्वविषयापि वृत्तिः व्यापारत्वेन स्वीकार्या भवति। अयमेव सिद्धान्तो बौद्धपदार्थवादिनां वैयाकरणानाम्। व्याप्तिपरामर्शविषये पक्षताविषये च न्यायमतानुसारमेवैतेषामपि व्यवस्थासिद्धान्तः।

अनुमानप्रमाणमपि द्विविधम्। स्वार्थानुमानपरार्थानुमानभेदात्। प्रकारान्तरेण च त्रिविधं पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्टम्, इति भेदात् वाक्यपदीये तु सामन्यतो दृष्टम्, विशेषतो दृष्टम् इति अनुमानद्वयमेवाङ्गीकृतम्–

> "स्थादिभिः केवलैर्यच्च गमनादि तु गम्यते।
> तत्रानुमानाद् द्विविधातद्धर्मा प्रादिरुच्यते।।"[२४]

एतस्याः कारिकाव्याख्याने पुण्यराजः कथयति–तिष्ठतिर्गतिनिवृत्तिं प्रसिद्ध्या अभिदधाति। अतः केवलेन तेन गमनं न प्रतिपाद्यत इत्यनेकार्था धातव इति कृत्वा अनुमानाद् गतिवाचकत्वमपि तस्य व्यवस्थाप्यते, उपसर्गस्तु तद्द्योतक एव। गतिनिवृत्तौ तु प्रसिद्धत्वात् तिष्ठतेः प्रशब्दस्य गतिवाचकत्वमुच्यते। वस्तुस्थित्या त्वनुमानेन प्रादेर्द्योतकत्वमेव सामान्यतोदृष्टेन, विशेषतो दृष्टेन चेत्याह तत्रेत्यादि। धातुरनेकार्थः उपसर्गश्च द्योतकः इत्यनुमानेन व्यवस्थाप्यते। द्विविधमनुमानं भवति– विशेषतो दृष्टं सामान्यतो दृष्टं चेति" इत्याह।[२५] अम्बाकर्त्र्यांश्च अनुमानाकारोऽपि प्रदार्शितः–

अनुमानाकारश्च–स्थाधातुरनेकार्थः धातुत्वात्, उभयवादिसम्मतानेकार्थयजेत्यादि धातु वदिति।[२६] एवं चैतन्मूलकेन सामान्यतोदृष्टनुमानेन अन्येषामपि धातूनामनेकार्थत्वं सिद्ध्यति। तथाहि अन्येऽपि धातवोऽनेकार्थाः धातुत्वात् स्थाधातुवत् इति। उपसर्गस्तु तत्र विशेषतो दृष्टादनुमाद् गतिद्योतक एव। अनुमानकारश्च–'प्रतिष्ठते' इत्यत्र प्रशब्द आदिगतिरूपकर्म (क्रिया) द्योतकः प्रशब्दत्वात् पच्यादिपूर्वोदितदृष्टप्रशब्दवदिति। एवमेतदनुमानमूलकेन सामान्यतो दृष्टानुमानेन सर्वेषामुपसर्गाणां द्योतकत्वं सिध्यति। तथाहि– परादय उपसर्गा द्योतकाः उपसर्गत्वात् 'प्रतिष्ठते' इत्यत्र प्रोपसर्गवादिति'

अनुमितिरपि द्विविधा–पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन, पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन च। तेन अनुमानमपि तद् दृष्ट्या द्विविधं भवति। आद्यानुमितेरनुमानाकारस्योदाहरणम् 'जगदिदं ज्ञेयं वाच्यत्वात्' इति केवलान्वयिहेतुस्थले। द्वितीयानुमितेरनुमानाकारस्योदाहरणञ्च "पर्वतो बह्निमान् धूमात् महानसवदिति। अनुमितेः साध्यपक्षहेतूदाहरणविषये, परार्थानुमितौ प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनविषये, अनुमितिप्रतिबन्धकाः 'सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमातीतकालाः हेत्वभासा'[२७] एतेषां विषये च सर्वा व्यवस्था नैयायिकतुल्यैव समाश्रिता, यस्य विवेचनं "पाणिनीयव्याकरणे प्रमाणसमीक्षा" इति ग्रन्थे आचार्य श्रीरामप्रसादत्रिपाठीकृतेऽस्ति।[२८]

(३) शब्दप्रमाणम्–

सर्वैरपि दार्शनिकैः शब्दप्रमाणमत्र आप्तवाक्यरूपमेव प्रमाणत्वेनाङ्गीक्रियते। नैयायिका आप्तश्च यथार्थवक्ता इत्यङ्गीकुर्वन्ति। तेन प्रयोगहेतुभूतयथार्थज्ञानजन्यशब्दत्वं शब्दप्रमाणत्वमिति शब्दप्रमाणलक्षणं पर्यवस्यति। शब्दप्रमाणे पदज्ञानं करणं, पदार्थोपस्थितिः व्यापारः शाब्दबोधश्च फलं तथा वृत्तिज्ञानं सहकारिकरणं भवति।[२९]

शब्दशास्त्रिणो वैयाकरणाः शब्दस्य प्रामाण्यं प्राधान्येनाङ्गीकुर्वन्ति।" वृद्धिरादैच' इति सूत्रे भाष्यकारो लिखति– "शब्दप्रमाणका वयं यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम।"[३०]

भर्तृहरिरपि कथयति यदिदमागप्रमाणं हेतुवादैर्बाधरहितं भवति–

"चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्त्तते।
आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते।।"[३१]

हरिवृषभोऽपि प्रतिपादयत्यत्र "तथैवायं श्रुतिस्मृतिलक्षणः सर्वैः शिष्टैः परिगृहीतः आगमः" इति।[३२]

ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां सायणाचार्योऽपि वदति यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रमाणभ्यामपि यस्य ज्ञानं न भवितुमर्हति साकल्येन तस्य ज्ञानं शब्दप्रमाणेन वेदेन भवति–

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।"[३३]

शब्दशास्त्रे शब्दो न स्वरूपतःकारणम् , अस्माकं तथानुभवस्याभावात् । फलतः "ह्रस्वसम्प्रत्ययादिति चेदुच्चार्यमाणः शब्दः सम्प्रत्यायको भवति न सम्प्रतीयमानः" इति महाभाष्य[३४] वचनात् उच्चार्यमाण एव शब्दः शाब्दबोधे कारणं भवति। तथैव नागेशोऽपि लिखति मञ्जूषायां "यथा घ्राणेन्द्रियगृहीतस्यैव गन्धस्य सुखादिजनकत्वं यथा च महतः पटहादिशब्दस्य कर्णपीटाजनकत्वं श्रुतस्यैव न तु स्मृतस्य, तथा पदानां बोधजनकत्वं श्रूतानामेव न यथा कथञ्चित् प्रतीयमानानामिति"।[३५] अत्र च श्रुतत्वं न शब्दस्येतरव्यावर्तकं विशेषणमपि तूपरञ्जकमेव अव्यभिचारात् प्रमाणयति च तथा "परोक्षइति धातोर्विशेषणम् शब्दस्वरूपस्य तस्य परोक्षत्वासम्भवादिति" इति महाभाष्यग्रन्थेन महाभाष्यकारः।[३६]

शाब्दबोधे[३७] उदयनाचार्यः ज्ञायमानं शब्दं कारणं मन्यते।किन्तु मौनिश्लोकादौ पदस्याविद्यमानाच्छाब्दबोधाभावप्रसङ्गान्नव्यनैयायिकाः पदज्ञानं करणं शाब्दबोधविषये मन्यन्ते। किन्तु स्मृत्यादौ परोक्षस्थले स्फोटात्मकशब्दस्यानभिव्यञ्जनेन शाब्दबोधे शाब्दिकमते पदज्ञानस्य नोपयोगः। यतोहि वैयाकरणमते स्फोटात्मक एव शब्दः शाब्दबोधे कारणं भवति। अतएव 'गौरित्यत्र कः शब्द' इति प्रश्ने महाभाष्यकारः "येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्यो भवति स शब्दः" इत्युक्तवान्।[३८] कैयटश्च ग्रन्थमिमं व्याख्याति "वर्णव्यतिरिक्तं पदं वाक्यं वा वाचकं भवति। वर्णानां प्रत्येकं वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणमनर्थकं स्यात्, अनर्थकत्वे तूत्पत्तिपक्षे प्रत्येकं यौगपद्येनोपत्त्यभावोऽपि स्यात् । अभिव्यक्तिपक्षे च क्रमेणाभिव्यक्त्या समुदायाभावादेकस्मृत्युपारूढानां वाचकत्वस्वीकारे 'सरो रस' इत्यादौ अर्थज्ञानाविशेषप्रसङ्गात् तद् भिन्नः स्फोटोनादाभिव्यङ्ग्यः शब्दो वाचकः इति"।[३९] नागेशोऽपि प्रदीपव्याख्याने तथैव स्वीकरोति।[४०]

स्फुटयते =ककारादिध्वनिना अभिव्यज्यते इति कर्मव्युत्पत्त्या स्फुटति अर्थोऽनेन इति करणव्युत्पत्त्या च स्फुटविकसने धातोः "अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्"[४१] इति सूत्रेण घञ्प्रत्यये स्फोटशब्दो निष्पद्यते। तेन ध्वनिव्यङ्ग्यत्वे सति अर्थविषयकबोधजनकत्वं स्फोटस्य लक्षणं सिध्यति। लक्षणं स्फोटस्यैतत् तटस्थलक्षणमस्ति। स्वरूपलक्षणं तु स्फोटात्मक-शब्दब्रह्मणः—

"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।"[४२]

इति वाक्यपदीयकारिकायां प्रथितमस्ति। तेन उत्पादविनाशरहितत्वे सति अक्षरनिमित्तकत्वे सति अर्थरूपतया स्वस्वरूपादप्रच्युतप्रतीयमानत्वे सति संसारप्रक्रियोपादानं शब्दतत्त्वं ब्रह्म इति लक्षणस्वरूपं प्रतिपद्यते। अत्र विवर्तो नाम "एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणा-सत्याविभक्तान्यरूपोपग्राहिता, स्वप्नविषयप्रतिभासवत्।[४३] एकस्य—अखण्डस्य, तत्त्वाद्=स्वस्वरूपाद्, अप्रच्युतस्य =अपृथगभूतस्य, भेदानुकारेण =सन्निवेशविशेषेण, असत्या=असद्रूपेण, विभक्तान्यरूपेण =विभक्तं =भिन्नं-भिन्नं यद् रूपाकारधारणं, तेनरूपेण, उपग्राहिता=सम्प्राप्तिःविवर्तः। यथा जागृतावस्थायां किञ्चिद् वस्तु स्वस्वरूपात् अपृथग् भूतं सत् सन्निवेशविशेषेण असद्रूपेण विभक्तं भिन्न-भिन्नरूपाकारधारणेन असद्रूपेण स्वस्वरूपधारणेन स्वप्नावस्थायां प्रतीयते। तथैव शब्दतत्त्वब्रह्मणि स्वस्वरूपाद् अपृथग् भूतं सत् स्वकालाख्यशक्तिरूपाविद्यया शक्त्या घटपटमठाकारेण प्रतिभासते, स एव विवर्त्तः। तस्मिन् समये प्रमाता स्वप्नावस्थायां सर्वं सद् रूपेण गृह्णाति न च तत् सद् भवति। अर्थात् स्वप्नावस्थायां तस्य घटपटमठादेः प्रातिभासिकी सत्ता भवति। यतोहि शब्दब्रह्मणः पारमार्थिकी सत्ता भवति। जगतश्च प्रतिभासिकी (व्यावहारिकी) सत्ता भवति। स्वाधिष्ठानसत्ता-विषमसत्ताककार्यापत्तिरित्यपि विवर्त्तलक्षणं वेदान्तिभिरङ्गीक्रियते। स्वाधिष्ठानसत्ता

समसत्ताककार्यापत्तिरिति परिणामलक्षणमङ्गीक्रियते। विवर्तस्य तत्र शूक्तौ इदं रजतम् इत्याकारकं ज्ञानं भवत्युदाहरणम्। परिणामस्य च दुग्धं दधि भवति' इत्युदाहरणम्। शब्दब्रह्मणः परारूपातिसूक्ष्मपश्यन्त्याः जगदिदं विवर्तः भिन्नसत्ताकत्वात् । अपरापश्यन्त्याश्च परिणामः इति बोध्यम् । अतएव भर्तृहरिः सिद्धान्तमिमं स्थापयति–

"शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायनयो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत;।।"[८४]

अयं संसारः स्वकारणात् परमाण्वादिरूपात् प्रकृतिरूपाद् वा समुत्पन्नत्वात् परिणाम इत्यपरे सांख्ययोगवैशेषिकनैयायिकप्रभृतयो विदुः। अथवा सर्वोऽपि दृश्यमानः प्रपञ्चो नामरूपात्मकः संसारः शब्दस्य परिणामः इत्येवमाम्नायविदः=वेदविदः, विदुः=वदन्ति। यथा च वेदः "स उ एवैष ऋङ्मयो यजुर्मय; साममयो वैराजः पुरुषः। पुरुषो वै लोकः। पुरुषो यज्ञः। तस्यैता लोकम्पृणास्तिस्र आहुतयस्ता एव त्र्यालिखित वै त्रयो लोकाः" इति।[८५]

तथैवायमपि मन्त्रः "एष वै छन्दस्यः साममयः प्रथमोऽक्षन् वैराजः पुरुषो योऽन्नमसृजत, तस्मात् पशवोऽन्वजायत। पशुभ्यो वनस्पतयः, वनस्पतिभ्योऽग्निः तस्मादाहुर्न दारूपात्रेण दुह्यादग्निर्वा एष दारुपात्रम् । तस्मान्न दारुपात्रेण दुह्यते" इति।[८६]

किन्तु शाब्दिकानां सिद्धान्ते छन्दोभ्यो = वेदेभ्य एव एतत् सर्वं विश्वं व्यवर्तत। कारिकायां छन्दोभ्य इति शब्दः सूक्ष्मप्रणवस्य वाचकः। सूक्ष्मं वाकृतत्त्वं प्रणवरूपं नित्यमेकमपि तदेव वेदरूपे चतुर्विधत्वात् 'छन्दोभ्य' इति बहुवचनेन निर्दिष्टम् । कथयति च तथा वेदः[८७] श्शब्दोपादानादेव जगदेतद् विवर्त्तते–

"वागेव विश्वाभुवनानि जज्ञे वाच इत् सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्।
अथेद् वाग् बुभुजे वागुवाच पुरुत्रा वाचो न परं यच्च नाह।।"[८७]

अर्थात् बुद्ध्यात्मना स्थितं सूक्ष्मं वाकृतत्त्वमेव (शब्दब्रह्म) सर्वाणि भुवनानि वाच्यवाचकोभयात्मकानि जज्ञे आत्मानं तद्रूपेण प्रकाशितवान्। इन्द्रियाणि, प्राणं च द्वारीकृत्य वाच एव (इत् इति अव्ययः एवार्थकः) इदं सर्वं जगत् अमृतं=जीवरूपं, मर्त्यम् = मनुष्यपशु पक्षि कीट पतङ्गघटपटादि रूपम् (जज्ञे)। अथ च इयं वागेव आन्तरज्ञातृजीवरूपेण अवस्थिता सती भोक्त्री, वागेव प्राणं द्वारीकृत्य शब्दानां बहुधा प्रयोक्त्री। पुरुत्राशब्दोऽत्र बहुप्रकारवाचकः। बहून् लाति इति सामान्यविग्रहे बहुप्रकार वाचकात् द्वितीयान्तात् पुरुशब्दात्– "देवमनुष्य पुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्यो र्बहुलम्"[८८] इति सूत्रेण 'त्राप्रत्ययो' विधीयते तेन अव्ययसंज्ञकः 'पुरुत्रा' इति शब्दो निष्पद्यते। वाचः न तत् पदं यच्च नाह अर्थात् जनो यत् किञ्चिदपि वदति तत् सर्वं शब्दाभिधेयमर्थजातं विद्यते वाचोभिन्नं किञ्चिदपि नास्ति। सर्वं वागात्मकमेव, वागुपदानत्वात् । अत्रैव हरिवृषभः स्वटीकायां लिखति यत् छन्दस्यः =छन्दोमयः प्रजापतिः=शब्द ब्रह्म, बहुधा आत्मानं विभज्य जगद् रचयति। पुनः प्रलयकाले सर्वाभिः छन्दोमयीभिः मात्राभिः सर्वं छन्दसि आत्मानं विवेश–

"विभज्य बहुधात्मानं स च्छन्दस्यः प्रजापतिः।
छन्दोमयीभिर्मात्राभिर्बुहुधैव विवेश तम्।।[४९]

तथैव तैत्तरीयोपनिषदि अपि प्रोक्तम्–"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति। तस्माद् वा एतस्माद् आकाशः सम्भूतः आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्"।[५०]

इत्थं शब्दब्रह्मणः स्वरूपलक्षणं श्रुतिस्मृत्यादौ निरूपितम्। यच्च महाभाष्यकारः "अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः इत्युच्यते। तद्यथा– शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः शब्दकार्ययं माणवक इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्माद् ध्वनिः शब्दः" इत्याह।[५१] तत्र ध्वनिशब्दः स्फोटव्यञ्जकत्वेन स्वीकृतः। लोके तु स्फोटात्मकस्य शब्दस्य व्यवहारे स्थितावपि ध्वनिस्फोटयोः भेदज्ञानाभावाद् ध्वनौ शब्दव्यवहारो दृश्यते। अत एव तथा लौकिकव्यवहारं शब्दस्य ध्वनौ दर्शितवान् भगवान् महाभाष्यकारः। सिद्धान्ततस्तु सोऽपि स्फोटात्मकमेव शब्दं मन्यते। अतएव "तपरस्तत्कालस्य"[५२] इति सूत्रभाष्ये "स्फोटः शब्दः ध्वनिःशब्दगुणः"[५३] इत्येवं स्पष्टतया उक्तवान् सः। अत्र गुणशब्दस्य व्यञ्जकोऽर्थो विद्यते। तेन ध्वनिः शब्दस्य स्फोटात्मकस्य गुणः=व्यञ्जक इत्यर्थो सम्पद्यते। प्रतिपादयति च तथा प्रदीपे कैयटः "शब्दगुण इति। शब्दस्य गुणः उपकारो व्यञ्जकत्वेनेत्यर्थः।[५४]

अयं ध्वन्यात्मको नादः परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, इति भेदैश्चतुर्विधः इत्येवं नागेशप्रभृतयः प्रतिपादयन्ति।[५५] भर्तृहरिरपि वाण्याः चतुर्विधं स्वरूपं मन्यते। हरिवृषभश्चैवमधोङ्कित कारिकाव्याख्याने प्रतिपादितवान्। तदित्थम्–

"वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्।।"[५६]

(स्वोपज्ञटीका–) परैः संवेद्यं यस्याः श्रोत्रविषयत्वेन प्रतिनियतं श्रुतिरूपं सा वैखरी। श्लिष्टा व्यक्तवर्णसमुच्चारणा प्रसिद्धसाधुभावाभ्रस्टसंस्कारा च। (घटपटादिरूपा भेरीपटहवंशीवीणादिनादरूपा) तथा याऽक्षे (शकटाक्षे) या दुन्दुभौ या वेणौ (या) वीणायामित्यपरिणामभेदा।[५७]

मध्यमा त्वन्तःसन्निवेशिनी परिगृहीतक्रमेव बुद्धिमात्रोपादाना। सा तू सूक्ष्मप्राणवृत्त्यनुगता क्रमसंहारभावेऽपि व्यक्तक्रमपरिग्रहैव केषाञ्चित्।

प्रतिसंहतक्रमा सत्यप्यभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः पश्यन्ती। सा चला, अचला प्रतिलब्धसमाधाना चावृता (अपरापश्यन्ती), विशुद्धा (परा पश्यन्ती) च; परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा संसृष्टार्थप्रत्यवभासा (अपरा पश्यन्ती), प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा (परापश्यन्ती) चेत्यपरिणामभेदा।" इति[५८] व्याख्यानेन ज्ञायते यत् परापश्यन्ती, अपरापश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी इति चतुर्विधा वाग् भवति भर्तृहरिमतेऽपि। अत्र "त्रय्या वाचः परं पदम्" इति

विषयेऽपि कथयति भर्तृहरिः (हरिवृषभः) स्वोपज्ञटीकायां तत्र व्यावहरिकीषु सर्वासु वागवस्थासु (अपरापश्यन्ती मध्यमावैखरीरूपासु) व्यवस्थितः साध्वसाधुप्रविभागः पुरुषसंस्कारहेतुरेकेषाम्। परन्तु पश्यन्तीरूपम् (परापश्यन्तीरूपम्) अनपभ्रंशमसङ्कीर्णं लोकव्यवहारातीतम्। तस्याः वाचः (परापश्यन्तीरूपायाः स्वरूपम्) व्याकरणेन साधुत्वज्ञानलभ्येन वा शब्दपूर्वेण योगेन अधिगम्यते इत्येकेषामागमः।" अनेन ज्ञायते यत् त्रय्या वाचः अपरापश्यन्तीमध्यमा वैखरीरूपाया व्याकरणेन ज्ञानं विधाय तेन शब्दपूर्वेण योगेन परापश्यन्तीरूपं शब्दब्रह्म अधिगम्यते। अत्रैवैतदभिप्रायं व्याख्याति रघुनाथशर्मा "इयं चतुर्धा वाणी कथं ज्ञायते प्रत्येकं प्राणिषु? इति जिज्ञासायामुच्यते–

"परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा।।"

अर्थात् – सर्वेषां मूलाधारचक्रस्था तत्रत्यसंस्कृतवायुना अभिव्यज्यमाना स्पन्दशून्या शब्दब्रह्मरूपा अनादिनिधना परा वाणी भवति। ततो नाभिपर्यन्तमागच्छता वायुना अभिव्यज्यमाना मनोगोचरीभूता वाक् पश्यन्ती वाणी कथ्यते। परापश्यन्तीत्युभेऽपि योगिनां समाधौ निर्विकल्पकसविकल्पकज्ञानविषये भवतः। ततो हृदयपर्यन्तमागच्छता तेन वायुना अभिव्यज्यमाना तत्तदर्थवाचकस्फोटाभिव्यज्यमाना स्वमात्रश्रव्या परश्रोत्राग्राह्या सूक्ष्मा जपादौ बुद्धिनिर्ग्राह्या या वाणी सा मध्यमा वागित्युच्यते, ततो मुखपर्यन्तमागच्छता वायुना मूर्धानमाहत्य परावृत्य च कण्ठताल्वादिषु तत्तत्स्थानेषु अभिव्यज्यमाना परश्रोत्रेणापि ग्रहणयोग्या वाणी वैखरी कथ्यते।"[५९] एवमेव वाक्यपदीयग्रन्थे भर्तृहरिरपि प्रतिपादयति यत् वैखरी वाणीतः कृतो नादःपरश्रवणगोचरो मध्यमानादोत्साहको भवति। मध्यमावाणीतः कृतो नादः स्वश्रोत्रग्राह्यः परश्रोत्रागोचरः स्फोटस्य च व्यञ्जको भवति–

"वैखर्या हि कृतो नादः परश्रवणगोचरः।
मध्यमया च कृतो नादः स्फोटव्यञ्जक उच्यते।।"[६०]

अयं नादोऽपि ध्वनिपदवाच्यः प्राकृतवैकृतभेदेन द्विविधः। तत्र प्राकृतध्वनिः स्फोटात्मकशब्दाभिव्यञ्जने हेतुः स्वीयमात्राकालादिना नित्यमपि स्फोटं परिच्छिनत्ति। स्फोटस्याभिव्यक्त्युत्तरं द्रुतमध्यमविलम्बितवृत्तिभेदे वैकृतःध्वनिर्हेतु र्भवति।[६१]

इत्थमत्र स्फोटात्मकशब्दः शाब्दबोधे कारणमस्ति। व्यापारश्च पदनिष्ठवृत्तिज्ञानजन्यपदपदार्थ ज्ञानमेव भवति। शब्दिकमते शाब्दबोधानुकूलपदार्थज्ञानजनकज्ञानविषयपदपदार्थसम्बन्धविशेषो वृत्तिः। सा च द्विविधा शक्तिर्व्यञ्जना च। तत्र शक्तिरपि प्रसिद्धाप्रसिद्धभेदेन द्विविधा। प्रसिद्धाशक्तिरेव अभिधा, अप्रसिद्धा, शक्तिश्च शक्यतावच्छेदकधर्मारोपरूपा लक्षणापि कथ्यतेऽन्यैः। तेन सामान्यतया शक्तिलक्षणा व्यञ्जनाभेदैस्त्रिधा वृत्तिर्भवतीति वस्तुं शक्यते।

अत्र शक्तिश्च वाच्यवाचकभावोऽखण्डोपाधिसम्बन्धरूपा तद् ग्राह्यकं च इतरेतराध्यासरूपं तादात्म्यम्। तादर्थ्यात् तत्रापि केचन शक्तिरिति व्यावहरं कुर्वन्ति। एवमेव लक्षणा च

लक्ष्यलक्षकभावोऽखण्डोपाधिसम्बन्धरूपा, तद् ग्राहकं च मुख्यार्थबाधादिकरणसमवधानेन शक्यतावच्छेदकधर्मारोपः। तत्रापि तादर्थ्यात् केचन लक्षणेति व्यवहारं कुर्वन्ति। एवमेव व्यञ्जना च व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽखण्डोपाधिसम्बन्धरूपा, तद्ग्राहकश्च मुख्यार्थ-बाधनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थसम्बन्धासम्बन्धसाधारणः प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयको वक्त्रादि वैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्‌बुद्धः संस्कारविशेषो विद्यते। संस्कारस्यास्य तादर्थ्यात् ताच्छब्दमिति नियमात् तत्रापि व्यञ्जनापदेन व्यवहारो विदधति केचन, विशेषतो नागेशो विदधाति।[६१] केचन तात्पर्यादिवृत्तिं स्वीकुर्वन्ति किन्तु तासां सम्बन्धत्वाभावान्न वृत्तित्वमिति बोध्यम्। वाक्यजन्यशाब्दबोधे च शाब्दबोधसहकारणानि आकाङ्क्षा योग्यता, आसत्तिः, तात्पर्यमित्येतानि सन्ति। सहकारिकारणश्चात्र मुख्यकारणजन्यकार्यजनकत्वे सति मुख्यकारणभिन्नत्वम्। तत्र वाक्यशक्तिग्राहिका आकाङ्क्षा अथवा उत्थापकताविषयतान्यतरसम्बन्धेन उभयसम्बन्धेन वा अर्थान्तरजिज्ञासा आकाङ्क्षा कथ्यते। आद्यस्य 'पश्य मृगो धावति' इति द्वितीयस्य च 'देवदत्तस्तण्डुलं पचति' इत्यत्र क्रियाकारकयोर्द्वयोरपि मिथः तदुत्थापकत्वात् तद्‌विषयत्वाच्च आकाङ्क्षा भवति। परस्परान्वयप्रयोजकधर्मवत्त्वमेव योग्यता। तेन पयसासिञ्चति' इति वाक्यं योग्यं, 'बह्निना सिञ्चति' इति वाक्यमयोग्यं भवति।

प्रकृतान्वयबोधाननुकूलपदाव्यवधानमासक्तिः। तेन 'गिरिरग्निमान्' इत्यत्रासक्तिरस्ति, 'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन' इत्यत्रासत्तिर्नास्ति व्यवधानेन पदानामुच्चारणात्। एतद् वाक्यं पदं वा एतदर्थं बोधायोच्चारणीयमिति ईश्वरेच्छा तात्पर्यं कथ्यते। अतो यत्र भिन्नार्थ बोधतात्पर्येणोच्चरितस्य घटादिपदस्य कम्बुग्रीवादिमद्वस्तुनो बोधो न भवति। इति लघुमञ्जूषायां वैशद्येन प्रतिपादितम्।[६२]

(४) अभ्यासप्रमाणम्–

भर्तृहरिरभ्यासप्रमाणं यद्यपि दृढतया स्थापयति, तथापि भवतीत्येषा जिज्ञासा यत् पाणिनीयशास्त्रे एतस्य प्रमाणस्य किं प्रयोजनं न हि काचिदेवम्भूता प्रमा यदर्थं प्रमाणमेतत् स्वीकुर्यादिति।

अत्रेदं विचारणीयं यत् पाणिनिः प्रक्रियानिर्वाहाय सूत्राणि व्यरचयत्। तत्र प्रसङ्गात् सर्वोऽपि विषयस्तेन चर्चितः। तत्र औषधिविषये रोगाच्चापनयने ५/४/४९, ओषधेरजातौ ५/४/३७ इत्यादीनि सूत्राणि चर्चितानि। मण्यादिविषये "लोहितान्मणौ ५/४/३०, आकर्षादिभ्यः कन् ५/२ ६४/, "आकर्षाट्ठल् ।।४/४/९।।, इत्यादीनि सूत्राणि सन्ति। रागस्वरादिविषये शिल्पिनि ष्वुन् ।।३/१/१४५, गः स्थकन् ।।३/१/१४६, ण्युट् च।। ३/१/१४७, इत्यादीनि सूत्राणि सन्ति। अत्र अभ्यासप्रमाणेनैव औषधीनां, मणिस्वर्णादीनां रागस्वरादीनां ज्ञानस्य सत्त्वात् तस्यावश्यकता सिद्ध्यति। अतएव लोकेऽपि तज्ज्ञानाय तत् प्रमाणमङ्गीक्रियते। यतोहि स्वर्णकारः स्वर्णं रजतं वा एतद् वस्तु दुष्टं निर्दुष्टं वा एतस्य ज्ञानं न हि सामान्येन कर्तुमर्हति। तेन हि तज्ज्ञानाय अतिशयोऽभ्यासो विहितः तदभ्यासातिशयार्जितशक्तिसंस्कारविशेषेण

स्वर्णरजतादिपरीक्षणे समर्थो भवति। अतस्वर्णरजतादिपरीक्षणे तदभ्यास एव प्रमाणं भवति। एवमेव मण्यादिरत्नपरीक्षकोऽपि दृढतरविहिताभ्यासजन्यशक्तिसंस्कारविशेषेण रत्नं परीक्षते। तत्र तस्याभ्यासो प्रमाणं भवति। एवमेवौषधिविषयकविहितविशिष्टाभ्यासो वैद्यः, षड्जर्षभगन्धारमध्य मपञ्चमधैवतनिषादस्वरविषये विविधरागविषये च विहितदृढाभ्यासः संगीतविद् स्व स्वविषयपरीक्षणे तेषामभ्यास एव प्रमाणं भवति। अतः रत्नमणिस्वरौषध्यादीनां या प्रमा तस्य करणमभ्यासः प्रमाणत्वेनाङ्गीक्रियते भर्तृहरिणा, तदनुगामिभिः शाब्दिकैश्च। यतो हि सामान्येन चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः ज्ञानं कर्तुं न शक्यते अतो न प्रत्यक्षप्रमाणजन्या तद् विषयिणी प्रमा। तस्याः विषये व्याप्तिज्ञानाभावात् न चानुमानप्रमाणं तत्र भवितुमर्हति। तथैवाप्तोक्तत्याभावात् न तस्य ज्ञानं शब्दप्रमाणजन्यम्। न च विहिताभ्यास एव आप्तो भवतु तत् कथनरूप शब्दप्रमाणजन्यत्वात् तेनैव प्रमायाःसत्त्वात् अतिरिक्तस्याभ्यासप्रमाणस्य कल्पना व्यर्थैवेति वाच्यम् 'अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कात्स्न्र्येन निश्चयवान् रागादिवशादपि नान्यथावादी इत्याप्तलक्षणस्य यथार्थवक्तृत्वस्याप्तलक्षणस्य अनाप्तानुत्वस्य वाप्तलक्षणस्य तत्र व्यभिचारितवात्। कदाचित् कदाचारिणाविहिताभ्यासेनापि रत्नादिपरिज्ञानस्य दर्शनात्। अकृताभ्यासस्य च तथाविधस्याप्तस्य तत् परीक्षणसामर्थ्याभावस्य च दर्शनात् तेन तेषु स्थलेषु अभ्यास एव प्राधान्येन प्रमाणमङ्गीक्रियते। अतएव भर्तृहरिः कथयति–

> "परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते।
> मणिरूप्यादिविज्ञानं तद् विदां नानुमानिकम्।।"[६३]

एतस्य अभ्यासप्रमाणस्य किं लक्षणमिति जिज्ञासायामुच्यते यत् प्राचीनमतानुसारेण यदा व्यापारवदसाधारणं कारणं करणमित्यङ्गीक्रियते तदा दृढतमविहितप्रयत्नविशेषसंस्कारः कारणं तज्जन्यसामार्थ्यशालिबुद्धिविशेषो व्यापारः तज्जन्यं स्वर्णरजतादिज्ञानं, मण्यादिज्ञानं, षड्जादिस्वरज्ञानम् अश्वगन्धाप्रभृत्यौषधिज्ञानं फलं भवति। एतस्मिन् पक्षे दृढतमविहितप्रयत्नविशेष संस्कारत्वमभ्यासत्वमिति लक्षणं कर्तुं शक्यते। यदा च फलयोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणमिति नवीनमतानुसारेण करणस्वरूपमङ्गीक्रियते तदा दृढ़तमविहितप्रयत्नविशेषसंस्कारजन्य-सामार्थ्यशालिबुद्धिविशेषत्वम्– अभ्यासत्वमिति अभ्यासस्य लक्षणं कर्तुं शक्यते। अत्र दृढ़तम-प्रयत्नविशेषसंस्कारविषये एव प्रत्यक्षस्य कारणता न तु तज्जन्यस्वर्णरजतषड्जादिस्वर ज्ञानविषये। अतः प्रत्यक्षप्रमाणजन्यं स्वर्णरजतमण्यादिज्ञानं षड़जादिस्वरज्ञानं अश्वगन्धाद्यौषधिज्ञानं न भवति इति बोद्धव्यम्

(५) अदृष्टप्रमाणम्–

देवताः पितरः राक्षसाः पिशाचाः स्वत एव तादृशसामर्थ्यशालिनो भवन्ति। यत् ते व्यवहितं दूरस्थं कालातीतमनागतम् अपि वस्तु द्रष्टुं दर्शयितुं च शक्नुवन्ति। तेषां देवपित्रानां तज्ज्ञानं न प्रत्यक्षात्मकमुन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्याभावात्, न चानुमानिकं व्याप्तिज्ञानजन्यपरामर्शा-देस्तत्रासम्भवात्। न शाब्दं न चाभ्यासजन्यम्। अपितु पूर्वयोनिविहितकर्मजन्यादृष्टलब्धयोनि-

विशेषोचितसामर्थ्यविशेषादृष्टं तपसाद्यर्जितादृष्टमेव च प्रमाणं भवति। प्रतिपादयति च भर्तृहरिः–

"प्रत्यक्षमनुमानं च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः।
पितृरक्षः पिशाचानां कर्मजा एव सिद्धयः।।"[६४]

अनया कारिकया भर्तृहरिः प्रतिपादयति यत् व्यवहितदूरस्थातीतानागतवस्तुपरिज्ञाने प्रत्यक्षानुमनादीनि प्रमाणानि व्यतिक्रम्य = पारित्यज्य पितृरक्षःपिशाचादीनां पूर्वजन्मकृतकर्मजन्यापूर्व जन्याः सिद्धयः कारणानि भवन्ति। तेन पूर्वजन्मादिविहिततपोयागप्रभृतिसदसत् कर्मविशेषजन्यापूर्व विशेषोचितसामर्थ्यविशेषत्वमदृष्टत्वम् इति अदृष्टप्रमाणस्य लक्षणं भवितुमर्हति फलयोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणमिति मतवादिनां मतेन। व्यापारवदसाधारणं कारणं करणमिति सिद्धान्ते तु पूर्वजन्मादिविहिततपोयागप्रभृतिसदसत् कर्मजन्यापूर्वम् करणम्, तल्लब्धयोनिविशेषोचित-सामर्थ्यविशेषः व्यापारः, अतीतानागतदूरस्थव्यवहितवस्तुबोधविशेषः फलमिति बोध्यम् ।

इत्येवं वाक्यपदीयब्रह्मकाण्डे एतानि पञ्च प्रमाणानि चर्चितानि। यथा च प्रत्यक्षानुमानशब्दप्रमाणैः सामान्यविशेषधर्मादिरूपसकलसम्भावितधर्मप्रकारिका प्रमा भवति तथैव अदृष्टाभ्यासाभ्यामपि। अतः सामान्यविशेषधर्मादिरूपसकलसम्भावितधर्मावच्छिन्न-प्रकारतानिरूपितानिर्ज्ञातनिष्ठविशेष्यताकज्ञानकरणत्वरूपप्रमाणलक्षणस्य अभ्यासादृष्टयोः सत्त्वात् तयोः प्रमाणत्वं सिध्यतीति बोध्यम्।

परे तु दृढतमाभ्यासद्भावेऽपि इन्द्रियार्थसन्निकर्षं विना नहि अभ्यासमात्रेण वस्तुज्ञानं सम्भवमतः अभ्यासइन्द्रियार्थसन्निकर्षरूपप्रत्यक्षात्मके ज्ञाने अभावप्रत्यक्षं प्रति अनुपलब्धिरिव सहकारिकारणमेव न तु पृथक प्रमाणमिति वदन्ति।[६५] अत्रेदं वक्तव्यं भवति यन् नैयायिकैः शाब्दबोधं प्रति वृत्तिज्ञानस्य सहकारिकारणत्वमङ्गीक्रियते। तद्यथा–

"पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः हकारिणी।।"

कारिकावली का. सं. ८१

अत्र शक्तिशब्दो वृत्तिमात्रपरस्तेन तेषां मते शक्तिलक्षणन्यतरात्मकवृत्तिज्ञानस्य पदार्थस्मृतौ कारणत्वे सिद्धे तस्य सहकारित्वं सिध्यति न तु शाब्दबोधे तस्य कारणता। सहकारिकारणत्वं नाम स्वभिन्नत्वे सति स्वाजन्यत्वे सति स्वकार्यकारित्वम् स्वं =पदार्थोपास्थितिः तद्भिन्नत्वं वृत्तिज्ञाने, स्वं पदार्थोपस्थितिः वृत्तिज्ञाने तद् जन्यत्वाभावात् पदार्थोपस्थित्यजन्यत्वमपि विद्यते, स्वं=पदार्थोपस्थितिः तत्कार्यं शब्दबोधः तत् कारित्वं वृत्तिज्ञाने। इत्येवमत्र लक्षणसमन्वयो भवति। अत्र तथा नास्ति यतोहि इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य दृढतमप्रयत्नविशेषसंस्कारे एव कारणता सिध्यति न तु षड्जादिस्वरज्ञानविषये यथा इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य व्याप्तिज्ञानं प्रति, पदज्ञानं प्रति च तस्य कारणता सिध्यति न तु अनुमितौ शाब्दबोधे वा सिध्यति। अतः षड्जादिस्वरज्ञानविषये, मण्यौषधिस्वर्णरजतादिज्ञानविषये न कारणता इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य अपितु अभ्यासस्यैव। अतस्तेषां ज्ञानाय अभ्यासप्रमाणमवश्यमेव सर्वैः स्वीकरणीयम्।

एवमेव नैयायिकगृहीतालौकिकप्रत्यक्षे स्वीकृतयोगजसन्निकर्षे अदृष्टस्य अन्तर्भावं ये कुर्वन्ति तदपि न समीचीनम् यतो हि योगाभ्यासजन्यसामर्थ्यमिहजन्मभवं क्षययुक्तं सीमितं च। इदं च तद्भिन्नं योनिविशेषेषु देवपितृराक्षसप्रभृतिषु जन्मत एव सिद्धत्वाद् यावदायुः सिद्धत्वाच्चाक्षयत्वाद-सीमितत्वाच्च। अपि च योगजसन्निकर्षः स्वसंयुक्तमनः संयुक्तात्मवृत्तियोगजन्यधर्मविशेषः। अत्र युक्तो योगी ईश्वरानुग्रहविशिष्टमनःप्रसादसम्पन्नो मनसा उक्तसन्निकर्षेण वस्तु परिजानाति। युञ्जानश्च यमनियमाद्यभ्यासजनितसामर्थ्यात्मकसन्निकर्षेण धारणाध्यानसमाध्यात्मक-संयमापराभिधानचिन्तासहकृतेन सर्वं वस्तु जानाति। पितृरक्षः पिशाचादीनां कृते एतयोरक्वश्यकता न भवति। ते पूर्वजन्मकृतकर्मजन्यादृष्टेन लब्धयोनयः ते स्वतः कुर्वन्ति। तत्रादृष्टमेव हेतुः ते षां वस्तुपरिज्ञाने, अतोऽदृष्टप्रमाणमङ्गीकरणीयमेव।

अदृष्टप्रमाणविषये यद्यपि पाणिनीयशास्त्रे अष्टाध्याय्यां चर्चा न तथा समागता, तथापि यथा भर्तृहरिः "पितृरक्षःपिशानां कर्मजा एव सिद्धयः" इति कथनेन पितृणां रक्षसाम् =अर्थात् असुराणां, पिशाचानां सिद्धयः कर्मजाः पूर्वकर्मजन्यादृष्टजाः सन्ति। अतस्तेषां वस्तुज्ञानं अदृष्टप्रमाणजन्यं मन्यते। पाणिनिरपि स्वसूत्रेषु तथा दर्शयति। यथा रक्षोयातूनां हननी ४/४/१२१।। अत्र रक्षोभिः यातुभिः हनने अर्थात् तेषां मायया हनने रक्षणस्य विषये प्रार्थना वेदमन्त्रेषु प्राप्यते। एवमेव असुरस्य स्वम् ।।४/४/१२ मायायामण् ।।४/४/१२४ इत्यादिसूत्रेष्वपि असुरादीनां मायासामर्थ्यविषये कथितम् । एषा माया एव तेषामदृष्टसामर्थ्यम् । तैश्च तया मायया यद् वस्तु ज्ञायते तज्ज्ञानं प्रति प्रमाणं सा मायैव अदृष्टाख्या भवति। फलतः पाणिनि मतेनापि अदृष्टप्रमाणस्य प्रमाणता सिध्यति।

यद्यपि ब्रह्मकाण्डे यत्र प्रत्यक्षानुमानशब्दाभ्यासादृष्ट प्रमाणानां चर्चा समागता तत्रार्थपत्तिप्रमाणस्य चर्चा भर्तृहरिणा नैव विहिता। अतो नास्या भर्तृहरिमते प्रमाणत्वमिति बुद्धावायाति। तथापि भर्तृहरिणा वाक्यकाण्डे प्रसङ्गतः प्रमाणमिदं सङ्कीर्तितं येन तदपि भर्तृहरिसम्मतमिति ज्ञायते। तद्यथा—

"यथैवात्यन्तसंसृष्टस्त्यक्तुमर्थो न शक्यते।
तथा शब्दोऽपि सम्बन्धी प्रविवेक्तुं न शक्यते।।"[६७]

अर्थात् यथैव अत्यन्तसंसृष्टः सम्बद्धोऽर्थो न त्यक्तुं शक्यते तथा सम्बन्धी शब्दोऽपि प्रविवेक्तुं गृहीतो न त्यक्तुं शक्यते। एतस्य तात्पर्यं पुण्यराजोऽप्यत्रैव वदति "विवक्षितार्थेन सह अविवक्षितस्याप्यर्थस्य नान्तरीयकस्य प्रतीतिः।[६८] इत्येवमनेन श्रुतार्थापत्तिः भर्तृहरिणा समार्थिता भवति। अतोऽर्थापत्तिप्रमाणमपि भर्तृहरिसम्मतमिति वक्तुं शक्यते।

(६) अर्थापत्तिप्रमाणम्—

भगवान् पाणिनिः "उपात् प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु च"[६९] इति सूत्रे वाक्याध्याहार-ग्रहणेनार्थपत्तिप्रमाणं समर्थयति। कात्यायनश्चापि "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ"[७०] इति सूत्रे सूचयति वार्तिकेऽस्मिन् अर्थापत्तिप्रमाणम्—

"काममतिदिश्यतां वा सच्चासच्चापि नेह भारोऽस्ति।
कल्प्यो हि वाक्यशेषो वाक्यं वक्तर्यधीनं हि।।"[७१]

अत्र महाभाष्यकारः कथयति "अथवा वतिनिर्देशोऽयम् कामचारश्च वतिनिर्देशे वाक्यशेषं समर्थयितुम्। तद्यथाउशीरवन्मद्रेषु यवाः। सन्ति न सन्ति इति। मातृवदस्य कलाः। सन्ति न सन्ति इति। एवमिहापि स्थानिवद् भवति, स्थानिवन्न भवति इति वाक्यशेषं समर्थयिष्यामहे"[७२] इति। अत्र वार्त्तिकभाष्यग्रन्थघटकवाक्यशेषशब्दोऽर्थापत्तिं समर्थयति।

इत्थमेतैः सूत्रवार्त्तिकमहाभाष्यभर्तृहरिवचनैर्ज्ञायते यद् वैयाकरणनयेऽर्थापत्तिः प्रमाणत्वेनाङ्गीक्रियते।

उपपाद्यज्ञानेनोपादककल्पनमिति अर्थापत्तिप्रमालक्षणं भवति। अर्थापत्तिप्रमायाश्चोपपाद्यज्ञानं करणम्। अस्मादुपपाद्यज्ञानजन्यः उद्‌बुद्धसंस्कार एवात्र व्यापारत्वेनाङ्गीक्रियते। "पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" इत्यत्र पीनत्वाद्युपपाद्यज्ञानजन्यो य उद्‌बुद्धसंस्कारस्तेनोपपादकरात्रि-भोजनादेः कल्पनादर्थापत्ति; प्रमा भवति। अत्र चोपपाद्यज्ञानत्वमेवार्थापत्तिप्रमाणसामान्यलक्षणं भवति।

अर्थापतिश्चेयं पूर्वोत्तरमीमांसाशास्त्रसिद्धान्ते प्राधान्येन प्रमाणत्वेनाङ्गीकृता। इयञ्चार्थापत्तिर्द्वि-विद्या-दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिरिति भेदाभ्याम्। चक्षुरादिना यो दृष्टोऽर्थः तेनापत्तिः उपपादककल्पनमाद्या। यथा इदं रजतमिति' अत्र अग्रे विद्यमानप्रतिपन्नरजतवृत्तिर्यो 'नेदं रजतमिति' निषिध्यमानत्वरूपोऽर्थ; सोऽनुपपद्यमानोऽस्ति रजतमिथ्यात्वकल्पनं विना। फलतः स्वोपपादकं मिथ्यात्वस्य कल्पनं क्रियते। श्रुतवाक्यार्थानुपपत्त्या उपपादककल्पनमन्त्या। यथा 'शतवर्षजीविदेवदत्तो गृहे नास्ति' इति वाक्यश्रवणोत्तरं जीविनो देवदत्तस्य गृहासत्त्वं बहिः सत्तां विनाऽनुपपन्नं सत् देवदत्तस्य बहिः सत्त्वस्य कल्पनं श्रोता विदधाति।

एषा दृष्टार्थापत्तिः त्रिविधा-प्रत्यक्षपूर्विका, अनुमानपूर्विका अर्थापत्तिपूर्विका च। येषां च मते प्रत्यक्षानुमानोपमानार्थापत्त्यनुपलब्धिरूपाणि पञ्च प्रमाणानि भवन्ति तेषां मते एषा उपमान-पूर्विका अनुपलब्धिपूर्विकाचापि भवति। तेन पञ्चभेदा एतस्या भवन्ति। शाब्दिकमते नोपमानोपलब्ध्योः प्रमाणत्वमतस्त्रय एव भेदाः तेषां मते भवन्ति। आद्यभेदस्योदाहरणं तूक्तमेव। द्वितीयस्योदाहरणं देशान्तरप्राप्तिलक्षणेनानुमानेनावगतस्यादित्यगमनस्यानुपपत्या ईश्वरेच्छा रूपकारणकल्पनम्।

तृतीयभेदस्य च "ट्टिढाणञ्द्वयसज्दध्नञ्मात्रत्तपरठक्ठञ्कञ्क्वरपः"[७३] इति सूत्रेऽ-नुपसर्जनाधिकारस्य व्यर्थीभूय तदन्तविधिकल्पनमुदाहरणमस्ति।

श्रुतार्थापत्तिरपि द्विविधा—अभिधानानुपपत्तिरभिहितानुपपत्तिभेदात्। तत्राद्या 'द्वारम्' इत्युक्ते पिधेहि' पदान्तरकल्पनारूपा। अपरा च "ज्योतिष्टोमेन जयेत स्वर्गकामः" इत्यत्रापूर्वकल्पना रूपा। यद्यपि न्यायवैशेषिकमतानुयायिनः प्रमाणमेतदनुमान एव क्रोडीकृत्य खण्डयन्ति। तथापि

पूर्वोत्तरमीमांसासिद्धान्तानुयायिनो न्यायवैशेषिकतर्कान् अर्थापत्तिखण्डनपरान् विशिष्टतर्कैर्निराकृत्यार्थापत्तिप्रमाणं दृढेन स्थापयन्ति।[74] वैयाकरणैरपि शब्दसाधुत्वप्रक्रियानिर्वाहाय प्रमाणमेतदङ्गीक्रियत एव। यद्यप्यर्थापत्तिविषये पुरुषोत्तमदेवः स्वकीयपरिभाषावृत्तिग्रन्थे "ज्ञापकं प्रत्यक्षादिवत् वस्तुबलप्रवृत्तं प्रमाणं नास्ति इति वदन् अर्थापत्तिप्रमाणं नाङ्गीकरोति।[75] तथैव परिभाषेन्दुशेखरस्थं 'ज्ञापकन्यायसिद्धानि' इति प्रतीकमादाय व्याचक्षाणः तात्याशास्त्री ज्ञापकमनुमानरूपमाह, यदागमपरिभाषायां चार्थापत्तिविषये मतान्तररीत्या अर्थापत्तिकथनमित्याह।[76] तथापि तत् सर्वं प्रौढिवादमात्रमेवाङ्गीकरणीयमन्यथा सर्वा अपि सूत्रवार्त्तिक-भाष्योक्तज्ञापक-विषयिणी प्रक्रिया उच्छिन्ना स्यात् । अतस्ताः प्रक्रियाः निर्वोढुम् अर्थापत्तिः प्रमाणं वैयाकरणैरपि स्वीकारणीयमेव।

इत्थं भर्तृहरिः षट् प्रमाणानि स्थापयति। तानि च पाणिनिवररुचिपतञ्जलीति मुनित्रयेणाप्यभिमतानीति दिक्।

सन्दर्भ

१. म. भा. दीपिका, वा.प.वृत्ति समुद्देशे ३/१४/३५९-६०
२. म. भा. २/१/५५
३. प्रदीपग्रन्थः तत्रैव
४. उद्योतग्रन्थः तत्रैव।
५. गुणवनच० ५/१/१२५ इति सूत्रस्थम् ।
६. कर्तृकरणयोस्तृतीया २/३/१८ इति सूत्रस्थम्।
७. पाणिनीव्याकरणे प्रमाण समीक्षा
८. गौरित्यत्र कः शब्दः इति महाभाष्यप्रदीपोद्योते पस्पशाह्निके।
९. वा. प. तृ. का. वृत्तिसमुद्देशे ३/१४/३५९-६०
१०. पारम्परिकम्
११. वाक्यपदीयब्रह्मकाण्डे ३०-३९
१२. सम्बन्धसमुद्देश का. ७-१७।।
१३. कारकप्रकरणे तस्मिन्नेव वार्त्तिके
१४. म. भा. ५.३.१।।
१५. सिद्धान्तलघुमञ्जूषा बौद्धार्थप्रकरणे पृ. २९८-३०५ रत्नप्रभासंलिते प्र. चौ. सं. भवनम् वारणसी
१६. सांख्यतत्त्वकौमुदी का. ३६,३७,
१७. योगसूत्रभाष्ये स्वामिनारायणकृते १/३६/
१८. पा. सू. ५.२.९३
१९. साख्यतत्त्वकौमुदी का. २७।
२०. वा. प. ब्रह्म का. १/९७
२१. शब्दकौस्तुभ १/१/१।। पृ. १७६
२२. म. भा. प्रदीपोद्योतः १/१/१।
२३. सि. ल. मञ्जूषा पृ. २२८, २३० व्रतप्रभासमायुता

२४. वा. प. वाक्य का. २/१८९
२५. वा. प. वाक्य का. पुण्यराजटीका २/१८९।
२६. वा. प. वाक्यकाः अम्बार्की २/१८९।
२७. न्यायसूत्र १/२/४
२८. पा. व्या. प्र. समीक्षा पृ. १०१-१९८
२९. न्याय सि. मु. शब्द खण्ड का. ६९
३०. म. भा. १/१/१
३१. वा. प. ब्रह्मकाण्ड १/४१
३२. वा. प. ब्र. का. स्वोपज्ञ टीका १/४१
३३. ऋ. वे. भाष्यभूमिका
३४. म. भा. १/१/६८
३५. सिद्धान्त ल. म. लक्षणाप्रकरणे।
३६. म. भा. परोक्षे लिट ३/२/११५
३७. किरणावलीग्रन्थे शब्दप्रमाणे
३८. म. भा. पस्पशाह्निके
३९. म. भाष्यप्रदीपे पस्पशाहितके
४०. म. भा. प्रदीपोद्योते पस्पथाह्निके।
४१. पा. सू. ३/३/१९
४२. वा. प. १/१
४३. वा. प. हरिवृ.पभटीका १/१
४४. वा. प. १/१२०
४५. वा.प.ब्र.मा. स्पोपज्ञ टीका १/१२०
४६. तत्रैव
४७. वा. प. हरिवृषभटीकातः १/१२०
४८. पा. सू. ५/४/५६
४९. वा.प.हरिवृषभ टीकातः
५०. वा. प. हरिवृषभटीकातः १/१२०।
५१. तै. क. ब्रह्मानं दवल्ली अनु. ८
५२. म. भा. पस्पशा.
५३. म. मा. १/१/६९
५४. म. भाष्यप्रदीप १/१/६९
५५. सि. ल. मञ्जूषा शक्तिप्रकरणे
५६. वा. प. १/१४२
५७. वा. प. स्वोप. १/१४२
५८. वा. प. स्वोप. अम्बा. १/१४२
५९. परमलघुमञ्जूषा स्फोट्प्रकरणे।
६०. वा.प. १/१४२
६१. प. ल. म. व्यञ्जनाप्रकरणे।

६२. सि. ल. मञ्जूषा आकाङ्क्षादिप्रकरणेषु।
६३. वा. प. २/३०।
६४. वा. प. १/३६
६५. पाणिनीय व्याकरणे समीक्षा, पृ.३१९-३२१
६६. कारिकावली का.सं.८१
६७. वा. प. २/३०२
६८. वा. प. पुण्यराजटीका २/३०२
६९. पा. सू. ६/१/१३९
७०. पा. सू. १/१/५७
७१. म. भाष्यंवार्त्तिकं च १/१/५७
७२. महाभाष्यम् १/१/५७
७३. पा. सू. ४ /१५
७४. पाणिनिव्याकरणेप्रमाणसमीक्षा पृ. ३०२
७५. परिभाषावृत्ति पृ. ५७
७६. परिभाषेन्दुशेखरे प्रारम्भे।

***

व्याकरणशास्त्रसम्मतप्रमाणानां प्रासङ्गिकता

प्रो० किशोरचन्द्रपाढी
श्रीजगन्नाथसंस्कृतविश्वविद्यालयः
पुरी

प्रमाणचर्चा हि शास्त्राणां प्रधानविषतामादधति यतो हि प्रमाणादेव प्रमेयसिद्धिर्भवति। अत एव शास्त्रकारैः प्रथमं प्रमाणान्येव व्यवस्थाप्यन्ते। प्रकर्षेण संशयविपर्ययादिव्यवच्छेदेन "मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम्।" करणाधिकरणयोश्च इति सूत्रेण मिमीते मिनोते वा करणे ल्युट्प्रत्यये प्रमाणशब्दो निष्पद्यते।

तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः प्रमा, तत्करणं प्रमाणमिति नैयायिका वदन्ति। अनधिगताबाधितार्थविषयकं ज्ञानं प्रमा, तत्करणं प्रमाणमिति मीमांसकानां मतम् । वेदान्तिनामपि एष एव विचारः। अनिर्ज्ञातार्थस्य साकल्येन ज्ञानं प्रमा, तत्करणं प्रमाणमिति वैयाकरणानामभिमतम्।

प्रकृष्टा मा प्रमेति प्रमाशब्दस्य व्युत्पत्तिः। प्रमाकरणं व्युत्पत्तिलभ्ये प्रमाणलक्षणे न कस्यापि मतभेदः परन्तु प्र–उपसर्गस्य प्रकर्षे रूपेऽर्थे विदुषां वैमत्यं परिलक्ष्यते, एतादृशः प्रकर्षः करणप्रकर्षाद् विषयप्रकर्षाद् स्वतो वेति चतुर्विधः विचारः समायाति।

अद्वैतवेदान्तनये जैनदर्शने च स्मृतेः प्रमात्वं स्वीकृतम् । परन्तु वैयाकरणैः स्मृतेः प्रमात्वं नाङ्गीक्रियते।

प्रमात्वं स्वतो गृह्यते परतो वेति विचारे स्वत इति मीमांसका वदन्ति। परत इति वैशेषिकाः नैयायिकाश्च प्रतिपादयन्ति। प्रमात्वं स्वत एव गृह्यते इति वैयाकरणानां सिद्धान्तः।

१. प्रमाणभेदः

वैयाकरणानां मतेन प्रमाणं द्विविधम् । परोक्षम् , प्रत्यक्षञ्च। अत्रार्थे अपरोक्षे परोक्षे च इति पाणिनिसूत्रं प्रमाणम्। अत्र अपरोक्षं प्रत्यक्षं तच्च लोकप्रसिद्धम्। परोक्षं त्वनुमानशब्दार्थापत्तिभेदात् त्रिविधम्, अभ्यासादृष्टप्रत्तिभासहितं षड्विधम्। अत्रार्थे वाक्यपदीयवचनं प्रमाणम् । (३५ कारिकायामभ्यासस्य, ३६ कारिकायामदृष्टस्य, ४१ कारिकायां शब्दस्य, ४२ कारिकायामनुमानस्य, वाक्यपदीयस्य द्वितीयकाण्डे १४३–१४७ कारिकासु प्रतिभायाः अर्थापत्तेश्च प्रमाणत्वं प्रतिपादितम्।

उपमानानुपलब्धि–प्रत्यभिज्ञा–कोशभेदाद् दशविधम्। एतत्सर्वं लघुमञ्जूषायां बौद्धार्थनिरूपणप्रकरणे नागेशेन सूचितम्।

२. प्रत्यक्षप्रमाणम्

इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्या या चित्तवृत्तिः सा प्रत्यक्षप्रमा, तत् प्रतिबिम्बितं चैतन्यं वा प्रत्यक्षप्रमा तत्करणं प्रत्यक्षप्रमाणमिति वैयाकरणानां मतम्। तत्र प्रथमपक्षे इन्द्रियम्। द्वितीयपक्षे वृत्तिप्रत्यक्षप्रमाणम्। एतदेव प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणं पतञ्जलिनापि प्रकारान्तरेण समर्थितम्, मनसा संयुक्तानि इन्द्रियाणि उपलब्धौ कारणानि भवन्ति, मनसोऽसान्निध्यात् इत्युक्तम्।

वैयाकरणानां मतेन आत्मना बुद्धिः संयुज्यते। बुद्ध्या सह अहङ्कारः ततस्तेन मनः, तेन च सहेन्द्रियाणि, तैश्च सह विषय इति पञ्चमक्षणे प्रत्यक्षात्मकज्ञानस्योत्पत्तिर्भवति।

वैयाकरणानां मतेन प्रत्यक्षप्रमाणं द्विविधम् – निर्विकल्पकं सविकल्पकञ्चेति।

३. अनुमानप्रमाणम्

अनुमानप्रमाणस्य प्रमाणत्वमङ्गीकृतं शाब्दिकैः। इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमित्यादिपाणिनिसूत्रमत्र प्रमाणम्। इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गमिन्द्रियमुक्तम्। अत्र लिङ्गस्यानुमानपरत्वार्थः स्वीकृतः व्याख्याकारैः।

अथवा आदेशेन सामानाधिकरण्यं दृष्टवाऽनुमानाद् गन्तव्यं प्रकृतेरपीति लटः शानच्सूत्रस्थं भाष्यवचनम्, साऽसावनुमानगम्या, कोऽसावनुमानः इति भूवादिसूत्रस्थं भाष्यवचनञ्च अनुमानस्य प्रामाण्यं प्रतिपादयति।

(क) अनुमानलक्षणम्- प्रत्यक्षपूर्वकत्वमनुमानलक्षणम्, प्रत्यक्षादनु(पश्चात्) मीयतेऽनेनेति अनुमानम्। प्रत्यक्षपदेनात्र लिङ्गप्रत्यक्षं गृह्यते। न केवलं लिङ्गप्रत्यक्षपूर्वकमेव अनुमानम्, अपि तु व्याप्तिरूपसंबन्धप्रत्यक्षमपि ततो नियमतः पूर्वं भवति। अतः एतत् प्रत्यक्षद्वयपूर्वकत्वं तस्य लक्षणं सम्पन्नम्।

अनुमीयतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्या अनुमितिकरणत्वमपि अनुमानस्य सामान्यलक्षणमङ्गीकृतं वैयाकरणैः। असन्निकृष्टार्थज्ञानजनकं व्याप्यदर्शनमनुमानमिति पूर्वमीमांसानये स्वीकृतम्। व्याप्यदर्शनं व्याप्तिविशिष्टस्य लिङ्गस्य दर्शनम्। उत्तरमीमांसायामनुमितिकरणमनुमानम् इति सामान्यलक्षणं प्रदर्शितम्। अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या, सांख्यदर्शने तु लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमनुमानम्। लिङ्गं व्याप्यम्, लिङ्गि व्यापकम्। लिङ्गपरामर्शोऽनुमानमिति तर्कभाषायामुक्तम्। व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिङ्गम्। अनुमानप्रमाणनिमित्तं हेतु-पक्ष-व्याप्त्यादिस्वरूपं ज्ञातव्यम्। पक्षे साध्यसंदेहः पक्षतेति वक्तुं शक्यते, ईदृशपक्षतावान् पक्षः। पक्षे साध्यनुमितिः केनचिद्धेतुनैव क्रियते। अनुमितिकरणज्ञानविषयत्वं हेतुः। अथवा साध्यनिरूपितव्याप्तिमत्वम्।

विशिष्टा आप्तिः सम्बन्धो व्याप्तिरिति व्युत्पत्त्या नियतसम्बन्धो व्याप्तिः। भाष्ये नियतसाहचर्यलक्षण एव सम्बन्धो व्याप्तिपदेन गृह्यते। साहचर्यनियमो व्याप्तिरिति तर्कभाषायामुक्तम्।

४. शब्दप्रमाणम्

नास्तिकदर्शनेषु चार्वाग्बौद्धाभ्यां शब्दस्य प्रामाण्यं नाङ्गीक्रियते। आस्तिकदर्शनेषु वैशेषिकैरेव शब्दस्य प्रमाणत्वं न स्वीकृतम्।

वैयाकरणाः शब्दप्रमाणमभ्युपगच्छन्ति। तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् इति सूत्रे संज्ञाशब्दानां प्रामाण्यमुपपादयता पाणिनिना शब्दानां प्रमाणत्वं स्वीकृतम्। लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते इति कात्यायनवचनमस्य समर्थनं विदधाति। शब्दप्रमाणका वयम्, यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम् इति वदता भाष्यकृता शब्दप्रमाणविषये महानाग्रहः प्रदर्शितः। अनुमानप्रधानेन विनिपातः न दुर्लभः इति वाक्यपदीयकारिकापि अमुं पक्षं द्रढयति।

व्याकरणशास्त्रे स्वरूपतः शब्दस्य हेतुता न स्वीक्रियते भाष्यकृतोक्तं यद् उच्चार्यमाणः शब्दः सम्प्रत्यायको भवति न सम्प्रतीयमान इति।

५. अर्थापत्तिलक्षणम्

उपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनमर्थापत्तिरूपप्रमाया लक्षणम्। तत्करणं चोपपाद्यज्ञानम्। अतः उपपाद्यज्ञानत्वम् अर्थापत्तिप्रमाणस्य लक्षणम्। यद् विना यदनुपपन्नं तत् तत्रोपपाद्यम्। यस्याभावे कस्यचिदनुपपत्तिस्तत्तत्रोपपादकम्, यदा रात्रिभोजनं विना दिवा भुञ्जानस्य पीनत्वमनुपपन्नम्, तदा पीनत्वमुपपाद्यम्, रात्रिभोजनं तदुपपादकम्।

६. उपमानप्रमाणम्

मीमांसकानां मते उपमानं सादृश्यमसन्निकृष्टार्थे बुद्धिमुत्पादयति। यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य। पूर्वदृष्टे स्मर्यमाणार्थे दृश्यमानार्थसादृश्यज्ञानमुपमानम्।

वेदान्तिनां मतेऽपि अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञानं करणम्, गोनिष्ठगवय-सादृश्यज्ञानं फलम्।

नैयायिकानां मते यत्रारण्यकेन केनचित् कस्मैचिद् ग्रामीणायोक्तम् – गोसदृशो गवयपदवाच्य इति पश्चाच्च ग्रामीणेन क्वचिदरण्ये गवयो दृष्टः, तत्र यद् गोसादृश्यदर्शनं जातं तदुपमितिकरणम्। ततः गोसदृशो गवयपदवाच्य इत्यतिदेशवाक्यार्थस्मरणं यज्जायते तदेव व्यापारः। ततश्च गवयो गवयपदवाच्य इति ज्ञानमुपमितिः।

पतञ्जलिना उपमानस्य प्रामाण्यं नाङ्गीकृतम्। तथा हि मानं हि नाम अनिर्ज्ञातार्थमुपादीयते, अनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामि इति। उप समीपे यन्मिमीते तदुपमानम्। गौरिव गवय इति। गौर्निर्ज्ञातो गवयोर्न निर्ज्ञातः इति भाष्ये प्रतिपादितम्। अत्रोद्य तटीकायां नागेशो व्याख्याति यत् मानं हीति अनिर्ज्ञातार्थस्य साकल्येन ज्ञापकत्वं हि तत्त्वम्। यथा प्रस्थादि–अज्ञातस्य परिमाणरूपार्थस्य साकल्येन ज्ञापकम्, न तथोपमानम्। गौर्हि गवयं कतिभिश्चिद्धमैरेव ज्ञापयति न साकल्येन। एवं प्रकारेण उपमानस्य प्रामाण्यं प्रत्याख्यातं वैयाकरणैः। भाष्यमतमनुसृत्य भर्तृहरिणा वाक्यपदीये

उपमानस्य लक्षणं प्रदर्श्य तत्प्रत्याख्यातम्। हेलाराजोऽपि प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानमिति लक्षणं व्यवस्थापयति, एवञ्च उपमानस्येति नेदं मानम्, अपि तु तस्य समीपम्, किञ्चिद्रूपतया परिच्छेदादिति उक्त्वा प्रत्याख्यातम्।

हेलाराजस्य मते, वैशेषिकदर्शने च उपमानस्यानुमाने गतार्थता। सांख्याचार्याः उपमानस्य स्वतन्त्रं प्रामाण्यं नाङ्गीकुर्वन्ति, तेषां मते क्वचिदागमे, क्वचिदनुमाने, क्वचित् प्रत्यक्षे चान्तर्भावो भवति।

७. अनुपलब्धिप्रमाणम्

ज्ञानकरणाजन्याभावानुभावासाधारणकरणत्वमनुपलब्धित्वमिति अनुपलब्धेः लक्षणं वेदान्तदर्शने प्रदर्शितम्। पूर्वमीमांसायामपि अनुपलब्धेः प्रमाणत्वं स्वीक्रियते।

बौद्धाः नैयायिकाश्च अनुपलब्धेः स्वतन्त्रप्रमाणत्वं न स्वीकुर्वन्ति। तेषां मते अनुमानरूपैव अनुपलब्धिः न स्वतन्त्रं मानम् ।

"तस्य भावस्त्वतलौ" सूत्रस्य व्याख्यानावसरे भाष्ये अनुपलब्धेः आभासः प्राप्यते। उद्द्योतटीकायां नागेशेन अनुपलब्धिप्रमाणमेव द्रढयति तद् व्याचष्टे उपलब्धीति वदता अनुपलब्धेः प्रमाणत्वं स्वीकृतम्।

वस्तुतः अनुपलब्धेः स्वतन्त्रप्रमाणं नास्तीति वैयाकरणानां सिद्धान्तः। यद्यपि "तस्य भावस्त्वतलौ" इति सूत्रभाष्ये अनुपलब्धेः प्रमाणत्वं ध्वन्यते, तथापि स्त्रियामिति सूत्रस्थभाष्यात् प्रत्यक्षप्रमाणेन अस्यागतार्थता सूच्यते। अत्र सूत्रे प्रत्यक्षेण सल्लिङ्गं नोपलभ्यते इत्युक्त्या अभावस्य प्रत्यक्षग्राह्यत्वं स्पष्टतया उक्तम्। इत्थमनुपलब्धिर्न प्रमाणम्, अपि तु प्रमाणसहकारिण्येव सिद्धान्तः।

८. प्रत्यभिज्ञाप्रमाणम्

सोऽयं देवदत्त इति ज्ञानं प्रत्यभिज्ञापदेनोच्यते। प्रतीभमात्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा। प्रत्यभिज्ञा च ज्ञातभासमानरूपानसंधानात्मिका।

वैयाकरणाः अस्य स्वतन्त्रप्रामाणत्वं नाङ्गीकुर्वन्ति। यद्यपि भाष्यकारः तदेवेदं कार्षापणं यन्मथुरायां दृष्टम् इत्यादिना प्रत्यभिज्ञा व्यवहरति, तथापि स्वतन्त्रप्रामाण्यत्वेन न स्वीकरोति। प्रत्यभिज्ञानं प्रत्ययविशेष इति भर्त्तृहरेः मतम् । प्रत्यभिज्ञायाः क्वचिदनुमाने क्वचिच्छब्दादौ क्वचित् प्रत्यक्षे चान्तर्भावः।

९. अभ्यासप्रमाणम्

भर्त्तृहरिणा अभ्यासस्य प्रामाण्यं स्वीकृतम् । तथाहि वाक्यपदीये

परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते।
मणिरूप्यादिविज्ञानं तद्विदां नानुमानिकम्।।

स्वर्णकारादयो मणीनां मूल्यनिर्धारणं धातुखण्डं हस्तेन प्रतोल्य त्रिचतुरादिवारं दृष्ट्वा निरीक्ष्यैव कुर्वन्ति। तस्यां च परीक्षायां न चक्षुरादिप्रमाणं प्रभवति। तत्राभ्यास एव हेतुः।

वस्तुतः प्रत्यक्षादिष्वेव अस्य समावेशो भवितुमर्हति। अभावप्रत्यक्षे यथा योग्यानुपलब्धेः सहकारित्वं स्वीक्रियते, तथैव रत्नादिचाक्षुषेऽभ्यासस्य।

१०. अदृष्टप्रमाणम्

भर्त्तृहरिणा अदृष्टस्य प्रामाण्यं प्रतिपादितम् । तथाहि

प्रत्यक्षमनुमानञ्च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः।
रक्षः पितृपिशाचानां कर्मजा एव सिद्धयः।।

राक्षसाः पितरः पिशाचाश्च सर्वं कार्यं कर्तुं समर्था भवन्ति। यत् प्रत्यक्षेण अनुमानेन वा साधयितुं न शक्यते। एतेन ज्ञायते यत् कश्चिदस्ति कारणं येन राक्षासादयः तादृशसिद्धिमन्तः तच्चादृष्टमेव न तु प्रत्यक्षम् । नानुमानमिति भर्त्तृहरेः मतम् ।

वस्तुतः अदृष्टस्य पृथक्प्रमाणत्वं न स्वीकरणीयम् । प्रत्यक्षप्रमाणे योगसन्निकर्षस्य या स्थितिः सूक्ष्मदर्शनजनकत्वादिरूपा सैव अदृष्टप्रमाणविषयेऽङ्गीकर्त्तव्या। तार्किका अपि अदृष्टमलौकिकं प्रत्यक्षमुररीकुर्वन्ति। इन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वस्य अनुमितिकरणत्वस्य च तत्रासम्भवात्।

११. प्रतिभाप्रमाणम्

प्रतिभापि प्रमाणत्वेन स्वीकृता भर्त्तृहरिणा तथाहि

प्रमाणत्वेन तां लोकः सर्वः समनुपश्यति।
समारम्भाः प्रतायन्ते तिरश्चामपि तद्वशात्।।

सर्वोऽपि प्राणिमात्रस्य इतिकर्त्तव्यतारूपो व्यवहारः प्रतिभामूलकः, अतः प्रतिभायाः प्रामाण्यं स्वीकरणीयम्।

वस्तुतः प्रतिभायाः स्वतन्त्रं प्रामाण्यं नाङ्गीकार्यम्। वैयाकरणानां मते इदं मानसं प्रत्यक्षमेव योगादिसहकृते मनसि अतिशयाधानेन तदुत्पत्तेः। मुनित्रयानुक्तत्वाच्च न स्वीकर्त्तव्यम्।

१२. कोशप्रमाणम्

कोशस्यापि पृथक् प्रामाण्यमुच्यते कैश्चिद् विद्वद्भिः। लघुमञ्जूषायां नागेशेनोक्तं यत् प्रसिद्धपदसामानाधिकरण्यात्तद्बोधकतया च कोशस्य प्रामाण्यं व्युत्पादयन्ति। तद्बोधकतया इत्यत्र तद् पदेन शक्तेः बोधः।

वस्तुतः कोशस्य प्रामाण्यं नावश्यकम् । अनुमाने शब्दे वा अस्यान्तर्भावो भवितुमर्हति।

१३. उपसंहारः

प्रमाणसंख्याविषये विदुषां मतभेदो दरीदृश्यते। तत्र प्रत्यक्षानुमानशब्दरूपाणि त्रीणि प्रमाणानि प्रमुखाणि सन्ति। अन्येषामुपमानार्थापत्त्यनुपलब्धिरूपाणामेषु प्रमाणेषु अन्तर्भावो भवितुमर्हति। तत्र यस्य यत्रान्तर्भावः तस्य तदपेक्षं दौर्बल्यं स्वीकरणीयम् । प्रत्यक्षमनुमानमर्थापत्तिः शब्दश्चेति चत्वारि प्रमाणानि इति वैयाकरणानां मतम्।

***



आत्म-परिचय

नाम : डॉ. भगवत् शरण शुक्ल

पिता का नाम : स्व. पं. रामकृष्ण शुक्ल

मातृनाम : श्रीमती मूलादेवी शुक्ला

जन्म-तिथि : 10 अप्रैल 1956 (दश अप्रैल सन उन्नीस सौ छप्पन)

पता : वार्डेन क्वार्टर - 2, रुईया छात्रावास संस्कृत ब्लॉक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी - 221005

स्थायी पता : ग्राम एवं पत्रालय कोठिया मोहगवाँ, थाना बरही, जिला कटनी, मध्यप्रदेश

शैक्षणिक योग्यताएँ : विद्यावारिधि, (पी-एच.डी.) नव्यव्याकरणाचार्य, नव्यन्याय शास्त्री, संगीत प्रवीण (बाँसुरी), पारम्परिक शुक्लयजुर्वेद शाखाध्यायी, आकाशवाणी अनुबन्ध कलाकार

प्रकाशितग्रन्थ : 08

शैक्षणिक कार्य : एसोसिएट प्रोफेसर, व्याकरण विभाग, का.हि.वि.वि, वाराणसी,
1. परिभाषार्थचन्द्रिका, 2. वाच्यपरिवर्तनसिद्धान्त 3. सिद्धान्तकौमुदीकारक-प्रकरणटीका, 4. शाब्दिकसिद्धान्तविमर्शः, 5. परिहारषष्ठीव्रतकथा, 6. अमृतकुम्भपर्व, 7. वैदिकतत्त्वविमर्शः

सम्पादक : सौदामनि संस्कृत शोध पत्रिका (1999 से प्रतिवर्ष)

प्रकाशित निबन्ध : 85

शोधनिर्देशन : अनेक

पुरस्कार एवं सम्मान :
1. मध्यप्रदेश संस्कृत अकादमी, भोपाल 'व्याकरण शास्त्रार्थ पुरस्कार' 1984,
2. अन्तर्विद्यापीठीय युवसमारोहः राष्ट्रीय संस्थान, नई दिल्ली 'न्यायशास्त्र भाषण पुरस्कार' (1985)
3. 'वेद पण्डित पुरस्कार' उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ (1998)
4. 'ज्योतिष महर्षि सम्मान' भारतीय ज्योतिष परिषद्, कानपुर, (1997)
5. 'संस्कृतमहामहोपाध्याय सम्मान' हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (2005)
6. 'संस्कृत साहित्य पुरस्कार' उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ (2005)
7. 'पतंजलिपुरस्कार' मध्यप्रदेश संस्कृत बोर्ड, भोपाल (2006)
8. 'शिक्षा प्रवीण सम्मान' रामायण मेला समिति, प्रयाग (2007)
9. 'वैदिक भूषण सम्मान' पद्मेश इंस्टीट्यूट ऑफ वैदिक साईंसेज, कानपुर (2012)

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों में सहभागिता एवं शोधपत्र-वाचन :

राष्ट्रीय : 150

अन्तर्राष्ट्रीय : 12

विभिन्न समितियों में सदस्य और प्रशासनिक अनुभव : 10

Year : 2018

Price : ₹ 600/-

ISBN : 978-93-84299-96-5





किशोर विद्या निकेतन
वाराणसी